अपराधशास्त्र
CRIMINOLOGY

अपराधशास्त्र

(CRIMINOLOGY)

डॉ० राम आहूजा
पी एच० डी०
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मीनाक्षी प्रकाशन
मेरठ नयी दिल्ली

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज, मेरठ।

●

4-अन्सारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली।

दूसरा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

मूल्य : 24·00

मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित।

प्रस्तावना

इस पुस्तक का पहला संस्करण समाप्त हुए लगभग दो वर्ष हो गये है। प्रकाशक और विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के बार-बार आग्रह पर कि मैं पुस्तक को संशोधित करके शीघ्रतापूर्ण इसका नया संस्करण निकालूँ, प्रयास करने पर भी सम्भव न हो सका क्योंकि मैं कई शैक्षिक और प्रशासनिक कार्यों में व्यस्त रहा। परन्तु फिर भी इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय का पुनरीक्षण करके उनमें अनेक तथ्य सम्मिलित करके पुस्तक को प्रकाशित करने का समय निकट ही आया।

पहले अध्याय मे नयी विचारधारा 'क्रिटिकल अपराधशास्त्र' का विश्लेषण जोड़ा गया है। दूसरे अध्याय में अपराध के कारणों सम्बन्धी सिद्धान्तों का नये परिप्रेक्ष्य के आधार पर विश्लेषण करके न केवल हर सिद्धान्त का पुनः परीक्षण किया गया परन्तु संघर्ष सिद्धान्त पर नयी सामग्री भी सम्मिलित की गयी। तीसरे अध्याय मे दण्ड के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्त व दण्ड के प्रकार आदि पर तथा पाँचवें अध्याय मे कारागृहों पर नये अनुसन्धान के आधार पर बंदियों के समायोजन सम्बन्धी तथा नये रिफारमेटिव मॉडल सम्बन्धी परिवर्तन किये गये। पुलिस सम्बन्धी चौदहवें अध्याय में राष्ट्रीय पुलिस आयोग आदि की सिफारिशों का विश्लेषण तथा प्राणदण्ड, परिवीक्षा, श्वेतवस्त्रधारी अपराधी, पेशेवर अपराधी, महिला अपराधी, बाल-अपराधी आदि अध्यायों को भी संशोधित करके पुस्तक को हर प्रकार से अद्यावधिक स्वरूप दिया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि नये उपागम के साथ संशोधित की गयी यह पुस्तक न केवल भारतीय विश्वविद्यालयों के अपराधशास्त्र के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को परन्तु पुलिस अधिकारियों, सुधार-प्रबन्ध प्रशिक्षण केन्द्रों एवं न्यायिक संस्थाओं के सदस्यों को भी अति उपयोगी सिद्ध होगी।

—राम आहूजा

विषय-सूची

पहला अध्याय

अपराधशास्त्र, अपराध और अपराधी
(CRIMINOLOGY, CRIME AND CRIMINAL)

सर्वाधिक उत्सुकता, वाद-विवाद और आतंक पैदा करने वाली सामाजिक समस्याओं में से अपराध सर्वप्रमुख है। सामाजिक प्रतिमान अथवा सामाजिक आदर्श-नियम (social norms), सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन और उल्लंघनकर्ता के प्रति समाज की प्रतिक्रिया समाज की नियमित कार्य-प्रणालियों (regular functioning) के आवश्यक अंग माने गये है। सामाजिक प्रतिमान व्यवहार सम्बन्धी वे आदर्श-नियम हैं जो दी हुई संस्कृति में समूहों के सदस्यों के रूप में मानवों के व्यवहार को स्पष्ट करते हैं तथा यह नियमित करते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।[1] व्यक्ति इन प्रतिमानों का आन्तरीकरण समाजीकरण (socialisation) की प्रक्रिया द्वारा बाल्यावस्था से ही करता रहता है। इन आचरण के नियमों द्वारा समाज में सामाजिक व्यवस्था (social order) स्थापित की जाती है, मानव की मूल प्रवृत्तियों पर अंकुश रखा जाता है, उन्हें समाज के अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है तथा समाज में सामूहिक एकता (group solidarity) स्थापित की जाती है। इस सामूहिक एकता के ह्रास से सामाजिक विघटन (social disorganisation) उत्पन्न होता है तथा व्यक्तियों और विभिन्न सामाजिक समूहों के आपसी सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते है।

एक अन्य दृष्टिकोण से सामाजिक प्रतिमानों से विचलन, विशेषकर कानून का उल्लंघन अथवा अपराध, समाज की असफलता का संकेत (symptom) भी माना जाता है। इसमें यह विचार सम्मिलित रहता है कि समाज में पायी जाने वाली सामाजिक संस्थाएँ, विशेषकर अपराधी न्याय (criminal justice) की एजेंसियाँ, समाज के सदस्यों की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी हैं जिस कारण उनके द्वारा सामाजिक नियमों और कानूनों का पालन करने में कोई औचित्य (justification) नहीं है। अतः कानून के उल्लंघनकर्ताओं एवं सामूहिक एकता को भंग करने वाले तत्त्वों का अध्ययन अति आवश्यक होता है। अपराधशास्त्र इन प्रतिमानों व कानूनों के उल्लंघन के कारणों, उल्लंघन की रोकथाम तथा उल्लंघनकर्ताओं के सुधार व पुनर्स्थापन का अध्ययन करता है।

[1] *Social norms are rules of conduct which specify what human beings exposed to a given culture should or should not do as members of groups*

अपराधशास्त्र क्या है ?

अपराधशास्त्र मुख्यत: तीन प्रक्रियाओं (processes) का अध्ययन करता है—कानून निर्माण (making laws), कानून उल्लंघन (breaking laws) तथा कानून उल्लंघन के प्रति प्रतिक्रिया (reaction to the breaking of laws)। संकीर्ण रूप में अपराधशास्त्र अपराधों और अपराधियों का वैज्ञानिक अध्ययन है तथा मोटे तौर पर यह अपराध के कारणों, अपराधियों के सुधार एवं अपराधी व्यवहार को नियन्त्रित करने का सम्पूर्ण ज्ञान है। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि अपराधशास्त्र निम्न तीन तथ्यों का विश्लेषण करता है : (i) अपराधों की उत्पत्ति, (ii) अपराधियों का पुनः स्थापन, तथा (iii) अपराधों का प्रतिशोधन। अपराधशास्त्रीय वह ज्ञान जो अपराध के निवारण से सम्बन्धित है 'दण्डविज्ञान' (penology) कहलाता है। अत: दण्डविज्ञान अपराधियों को दण्ड देने, अपराधी संस्थाओं के परिचालन तथा अपराधियों के पुनर्वासन सम्बन्धी अपराधशास्त्र की एक शाखा है। परन्तु दण्डविज्ञान की इस धारणा को थार्स्टेन सेलिन (Thorsten Sellin)[1] सम्भ्रमकारी मानता है क्योंकि उसके अनुसार एक अंगुली-चिह्न विशेषज्ञ, पुलिस व परिवीक्षा अधिकारी, न्यायाधीश तथा वह पत्रकार भी जो अपराधी सुधार लेख लिखता है सभी दण्डशास्त्री कहलायेंगे। अत: वह दण्डशास्त्र को 'अपराधी शिल्पविज्ञान' (crimino-technology) कहना पसन्द करता है क्योंकि उसके अनुसार अपराधशास्त्र विज्ञान है और दण्डशास्त्र शिल्प विद्या है। वैज्ञानिक यदि तथ्यों के सम्बन्धों में स्थिर कारकों की खोज करता है तो शिल्पशास्त्री परिस्थिति की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार ज्ञान को रूपानुकूल करता है।

'अपराधशास्त्र' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग टोपीनार्ड (Topinard) नामक एक फ्रांसीसी मानवशास्त्री ने 1879 में किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में बैकेरिया (Beccaria) और बेंथम (Bentham) ने अपराधी कानून में परिवर्तन की आवश्यकता पर काफी कुछ लिखा था, यद्यपि यह लेख वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं परन्तु मानवतावादी (humanitarian) दृष्टि से लिखे गये थे। दोनों विद्वान् गम्भीर दण्ड प्रस्तावित करने वाले अपराधी कानून में सुधार चाहते थे तथा दोनों ने अपराध के कारणों का कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया था।

अमरीका में वर्तमान में अपराधशास्त्र स्नातकोत्तर स्तर पर पढ़ाया जाता है। भारत में भी यही स्थिति मिलती है क्योंकि यहाँ भी अपराधशास्त्र केवल स्नातकोत्तर स्तर पर ही अधिकांश समाजशास्त्र विभागों में पढ़ाया जाता है। सागर और मद्रास विश्वविद्यालयों में अपराधशास्त्र के पृथक् विभाग स्थापित किये गये हैं; परन्तु इनमें पढ़ाने वाले भी पेशे की दृष्टि से प्रशिक्षित (professionally trained) अपराधशास्त्री नहीं हैं। यदि हम 1938 में थार्स्टेन सेलिन (Sellin)[2] द्वारा दिया

[1] Thorsten Sellin, 'Culture, Conflict and Crime', *Social Science Research Council Bulletin*, New York, 1938, 1–4. Also see David Dressler, *Readings in Criminology and Penology*, Columbia University Press, New York, 1964, 5.
[2] Thorsten Sellin, *Sociological Approach*, 6.

गया यह विचार स्वीकार करें कि एक अपराधशास्त्री को उन सभी विषयो (disciplines) मे विशेषज्ञ होना चाहिए जो अपराध के अध्ययन मे अभिसरित (converge) करते है तब अपराधशास्त्री को समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोरोग विज्ञान (psychiatry), चिकित्सा विज्ञान (medicine), विधि (law), जनप्रशासन (public administration), सामाजिक कार्य (social work) आदि विषयो का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसे ज्ञान वाले अपराधशास्त्री भारत मे अधिक नही मिलते।

अपराधशास्त्र मे पहली पाठ्य-पुस्तक 1920 मे मारिस पारमली (Maurice Parmalee) नामक समाजशास्त्री द्वारा 'क्रिमिनोलाजी' (Criminology) शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गयी थी। परन्तु अधिकाश पाठ्य-पुस्तकें सदरलैण्ड द्वारा 1939 मे लिखी गयी पाठ्य-पुस्तक के बाद ही प्रकाशित हुई है। अब क्योंकि अपराधशास्त्र मे अन्तर्विषय उपागम (interdisciplinary approach) पर अधिक बल दिया जा रहा है, अलग-अलग विषयो के विद्वान् इस क्षेत्र मे आनुभविक अनुसधान (empirical research) कर रहे है। किन्तु अब भी विश्वविद्यालय स्तर पर अपराधशास्त्र को एक पृथक् विषय के रूप मे कम ही मान्यता दी गयी है।

अपराधशास्त्र का विषय-क्षेत्र

अपराधशास्त्र के क्षेत्र को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) कारण, (2) सुधार, तथा (3) निवारण। काल्डवेल (Caldwell) इसके चार क्षेत्र मानता है[1]—(i) अपराधी कानून की प्रकृति व प्रशासन तथा इसके विकास की परिस्थितियाँ, (ii) अपराध के कारणो एव अपराधियो के व्यक्तित्व का विश्लेषण, (iii) अपराधियो का सुधार एव पुनर्वास, तथा (iv) अपराध नियन्त्रण। सदरलैण्ड अपराधशास्त्र के क्षेत्र मे तीन प्रक्रियाओ के अध्ययन को मानता है[2]—(क) कानून बनाने की प्रक्रिया, (ख) कानून उल्लघन की प्रक्रिया, तथा (ग) कानून उल्लघन के प्रति प्रतिक्रिया का अध्ययन।

कुछ अन्य समाजशास्त्री इस क्षेत्र को केवल विधि (law) सम्मत व्यवहार तक ही सीमित रखने के पक्ष मे नही हैं। वे समाजशास्त्रीय दृष्टि से अर्थपूर्ण व्यवहार को भी, चाहे वह न्यायालय द्वारा दण्डित हो अथवा नही अपराधशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मानते है। किन्तु समाज-सम्मत व्यवहार के विरुद्ध मानव की क्रियाएँ अधिक हैं और वे अपराध की परिभाषा से परे है। अत ऐसी समस्त क्रियाओ का इस क्षेत्र मे सम्मिलित होना अपराधशास्त्र के अध्ययन को असम्भव बना देगा।

कुछ विद्वानो का कहना है कि अपराधियो की दृष्टि से अपराधशास्त्र की सही विषय-वस्तु केवल उन्ही व्यक्तियो को परिवलयित (encompass) करता है जिन्हे

[1] Robert G Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Company, N York, 1956, 3

[2] Edwin H Sutherland, and Donald R. Cressy, *Principles of Criminology*, The Times of India Press, Bombay, 1965, 3

कानून के उल्लंघन के लिए न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया हो। दूसरी ओर अन्य अपराधशास्त्रियों की मान्यता है कि अपराधशास्त्र को अपने अध्ययन के क्षेत्र में उन व्यक्तियों को भी सम्मिलित करना चाहिए जिन्हें गिरफ्तार तो किया जाता है परन्तु दण्ड नहीं दिया जाता। कुछ विद्वान् फिर अपराधशास्त्र के अध्ययन में उन सफेद वस्त्रधारी अपराधियों को भी सम्मिलित करना चाहते हैं जिन्होंने कानून का उल्लंघन तो किया हो परन्तु जिन पर या तो अनौपचारिक रूप से या दीवानी (civil) न्यायालय द्वारा अभियोग लगाया गया हो। इस आधार पर उन राजनीतिज्ञों को भी अपराधियों की श्रेणी में रखना होगा जिन पर भ्रष्टाचार आदि जैसे लगाये गये आरोपों को किसी आयोग (commission) ने स्वीकार किया हो। अपराधशास्त्र में अधिकांशतः उन्हीं व्यक्तियों का ही अध्ययन किया जाता है जो कानून का उल्लंघन करते हैं, फिर चाहे उन्हें दण्ड मिला हो अथवा नहीं। अब यह भी माना जाता है कि अपराधशास्त्र का सही अध्ययन-क्षेत्र 'प्रतिमान उल्लंघन' व 'प्रतिमान उल्लंघनकर्ता' है जिसका 'अपराधी क्रिया' तथा 'कानून का उल्लंघनकर्ता' एक अंग है।[1]

अपराधशास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान का विकास विधि, धर्म, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान आदि विभिन्न क्षेत्रों से होता है। अतः अपराधशास्त्र के क्षेत्र में विधान-सभाओं की प्रक्रियाएँ, कानून लागू करने वाली एजेंसीज, न्यायालय, शैक्षणिक संस्थाएँ, सुधारात्मक संस्थाएँ तथा शासकीय एवं अशासकीय संस्थाओं के कार्य सम्मिलित हैं।

पिछले 10–15 वर्षों में अपराधशास्त्र के अध्ययन में विषय-क्षेत्र के विस्तार सम्बन्धी बहुत चर्चा मिलती है। अपराधशास्त्र की अध्ययन-विधियों, सिद्धान्तों व पैराडाइम्स (paradigms) आदि का पुनः मूल्यांकन किया जा रहा है। इन विवादों व मतभेदों (controversies) का आधार समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं के विश्लेपण में नयी विचार-धारणाएँ हैं। पहले सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिगत मनोविकार के कारण ही उत्पन्न होते हुए (flowing from individual pathologies) माना जाता था, अब इनमें विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे व कार्य-प्रणाली (structure and functioning of existing social system) को भी महत्त्व दिया जाने लगा है। पहले सामाजिक परिवर्तन के स्पष्टीकरण में उद्‌विकासी मॉडल (evolutionary model) को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था, अब यह माना जा रहा है कि सामाजिक परिवर्तन छोटे-छोटे विस्तार (small increments) से नहीं परन्तु उग्र छलांगों (radical leaps) में होता है। इसी आधार पर 1960 की दशाब्दी (1960s) में अपराधशास्त्र में अपराध के कारण और अपराधियों के सुधार को ही इसका विषय-क्षेत्र माना जाता था। अब न केवल अपराधी कानून (criminal law) की उत्पत्ति व प्रकृति को परन्तु पुलिस की दैनिक कार्य-प्रणाली (day-to-day

[1] 'Proper area of inquiry in Criminology is the study of 'norm violations' and 'norm violators' of which criminal acts and violators of criminal law constitute only a part.'—Don. C. Gibbons, *Society, Crime and Criminal Careers* (3rd ed.), Prentice Hall, New Jersey, 1977, 6.

functioning), न्यायतन्त्र की अभिनति (judiciary biases), जेल-अधिकारियो की कार्यकुशलता आदि जैसे विषयो को भी अपराधशास्त्र के अध्ययन मे सम्मिलित किया जा रहा है। पहले वकील यह मानते थे कि अपराधशास्त्र का अध्ययन उनके लिए आवश्यक नही है और अपराधशास्त्री कहते थे कि अपराधी कानून का अध्ययन केवल विधि (law) मे ही किया जाये, अब वकील और अपराधशास्त्री दोनो एक-दूसरे के विचारो को समझने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। अत अपराधशास्त्र के विषय-क्षेत्र का विस्तार स्वाभाविक है। पुराने सकीर्ण दृष्टिकोण मे विस्तार अपराधशास्त्र पर 15–20 वर्ष पहले प्रकाशित पाठ्य-पुस्तको और अब प्रकाशित की जाने वाली पाठ्य-पुस्तको मे स्पष्ट मिलता है।

समीक्षात्मक अपराधशास्त्र (Critical Criminology)

1970 दशाब्दी के मध्य से नया अपराधशास्त्र (New Criminology) तथा रैडिकल एव उन्मूलक अपराधशास्त्र (Radical Criminology) की चर्चाएँ भी आरम्भ की गयी है। कुछ विद्वान् 'रैडिकल अपराधशास्त्र' शब्द मे विचारधारा सम्बन्धी अभिनति (ideological biases) पाने के कारण उसके स्थान पर क्रिटिकल व समीक्षात्मक अपराधशास्त्र (Critical Criminology) का शब्द अधिक उपयोगी मानते हैं।[1] क्रिटिकल अपराधशास्त्र मे मुख्यत निम्न विषयो की चर्चा मिलती है—

(1) क्रिटिकल अपराधशास्त्री अपराध के कारणो सम्बन्धी व्यक्तिवादीय (individualistic) सिद्धान्त को नही मानते। उनका कहना है कि अपराध के कारणो मे न केवल व्यक्तित्व असमायोजन (personality maladjustment) सम्बन्धी व्यक्तिवादीय सिद्धान्त (जैसे जैविकीय तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त) परन्तु उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो को भी हमे अस्वीकार करना होगा जो अपर्याप्त समाजीकरण व मित्र समूह के दबाव आदि के कारण व्यक्ति के 'दोषो' के विचार पर आधारित है (dependent on notions of the individual's 'defects' due to inadequate socialisation or peer group pressures)। अब समस्या यह नही है कि हम उन निरपेक्ष रूप से निर्धारित (objectively determined) लक्षणो को स्पष्ट (identify) करें जो अपराधी को अनपराधी से पृथक् करते है परन्तु इसका उत्तर ढूँढें कि विद्यमान सामाजिक प्रक्रियाओ (existing social processes) मे कुछ व्यक्तियों को 'अपराधी' की लेबल (label) से क्यो कलंकित (stigmatise) किया जाता है और कुछ को क्यो नही किया जाता?

(2) क्रिटिकल अपराधशास्त्र मे अपराध से सम्बन्धित एजेंसियो (जैसे कारागृह, पुलिस, सुधारात्मक सस्थाएँ आदि) की क्रियाओ (actions) के पीछे पाये जाने वाले उद्देश्यो (motives) की व्याख्याओ (interpretations) मे गहन विस्थापन (profound shift) मिलता है। वैसे तो पहले भी बहुत से अपराधशास्त्रियो ने

[1] See Ian Taylor, Walton, Young *Critical Criminology*. Also see Galliher & McCartney, *Criminology*, 36-39

अपराधियों पर अभियोग चलाने वाली वर्तमान व्यवस्था (present criminal processing system) को क्रूर (harsh), अनीतिपूर्ण, अनुचित (unfair) व अन्यायी (unjust) बताया है तथा कहा है कि इससे निर्धन और अल्पसंख्यक समूहों के सदस्य बहुत कष्ट उठाते हैं व क्षति अनुभव करते हैं। उनके विचार में हमारी कानून सम्बन्धी (legal) एजेंसियाँ भ्रष्टाचार, पूर्वाग्रह (prejudice), व्यक्तिगत मूर्खता (individual stupidity), अस्पष्ट नीतियों (unenlightened policies) तथा धन की कमी आदि के कारण बहुत दोषपूर्ण हैं। क्रिटिकल अपराधशास्त्री फिर दूसरी ही विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि (क) वर्तमान कानून सम्बन्धी एजेंसियों की कार्यवाही में कानून का आत्मचेतन प्रयोग मिलता है जिससे उन लोगों के लिए समाज में यथास्थिति स्थापित रहे जिनके हाथ में सत्ता है।[1] (ख) कानून सम्बन्धी एजेंसियों की कार्यवाही आत्म-हित व स्वार्थ-जीवन की भावनाओं पर अधिक आधारित है।[2] वर्तमान अपराधी कानून यदि अन्यायी (unjust) है तब हमें इसमें सापेक्षिक छोटे संरचनात्मक दोषों व व्यक्तिगत दोषों (relatively minor structural defects and random individual faults) को महत्त्व देने के स्थान पर इस तथ्य पर जोर देना चाहिए कि एक सामाजिक वर्ग द्वारा दूसरे सामाजिक वर्ग पर नियन्त्रण पाने के लिए अपराधी कानून किस प्रकार बनाया जाता है व लागू किया जाता है।[3]

(3) क्रिटिकल अपराधशास्त्री कानून के न्यायपूर्णता (rightfulness) को ही चुनौती (question) देते हैं। वे इस धारणा (assumption) को कि अपराधी कानून व्यापक रूप से स्वीकृत मूल्यों को अभिव्यक्त करता है (criminal law expresses a widely shared set of values) अयथार्थ (unrealistic) मानते हैं। रिचर्ड क्वीने (Richard Quinney) का कहना है कि हम मिचेल (Michael) और एडलर (Adler) के इस विचार को स्वीकार नहीं कर सकते कि किसी समाज में अधिकांश लोग इस बात पर सम्भवतः सहमत होंगे कि उनके समाज में कानून द्वारा निषेधित अधिकांश व्यवहार सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय होता है।[4] क्रिटिकल अपराधशास्त्रियों का कहना है कि हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि अपराधी कानून उस सरकार द्वारा जिसे लगभग सभी लोग वैध मानते हैं, प्रचलित व जारी किये गये समाज के सामूहिक नैतिक न्याय वाक्य हैं। इसके स्थान पर हमें समाज को एक वह भूभागी व क्षेत्रीय समूह समझना चाहिए जो उस शासन-पद्धति के अन्तर्गत कार्य करता है जिसे एक विजित प्रदेश की तरह शासितों ने स्थापित किया

[1] The operation of legal agencies is based on the self-conscious use of the law to maintain the status for those who hold the power in society.

[2] Activities of legal agencies aim at self-interests and careerism.

[3] How criminal law and its enforcement are deliberately designed for the control of one social class by another.

[4] 'Most of the people in any community would not probably agree that most of the behaviour which is prescribed by their criminal law is socially undesirable.' —Richard Quinney, *The Problem of Crime*, 1970.

हो ।[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रिटिश अपराधशास्त्री यह मानते हैं कि हत्या, लूटमार, बलात्कार आदि अपराध अचानक महत्वहीन व सम्मान्य (respectable) बन गये हैं, परन्तु उनका कहना है कि कानून में पायी जाने वाली सम्पत्ति और व्यक्ति की पवित्रता तथा कट्टरवादी नैतिकता के प्रति प्रसिद्ध धारणाएँ इतनी एक समान नहीं थीं जितनी हमारा अपराधशास्त्र उन्हें मानता है ।[2]

(4) हमारे अधिकांश वर्तमान अपराधशास्त्री यद्यपि अपराध सम्बन्धी सरकारी आँकड़ों की सत्यता (accuracy) को अधिक नहीं मानते परन्तु फिर भी उनका प्रयोग अवश्य करते रहे हैं, चाहे वह अनिच्छा से ही क्यों न हो । उनका कहना है कि यह आँकड़े एक वर्ष में की गयी अपराध की कुल मात्रा में या तो अधिक मूल्य-निर्धारण (over-estimation) या कम मूल्य-निर्धारण (under-estimation) प्रस्तुत करते हैं । सरकारी रिपोर्टों में अपराध की जिस मात्रा को रिकार्ड किया जाता है उसमें पुलिस का दाँव (stake) निहित है । अपराध की मात्रा कम दिखाने से पुलिस अपराध के उन्मूलन में अपनी कार्यकुशलता दिखाकर जनता की प्रशंसा प्राप्त करती है । दूसरी ओर अपराध की दर अधिक दिखाने से वे अपराधियों को गिरफ्तार करने के लिए धन सम्बन्धी व राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । पीटर मैनिंग (Peter Manning) का भी कहना है कि अपराध की दी हुई दर पुलिस द्वारा निर्मित दर होती है तथा उसकी वास्तविक दर अज्ञात रहती है ।[3] अतः पुलिस द्वारा दिये गये आँकड़ों के आधार पर अपराध के कारणों से सम्बन्धित सिद्धान्त का निर्माण करना उचित नहीं है । इसके लिए हमें समाजशास्त्रीय सर्वेक्षणों पर अधिक निर्भर करना होगा ।

दूसरी ओर रिचर्ड क्वीने (Richard Quinney) जैसे ब्रिटिश अपराधशास्त्रियों का कहना है कि अपराध की 'वास्तविक' दर प्रमुख वाद-बिन्दु नहीं है । निर्णायक प्रश्न यह है कि समाज और उसकी एजेंसियाँ अपराध की जिस मात्रा को रिपोर्ट करती हैं उस मात्रा को क्यों निर्मित व रिपोर्ट करती हैं । हमें उस क्रमबद्ध विरूपण को खोजना चाहिए जिसे सामाजिक नियन्त्रण की मशीनरी का अंग बनाया जाता है ।[4]

[1] Criminal law should not be viewed as the collective moral judgements of society promulgamated by a government that was defined as legitimate by *almost all people* Instead, *our society should be seen as a territorial group* living under a regime imposed by a ruling few in the manner of a conquered province

[2] *Popular attitudes toward the sanctity of property, the sanctity of the person* and the rather puritanical morality embedded in the law were far less uniform than our criminology had been willing to admit

[3] *'The crime rate is simply a construction of police activity and the actual amount of crime is unknown and [probably unknowable.'* —Peter Manning in Douglas (ed), *Crime and Justice in American Society*, 1971, 169

[4] Actual criminality is not the issue The crucial question is why societies and *their agencies report, manufacture or produce the volume of* crime that they do We must look for a systematic distortion that is part of the machinery for social control

इस प्रकार क्रिटिकल अपराधशास्त्र के विचार विद्यमान अपराधशास्त्र के विचारों से भिन्न हैं। इसके अनुस्थापन (orientation) में समाज का वह परिप्रेक्ष्य (perspective) मिलता है जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति कानून की ताकत द्वारा निर्धनों व अल्पसंख्यक समूहों के सदस्यों को नियन्त्रित करते हैं। ये (सत्ताधारी व्यक्ति) कानूनी उपकरण (legal apparatus) को मुख्यतः निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही प्रयोग करते हैं : (i) व्यवहार सम्बन्धी अपनी नैतिकता और प्रतिमानों (standards) को पूरे समाज पर थोपने हैं; (ii) अपने को और अपनी सम्पत्ति को निर्धनों की 'लूट' (depredations) से सुरक्षित करते हैं, चाहे इसका मूल्य उन व्यक्तियों के, जिन्हें वे अपने लिए खटका (threat) समझते हैं, कानूनी अधिकारों से कितना ही ऊँचा क्यों न हो; (iii) अवैध व अपराधी व्यवहार की परिभाषा को इस प्रकार संकलित (compose) करते हैं जिससे व परिभाषा यथास्थिति (status quo) को समाप्त करने की आशंका पैदा करने वाले व्यक्तियों को भी सम्मिलित कर सके। मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के सदस्यों को प्रभुत्व (domination) के इस प्रतिमान (pattern) में इस प्रकार धकेला जाता है क्योंकि (क) उन्हें यह विश्वास दिलवाया जाता है कि यथास्थिति स्थापित करने में ही उन्हें लाभ है, (ख) उन्हें सामाजिक नियन्त्रण की एजेंसियों का अंग बनाया जाता है, (ग) जीवन-पुरस्कार (career rewards) देकर उन्हें चुप रखा जाता है।

जहां तक निर्धनों का प्रश्न है, वे कानून का उल्लंघन करें या न करें परन्तु अपराधियों को पकड़ने की प्रक्रिया में उन्हें सबसे अधिक पकड़ा जायेगा व उनके साथ क्रूरता व निष्ठुरता से भी बर्ताव किया जायेगा जिससे सामान्य प्रतिरोधन (deterrence) का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। उन्हें अपराध करने की ओर इस कारण धकेला जाता है (चाहे वे वास्तव में अपराध करें या न करें) क्योंकि (i) उन पर (सत्ताधारी व्यक्तियों द्वारा) लागू किये गये नियमों का तथा उनकी अपनी उपसंस्कृति के प्रतिमानों (normative prescriptions) का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता, (ii) उनके लिए उस समाज के भौतिक नैराश्य (material frustrations) असह्य (unbearable) होते हैं जहां धन-दौलत व सम्पन्नता (affluence) के फल का प्रचार तो सभी के लिए किया जाता है परन्तु उपलब्ध बहुत कम के लिए होता है, (iii) निम्न वर्गों में उस सामाजिक व्यवस्था (social order) के लिए गहरा विरोध उत्पन्न किया जाता है जिसमें उन्हें भाग लेने के लिए अनुमति नहीं दी जाती तथा जिसके निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं होता।

क्रिटिकल अपराधशास्त्र का यह परिप्रेक्ष्य समाज के रैडिकल परिप्रेक्ष्य से तथा वामपक्षी राजनीतिक विचारधारा (leftist political ideology) से मिलता है। अपराधशास्त्र में यह अपराध और अपराधियों से सम्बन्धित नई विचारधारा किन्हीं नये उपलब्ध तथ्यों पर नहीं किन्तु केवल तर्क (logic) पर ही आधारित है। जॉन गलीहर[1] (John Galliher) का कहना है कि अमरीका में क्रिटिकल अपराध-

[1] John Galliher and McCartney, *Criminology*, The Dorsey Press, Illinois, 1977, 43.

शास्त्र का उद्गमन (emergence) वर्तमान मे समाजशास्त्र मे पायी जाने वाली बुद्धिजीवी हलचल (intellectual ferment) का अंग है तथा इन दोनो का स्रोत (source) 1970 की दशाब्दी मे अमरीका मे पाये जाने वाले सामाजिक ऐतिहासिक परिवर्तन हैं। इन परिवर्तनो मे से इमने तीन की भूमिका प्रमुख बतायी है—(i) अमरीकन समाज पर वियतनाम युद्ध का प्रभाव—इसने सरकार के उद्देश्यो व राजनीतिक नेताओ की घोषणाओ (pronouncements) के प्रति उदासी दार्शनिकता (cynicism) को बढावा दिया है। सरकार को अब हेर-फेर (manipulation) और बल-प्रयोग (coercion) के साथ जोडा जाता हैं। (ii) अमरीका में विरोधी संस्कृति (counter culture) का विकास—मारीजुआना (Marijuana) आदि जैसी नशीली वस्तुओं (drugs) के प्रयोग के कारण मूल्यो और विचारो मे परिवर्तन मिलता है। नशीले पदार्थ लेने वाले व्यक्ति जिस व्यवहार को अहानिकर मानते हैं समाज उसे अपराध मानता है। (iii) राजनीतिक प्रतिवाद (protest) मे वृद्धि (rise)—यह प्रतिवाद उत्तेजित वाद-विवादो (heated discussions) तथा गलियो मे रक्तमय मुकाबिलो (bloody confrontations) के रूप में मिलता है। जब राज्य इस राजनीतिक विरोध को दबाने के लिए पुलिस-सत्ता का उपयोग करता है, तब लोग यह समझते है कि कानून को अपराधी व्यवहार को दण्डित करने के लिए उपयोग करने की बजाय लोगो के सामाजिक और राजनीतिक विश्वासो को दबाने के लिए उपयोग किया जा रहा है।

अब प्रश्न यह है कि क्या क्रिटिकल अपराधशास्त्र मान्य (valid) है। इसका उत्तर देना इस कारण सरल नही है कि क्रिटिकल अपराधशास्त्र कोई यथार्थ और व्यवस्थित सैद्धान्तिक वक्तव्यो का सग्रह (body of precise and systematic theoretical propositions) तो है नही। यह केवल एक परिप्रेक्ष्य (perspective) अनुस्थापन (orientation) है। एक सिद्धान्त (theory) तो कुछ तथ्यो (variables) के मध्य एक परिभाषित सम्बन्ध बताता है जिसे सिद्ध या असिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है परन्तु परिप्रेक्ष्य को सिद्ध या असिद्ध करने का प्रश्न ही नही उठता है। इसे केवल सही (true) या गलत (false) ही कहा जा सकता है। हम इस परिप्रेक्ष्य में निम्न दोष समझते हैं—

(1) क्रिटिकल अपराधशास्त्र की यह मान्यता कि अपराधी कानून निर्धनो, अल्पसख्यक समूहो के सदस्यो व अशिक्षित व्यक्तियो के विरुद्ध प्रयोग किया जाता है किसी ठोस प्रमाण (concrete evidence) पर आधारित नही है।

(2) यह विचार कि सत्ताधारी अभिजनो (ruling elite) व अपराधी कानून को लागू करने वाले अधिकारियो का उद्दिष्ट (intended) व मान्य (recognised) लक्ष्य अपराधी कानून को केवल अपनी सत्ता के लिए ही उपयोग करना है, सही नही लगता है। यद्यपि इसके कुछ उदाहरण दिये भी जायें तो भी इसके उलटे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। भारत मे कृष्णा अय्यर (Krishna Iyer) आदि न्यायाधीशो के कुछ फैसले (judgements) निश्चय ही निर्धनो के पक्ष मे अधिक दिये गये हैं।

(3) क्रिटिकल अपराधशास्त्री अधिकांशत: सामाजिक स्तरीकरण (social stratification) के उस मॉडल को प्रयोग करते हैं जो अस्पष्ट (ambiguous) है। ये विद्वान् एक ओर निर्धनों को और दूसरी ओर धनवानों व शक्तिशाली तथा प्रभावी (powerful) को प्रस्तुत करते है। मध्य वर्ग को कभी तो अन्याय के शिकार (victim) के रूप में चित्रित (portray) किया जाता है और कभी प्रभावशाली अभिजनों (elite) के सहयोजित एजेंट (coopted agent) के रूप में। वास्तविकता यह है कि अपराधी कानून और उसके प्रशासन के प्रति अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक समूहों की धारणाओं में बहुत भिन्नता रहती है। इस कारण यह विचार कि अपराधी कानून प्रधानत: (predominantly) प्रभावी व्यक्तियों द्वारा अप्रभावी व्यक्तियों पर ठूँसा जाता है सही नही लगता।

(4) क्रिटिकल अपराधशास्त्र की यह मान्यता कि हम सब अपराधी हैं तथा हम सब अपने जीवन में कभी न कभी ऐसे कार्य करते हैं जिनके लिए हमें अपराधी कलंकित किया जा सकता है सही हो सकता है पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम सब हत्यारे, चोर व डकैत आदि हैं। कुछ अपराधियों को समाज के लिए खतरा मानकर कानून का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पृथक् करने का यह अर्थ नहीं होता है कि अपराध के लिए दिये गये दण्ड को एक लेबल (lable) माना जाये। शुर (Schur) जैसे अपराधशास्त्रियों ने भी लेबलिंग सिद्धान्त (labelling theory) में सीमित ज्ञानवाद (solipsism) की चर्चा की है। क्रिटिकल अपराधशास्त्र को यदि वास्तव में अपराध के समाजशास्त्र में कुछ योगदान करना है तो इसे इस प्रकार के विचार स्वीकार करने की भूल से बचना होगा कि अपराधी का कानूनी कलंक आय, प्रजाति आदि जैसे अयथार्थ तत्त्वों पर आधारित है (legal stigma of criminal is necessarily based on irrelevant factors such as income, race, etc.)।

इसी के साथ यह कहना भी आवश्यक होगा कि क्रिटिकल अपराधशास्त्र के परिप्रेक्ष्य की हम निम्न कारणों की वजह से बिल्कुल अवहेलना भी नहीं कर सकते हैं :

(1) यह परिप्रेक्ष्य अपराध और समाज के मध्य सम्बन्ध के प्रति हमारे विचार पर गहन प्रभाव डालता है।

(2) यह परिप्रेक्ष्य हमें इस जाँच करने के लिए बाध्य करता है कि कानूनी प्रतिमानों का आन्तरीकरण समाज के अलग-अलग खण्डों (segments) द्वारा कैसे अलग-अलग किया जाता है तथा प्रतिमानों को अपनाना किस प्रकार वास्तविक रूप से व्यवहार से सम्बन्धित है।

(3) यह परिप्रेक्ष्य हमें इस तथ्य का परीक्षण करने की प्रेरणा देता है कि अपराध को नियन्त्रित करने के लक्ष्य से अभिकल्पित (design) किया गया कानूनी उपकरण किस प्रकार ऐसे अनभिप्रेत लक्ष्यों (unintended) के लिए भी कार्य करता है जिनका अपराध की दर कम करने से कोई वास्ता ही नहीं होता है।

(4) यह राजनीतिक व्यवस्था (political order) और विचलित व्यवहार (non-conformity) के मध्य सम्बन्ध को समझाने की आवश्यकता पर जोर देता है।

इस प्रकार यह व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्ध सम्बन्धी समाजशास्त्र के एक गहन विषय (profound theme) को पुनःजीवित (revitalize) करता है।

(5) यह एक लोकतन्त्रीय समाज के मूल तत्व के रूप में कानूनी समानता (legal equality) पर जोर देने के लिए बाध्य करता है। वास्तव में कानूनी समानता की धारणा अठारहवीं शताब्दी, में राजनीतिक समानता की धारणा उन्नीसवीं शताब्दी में तथा सामाजिक समानता की धारणा बीसवीं शताब्दी में प्रकट हुई थी। परन्तु इन समानताओं के लाभों को हम तथ्य रूप में नहीं मान सकते क्योंकि इनके पाने में सफलता भी मिल सकती है तो असफलता भी। वर्तमान में अपराधी कानून के प्रशासन में इस बात का काफी प्रमाण मिलता है कि कानून में समानता के आदर्श (ideal) को हम आय, स्थिति आदि तथ्यों के कारण प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। अगर क्रिटिकल अपराधशास्त्र अपराध को नियन्त्रित करने की समस्या के साथ-साथ हमें इस समानता की समस्या को भी हल करने में सहायता कर सकता है तो यह अपराधशास्त्र में इसकी बहुत बड़ी देन (contribution) होगी।

क्या अपराधशास्त्र विज्ञान है ?

अपराधशास्त्र विज्ञान के रूप में विवादास्पद है। वैसे 'वैज्ञानिक प्रणाली' से अपराधों और अपराधियों का अध्ययन अपराधशास्त्र को विज्ञान का रूप देता है लेकिन मानव व्यवहार की परिवर्तनशील प्रकृति के कारण इसका विज्ञान-स्वरूप नष्ट हो जाता है। साथ ही हमारे स्वयं के अनुभवों के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहार का विश्लेषण सदैव अभिनत (biased) रहता है जो इस शास्त्र को विज्ञान होने से रोकता है। 'विज्ञान' एक 'पद्धति' के अतिरिक्त 'विषय-वस्तु' भी है। 'विषय-वस्तु' के रूप में विज्ञान ज्ञात तथ्यों का एक संग्रह है जिन्हें उन्हीं में से उपलब्धित व निगमित (deduced) सिद्धान्तों के आधार पर वर्गीकृत एवं सहसम्बन्धित किया जाता है। 'पद्धति' की दृष्टि से विज्ञान में ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनेक चरण (steps) पाये जाते हैं, जैसे (i) कार्यवाहक उपकल्पना का निर्माण, ये उपकल्पनाएँ तथ्यों का अस्थायी व प्रयोगात्मक (tentative) विवरण देती हैं जो अन्य तथ्यों के संकलन में मार्ग-दर्शक होती हैं; (ii) तथ्यों का संग्रहण, वर्गीकरण, विश्लेषण व तुलना द्वारा उपकल्पना का परीक्षण; (iii) विश्लेषण द्वारा तथ्यों में पायी जाने वाली एकरूपता व नियमितता से सम्बन्धित सामान्यीकरण (generalisation), (iv) इन सामान्य अनुमानों से निगमन विधि (deductive method) एवं 'व्यापक' से 'विशेष' प्रक्रिया द्वारा निष्कर्ष निकालना; तथा (v) इन निष्कर्षों को अतिरिक्त अनुसन्धानों द्वारा प्रमाणित करना। उपर्युक्त समस्त चरण वैज्ञानिक सत्य (scientific truths) निरूपित करते हैं जो 'सिद्धान्त' बनाने में सहायता करते हैं।

अतः अपराधशास्त्र, 'पद्धति' की दृष्टि से उपर्युक्त चरणों से अध्ययन किये जाने के कारण, विज्ञान है अन्यथा 'विषय-वस्तु' एवं ज्ञात तथ्यों के संग्रह के रूप में विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

अपराधशास्त्र की प्रणालियाँ

अपराधशास्त्र के अध्ययन में मुख्यतः चार प्रणालियों का प्रयोग होता है : (i) सांख्यिकीय प्रणाली, (ii) वैयक्तिक विषय अध्ययन (case study) प्रणाली, (iii) क्षेत्रीय अनुसंधान, तथा (iv) प्रायोगिक प्रणाली ।

सांख्यिकीय प्रणाली

सांख्यिकीय प्रणाली में पुलिस, कारागृह, न्यायालय, व सुधारात्मक संस्थाओं से तथ्यों को एकत्रित करके उपकल्पनाओं के निर्माण द्वारा अपराध का अध्ययन करने के अतिरिक्त औसत (average) निकाल कर तथ्यों के सम्पूर्ण संग्रह की केन्द्रीय प्रवृत्ति (central tendency) को भी ज्ञात करते हैं और प्रमाप विचलन (standard deviation) द्वारा केन्द्रीय प्रवृत्ति के चारों ओर मुद्दों (items) से अपकिरण (dispersion) का नाप कर अपराध की प्रकृति आदि का अध्ययन करते हैं । इसके अलावा सहसम्बन्ध गुणक (coefficient correlation) का सांख्यिकीय प्रणाली (statistical device) द्वारा आँकड़ों की अन्य तथ्यों से तुलना कर सम्भाव्य (potential) सम्बन्ध अध्ययन करके भी अपराधी प्रघटना का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है ।

परन्तु सांख्यिकीय प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें (i) सम्पूर्ण सामग्री को एकत्रित करने हेतु सभी अभिलेख (records) उपलब्ध नहीं होते, (ii) प्राप्त सांख्यिकीय आँकड़े सदा सत्य नहीं होते, (iii) केवल आँकड़ों के आधार पर वैज्ञानिक सत्य प्रतिपादित नहीं किये जा सकते क्योंकि अपराध और अपराधी से सम्बन्धित सामान्यीकरण आवश्यक रूप से समय और स्थान से सम्बन्धित होता है तथा अपराध और अपराधी के प्रति विभिन्न समाजों में विभिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं । इतने पर भी सांख्यिकीय प्रणाली का उपयोग अपराधशास्त्र में आवश्यक है क्योंकि इस प्रणाली द्वारा ही वयस्क व बाल अपराधों की समय-समय में मात्रा व उनकी प्रवृत्ति (trend) ज्ञात होती है जिससे विद्यमान सुधारात्मक योजनाओं का मूल्यांकन किया जाता है । पुनश्च: कितने व्यक्ति कैसे और किन-किन ढंगों से विधि के क्षेत्र में आते हैं—उदाहरणार्थ बन्दी के रूप में, न्यायालय द्वारा दण्डित किये जाने के रूप में, परिवीक्षा के रूप में, इत्यादि—यह सांख्यिकीय प्रणाली से ज्ञात होता है । यही नहीं, अपराधियों के लिंग, आयु, वैवाहिक स्थिति, वर्गीय सदस्यता, निवास, व्यवसाय आदि पृष्ठभूमि सम्बन्धी तत्त्व भी सांख्यिकी से ही उपलब्ध होते हैं ।

वैयक्तिक विषय अथवा एकल विषय अध्ययन प्रणाली

यह पद्धति 1920 दशक में क्लिफोर्ड शा, सदरलैण्ड, सिरिल बर्ट (Cyril Burt) आदि अपराधशास्त्रियों द्वारा व्यापक रूप से प्रयोग की गई थी । इस पद्धति में एक अपराधी का सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व चिकित्सापेक्षी (medical) आदि

दृष्टि से अन्तर्विस्तार पूर्वक तथा गहराई से (in-depth) विश्लेषण किया जाता है। इसमे न केवल अपराधी की धारणाओ व परिप्रेक्ष्यो का परन्तु उसके व्यवहार का भी वियोजन किया जाता है। अपराधी के बारे मे तथ्य स्कूल के रिकार्ड, परिवार के सदस्यो, पडोसियो, मित्रो आदि से प्राप्त किये जाते है।

इस पद्धति मे लाभ यह है कि अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति के लक्षण नही परन्तु एक पूर्ण व्यक्ति के रूप मे वह स्वय रहता है (focus is on the individual as an individual, not on particular traits)। यह अभिव्यक्ति (emphasis) अध्ययनकर्ता के लिए यह अध्ययन सरल बनाता है कि व्यक्ति के लक्षण और उसके जीवन की घटनाएँ किस प्रकार अन्त सम्बन्धित होती है।[1] एकल विषय अध्ययन पद्धति मे अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु न केवल यह रहता है कि व्यक्ति के जीवन मे क्या घटित हो रहा है अपितु यह भी रहता है कि वह कब, क्यो और कैसे घटित होता है। अत अध्ययन मे प्रमुखता घटनाओ और लक्षणो की गतिशील (dynamic) अन्त क्रिया पर रहती है।

परन्तु इस पद्धति मे दोष भी है (i) यह पद्धति अपराधी के जीवन की खोज करके आवश्यक तथ्य प्राप्त करने के लिए अनुसन्धानकर्ता की क्षमता पर अधिक निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक (psychiatrists) तो अपने पेशो मे विकसित किये गये परीक्षण (tests) जैसे रोरसचाच परीक्षण (Rorschach test), टी० ए० परीक्षण (Thematic Apperception Test), सम्मोहन (hypnosis), आदि द्वारा आवश्यक तथ्य एकत्रित कर लेते है परन्तु समाजशास्त्री व्यक्तियो से साक्षात्कार करके ही तथ्य एकत्रित करते है और सभी व्यक्ति सम्पूर्ण जानकारी नही देते, (ii) यह पद्धति क्योकि प्रतिनिधि निदर्शन (representative sampling) पर आधारित नही होती, इसका बडी जनसख्या (larger population) के लिए सामान्यीकरण (generalisation) नही किया जा सकता। इस पद्धति से केवल कारण से सम्बन्धित उपकल्पना ही विकसित की जा सकती है जिसका बाद मे बडे सैम्पल पर परीक्षण किया जा सकता है, (iii) इस पद्धति द्वारा प्रतिपादित निष्कर्ष (propounded findings) अधिकाशत स्वसापेक्ष (subjective) होते है क्योकि अनुसधानकर्ता अपने ही अर्थ-निर्णय (interpretation) को प्रस्तुत करता है, (iv) इस पद्धति के आधार पर तुलना (comparison) सम्भव नही है क्योकि इसके द्वारा अनपराधियो (non-deviants) का अध्ययन न करके केवल लेबल किये गये अपराधियो (labelled deviants) का ही अध्ययन किया जाता है।

क्षेत्रीय अनुसधान (Field Research)

कुछ विद्वान् मानव व्यवहार को सामान्य व स्वाभाविक परिस्थिति (natural setting) मे अध्ययन करना आवश्यक समझते हैं, विशेषकर अपराधी व्यवहार के

[1] See, Reid Sue Titus, *Crime and Criminology*, The Dryden Press, Illinois, 1976, 83

अध्ययन में वे इस पद्धति को जरूरी बताते हैं। इस पद्धति में वास्तव में सहभागी अवलोकन (participant observation) पर जोर दिया जाता है। 1926 में मैलिनोस्की (Malinowski) ने क्षेत्रीय अनुसंधान के महत्त्व पर बल दिया था। नेड पालस्की (Ned Polsky) ने इसके महत्त्व को समझाते हुए उदाहरण दिया है कि यदि एक अध्ययनकर्ता कैदियों द्वारा दी गयी जानकारी के आधार पर जेल व्यवस्था से सम्बन्धित कोई निष्कर्ष देना चाहे तो वह इस कारण सही नहीं होगा कि या तो कैदी सच्ची (accurate) जानकारी नहीं देंगे या आधी जानकारी देंगे या यह सोचकर कि अनुसंधानकर्ता उन्हें पैरोल पर रिहा करवाने में सहायता करेगा, वे अभिनत (biased) जानकारी देंगे। परन्तु जेल में रहकर कैदियों के बारे में प्राप्त किये गये तथ्य अधिक विश्वसनीय (reliable) होंगे।

इस पद्धति में दोष यह है कि अवलोकनकर्ता अपराधियों द्वारा अपने आपको अपराधी स्वीकार करवाने में या उनका विश्वास प्राप्त करने में असफल हो सकता है। दूसरा, अध्ययनकर्ता को पुलिस व अन्य कानून लागू करने वाले अधिकारी अध्ययन किये गये अपराधियों के बारे में जानकारी देने के लिए दबाव डाल सकते हैं। जिस प्रकार डाक्टरों को अपने मरीजों के बारे में या वकीलों को अपने मुवक्किलों के बारे में जानकारी गुप्त रखने का एक वैधानिक विशेषाधिकार (legal privilege) है, ऐसा विशेषाधिकार अध्ययनकर्ता को नहीं रहता, तीसरा कभी-कभी अनुसंधानकर्ता अपने आपको सूचनादाताओं के साथ इतना सन्निहित (involve) कर लेता है कि वह वस्तुनिष्ठता (objectivity) खो बैठता है या मुख्य तथ्यों को रिकार्ड करना ही भूल जाता है।

प्रायोगिक पद्धति (Experimental Method)

अपराधशास्त्री यद्यपि भौतिक वैज्ञानिक (physical scientist) की तरह सभी तत्त्वों को नियन्त्रित कर अपराध और अपराधी का अध्ययन नहीं कर सकता, फिर भी वह कुछ निश्चित चरों (variables) को नियंत्रित कर अपराधी व्यवहार के बारे में निष्कर्ष देने में सफल रहता है। लाइड मैक्कारकिल (Loyd McCorkle) ने 1958 में न्यू जरसी (New Jersey) में इसी पद्धति के द्वारा पुरुष अपराधियों के कम-अवधि (short-term) और लम्बी-अवधि (long-term) कारावास के तरीकों में अन्तर अध्ययन किया था। इस पद्धति में प्रमुख दोष यह है कि प्रायोगिक व नियंत्रित समूह का समीकरण (equalise) करना असम्भव है, और दूसरा उन सभी चरों (variables) को जिन पर परीक्षण नहीं किया जा रहा है, पृथक् करना असम्भव है।

अपराधशास्त्र और समाजशास्त्र में सम्बन्ध

समाजशास्त्र समाज-सम्मत अस्पष्ट और सुस्पष्ट नियमों द्वारा निर्धारित एवं नियन्त्रित सामाजिक अन्तःक्रिया व सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है। दूसरे शब्दों

से समाजशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु सामाजिक नियम है। किन्तु समाजशास्त्रियों की अभिरुचि में नियम केवल वे क्रियाशील (operative) व प्रबल सामाजिक नियम होते हैं जिनका उल्लंघन समाज द्वारा दण्डनीय होता है तथा पालन सामाजिक प्रशंसा, उन्नति और पुरस्कार की उपलब्धि होता है। मान्यता-प्राप्त नियमों का उल्लंघन तीन प्रकार से उल्लंघनकर्ताओं को क्षति पहुँचाता है (क) अन्य लोगों का सहयोग एवं मैत्रीभाव उल्लंघनकर्ता के प्रति निगृहीत (withhold) हो जाता है (ख) उन्हें समूह व समाज की प्रतिष्ठा से वंचित होना पड़ता है, (ग) उन्हें समाज द्वारा कारावास, जुर्माने आदि जैसा निश्चित दण्ड दिया जाता है। अतः नियमों के उल्लंघनकर्ताओं को सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक हानि होती है। किन्तु सभी को समान हानि नहीं होती। इसी प्रकार सभी व्यक्ति एक ही प्रकार से सामाजिक नियमों द्वारा नियन्त्रित नहीं होते हैं। व्यावहारिक तौर पर उनमें आयु, वर्ग, शिक्षा आदि जैसे चरों (variables) का अन्तर होता है। इसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण आगे किया जायेगा कि (i) किससे कौन-से व्यवहार की अपेक्षा की जाती है, (ii) किसके द्वारा की जाती है, (iii) कौन-से कार्य करने व किसे परिहार (avoid) करने की आशा की जाती है, (iv) व्यक्ति को नियमों के उल्लंघन के फलस्वरूप किन परिस्थितियों में तथा (v) किस प्रकार का दण्ड मिलता है, एवं (vi) दण्ड कौन देता है, व (vii) इसकी प्रतिक्रिया क्या होती है?

अपराध की अवधारणा

अपराध के कारणों को समझने, न्यायालय द्वारा दण्ड देने तथा अपराधियों के सुधार हेतु अपराध की सही धारणा ज्ञात होनी आवश्यक है। अपराध के बारे में दो दृष्टिकोण हो सकते हैं (क) वैधानिक, तथा (ख) सामाजिक। वैधानिक दृष्टि से अपराध विधि-विरोधी व्यवहार है तथा कानून उल्लंघन पर दण्ड दिलाने का साधन जुटाता है। टैपन (Tappan) के मतानुसार, अपराध अपराधी-कानून के उल्लंघन का सोद्देश्य (intentional) कार्य है जो बिना औचित्य (justification) अथवा प्रतिरक्षा (defense) के किया जाता है।[1] इस परिभाषा के अनुसार, टैपन अपराध के पाँच तत्त्व बताता है[2] (i) क्रिया और उद्देश्य का मेल (concurrence) और दोनों की उपर्युक्त अर्थों में सज़ा ही अपराध के उत्तरदायित्व को निश्चित करती है; (ii) समाज के सुरक्षा, आराम व सम्पत्ति के अधिकार सम्बन्धी कानूनों का उल्लंघन; (iii) किसी उचित कारण व स्वतन्त्रतापूर्वक कानून का उल्लंघन (अतः टैपन द्वारा पागलपन के प्रभाव में आकर स्वयं की अथवा किसी निकट सम्बन्धी की रक्षा हेतु की गयी हत्याएँ अथवा किसी बल-प्रयोग या आवश्यकतावश अथवा अपराध रोकने के

[1] 'Crime is an intentional action or omission in violation of criminal law, committed without defense or justification and sanctioned by the state as a felony or misdemeanour.'—Paul W. Tappan, *Crime, Justice and Correction*, McGraw Hill Book Co., New York, 1960, 10

[2] *Ibid.*, 10-19

लिए की गयी क्रियाएँ अपराध की परिभाषा में सम्मिलित नहीं की गयी हैं); (iv) प्रशासनिक उद्देश्य से नियन्त्रण के उपाय अपनाने हेतु निरोधक कार्यक्रम के प्रभावशाली साधन विनियोग को सुनिश्चित करना (भले ही इसके लिए कड़े व उग्र आदेश बनाने पड़ें); (v) दण्ड की सीमाएँ बांधना तथा सुधार सम्बन्धी आदेश व अधिनियम बनाना। सुधार के लिए केवल ऐसे उपक्रम प्रयोग करने पड़ते हैं जो अपराधों के लिए कानून द्वारा विशिष्ट रूप से निर्धारित किये जाते हैं।

अपराध की कानूनी अवधारणा को सही रूप से समझने के लिए हमें टैपन की उपर्युक्त परिभाषा का कुछ विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना होगा :

(1) अपराध एक 'क्रिया' (act) है तथा व्यक्ति को उसके 'विचारों' (thoughts) के लिए नहीं परन्तु 'की गयी क्रिया' (committed act) के लिए ही दंडित किया जा सकता है। मान लीजिये एक व्यक्ति अपनी पत्नी की हत्या का 'विचार' करता है परन्तु वास्तव में हत्या नहीं करता है, तब केवल विचार-मात्र ही अपराध नहीं होगा। परन्तु यदि पति किसी गुण्डे द्वारा पत्नी की हत्या करवाता है तब क्योंकि हत्या के लिए गुण्डे की सहायता लेना एक क्रिया है अतः उसकी इस क्रिया को अपराध (abetting in crime) माना जायेगा। परन्तु कुछ मामलों में कथन (words) को भी क्रिया माना जाता है, जैसे देशद्रोह (treason) या किसी व्यक्ति को हत्या या आत्महत्या के लिए उकसाना। इसी प्रकार अगर कोई क्रिया कानूनी कर्त्तव्य (legal duty) नहीं मानी गयी है तो उसे करना अपराध नहीं होगा। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की पत्नी कुछ गोलियाँ खाकर आत्महत्या का प्रयास करती है और पति उसे बचाने के लिए डाक्टर को नहीं बुलाता, तब उसकी यह सहायता न करने की क्रिया अपराध नहीं कहलायेगी क्योंकि डाक्टर को बुलाना उसका नैतिक कर्त्तव्य हो सकता है परन्तु कानूनी कर्त्तव्य नहीं है।

(2) क्रिया में 'अपराधी उद्देश्य' (criminal intent) का होना भी आवश्यक है। यह उद्देश्य विशिष्ट (specific) भी हो सकता है तो सामान्य (general) भी। अगर राम ऐसी क्रिया करता है जिससे श्याम को चोट पहुँचती है, यद्यपि चोट पहुँचाना राम का विशिष्ट लक्ष्य नहीं था, लेकिन फिर भी यह सोद्देश्य (intentional) क्रिया मानी जायेगी क्योंकि उसे यह मालूम था कि उसकी क्रिया से श्याम को चोट पहुँच सकती है। इसी प्रकार यदि राम श्याम को मारने के लिए बन्दूक से गोली चलाता है और उसके खराब निशानेबाज होने के कारण वह गोली श्याम को न लगकर पास खड़े हुए भंवरलाल को लगती है तब भी राम अपराधी माना जायेगा। भंवरलाल को मारने का यद्यपि राम का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं था, परन्तु उसे यह अवश्य मालूम था कि उसकी क्रिया दूसरे की जान ले सकती है। इसी प्रकार मान लीजिए एक आदमी एक मकान में आग लगा देता है जिसमें दो-तीन बच्चे खेल रहे थे। यद्यपि उसे इन बच्चों के मकान में होने का कोई ज्ञान नहीं था फिर भी उस पर बच्चों की हत्या का आरोप लगाया जा सकता है क्योंकि उसे इस बात का आभास होना चाहिए था कि मकान में कोई व्यक्ति भी हो सकता है, चाहे

उसका उसे स्पष्ट ज्ञान हो या नहीं।

(3) क्रिया फौजदारी कानून (criminal law) का उल्लघन होना चाहिए। यहां फौजदारी कानून व अनाचार (wrong) और दीवानी (civil) कानून व अनाचार के बीच अन्तर करना आवश्यक है। फौजदारी अनाचार और दीवानी अनाचार दो अलग-अलग अवधारणाएँ है। फौजदारी अनाचार वह अनाचार है जिसमे सरकार उस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करती है जिस पर अपराध करने के लिए अभियोग लगाया जाता है। इनमे राज्य सरकार अभियोजक (prosecutor) होती है और अभियुक्त *(accused) प्रतिवादी (defendent)* होता है। इसमे व्यक्ति के विरुद्ध सरकार यह मानकर कार्यवाही करती है कि उसके द्वारा किया गया अपराध पूरे राज्य के हित को खतरा पहुँचाता है। इसके विपरीत एक दीवानी अनाचार एक व्यक्ति विशेष के विरुद्ध अनाचार है। इसमे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध न्यायालय मे मुकदमा करता है तथा मुकदमा करने वाला वादी या अभियोगी (plaintiff) कहलाता है। दीवानी कानून साधारणत वे कानून होते हैं जो दो व्यक्तियो के मध्य अधिकारो को नियमित करते हैं, जैसे तलाक सम्बन्धी कानून, सम्पत्ति सम्बन्धी कानून, इत्यादि। दीवानी कानून और फौजदारी कानून मे 'उपचार' (remedies) के आधार पर भी अन्तर किया जाता है। फौजदारी मुकदमे मे सरकार अपराधी को कैद, फासी, जुर्माना, परिवीक्षा पर रिहाई, आदि जैसे दण्ड दिलाने का प्रयास करती है जबकि दीवानी मुकदमे मे वादी अधिकाशत धन-सम्बन्धी हानि (monetary damages) का दावा (claim) करता है या फिर प्रतिवादी (defendant) से छुटकारा पाने का प्रयास करता है।

(4) क्रिया बिना किसी बचाव (defense) या औचित्य (justification) के की गयी हो। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि व्यक्ति को उस क्रिया करने का कोई औचित्य है तब वह क्रिया अपराध नही मानी जायेगी, चाहे उससे हानि ही क्यो न हुई हो। उदाहरण के लिए व्यक्ति नशे (intoxication) की स्थिति मे या मानसरोग अथवा पागलपन (insanity) की अवस्था मे कोई ऐसा कार्य करता है जिससे किसी की मृत्यु हो जाती है, तब उसे उसकी मानसिक अवस्था के कारण अपराधी नही माना जायेगा। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति दूसरे द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने बचाव के लिए किसी औजार या उपकरण (instrument) का प्रयोग करता है और बचाव मे उस उपकरण से आक्रमण करने वाले की मृत्यु हो जाती है या वह जख्मी हो जाता तब बचाव के लिए उपकरण प्रयोग करने वाले व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जायेगा। इसे कानूनी भाषा मे न्यायक्षम्य मानव हत्या (justifiable homicide) कहा जायेगा।

(5) क्रिया को राज्य द्वारा गम्भीर (felony) या साधारण (misdemeanour) अनाचार माना गया हो। अगर किसी क्रिया को सामाजिक दृष्टि से हानिकारक (socially harmful) माना जाता है परन्तु उसके लिए कानून मे दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है अथवा उसे न तो साधारण और न ही गम्भीर अनाचार

माना गया हो तब ऐसी क्रिया के लिए भी व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक चार वर्ष का बालक अपने पिता को मार बैठता है, तब क्योंकि कानून चार वर्ष वाले बालक की क्रिया को संज्ञेय (cognizance) नहीं समझता, इस बालक को हत्यारा नही माना जायेगा।

सरल शब्दों में अपराध की कानूनी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: 'उस कानून का उल्लंघन जो राजनीतिक सत्ता द्वारा जारी किया गया हो और जिसके लिए राज्य को दण्ड देने का अधिकार हो।'[1]

माइकेल और एड्लर के मतानुसार अपराध की यही वैधानिक परिभाषा सूक्ष्म, यथार्थ व स्पष्ट होने के साथ सही भी है।[2] इस परिभाषा के अर्थानुसार वही व्यक्ति अपराधी है जिसे न्यायालय ने दोषी सिद्ध किया हो तथा दण्डित किया हो। अतः न्यायालय द्वारा मुक्त व्यक्ति कानून का उल्लंघन करने पर भी अपराधी नहीं माना जायेगा।

समाजशास्त्र में अपराध का अध्ययन 'व्यवहार के आदर्श नियमों' (conduct norms) के सन्दर्भ में किया जाता है। अपराध की अवैधानिक (non-legal) व समाजशास्त्रीय परिभाषा का प्रथम समर्थक (foremost proponent) थार्स्टेन सेलिन माना गया है। उसका कहना था कि विज्ञान न जानने वाले व्यक्तियों को वैज्ञानिकों के लिए विषय-वस्तु परिभाषित करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। वकीलों और विधायकों को सामाजिक वैज्ञानिकों को यह बताने की अनुमति नहीं देनी चाहिए कि अपराध को कैसे परिभाषित किया जाये।[3] सेलिन यह दावा नहीं करता कि अपराध-शास्त्र में अपराध की कानूनी परिभाषा का कोई स्थान ही नही है। वह केवल यह दावा करता है कि यदि मानवीय व्यवहार के विज्ञान का विकास करना है तब इस क्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले को अपराधी कानून द्वारा गढ़े हुए बेड़ियों से छुटकारा पाना होगा।[4]

अपराध की परिभाषा में वह व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमानों (conduct norms) को महत्त्व देता है। व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमान कार्य करने के वे तरीके हैं जिन्हें समूह सामाजिक अन्तःक्रिया द्वारा विकसित करता है।[5] हर व्यक्ति के लिए अपने

[1] 'It is a violation of the law promulgated by a political authority and subject to punishment administered by agents of the state.' —See Jhonson, *Crime, Correction and Society*, *op. cit.*, 34.

[2] J. Michael and M.J. Adler, *Crime, Law and Social Science*, Harcourt Brace, New York, 1933, 18.

[3] 'Non-scientists should not be permitted to define the subject matter for scientists; lawyers and legislators should not be permitted to tell social scientists how crime must be defined.' —Thorsten Sellin, *Culture, Conflict and Crime*, Social Science Research Council, New York, 1938.

[4] 'If a science of human conduct is to develop, the investigator in this field of research must rid himself of the shackles, which have been forged by the criminal law.' —Thorsten Sellin.

[5] Conduct norms are the ways of doing things that are developed by a group through a social interaction.

समूह में, जिसका वह सदस्य है, एक सामान्य (normal) तथा सही (right) और एक असामान्य (abnormal) तथा गलत (wrong) प्रतिक्रिया करने का तरीका (way of reacting) होता है जिसके लिए आदर्श-नियम (norms) उस समूह के सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करते हैं। ये व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमान अथवा आदर्श-नियम समाज द्वारा परिभाषित होते हैं तथा वे अलग-अलग समूहों में अलग-अलग पाये जाते हैं और अनिवार्यतः (necessarily) कानून के रूप में विधिबद्ध (codified) नहीं होते। इस प्रकार सेलिन अपराध को 'व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमानों का उल्लंघन' (violation of conduct-norms) मानता है।[1]

किन्तु प्रत्येक असामाजिक व विचलित व्यवहार को अपराध नहीं माना जाता। क्लिनार्ड (Clinard) ने विचलित व्यवहार के तीन प्रकार बताए हैं[2] (क) सह्य विचलन (tolerated deviation), (ख) केवल हल्का तिरस्कार व विरोध (mild disapproval) प्रेरित करने वाला विचलन, और (ग) प्रबल विरोध (strong disapproval) उत्पन्नकारी विचलन। क्लिनार्ड इन तीनों में से तीसरे प्रकार के विचलन को ही समाज के सदस्यों के हितों के लिए हानिकर व 'अपराध' मानता है। दूसरे प्रकार का विचलन न तो लाभदायक होता है और न हानिकारक, तथा पहले प्रकार का विचलन लाभदायक भी हो सकता है। 'हानि' और 'लाभ' तथा 'अच्छे' और 'बुरे' शब्दों का अर्थ अलग-अलग समाज में अलग-अलग होता है। अतः समाज और समयानुसार अपराध की धारणा भी परिवर्तित हो जाती है।

अपराध की इस सामाजिक परिभाषा (कि अपराध आदर्शमूलक समूहों के व्यावहारिक नियमों का उल्लंघन है) में तीन शब्दों—व्यवहार, व्यावहारिक नियम एवं आदर्शमूलक समूह को समझना आवश्यक है। 'व्यवहार' व्यक्ति की वह क्रिया एवं प्रतिक्रिया है जो किसी परिस्थिति में ही सम्भव होती है। आदर्शमूलक समूहों के नियमानुसार परिस्थिति-विशेष में व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने वाले नियम 'व्यावहारिक-नियम' कहलाते हैं। ऐसे समूह जो व्यक्तियों के विभिन्न जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आदि आवश्यकताओं की पूर्ति कर अपने सदस्यों को विभिन्न परिस्थितियों में कार्य करने के लिए कुछ नियम निर्धारित करते हैं 'आदर्श-मूलक समूह' कहलाते हैं, जैसे परिवार, पड़ोस, खेल-समूह, धार्मिक समूह, आदि। व्यक्ति की आयु के बढ़ने के साथ उसकी भूमिकाएँ भी बढ़ती हैं, आवश्यकताएँ बदलती हैं और तदनुसार विभिन्न नियमों वाले समूहों की संख्या बढ़ती जाती है। किन्तु वह संख्या-वृद्धि के कारण स्वयं को कुछ ही समूहों के साथ सम्बन्धित व संयुक्त करता है और इन्हीं नियमों का पालन भी करता है। अतः जब वह इन समूहों के नियमों से विचलित होता है तो इसी विचलित व्यवहार को 'असामाजिक व्यवहार' कहा जाता है।

[1] See Thorsten Sellin's article 'A Sociological Approach' in Johnson and Wolfgang, *The Sociology of Crime and Delinquency*, Wiley, N York, 1970, 6.

[2] Marshall B Clinard, *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, Rinehart and Winston Inc., New York, 1957, 22.

विलनार्ड ने इस प्रकार जब अपराध को 'सामाजिक नियमों से विचलन' बताया है, अन्य अपराधशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से इसे परिभाषित किया है। काल्डवेल के अनुसार, अपराध किसी निश्चित स्थान व समय पर संगठित समाज-सम्मत मूल्यों के संग्रह का उल्लंघन है।[1] क्लोवार्ड और ओहलिन (Cloward and Ohlin) अपराध को अधिकारिक व्यवस्था के शासकीय नियमों से उसके प्रतिनिधियों द्वारा विचलन मानते हैं।[2] इनके अनुसार विचलित व्यवहार के दो तत्त्व हैं: (क) समाज के मूल नियमों के उल्लंघन का व्यवहार, और (ख) अधिकृत जानकारी पर न्यायालयाधीन अभिकर्त्ताओं (agents of justice) द्वारा उल्लंघन की वास्तविकता के बारे में निर्णय।

गारोफेलो (Garofalo) ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपराध को करुणा, सत्यता और न्यायिता के मनोभावों का उल्लंघन माना है।[3] विलियम इसाक थोमस (William Issac Thomas) का मत है कि अपराध सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह कार्य है जो उस समूह के एकता, संगठन, मतैक्य व समूह-बन्धन के प्रतिरोधी है जिसको व्यक्ति अपना समझता है।[4] फ्लोरियन जिनानिकी (Florian Znaniecki) इसे सामूहिक व्यवस्था को संकटग्रस्त करने तथा उसके किसी भी तत्त्व को हानि पहुँचाने वाला व्यवहार मानता है।[5] माउरेर (Mowrer) अपराध को समाजशास्त्रीय दृष्टि से केवल 'असामाजिक व्यवहार' मानता है।[6]

हाल (Hall) ने अपराध की परिभाषा में सात वैलक्षण्य (differentia) देकर प्रतिपादित किया है कि इन सात वैलक्षण्यों रहित व्यवहार व क्रिया अपराध नहीं है।[7] इनमें से पांच प्रमुख वैलक्षण्य हैं—

(1) हानि (Harm)—समाज व उसके सदस्यों के सामाजिक हितों के लिए क्रिया के बाह्य परिणाम हानिकर हो।

(2) सांविधानिक निषेध (Legal forbearance)—क्रिया अवैधानिक हो।

(3) सोद्देश्य क्रिया (Intentional action)—हानिकर परिणामों वाली क्रिया सोद्देश्य तथा सज्ञान (जान-बूझ कर की गयी) हो।

[1] Robert G. Caldwell, *op. cit.*, 4.

[2] Richard A. Cloward and Lloyd E. Ohlin, 'Violation of official norms by representatives of the official system' in *Delinquency and Opportunity*, New York, 1960, 2-3. Also see Tappan's article 'Who is a criminal' in *American Sociological Review*, February 1967, vol. 12, 96-102.

[3] R. Garofalo, *Criminology*, Little Brown, Boston, 1914, 59.

[4] W. I. Thomas, *The Polish Peasant in Europe and America*, Knopf, New York, 1927, vol. II, 1753-55.

[5] Florian Znaniecki, quoted by Tappan in *Crime, Justice and Correction*, *op. cit.*, 6.

[6] Ernest R. Mowrer, *American Sociological Review*, August 1954, 468.

[7] Jerome Hall, *General Principle of Criminal Law*, Bobbs Merrill, Indianpolis, 1947, 8-18.

(4) **अपराधी उद्देश्य (Criminal intent)**—क्रिया से हानि पहुँचाने का कोई संकल्पित प्रयोजन हो।

(5) **दण्ड (Punishment)**—क्रिया के लिए दण्ड देने की वैधानिक व्यवस्था हो।

उपर्युक्त सभी लक्षण अपराध की धारणा मे महत्त्वपूर्ण है किन्तु यह आवश्यक नही कि प्रत्येक लक्षण को पृथक् रूप से देखा जाए। इसके उपरान्त इन लक्षणो मे 'उद्देश्य' (intention) को स्पष्ट रूप से समझना होगा तथा 'उद्देश्य' और 'प्रेरक' (motivation) मे प्रभेद भी करना होगा। 'उद्देश्य' लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सकल्पित कार्य है जबकि 'प्रेरक' लक्ष्य-प्राप्ति हेतु आधार व तर्क है। अपराधी व्यवहार मे प्रेरक अच्छा हो सकता है लेकिन उद्देश्य कानून द्वारा निषेधित हानि पहुँचाना हो सकता है। *उदाहरणार्थ, किसी चिकित्सक का रोगी को प्राणान्तक* वेदना से विषैला इन्जेक्शन देकर प्राणान्त कर मुक्ति दिलाना एक अच्छा प्रेरक तथा लक्ष्य-प्राप्ति का आधार हो सकता है तथापि उद्देश्य तथा लक्ष्य-प्राप्ति का साधन अच्छा नही समझा जायेगा। प्रेरक श्रेष्ठ होने पर भी कानून अपराध करने की अनुमति नही देता। यद्यपि प्रत्येक अपराध अधिकाशतया उद्देश्यपूर्ण होता है तथापि यह आवश्यक नही कि उद्देश्य हानिकर हो। जैसे बाल-विवाह विधि विपरीत है लेकिन इसमे समाज अथवा उसके सदस्यो को हानि पहुँचाने का उद्देश्य सन्निहित नही है। बाल-विवाह सामाजिक प्रथा एव कुछ भावनाओ के कारण ही किया जाता है। अत समाज मे अनेक प्रकार के ऐसे कानून हैं जिनमे हानिकारक उद्देश्य का तत्त्व सम्मिलित नही होता। नशे मे वाहन चलाने जैसी क्रिया कानून के समक्ष दण्डनीय है यद्यपि किसी प्रकार हानिकारक उद्देश्य प्रमाणित नही होता। अपराध की धारणा मे क्षमता व *सामर्थ्य (competency) आवश्यक व प्रमुख लक्षण माने गये है। बुद्धिहीन,* मनोविकृत तथा अल्प-वयस्क व्यक्तियो को कभी अपराधी नही माना जाता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपराध की सामाजिक व वैधानिक (legal) धारणाएँ भिन्न है। परन्तु *अनुसन्धानो मे सदैव कानूनी परिभाषा का ही प्रयोग होता* है क्योकि किसी समाज मे प्रचलित कानून के आधार पर किसी क्रिया को अपराध या अनपराध प्रमाणित करना सरल है लेकिन सामाजिक परिभाषा मे किसी समूह द्वारा नियमो को मान्यता दिया जाना या न दिया जाना सिद्ध करना कठिन है।

अपराध की धारणा को और स्पष्ट समझने के लिए इसे पाप, अनैतिकता, दुराचार व वैयक्तिक क्षति से पृथक् समझना होगा। अपराध कानूनी दृष्टि से 'कानून का उल्लघन' व सामाजिक दृष्टि से 'सामाजिक मूल्यो म विचलन' है और 'पाप' दैवीय अधिकार का उल्लघन तथा धार्मिक आदेशो के विरुद्ध किया है। झूठ बोलना, बडो का अनादर करना, दीन व *अभावग्रस्तो की सहायता न करना आदि पाप* हैं परन्तु अपराध नही। धार्मिक मान्यताएँ कानून-निर्माण मे एक आधार होती है। अत जो अपराध है वह आवश्यक रूप से पाप होगा परन्तु पाप सदैव अपराध नही होता।

स्वय की अन्तरात्मा व विवेक के विरुद्ध क्रिया अनैतिकता है। विवाह के

विना अवैध सम्बन्ध स्थापित करना और विवाहोपरान्त पति अथवा पत्नी का अन्य स्त्री अथवा पुरुष से अनैतिक सम्बन्ध रखना अनैतिकता एवं नीति-विरुद्ध माना जायेगा। अनैतिक कार्य अनिवार्यतः अपराध नहीं होता। दुराचार एवं अभिचार सदाचार तथा सद्गुण के विलोम हैं। जुआ, मदिरापान, वेश्यागमन आदि दुराचार के उदाहरण हैं। दुराचार का शिकार होकर उससे कष्ट भोगने वाला स्वयं कर्त्ता होता है न कि समाज।

असार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षति (tort) व्यक्ति के निजी हितों के विरुद्ध क्रिया मानी जाती है जबकि अपराध समाज के विरुद्ध हानिकर कार्य है। अपराध सार्वलौकिक अपकार है तथा वैयक्तिक क्षति व्यक्तिगत अनाचार है। वैयक्तिक क्षति में उसके भोक्ता (victim) की असावधानी अभियुक्त (accused) के लिए रक्षा का आधार व अवलम्बन हो सकती है किन्तु अपराध में ऐसा असम्भव है। वैयक्तिक क्षति पहुँचाने वाले के विरुद्ध कार्यवाही तभी की जाती है जब भोक्ता-व्यक्ति (victim) शिकायत करता है परन्तु अपराध में अपराधी के विरुद्ध राज्य अभियोग के विना भी कार्यवाही कर सकता है। हाल (Hall) के अपराध और व्यक्तिगत क्षति में अन्तर के अनुसार, अपराध सदैव सामाजिक हानि है तथा उसमें व्यक्तिगत आघात की उपस्थिति आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त अपराध में दोषी प्रयोजन (guilty intent) व नैतिक अभियोज्यता (moral culpability) का मिश्रण होता है जबकि व्यक्तिगत क्षति में इनका अभाव है।[1] इन विभेदों के होने पर भी अपराध और वैयक्तिक क्षति में यथार्थ रूप से अन्तर करना कठिन है। व्यक्ति-हित तथा समाजहित व्यवहार को स्पष्ट तथा पृथक् करने वाली सीमांकन रेखा खींचना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ, 'क' का 'ख' के गृह में अनधिकार प्रवेश वैयक्तिक हानि माना जाता है परन्तु चोरी के उद्देश्य से किया गया अनधिकार प्रवेश अपराध है। परन्तु चोरी का उद्देश्य प्रमाणित कर पाना या न कर पाना आसान नहीं होता। किसी विवाहित व्यक्ति द्वारा एक लड़की का शीलभंग वैयक्तिक क्षति के अतिरिक्त पाप, अपराध तथा अनैतिकता भी है। स्टीफेन (Stephen) और केनी (Kenny) भी सहमत हैं कि अपराध और वैयक्तिक-क्षति भिन्न नहीं हैं तथा फौजदारी (criminal) और दीवानी (civil) अपकार अलग-अलग दृष्टि से अधिकांशतया एक ही कार्य हैं। दोनों में अन्तर प्रकृति का नहीं अपितु सम्बन्ध का है।[2]

अन्त में कहा जा सकता है कि अपराध सम्बन्धी अनुसन्धानों के लिए अपराध को कानून द्वारा निषिद्ध व दण्ड-संहिता द्वारा उपचारित क्रिया मानना होगा।

अपराधों का वर्गीकरण

किसी प्रघटना के वर्गीकरण का प्रमुख उद्देश्य उसका वैज्ञानिक अवलोकन

[1] Jerome Hall, *op. cit.*, Chap. 7.

[2] 'Crimes and torts are not mutually exclusive and that criminal wrongs and civil wrongs are often one and the same act as viewed from different stand points, the difference being not one of nature but one of relation.' Stephen and Kenny, *Outlines of Criminal Law*, 1936, 22.

भी है और उस पर अनुसन्धान हेतु उपकल्पनाओं के निर्माण में सहायता भी है। इस तरह 'प्रकारों' का निर्माण विशिष्ट सिद्धान्तों के विकास में एक आवश्यक पद माना जाता है। हेम्पेल (Hempel) के अनुसार, 'नियमगत रूप से 'वर्गीकरण' (वर्गों का बना हुआ) और 'प्रकार पद्धति' (typology) (प्रकारों का बना हुआ) में अन्तर है।'[1] 'वर्गीकरण' चरों (variables) व लक्षणों (attributes) का वह समूह है जो एक तर्कसंगत संयोजन बनाने वालों हेतु आपस में जुड़े होते हैं। दूसरी ओर 'प्रकार पद्धति' वह वर्गीकरण है जो चरों द्वारा तर्कसंगत संयोजन बनाने के अतिरिक्त उन युक्तियों को भी स्पष्ट करता है जिनके द्वारा विभिन्न चर आपस में अनुभवाश्रित विधि से (empirically) सम्बन्धित होते हैं। विभिन्न प्रकार के व्यवहारों में संयुक्त होने के कारण अपराधशास्त्रियों ने अब अपराध के विशेष प्रकारों के अध्ययन पर ध्यान दिया है। क्वीने (Quinney) की तो मान्यता है कि अपराध का व्यापक सिद्धान्त विभिन्न प्रकार के विवरणों के आधार पर ही विकसित किया जा सकता है।[2]

अपराध प्रघटना→ प्रकारों का निर्माण→ हर प्रकार का विश्लेषण→ सभी प्रकारों में सर्वनिष्ठ व सर्वसामान्य लक्षणों की उपलब्धि→ व्यापक सिद्धान्त का निर्माण।

अनेक अपराधशास्त्रियों ने पिछले कुछ वर्षों में अपराध के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अपराध और अपराधियों के वर्ग-विन्यास तथा प्रकार पद्धतियों के निर्माण के प्रयास किये हैं। इन वर्गीकरणों और प्रकार पद्धतियों को क्लिनार्ड और क्वीन (Clinard and Quinney) तीन समूहों में विभाजित करते हैं: वैधानिक (legalistic), व्यक्तिवादी (individualistic) और सामाजिक (social)।[3] वैधानिक वर्गीकरण अपराध की वैध परिभाषा पर आधारित होते हैं तथा ये व्यक्त व प्रत्यक्ष क्रिया पर बल देते हैं। सदरलैण्ड और बोगर के अपराधों का वर्ग-विन्यास तथा सांख्यिकीय उद्देश्य के लिए कानून द्वारा दिया गया अपराधों का श्रेणीक्रम इस श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। व्यक्तिवादी वर्गीकरण अपराध की कानूनी परिभाषा को नहीं मानते अपितु ये व्यक्तियों के कुछ लक्षणों पर बल देते हैं। लोम्ब्रोजो, गारोफैलो, फेरी आदि अपराधशास्त्रियों का अपराध और अपराधियों का श्रेणीकरण इस श्रेणी में रखा जा सकता है। सामाजिक वर्गीकरण में अपराधी व्यवहार को अपराध करने

[1] 'A classification is composed of a set of variables or attributes which are linked to form a number of logically possible combinations. Typologies are classifications which in addition attempt to specify the ways in which attributes or variables are empirically connected.' —Carl O Hempel, *Science, Language and Human Right*, University of Pennsylvania Press, Philadelphia, 1952, 81.

Also see, Marshall B Clinard, and Richard Quinney *Criminal Behaviour System—A Typology*, Rinehart, Holt and Winston Inc., New York, 1967, 2

[2] Richard Quinney, *Journal of Research in Crime and Delinquency* January 1965, 8

[3] Clinard and Quinney *op cit*, 4

वाली परिस्थितियों के सन्दर्भ में विभाजित किया जाता है। अलेक्जेण्डर, लिण्टस्मिथ, अब्राह्मसेन व लेमर्ट (Lemert) द्वारा अपराधियों के वर्गीकरण इसके उदाहरण हैं। अब हम अलग-अलग विद्वानों द्वारा दिया गया पहले अपराध का और फिर अपराधियों के श्रेणीकरण का विवरण देंगे।

विभिन्न अपराधशास्त्रियों ने श्रेणीकरण हेतु विभिन्न आधार लिये हैं। यदि एक ने उद्देश्य के आधार पर तो दूसरे ने गम्भीरता व सांख्यिकी प्रयोजन के आधार पर अपराध का वर्गीकरण किया है। इनका हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण

सदरलैण्ड (Sutherland)—गम्भीरता व नृशंसता (atrocity) के आधार पर सदरलैण्ड दो प्रकार के अपराध मानता है: साधारण अपराध (misdemeanours) और जघन्य अपराध (felonies)।[1] पहले के लिए एक वर्ष से कम कारावास, अर्थ दण्ड, परिवीक्षा पर छोड़ना, न्यायालय द्वारा ताड़ना देकर छोड़ देना आदि साधारण दण्ड दिये जाते हैं; तथा दूसरे के लिए मृत्युदण्ड व एक वर्ष से अधिक कारावास आदि कठोर दण्ड का विधान होता है। चोरी, मारपीट मदिरा का सेवन, साधारण अपराधों के उदाहरण हैं और हत्या, बलात्कार, डकैती, अपहरण आदि जघन्य अपराधों के उदाहरण हैं। टैपन के मतानुसार, यह श्रेणियाँ परस्पर अतिक्रमणकारी (over-lapping) हैं क्योंकि एक अपराध किसी समाज में साधारण माना जाता है तो वही अपराध अन्य समाज में जघन्य होता है। एक ही देश के कुछ राज्य जिस अपराध को साधारण मानते हैं तो दूसरे राज्य उसे गम्भीर मानते हैं। तदुपरान्त साधारण अपराध कभी-कभी परिणाम की दृष्टि से जघन्य अपराध की अपेक्षा अधिक गम्भीर हो सकते हैं।[2] जेम्स स्टीफेन (James Stephen) के मत से भी यह वर्गीकरण बहुत अस्पष्ट होने से अधिक उपयोगी नहीं है।[3] अपराधियों के वर्गीकरण के लिए प्रयोग[4] होने के कारण सदरलैण्ड के इस वर्गीकरण को दोषपूर्ण माना जाता है और अपराधियों के वर्गीकरण का यह आधार इस कारण अवैज्ञानिक है क्योंकि (क) इसमें बिना तर्क व श्रम के मान लिया जाता है कि जघन्य अपराधी बहुत भयानक होता है तथा उसका पुनःस्थापन करना सरल नहीं होता, (ख) अपराधी को सुधारने का आधार अपराधी की क्रिया व अपराध की प्रकृति को ही नहीं माना जा सकता अपितु उसके व्यक्तित्व को ही केन्द्र-बिन्दु मानना होता है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों तर्क सही हैं फिर भी अपराध की गम्भीरता के आधार पर अपराधियों का वर्गीकरण उनके सुधार सम्बन्धी उपाय ढूंढ़ने की दृष्टि से आवश्यक है। साधारण अपराध वाले अपराधी समाज

[1] Edwin H. Sutherland, *op. cit.*, 16-17.

[2] Paul W. Tappan, *op. cit.*, 19.

[3] James H. Stephen, *A History of the Criminal Law of England*, Macmillan & Co., London.

[4] See Clinard and Quinney, *Criminal Behaviour System—A Typology*, *op. cit.*, 2-9.

सुरक्षा के लिए खतरनाक नही माने जा सकते। वास्तव मे इनके अपराध समाज-कल्याण, चिकित्सा व मनोविकारमूलक समस्याएँ प्रदर्शित करते हैं जिनका उपलब्ध गैर-सुधारात्मक साधनो द्वारा आदर्श-स्वरूपता से उपचार किया जा सकता है। आज के युग मे जब अपराधी को सुधारने के लिए दण्ड को बहुत महत्त्व दिया जाता है तथा कारावास को सुधारने का प्रभावशील साधन नही माना जाता, ऐसी स्थिति मे अपराधो के ऐसे वर्गीकरण की, जो गैर-दण्डनीय साधनो का निर्देशन करते हो, उपेक्षा व अवहेलना नही की जा सकती। अत व्यावहारिक दृष्टि से गम्भीरता के आधार पर अपराधो का वर्गीकरण न केवल वाछनीय है अपितु अपराध के नियन्त्रण हेतु *अवारणीय, अनुपेक्षणीय व अवश्यम्भावी* (*inevitable*) भी है। सम्भवतः यही कारण है कि सदरलैण्ड के वर्गीकरण की आलोचना के उपरान्त भी अपराधियो के दण्ड देने व सुधारने के लिए सभी समाजो मे यही वर्गीकरण प्रयुक्त होता है।

बोगर (Bonger)—नीदरलैण्ड निवासी बोगर उद्देश्य के आधार पर चार प्रकार के अपराध मानता है : (i) आर्थिक अपराध—इनमे धन-प्राप्ति अपराध का मुख्य ध्येय होता है, (ii) यौन सम्बन्धी अपराध—इनमे लैंगिक तृप्ति अपराध का प्रमुख कारण होता है; (iii) राजनीतिक अपराध—इनमे राजनीतिक क्षेत्र मे लाभ प्राप्त करने हेतु अपराध होता है, (iv) विविध अपराध—इनमे अपराध का प्रमुख प्रेरक प्रतिशोध एव बदले की भावना होता है।[1] सदरलैण्ड की तरह बोगर का वर्गीकरण भी इस आधार पर अमान्य, अप्रयोजक, व अनुपयुक्त माना जाता है क्योकि सभी अपराध आवश्यक रूप से केवल एक ही उद्देश्य से नही किये जाते। कुछ अपराधो मे एक ही समय पर दो या अधिक उद्देश्य हो सकते है। उदाहरणार्थ, किसी राजनीतिज्ञ की हत्या प्रतिशोध के उद्देश्य से हो सकती है तो विरोधी से छुटकारा पाना तथा धन-प्राप्त करना भी अन्य उद्देश्य हो सकते है। इस पकार के अपराध बोगर द्वारा दी गई किसी एक श्रेणी मे नही रखे जा सकते।

लेमर्ट (Lemert)—लेमर्ट ने अपराधो को परिस्थिति-मूलक (situational) और नियमित व सुव्यवस्थित (systematic) बताया है।[2] परिस्थिति से बाध्य होकर एव परिस्थिति के प्रतिकूल होने के कारण किये जाने वाले अपराध 'परिस्थिति-मूलक' अपराध होते है। किन्तु नियमित व सुव्यवस्थित अपराध करने मे स्थान, विधि, समय आदि प्रत्येक पहलू पूर्व-निश्चित होते है। अपराधियो के सुधार मे यह वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है क्योकि इससे अपराधी के व्यक्तित्व का आभास मिलता है जो उसके सुधार हेतु साधन ढूंढने मे सहायक होता है।

साख्यिकीय आधार पर वर्गीकरण

साख्यिकीय आधार—इस उद्देश्य से कुछ समाजो मे कानूनो ने अपराधो को

[1] W. A. Bonger, *Criminality and Economic Conditions*, Boston, 1916, 536–37

[2] Edwin M Lemert, *Social Problems*, Fall, 1958, 141–49

चार प्रकार का माना है : (i) व्यक्ति-विरुद्ध—जैसे हत्या, मारपीट, बलात्कार, इत्यादि; (ii) सम्पत्ति विरुद्ध—जैसे चोरी, लूटना, इत्यादि; (iii) सार्वजनिक न्याय और सत्ता विरुद्ध—जैसे गबन, धोखा आदि; तथा (iv) सार्वजनिक व्यवस्था (order), सभ्यता (decency) व सदाचार-विरुद्ध—जैसे, मदिरापान, जुआ, जनोपद्रव मचाना, मादक पदार्थों का सेवन, वेश्यावृत्ति, इत्यादि।

भारत में सांख्यिकीय आधार पर तीन प्रकार के अपराध पाये जाते हैं—

(1) वे अपराध जो भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) के अन्तर्गत दण्डनीय हैं। इनके अनेक उपसमूह हैं, जैसे जीवन को प्रभावित करने वाले अपराध—हत्या, मारपीट, अपहरण, बलात्कार, अवैध बन्धन इत्यादि; सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध—चोरी, लूट, डकैती, गबन, रुपयों का दुर्विनियोग, चोरी की वस्तुएँ लेना व बेचना, बलपूर्वक धनापहरण आदि; लोक स्वास्थ्य, सुरक्षा, सभ्यता व सदाचार को प्रभावित करने वाले अपराध; राज्य के विरुद्ध अपराध; सार्वजनिक न्याय एवं सार्वजनिक अशान्ति के विरुद्ध अपराध; शासकीय कर्मचारियों को हानि पहुँचाना, धोखाधड़ी, अभित्रास (intimidation), मानहानि, विश्वासघात, दुष्टता, आदि।

(2) वे अपराध जो दण्ड-प्रक्रिया संहिता (Code of Criminal Procedure) के अन्तर्गत दण्डनीय हैं। इनके भी दो उपसमूह हैं : (क) शान्ति-भंग सम्बन्धी अपराध, (ख) दुर्व्यवहार सम्बन्धी अपराध।

(3) ऐसे अपराध जो विशिष्ट और स्थानीय विधियों के अन्तर्गत दण्डनीय हैं।

सांख्यिकीय आधार पर अपराधों का वर्गीकरण अपराधी कानूनों के संहिताकरण (codification) के लिए लाभप्रद हो सकता है किन्तु सैद्धान्तिक विश्लेषण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। क्लिनार्ड और क्वीने भी इस वर्गीकरण को दोषयुक्त बताते हैं।[1] उनके मतानुसार (1) यह वर्गीकरण अपराधियों, अपराध की परिस्थितियों तथा अपराध के उद्देश्यों के प्रति मौन है, जैसे चोरी किन परिस्थितियों में की गई अथवा हत्या का क्या उद्देश्य था, आदि। (2) यह वर्गीकरण विशिष्टीकरण की एक असत्य धारणा प्रतिपादित करता है क्योंकि इसमें निहित आशय यह है कि अपराधी केवल वही अपराध करते हैं जिसके लिए उन्हें पकड़ा जाता है। (3) अपराधी कानून की वैध परिभाषा क्योंकि स्थान और समय सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है अतः अपराधों का यह वैधानिक वर्गीकरण तुलनात्मक विश्लेषण के लिए सहायक नहीं हो सकता। (4) इन वैधानिक श्रेणियों में यह त्रुटिपूर्ण धारणा मिलती है कि एक अपराध के लिए वैध रूप से अंकित सभी अपराधी समान होते हैं तथा अपराध करने की एक ही प्रणाली अपनाते हैं। उदाहरणार्थ, यह मान्यता कि सभी हत्यारे या चोर प्रत्येक दृष्टि से समान हैं तथा अपराधों के लिए एक ही प्रणाली अपनाते हैं तथा उन्हें एक समान परिस्थितियाँ ही अपराध करने के लिए प्रेरणा देती हैं त्रुटिपूर्ण, भ्रमात्मक व तर्कहीन हैं। अतः सिद्धान्त के विकास हेतु यह वर्गीकरण अनुपयुक्त होने से इसे समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

[1] Clinard and Quinney, *op. cit.*, 4–5.

अन्य वर्गीकरण

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त अपराधों को (i) संगठित व असंगठित, तथा (ii) व्यक्तिगत व सामाजिक भी बताया गया है। दो या अधिक अपराधियों के मिलकर सामूहिक रूप से अपराध का हर पहलू पूर्व-निश्चित कर अपराध करने को संगठित अपराध कहते हैं। इनमें सत्ता का केन्द्रीयकरण, श्रम विभाजन, अपराधी, उपक्रमों में एकाधिकार, सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के नियम, अपराधियों की सुरक्षा हेतु कोष आदि जैसे लक्षण पाये जाते हैं। ये सभी लक्षण संगठित व्यापार से तुलना योग्य हैं। अन्तर केवल इतना है कि संगठित व्यापार में धनोपार्जन के साधन वैध होते हैं किन्तु संगठित अपराध में अवैध होते है। इस अपराध का सविस्तार विवरण एक अगले अध्याय में दिया गया है। असंगठित अपराध के लक्षण संगठित अपराध से विपरीत होते हैं। इसमें दो या अधिक अपराधियों का सहयोग भी मिल सकता है परन्तु उनके अपराध का कोई पहलू पूर्व-निश्चित नहीं होता। दूसरी ओर व्यक्तिगत अपराध वह अपराध माना जाता है जिसमें एक ही व्यक्ति अपराध करता है जबकि सामाजिक अपराध में दो या अधिक अपराधियों द्वारा सामूहिक प्रयत्न मिलता है।

उपर्युक्त सभी वर्गीकरणों में कुछ गुण व दोष हैं। हमारा विचार है कि भारत में अपराध के वैज्ञानिक अध्ययन हेतु इसे ग्रामीण और नगरीय सन्दर्भ में समझना होगा क्योंकि दोनों प्रकार के अपराधों में प्रकृति के साथ-साथ विस्तार और कारणों का अन्तर भी मिलता है। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सम्बन्धी भावात्मक अपराध अधिक मिलते हैं। तदुपरान्त अशिक्षित, मिथ्याधर्मी, एवं अन्धविश्वासी ग्रामीण अपराधियों के सुधार के लिए उनके व्यक्तित्व व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अलग साधन अपनाने की भी आवश्यकता है।

क्लिनार्ड और क्वीने ने अपराध के प्रकार पद्धति के निर्माण में अपराधी व्यवहार की पद्धतियों को आधार बनाया है।[1] *पद्धति से उनका अर्थ दिये हुए प्रकार के लक्षणों में उस सम्बन्ध का पाया जाना है जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर (constant) रहते हैं।* इस आधार पर उन्होंने आठ प्रकार के अपराध माने हैं: *हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध, सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध,* व्यावसायिक *अपराध, राजनीतिक अपराध, सार्वजनिक* व्यवस्था सम्बन्धी अपराध, परम्परागत *अपराध, संगठित अपराध तथा पेशेवर अपराध।*

(1) **हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध** (Violent personal crime)— परिस्थितियों से बाध्य होकर व हिंसा के प्रयोग से यह अपराध उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिनके विरुद्ध किसी अपराध का कोई पूर्व रिकार्ड नहीं मिलता। इस अपराध के करने वालों का व्यवहार समाज द्वारा मान्य मूल्यों के सर्वथा विपरीत होता है तथा इनके प्रति समाज की प्रतिक्रिया अति कठोर व प्रबल होती है। इस

[1] *Ibid.*, 14-18

श्रेणी में हत्या, आक्रमण व बलात्कार आदि जैसे अपराध आते हैं।

(2) **सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध** (Occasional property crime)—यह अपराध व्यक्तिगत सम्पत्ति के मूल्यों का उल्लंघन होता है। ये अपराधी भी स्वयं को अपराधी नहीं मानते तथा अपराधी व्यवहार को तर्कयुक्त (rational) ठहराते हैं। ये व्यक्ति अधिकांशतः समाज के लक्ष्यों को स्वीकार करते हैं। समाज की प्रतिक्रिया इनके प्रति इन्हें बन्दी बनाने व दण्ड देने की होती है। इस प्रवर्ग में मोटरों व उनके अंगों की चोरी, दुकानों से चोरी, कलात्मक वस्तुओं की चोरी तथा जाली चैक बनाने जैसे अपराध सम्मिलित हैं।

(3) **व्यावसायिक अपराध** (Occupational crime)—यह वह अपराध है जिसे आर्थिक उद्देश्य हेतु व्यक्ति अपनी दैनिक व्यावसायिक क्रियाओं का अंग बनाकर करता है। ये अपराधी भी स्वयं को हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराधियों तथा सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधियों के समान अपराधी नहीं मानते तथा समाज के परम्परागत मूल्यों को स्वीकार करते हैं। अधिकतर ऐसे अपराध समाज की ऊँची स्थिति वाले व्यक्ति करते हैं, अतः इनके प्रति जनसाधारण की प्रतिक्रिया प्रतिकूल नहीं होती। इसमें गबन, झूठा विज्ञापन, काला बाजारी, आदि अपराध आते है।

(4) **राजनीतिक अपराध** (Political crime)—यह अपराध व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए समाज में राजनीतिक परिवर्तन लाने हेतु करता है। इन अपराधों के प्रति समाज के सदस्यों की प्रतिक्रिया तभी कठोर होती है जब इन्हें समाज के लिए हानिकारक माना जाता है। इसमें देशद्रोह, जासूसी, गुप्त तोड़-फोड़, शत्रु देशों को स्वयं के देश के सैनिक रहस्य देना, आदि कार्य आते हैं।

(5) **सार्वजनिक व्यवस्था-सम्बन्धी अपराध** (Public order crime)—इसमें मदिरापान, आवारागर्दी, वेश्यावृत्ति, उपद्रवी व्यवहार, यातायात के नियमों का उल्लंघन तथा समलिंगता (Homosexuality) आदि अपराध आते हैं। इस अपराध के करने वाले अपने को तभी अपराधी मानते है जब अन्य उन्हें बराबर अपराधी कहते हैं। इनके व्यक्तित्व का विकास अपराधी मूल्यों तथा समाज-सम्मत मूल्यों के आधार पर होता है। ये यदा-कदा अन्य अपराधियों से भी सम्पर्क रखते हैं। सार्वजनिक व्यवस्था-सम्बन्धी अपराध के कुछ प्रकार (जैसे वेश्यावृत्ति) न्याय व्यवस्थित समाज के कुछ अंगों द्वारा वांछनीय समझे जाते हैं। शेष अपराधियों को समाज दण्डनीय समझता है।

(6) **परम्परागत अपराध** (Conventional crime)—इस अपराध में व्यक्ति निजी सम्पत्ति की पवित्रता का उल्लंघन करता है। डकैती, लूटमार, अपहरण गिरोह बनाकर चोरी करना, आदि इसमें सम्मिलित है। इन्हें अपराधी अंशकालिक (part time) आजीविका के रूप में अपनाते हैं। ऐसे अपराधी अपने को सुव्यवस्थित समाज का अभिन्न अंग मानते हैं किन्तु इनकी बद्धता (commitment) अधिकतर अपराधी उप-संस्कृति के प्रति होते है। सम्भवतः इसी कारण समाज के लोग इनसे घृणा करते हैं।

(7) **संगठित अपराध** (Organised crime)—यह अपराध दो से अधिक व्यक्तियो द्वारा मिलकर पूर्व-निश्चित योजना से आर्थिक उद्देश्य हेतु किया जाता है। सगठित वेश्यावृत्ति, सगठित जुआ, दस्युता आदि इस अपराध के कुछ उदाहरण हैं। इन अपराधो को अपराधी आजीविका के रूप मे अपनाते है। इस अपराध मे विनियुक्त अपराधियो मे श्रेणीक्रम (hierarchy) पाया जाता है। निम्न स्तर के अपराधी स्वय को अपराधी ही मानते हैं और सदा अन्य अपराधियो के सम्पर्क मे रहते है और व्यवस्थित समाज से पृथक् रहते है। ऊँचे स्तर के अपराधी अन्य अपराधियो के अलावा वैध समाज के सदस्यो से भी सम्पर्क रखते है तथा धनवानों के पडौस मे रहते है। सगठित अपराध मे ग्रस्त गिरोह समाज के लिए अवैध सेवाएँ भी उपलब्ध कराते है, अत जनता इनको सहन करती है।

(8) **पेशेवर अपराध** (Professional crime)—जेब कतरना, नकली सिक्के बनाना, दुकानो मे चोरी करना, आदि इस अपराध के कुछ उदाहरण हैं। पेशेवर अपराधी अपराध को आजीविका के प्रमुख साधन व रहन-सहन का तरीका समझते हैं। ये स्वय को अपराधी मानते हैं और व्यवस्थित समाज से पृथक् रहते हैं तथा अपराधी ससार मे उच्च स्थान रखते हैं।

सरलतापूर्वक समझने हेतु आठो प्रकार के अपराधो को पृष्ठ 30 पर अकित सारणी द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

क्लिनार्ड और क्वीने के इस निर्माण मे चार तत्त्व महत्वपूर्ण है—(1) व्यक्ति का अपराधी जीवन अथवा ऐसा जीवन आजीविका का कहाँ तक अग है? इसमे अपराधी की स्वय के प्रति धारणा भी आ जाती है। (2) समूह द्वारा समर्थन की सीमा, अथवा जिस समूह का वह सदस्य है, उसके नियम कहाँ तक उसके अपराधी व्यवहार का समर्थन करते है। इसमे अपराधी के अन्य अपराधियो और अनपराधियो के साथ विभिन्न सम्बन्ध, अपराध की सामाजिक क्रियाएँ तथा अपराधी का सामाजिक समूहो में समाकलन (integration) भी सम्मिलित है। (3) वैध और अपराधी व्यवहार मे सम्बन्ध। (4) समाज की प्रतिक्रिया।

अपराधी की धारणा (Concept of Criminal)

अपराध को परिभाषित करके पूर्व मे बताया जा चुका है कि कानून की दृष्टि से न्यायालय द्वारा सिद्ध दोषी तथा किसी प्रकार मे दण्डित व्यक्ति को ही अपराधी माना जाता है,[1] यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टि से कानून का उल्लघन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, न्यायालय के निर्णय को महत्त्व दिये बिना, अपराधी माना जाता है। समाजशास्त्रियो द्वारा अपाकर्षण रूप से (abstractly) परिभाषित अपराधी सख्या स्पष्टत उन उल्लघनकर्ताओ की सख्या से अर्थयुक्त रूप से अलग होती है जो पुलिस द्वारा बन्दी बनाये जाते हैं या जो न्यायालयो द्वारा दण्डित होते हैं अथवा जिनको

[1] A criminal, from a legalistic view point, is an individual who has behaved in ways that diverge from the prohibitions in the criminal law

सारणी

लक्षण	हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध	आकस्मिक सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध	व्यावसायिक अपराध	राजनीतिक अपराध	सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी अपराध	परम्परागत अपराध	संगठित अपराध	पेशेवर अपराध
अपराधी का अपराध जीवन	साधारण	साधारण	साधारण	साधारण	मध्य	मध्य	गम्भीर	गम्भीर
अपराधी व्यवहार का सामूहिक समर्थन	निम्न	निम्न	मझोला	मझोला	मझोला	उत्तुंग	उत्तुंग	उत्तुंग
अपराधी व्यवहार और वैध व्यवहार में सम्बन्ध	निम्न	निम्न	उच्च	मध्यम	मध्यम	मध्यम	मध्यम	मध्यम
समाज की प्रतिक्रिया	प्रबल (मृत्युदंड, लम्बा कारावास)	मध्यम (परिवीक्षा पर छोड़ना, छोटी अवधि का कारावास, आदि)	महनीय (जुर्माना, लाइसेंस छीनना)	प्रबल	मध्यम	प्रबल	मध्यम	मध्यम
अपराध की वैध श्रेणियां	हत्या, बलात्कार, आक्रमण	दुकानों से चोरी, जाली चैक बनाना	गबन, झूठा विज्ञापन, चोर-बाजारी	देशद्रोही, जासूसी, गुप्त तोड़-फोड़	मदिरापान, आवारागर्दी, वेश्यावृत्ति	लूटमार, डकैती, अपहरण	दस्युता, संगठित वेश्यावृत्ति	जेबकतरी, नकली सिक्के बनाना

सुधारात्मक संस्थाओं में रखा जाता है। टैपन (Tappan) के अनुसार अपराधशास्त्रीय अनुसंधान में अपराधी जनसंख्या के विश्लेषण के लिए निदर्शन (sample) के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से हमें अपराधियों की विभिन्न श्रेणियों को ध्यान में रखना होगा।[1] जैसे, (1) वह अपराधी जिसने कानून का उल्लंघन किया हो परन्तु न वह बन्दी बनाया गया हो और न न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया हो, (2) संदिग्ध (suspect) अपराधी जिसको चालान कर बन्दी बनाया गया हो यद्यपि उसने वास्तव में अपराध न किया हो, (3) न्यायालय में प्रतिरक्षी (defendant) जिसकी न्यायिक जाँच हुई हो परन्तु निर्दोष सिद्ध होने पर मुक्त कर दिया गया हो; तथा (4) कारागृह से मुक्त (discharged) अपराधी जिसके दण्ड की अवधि समाप्त हो गयी हो। इस लेखक का विश्वास है कि ये श्रेणियाँ सैद्धान्तिक रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं क्योंकि प्रथमतः, दूसरी व तीसरी श्रेणियों के व्यक्तियों को अपराधी मानकर उनको निदर्शन में सम्मिलित करना अपराधियों के अध्ययन में कभी वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। दूसरे, पहली श्रेणी में से व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व की दृष्टि से चयन करना अति कठिन है। अपराधशास्त्रीय अनुसंधानों के लिए हमें अपराधियों के लक्षणों के आधार पर ही वर्गीकरण करना होगा।

अब कुछ अपराधशास्त्रियों का विचार है कि हमें कुछ अधिक उत्साही (over-enthusiastic) होकर सामाजिक दृष्टि से अहितकर (socially harmless) क्रियाओं में फँसे हुए व्यक्तियों को अपराधी नहीं मानना चाहिए। हमें समाज को बहुत अधिक अपराधित (over criminalise) नहीं करना चाहिए तथा कोकीन या मारीजुआना आदि जैसे नशीले पदार्थ (drugs) प्रयोग करने, जुआ खेलने व समलिंगता (homosexuality) आदि जैसी 'क्रियाओं' को 'अपराध' नहीं समझना चाहिए। ऐसे व्यवहारों को अ-अपराधित (decriminalise) करके हमें 'अपराधी' की परिभाषा ही बदलनी चाहिए।[2]

अपराधियों के प्रकार (Types of Criminals)

प्रमुख रूप से पाँच प्रकार के अपराधी पाये जाते हैं—(1) प्रथम बार कानून उल्लंघन करने वाला (first offender), (2) आकस्मिक (casual), (3) अभ्यस्त (habitual), (4) पेशेवर (professional), तथा (5) श्वेतवस्त्रधारी (white-collared)। प्रथम बार कानून का उल्लंघन करने वाला अपराधी वह व्यक्ति है जो जीवन में पहली बार अपराध करता है। आकस्मिक अपराधी कभी-कभी अपराध करने वाला व्यक्ति है। अभ्यस्त अपराधी बार-बार एवं लगातार अपराध करता है किन्तु अपराध को धनोपार्जन का प्रमुख साधन नहीं अपनाता। पेशेवर अपराधी न केवल नित्य अपराध करता है बल्कि अपराध ही उसकी जीविका होता है। श्वेतवस्त्रधारी

[1] Paul W Tappan, *op cit*, 21

[2] We should not over criminalise the Society We should decriminalise some kinds of behaviour by removing socially harmless acts like marijuana use, gambling, homosexuality, etc from the criminal statutes

अपराधी उच्च आर्थिक व सामाजिक वर्ग का सदस्य होता है तथा आर्थिक उद्देश्य से अपने व्यवसाय के मध्य अपराध करता है। पेशेवर तथा श्वेतवस्त्रधारियों का सविस्तार वर्णन दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में किया गया है। यहाँ हम विभिन्न अपराधशास्त्रियों द्वारा दिये गये अपराधियों के वर्गीकरण का विवरण करेंगे।

सदरलैण्ड—सदरलैण्ड ने दो प्रकार के अपराधी बताये हैं[1]—निम्न श्रेणी के साधारण अपराधी तथा श्वेतवस्त्रधारी अपराधी। पहली श्रेणी में उसने उन सभी निम्न आर्थिक और सामाजिक वर्गों के अपराधियों को रखा है जो किसी निश्चित उद्देश्य से ऐसे कानूनों का उल्लंघन करते हैं जो राज्य द्वारा दण्डनीय हैं। दूसरी श्रेणी में आर्थिक उद्देश्य हेतु कानून का उल्लंघन करने वाले ऊँचे वर्ग के सदस्य आते हैं।

अलेक्जेण्डर और स्टाब (Alexander and Staub)—अलेक्जेण्डर और स्टाब ने अपराधियों को दो समूहों—आकस्मिक (accidental) और दीर्घकालिक (chronic)—में विभाजित कर दीर्घकालिक के तीन उपसमूह—सामान्य (normal), तान्त्रिकामय पीड़ित (neurotic), और शरीरविकृत (pathological)—दिये हैं।[2] असाधारण परिस्थितियों के कारण, आकस्मिक अपराधी एक या अनेक अपराध करता है और दीर्घकालिक अपराधी बार-बार अपराध करने वाला व्यक्ति होता है। सामान्य अपराधी अन्य अपराधियों से सम्पर्क के कारण अपराध करता है तथा उसका अपराध पर्यावरण की उपज है। सामान्य अपराधी के अपराध में समाजशास्त्रीय कारक, शरीरविकृत अपराधी में जैविकीय कारक, तथा तन्त्रिकामयपीड़ित अपराधी में मनोवैज्ञानिक कारक मिलते हैं। उत्सुकता, व्यग्रता, आकुलता, दोषी भावनाओं, एवं व्यक्तित्व के संघर्षों के कारण तन्त्रिकामय पीड़ित अपराधी कानून का उल्लंघन करता है। वह असाधारण संवेदना सम्पन्न एवं अत्यधिक उत्तेजना-प्रवण व्यक्ति होता है। शरीरविकृत अपराधी अपने अंगांग सम्बन्धी (organic) विकृति के कारण (जिसमें मानसिक हीनता भी आ जाती है) ऐसा कार्य करता है।

डेविड अब्राह्मसेन (David Abrahamsen)—डेविड अब्राह्मसेन ने अपराधियों के दो प्रकार—क्षणस्थायी (momentary) और दीर्घकालिक (chronic)—बताये हैं।[3] क्षणस्थायी अपराधी उसके मत मे असामाजिक मनोवेगों (impulses) के कारण प्रलोभी परिस्थितियों में एक या दो बार अपराध करता है। इसकी अपराधी क्रियाएँ अस्थायी व असाधारण होती हैं तथा असामाजिक लक्षणों से विहीन होती हैं तीन या उससे अधिक बार अपराध करने वाला दीर्घकालिक अपराधी है। अब्राह्मसेन ने क्षणस्थायी अपराधियों के तीन प्रकार बताये हैं। इसी प्रकार दीर्घकालिक

[1] Edwin H. Sutherland, 'White Collar Criminality', *American Sociological Review*, Vol. 5, No. 1, February 1940, 1–12.

[2] Franz Alexander and Hugo Staub, *The Criminal, the Judge and the Public*, trans. Gregory Ziboorg, The Macmillan Co., New York, 1931, 145–52.

[3] David Abrahamsen, *The Psychology of Crime*, John Wiley & Sons, New York, 1960, 123.

अपराधियों के भी उसने इतने ही उप-प्रकार दिये है। क्षणस्थायी के तीन प्रकार है—परिस्थितिगत (situational), संसर्ग-सम्बन्धी (associational) और आकस्मिक (accidental)। दीर्घकालिक के तीन प्रकार है—तान्त्रिकामय पीडित (neurotic), मनोरोगमय (psychopathic) एवं मनोविक्षिप्त (psychotic)। परिस्थितिगत अपराधी परिस्थिति विशेष मे असामाजिक आवेगो के दबाव से अपराध करता है परन्तु अपराध के पश्चात् पश्चात्ताप भी करता है। उदाहरणार्थ, एक भूखा व्यक्ति दुकान से रोटी चुराकर खाने के उपरान्त पेट भर जाने पर रोटी चोरी करने का पश्चाताप करता है। न्यायालय ऐसे अपराधियो को उनकी तीव्र आवश्यकताओ व असाधारण प्रलोभन को देखते हुए बहुत साधारण दण्ड देता है। संसर्ग-सम्बन्धी अपराधी अपने पर्यावरण के असामाजिक तत्त्वो, जैसे दोषयुक्त सहचारिता व अपराधी परिवार आदि से प्रभावित होकर अपराध करता है। ऐसा अपराधी पर्यावरण मे परिवर्तन करने से सुधारा जा सकता है। आकस्मिक अपराधी किसी भूल मे अपराध कर बैठता है, जैसे असावधानी से मोटर चलाने से कोई दुर्घटना कर ले तथा बिना विचारे राइफल चलाकर किसी की हत्या कर बैठे। ऐसा अपराधी दोषी भावनाओ के कारण स्वय पर अभियोग लगाता है तथा उसका सविषाद (depression) उसमे मानसिक असन्तुलन उत्पन्न करता है। अत इस अपराधी का अपराध उसके व्यक्तित्व एव परिस्थितिगत तत्त्वो पर आधारित होता है। तन्त्रिकामय पीडित अपराधी मे अपराध के कारण मानसिक पीडा व मनोग्रस्त व्यथा मिलती है। कोई बाह्य प्रेरणा इसके अपराध मे नही मिलती परन्तु अचेतन प्रेरणा के कारण ही वह अपराध करता है। असमायोजन सम्बन्धी उसकी समस्याएँ लिंगीय इच्छाओ के दमन के कारण उत्पन्न होती है। उसकी असामाजिक क्रियाएँ उसे एक प्रकार का सन्तोष देती है। मनोरोगी अपराधी सवेगो और नैराश्य से प्रभावित रहता है। स्नेह वंचित तथा लम्बे समय तक बेरोजगार व्यक्ति मे निराशा होना इसका उदाहरण है। ऐसा व्यक्ति प्यार व स्नेह प्राप्त करने व धन कमाने आदि के लिए असामाजिक उपाय का प्रयोग करता है। मनोविक्षिप्त अपराधी मानसिक रूप से अपूर्ण एव दोषी होता है। उसके दोष-पूर्ण तर्क के कारण उसे कानून अपराधी नही मानता।

अब्राह्मसेन ने इस वर्गीकरण मे व्यवहृत व परिचालित (operational) दृष्टिकोण का प्रयोग कर अपराधी के पर्यावरण सम्बन्धी पृष्ठभूमि, तत्कालीन परिस्थिति जैसे समाजशास्त्रीय तत्त्वो एव व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणो जैसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वो के आधार पर अपराधियो के विभिन्न प्रकार दिये हैं। तीन तत्त्वो को प्रमुख रूप से उसने वर्गीकरण का आधार माना है (क) संख्या एव बारम्बारता (frequency) अथवा क्या अपराधी ने पहला अपराध किया है या वह अभ्यस्त अपराधी है, (ख) समय (time-factor), तथा दो अपराधी क्रियाओ के मध्य कितनी अवधि व्यतीत हुई है, (ग) गम्भीरता, तथा अपराध से व्यक्ति व समाज को कितनी क्षति पहुँची है।

लिण्डस्मिथ और डनहाम (Lindesmith and Dunham)—लिण्डस्मिथ और

डन्हाम ने अपराधी व्यवहार में सातत्यक (continuum) की परिकल्पना की है जिसके एक सिरे पर व्यक्तिवादीय (individualised) अपराधी और दूसरे पर सामाजिक (social) अपराधी दिये हैं।[1] व्यक्तिवादीय अपराधी उन्होंने उसे बताया है जिसका अपराध व्यवसाय नहीं है परन्तु आर्थिक आवश्यकताओं आदि के व्यक्तिगत कारणों से वह अकेला ही अपराध करता है। परिस्थितिगत और आकस्मिक अपराधी इसके दो उदाहरण हैं। इसके विपरीत सामाजिक अपराधी प्रवीण और साहसी अपराधी क्रियाओं के कारण अपराधी समूह में प्रतिष्ठा व स्थिति प्राप्त करता है तथा अन्य अपराधियों से सम्पर्क के कारण यह अपराधी बनता है और उनसे मिलकर अपराध करता है। पेशेवर डकैत व तस्कर व्यापारी इसके उदाहरण हैं। इन दो सिरों के मध्य जो अन्य अपराधी मिलते हैं उनमें दोनों के मिले-जुले लक्षण मिलते हैं। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अन्य तीसरा प्रकार भी लिण्डस्मिथ और डन्हाम ने बताया है जिसे वे अभ्यस्त परिस्थितिगत (habitual-situational) अपराधी कहते हैं। यह अपराधी न तो वास्तव में पेशेवर और न परिस्थितिगत होता है, फिर भी सदैव पुलिस आदि वैधानिक व्यवस्था बनाये रखने वाले अधिकारियों से संकट में रहता है और वैध आर्थिक क्रियाओं के साथ-साथ आकस्मिक और मुक्त रूप (free wheeling manner) में राहजनी, चोरी आदि जैसे अपराध करता रहता है। गन्दी बस्ती में रहने वाला एक बाल-अपराधी अभ्यस्त परिस्थितिगत अपराधी माना जा सकता है।

ये तीन प्रकार के अपराधियों की मोटी श्रेणियाँ सर्वांगीण (exhaustive) नहीं हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य प्रकार हो सकते हैं। लिण्डस्मिथ और डन्हाम के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराधी को इन तीनों श्रेणियों में से किसी में भी नहीं रखा जा सकता।[2]

अतः लिण्डस्मिथ की यह श्रेणी पद्धति सभी प्रकार के अपराधियों को सम्मिलित न कर सकने के कारण वैधानिक अध्ययनों के लिए अपर्याप्त है।

क्लिनार्ड (Clinard)—क्लिनार्ड भी अपराधी व्यवहार के सातत्यक (continuum) के आधार पर अपराधियों के दो मुख्य प्रकार मानता है।[3] वह एक सिरे पर उन अपराधियों को रखता है जिनका अपराध करना आजीविका का प्रमुख व्यवसाय है (career-offenders) और दूसरे पर उनको जो अपराध को जीविका का साधन नहीं मानते (non-careers)। क्लिनार्ड ने प्रकार-पद्धति (typology) में विभिन्न अपराधी प्रकारों के लक्षण-आधार इस प्रकार बताये हैं: (1) अपराधियों की सामाजिक क्रियाएँ, (2) अपराध के साथ उनके समायोजन (identification) की मात्रा, (3) स्वयं के प्रति धारणा, (4) अन्य अपराधियों से सम्पर्क का स्वरूप (5) अपराधों की संख्या में वृद्धि, और (6) किस मात्रा तक अपराधी व्यवहार व्यक्ति के जीवन का अंग बन गया है। इन लक्षणों के आधार पर उसने निम्न नौ

[1] Alfred R. Lindesmith, and Warren .H Dunham, 'Some principles of criminal typology' in *Social Forces*, Vol. XIX, March 1941, 307–14.

[2] *Ibid.*, 310.

[3] Marshall B. Clinard, 'Sociology of Deviant Behaviour', *op. cit.*, Ch. 8.

प्रकार दिये है : विक्षिप्त अपराधी (criminally insane), कामातुर अपराधी (extreme sex deviant), कादाचित्क (occasional) अपराधी, समलिंग कामातुर अपराधी (homosexual), अभ्यस्त तुच्छ (petty) अपराधी, श्वेतवस्त्रधारी अपराधी, साधारण अपराधी, सगठित अपराधी, तथा पेशेवर अपराधी।

गिबस (Gibbons)—गिबस ने दो कसौटियो (criteria) को परिभाषीय माप सम्बन्धी (definitional dimensions) और पृष्ठभूमीय माप सम्बन्धी (background dimensions), प्रकार पद्धति (typology) का आधार बनाया है।[1] परिभाषीय परिमाप मे वह पाँच तत्त्वो को सम्मिलित करता है (1) अपराध की प्रकृति, (2) अन्य व्यक्तियो से सम्पर्क की वह स्थिति जिसमे अपराध किया जाता है, (3) अपराधी की स्वय के प्रति धारणा, (4) समाज एव पुलिस जैसे सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी एजेन्सियो के प्रति धारणा, (5) व्यक्ति के अपराधी जीवन मे अपराध करने की पदगति। पृष्ठभूमि परिमाप मे उसने चार तत्त्व लिये है (1) सामाजिक वर्ग, (2) पारिवारिक पृष्ठभूमि, (3) मित्रो के साथ सम्पर्क (4) पुलिस, न्यायालय और कारागार जैसी एजेन्सियो से सम्पर्क। इन कसौटियो के आधार पर उसने पन्द्रह प्रकार के वयस्क अपराधी और नौ प्रकार के बाल-अपराधी दिये है।[2] वयस्क अपराधियो के कुछ प्रमुख प्रकार है पेशेवर चोर अर्द्ध-पेशेवर सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधी, सम्पत्ति सम्बन्धी साधारण अपराधी, कार-मोटर चोर, नकली चैक बनाने वाला, सीधा-सादा अपराधी, श्वेतवस्त्रधारी अपराधी, गबन करने वाला अपराधी, हिंसात्मक कामातुर अपराधी, अहिंसात्मक कामातुर अपराधी, मादक पदार्थ सेवन करने वाला अपराधी, मनोविकृत (psychopathic) आक्रमणकारी, इत्यादि। बाल अपराधियो के नौ प्रकार है उपद्रवी गिरोह अपराधी, सघर्ष गिरोह अपराधी, गिरोह वाला सामयिक अपराधी, उल्लास प्राप्ति-हेतु कार-मोटर चुराने वाला युवक, मादक पदार्थ सेवन करने वाला, सामयिक अपराधी, बालिका अपराधी, व्यवहार सम्बन्धी समस्या वाला अपराधी, और आक्रमणकारी अपराधी। इस वर्गीकरण के कुछ प्रकारो मे परस्पर अतिक्रमण प्रकृति (overlapping) मिलती है तथा विशिष्ट लक्षणो के आधार पर ये स्पष्ट नही है।

रूथ कैवन (Ruth Cavan)—रूथ कैवन ने अपराधियो के वर्गीकरण मे तीन कसौटियो को आधार बनाया है[3] (क) किये गये अपराधो की सख्या, (ख) अपराध का प्रकार, (ग) अपराधी का व्यक्तित्व। इन तीन कसौटियो के आधार पर उसने छह प्रकार के अपराधी बताये हैं (1) पेशेवर अपराधी—जिनका पेशा अपराध करना होता है तथा जो अपराध को ही धनोपार्जन का प्रमुख साधन मानते हैं। इनके सम्पर्क सदैव अपराधियो तक ही सीमित रहते है। (2) अपराधी जो सगठित अपराध करते

[1] Don C Gibbons, *Changing the law-breaker : the treatment of delinquents and criminals* Englewood Cliff, New Jersey, 1965, 51-52

[2] See Clinard and Quinney, *op cit*, 10-11

[3] Shonle Ruth Cavan, *Criminology*, Thomas Y Crowell Co, New York, 1948, 20-32

हैं। इनके अपराधों में संगठित व्यापार जैसा व्यवस्थापन (systematisation) मिलता है। (3) अनपराधी संसार के अपराधी। इनके चार उपसमूह हैं: (क) साधारण कानूनों का अपनी सुविधा हेतु उल्लंघन करने वाला सामयिक अपराधी, (ख) अवसरिक (occasional) अपराधी, (ग) एपीसोडिक (episodic) अपराधी जो संवेगात्मक तनाव के कारण अधिक गम्भीर अपराध करते है, (घ) श्वेत-वस्त्रधारी अपराधी जो आर्थिक उद्देश्य से व्यवसाय सम्बन्धी अपराध करते है। (4) बारम्बार अपराध करने वाले अभ्यस्त अपराधी। (5) किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को पूर्ण करने वाले मानसिक रूप से हीन अपराधी। (6) द्वेष-रहित अपराधी। ये अपराधी समाज के कानून तो मानते है परन्तु बिना किसी द्वेष भावना के कभी किसी कानून का उल्लंघन कर बैठते हैं; उदाहरणार्थ बाल-विवाह करना।

मैंने स्वयं अपने अध्ययन के आधार पर तीन प्रकार के अपराधी दिये हैं:[1] (1) लक्षणात्मक (symptomatic) अपराधी—इनके अपराधों में उनके आन्तरिक संघर्षों की अभिव्यक्ति करने वाले लक्षण पाये जाते हैं। (2) परिस्थितिगत (situational) अपराधी—इनके अपराध पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्वों के कारण होते हैं और (3) नैतिकता-सम्बन्धी (moral type) अपराधी—इन के अपराध लिंगीय असमायोजन (sexual maladjustment) के कारण होते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य अपराधशास्त्रियों द्वारा भी अपराधियों के विभिन्न प्रकार दिये गये हैं। जैसे व्यक्तिगत लक्षणों के आधार पर फेरी ने अपराधियों के पांच प्रकार बताये हैं:[2] हतबुद्धि व उन्मादी (insane), जन्मजात (born), अभ्यस्त, आकस्मिक तथा आवेशाकुल (passionate)। वाल्टर रेकलेस (Walter Reckless) ने साधारण (ordinary), संगठित (organised) और पेशेवर तीन प्रकार के अपराधी बताये हैं।[3] हेन्डर्सन (Henderson) ने तीन प्रकार के अपराधी दिये हैं: (1) जो स्वभाव से अपराधी नहीं होते, (2) जिनका अपराध ऊपरी व हल्का होता है, (3) जिनमें अपराध करने की मनोवृत्ति उनके स्वभाव में मूलभूत व दृढ़ रूप से स्थित होती है।[4]

अन्त में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपराध और अपराधी की सही धारणा व इनका वैज्ञानिक वर्गीकरण ही अपराधशास्त्र में अपराध सम्बन्धी ज्ञान संचित व पद्धतिबद्ध (systematize) करने, अयथार्थ व अनावश्यक को अलग करने एवं सामान्य सिद्धान्त की खोज करने में सहायक व उपयोगी होगा।

[1] Ram Ahuja, *Female Offenders in India*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969, 55.

[2] E. Ferri, *Criminal Sociology*, trans. by J. Kelly and J. Lisle, Little Brown & Co., Boston, 1917, 138-39.

[3] Walter Reckless, *The Crime Problem*, 3rd edition, Appleton Century Crofts, Inc., New York, 1961, Chapters 9 and 10.

[4] Leon Henderson, *Atlantic Monthly*, July 1916, 46.

दूसरा अध्याय

अपराध के कारणों के सिद्धान्त
(THEORIES OF CAUSES OF CRIME)

अपराध के कारणो को समझने के लिए विभिन्न कालो मे विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। अठारहवी शताब्दी के मध्य तक की व्याख्याएँ केवल अनुमानो (assumptions) पर ही आधारित थी। अठारहवी शताब्दी के अन्त और उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ के वर्षों मे केवल एक ही कारक (single factor) को लेकर अपराध का अध्ययन होने लगा। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से मात्रात्मक *(quantitative) व परिमाणात्मक (empirical) अनुसन्धान के आधार पर व मूल* स्रोत (first hand) तथ्य व आँकडे उपलब्ध कर कुछ सरल व साधारण कारको द्वारा अपराध के कारको का विवरण दिया जाने लगा। बीसवी शताब्दी के प्रथम तीन-चार दशको तक *यद्यपि यह बहुकारकवादी दृष्टिकोण बहुत प्रचलित रहा किन्तु वर्तमान मे* सम्पूर्णता के सिद्धान्त (holistic theory) की अधिक मान्यता है।

इस सिद्धान्त (holistic) के अन्तर्गत अपराध का विश्लेपण एक अथवा अनेक कारको के सग्रह के आधार पर न करके, उसके उस सम्पूर्ण सन्दर्भ के अग (part of total context) के रूप मे किया जाता है जिसमे प्रत्येक अपराध के अनन्त कारक *(infinity of variables) पाये जाते है। इन कारको मे व्यक्ति की शारीरिक* रचना, उसका सम्पूर्ण सामाजिक अनुभव, क्रिया के समय उसकी मानसिक व सवेगात्मक स्थिति, परिस्थिति के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, आदि समस्त तत्त्व सम्मिलित किये जाते हैं। अत यह सम्पूर्णता का दृष्टिकोण बहुकारकवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा विस्तृत है तथा यह अपराध मे साधारण, सरल कारको की मान्यता को अस्वीकृत करता है।

अनुभवजनित (empirical) अध्ययनो मे सम्पूर्णता का दृष्टिकोण अनुसन्धान-कर्ता के लिए बहुत कठिन है। अत विभिन्न कारको के पारस्परिक सम्बन्ध के सिद्धान्त को आजकल यद्यपि स्वीकार किया जाता है किन्तु अपराध के कारणो के वैज्ञानिक विश्लेपण हेतु यह मान्यता है कि समस्त कारको के सामूहिक अध्ययन की अपेक्षा कुछ चुने हुए कारको या कारक को लेकर उनका अपराध से सम्बन्ध मालूम करना चाहिए। इस मान्यता मे भी यह माना जाता है कि चुने हुए कारक का अपराध से सम्बन्ध की मान्यता का सीधा अध्ययन करने के साथ-साथ यह भी मालूम करना चाहिए कि किन परिस्थितियो मे किस प्रकार यह कारक अपराध को प्रभावित नही

उसने अपराध में अपराधी के उद्देश्य (motive) को जान-बूझकर कोई महत्त्व नहीं दिया क्योंकि वह अपराध में 'स्वतन्त्र इच्छा' (free-will) की धारणा को मानता था। 1764 में दी गयी उसकी इस धारणा के अनुसार व्यक्ति तर्कशील (rational) है तथा वह स्वयं अपनी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है (इसके विपरीत निश्चयवाद (determinism) की धारणा कुछ सामाजिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक व जैविकीय आदि तत्त्वों को व्यक्ति के व्यवहार के लिए उत्तरदायी मानती है)। बैकेरिया 'स्वतन्त्र इच्छा' की धारणा के अतिरिक्त रूसो (Rousseau) के राज्य की उत्पत्ति के प्रति 'सामाजिक समझौते' (social contract) के सिद्धान्त को भी मानता था। उसका कहना था कि हर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता (liberty) का केवल उतना ही हिस्सा राज्य को सौंपता है जितना राज्य के *अनुजीवन (survival) के लिए आवश्यक होता* है। अत राज्य द्वारा बनाये गये कानून केवल इस सामाजिक समझौते की आवश्यक शर्तें (necessary conditions) ही होने चाहिए और दण्ड केवल परित्यागित (sacrificed) स्वतन्त्रता के बचाव के लिए दिया जाना चाहिए।[1]

बैकेरिया के अनुसार, व्यक्ति का व्यवहार सुख-दुख (pain and pleasure) की भावनाओं पर निर्भर है। व्यक्ति सुखदायी कार्यों को तो करता है परन्तु दुखदायी से बचता है। कुछ असामाजिक कार्यों को व्यक्ति सुखदायी होने से करता है। बैकेरिया इस प्रकार अपराधी व्यवहार के लिए मानता है कि व्यक्ति तर्क द्वारा पथ-प्रदर्शित करता है, उसकी इच्छा स्वतन्त्र है, अत वह स्वयं के कार्यों के प्रति उत्तरदायी है *अर्थात् क्लैसिकल सिद्धान्त स्वतन्त्र इच्छा (free will)*, तर्कवाद (rationalism), पूर्ण उत्तरदायित्व (complete responsibility) एवं सुखवाद (hedonism) पर आधारित था। बैकेरिया 'दण्ड के भय' को व्यक्ति के व्यवहार के नियन्त्रण के लिए आवश्यक मानता था। उसकी मान्यता थी कि असामाजिक कार्यों को रोकने के लिए दण्ड निर्धारित होना चाहिए जिससे अपराधी सुख-दुख की माप कर दुख के भय से अपराध करने से रुके। बैकेरिया की तरह ब्रिटिश दार्शनिक बेन्थम (Bentham) ने भी 1823 में अपराधी कानून, कानून सुधार (legal reform) व अपराधी व्यवहार से सम्बन्धित अपने विचार प्रस्तुत किये थे। यद्यपि बेन्थम भी 'स्वतन्त्र इच्छा' के सिद्धान्त में विश्वास रखता था किन्तु बैकेरिया की तुलना में उसने कानूनी *सुधार के स्थान पर अपराधी व्यवहार के नियन्त्रण में* अधिक रुचि ली। इसी कारण उसे 'उपयोगितावादी सुखवादी' (utilitarian hedonist) भी माना गया है। उसने अपराधी व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए *उपयोगिता के सिद्धान्त* (principle of utility) व सुखवादी गणना-विधि (hedonistic calculus) का सुझाव दिया जिसका मुख्य लक्षण यह था कि कानून को उतना ही दण्ड निर्धारित करना चाहिए जितना वह व्यक्ति को अपनी अपराधी क्रिया से प्राप्त सुख (*pleasure*) से दूर रख सके। इससे अधिक दण्ड अनावश्यक रूप से पशुवत्, क्रूर (brutal) व अन्यायपूर्ण

[1] Cesare B Beccaria, An *Essay on Crimes and Punishment*, 4th ed., London, E Newbery

(unjust) होगा।[1]

बैकेरिया का भी मत था कि दण्ड की प्रकृति व दण्ड की मात्रा अपराध की गम्भीरता पर आधारित होनी चाहिए तथा अपराधी द्वारा सामाजिक क्षति के अनुपात में अपराध की गम्भीरता आंकी जाये। इस आधार पर उसने अपराधों के तीन प्रकार बताये हैं—(i) समाज के समस्त सदस्यों के अस्तित्व (existence) की समाप्ति की आशंका वाले अपराध, (ii) व्यक्तियों की सम्पत्ति व सुरक्षा को क्षति पहुँचाने वाले अपराध, तथा (iii) सार्वजनिक शान्ति भंग करने वाले अपराध। तीनों अपराध समाज की क्षति का अलग-अलग प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः प्रत्येक के दण्ड की मात्रा भी अलग-अलग होनी चाहिए। बैकेरिया के दण्ड का लक्ष्य अपराधी को कष्ट पहुँचाना (inflicting pain) न होकर उसे समाज को और अधिक हानि पहुँचाने से रोकना तथा सम्भाव्य (potential) अपराधियों को कानून-उल्लंघन से रोकना है। अतः उसका विचार था कि दण्ड खुले रूप से (publicly), शीघ्रता से (promptly), अपराध के अनुपात से (proportionately), तथा पूर्व-निश्चित (pre-determined) आधार पर देना चाहिए। कानून-निर्माण का अधिकार केवल विधानमण्डल को है न्यायाधीश को नहीं। न्यायाधीश केवल विधि (law) की व्याख्या करता है व टिप्पणी द्वारा स्पष्ट रूप से अर्थ लगाता है। दण्ड देने का अधिकार भी इसी प्रकार केवल राज्य को है जो अपराधी को यन्त्रणा दिये बिना अपराध के अनुपात से दण्ड देगा।[2]

क्लैसिकल सिद्धान्त के इस समस्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसके प्रमुख तत्त्व चार हैं—(i) प्रत्येक अपराध का एक निश्चित निर्धारित दण्ड बिना किसी भेदभाव के अपराधी को देना चाहिए, (ii) दण्ड की मात्रा प्रतिरोधात्मक प्रभाव (deterrent influence) को सामाजिक आवश्यकताओं एवं जन-कल्याण की हुई क्षति के आधार पर सीमित होनी चाहिए तथा दण्ड का आधार अपराध का उद्देश्य न होकर कार्य (act) होना चाहिए, (iii) सभी व्यक्ति समान हैं अतः सभी अपराधी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए एवं सभी अपराधियों को समान रूप से दण्ड देना चाहिए, तथा (iv) व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा होनी चाहिए। इन तत्त्वों से स्पष्ट है कि बैकेरिया अपराधी को कठोर यातना व प्राण-दण्ड देने के सर्वथा विरुद्ध था।

इस क्लैसिकल सिद्धान्त में कुछ दोष भी हैं, जैसे (i) इस विचार का कोई प्रमाण नहीं है कि एक ही प्रकार के अपराध करने वाले व्यक्तियों को एक ही जैसा सुख (pleasure) प्राप्त होता है तथा एक ही जैसा दण्ड देने से उन्हें एक ही जैसा

[1] 'Criminal laws should prescribe punishment just severe enough to offset the pleasure people receive from committing a given criminal act. Any more severe punishment is unnecessarily brutal and therefore unjust in Jeremy Bentham, 'An introduction to the principles of morals and legislation' (1823), Reprinted 1948, Hafner Publishing Co., N. York.

[2] Cesare B. Beccaria, *An Essay on Crimes and Punishments*, 1775, 4th ed., London, E. Newbery.

दुःख (pain) पहुँचेगा, (ii) प्रथम और अभ्यस्त अपराधियो को समपदस्थ माना गया है, (iii) दण्ड मे अपराधी के व्यक्तित्व को महत्त्व न देते हुए अपराधी कार्य को महत्त्व दिया गया है, (iv) असमर्थ एव अक्षम को क्षमताशील (competent) व्यक्ति के समान समझा गया है, तथा (v) 'स्वतन्त्र इच्छा' को अधिक महत्व देकर 'नियतत्त्ववाद' (determinism) की धारणा को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया गया है, जबकि इस वैज्ञानिक युग मे सामाजिक, जैविकीय आदि कारको को व्यक्ति के व्यवहार मे निराधार नही माना जा सकता। काल्डवैल (Caldwell) का भी इस बारे मे मत है कि विज्ञान स्वतन्त्र इच्छा की धारणा को न प्रमाणित और न अप्रमाणित कर सकता है।[1] नियतत्त्ववाद का क्षेत्र पूर्व मे मान्य क्षेत्र से अधिक विस्तृत है, विज्ञान यही प्रमाणित कर सका है। इससे परे का कथन व्यक्ति को विज्ञान-क्षेत्र के बाहर से केवल अनुमान-क्षेत्र मे ले जाता है।

नियो-क्लैसिकल सिद्धान्त (Neo-Classical Approach)

क्लैसिकल सिद्धान्त की व्यावहारिकता सम्बन्धी त्रुटियो को नियो-क्लैसिकल सिद्धान्त का विकास करके दूर किया गया। इसके मूल तत्त्व यद्यपि क्लैसिकल सिद्धान्त के मूल तत्त्वो (तर्कवाद, स्वतन्त्र इच्छा, सुखवाद व पूर्ण उत्तरदायित्व) से भिन्न नही थे तथापि यह सिद्धान्त क्लैसिकल सिद्धान्त के विपरीत निम्न तीन तथ्यो को महत्त्व देता था—(i) व्यक्ति की इच्छा उसकी आयु, बुद्धि, शारीरिक व मानसिक अवस्था एव पर्यावरण आदि द्वारा प्रभावित हो सकती है, (ii) दण्ड देने से पूर्व न्यायालय को अपराधी की मानसिक अवस्था (कि क्या अपराधी अपनी क्रियाओ के परिणामो तथा सही और गलत के मध्य अन्तर मालूम कर सकता है) जानना आवश्यक है, तथा (iii) सही और गलत के मध्य अन्तर न कर सकने वाले अपराधियो से उदार रूप से व्यवहार करना चाहिए।

इस प्रकार यद्यपि नियो-क्लैसिकल सिद्धान्त ने क्लैसिकल सिद्धान्त की त्रुटियो को दूर करने की चेष्टा की तथापि नियो-क्लैसिकल सिद्धान्त मे भी दो मुख्य दोष रह गये—(i) इसमे भी मानव व्यवहार मे तर्क (reason) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया एव मानसिक आवेगो, सवेगो और सामाजिक तत्त्वो का अल्पाकन (underestimate) किया गया, तथा (ii) विश्लेषण का केन्द्र-बिन्दु अपराधी की अपेक्षा अपराध ही रहा तथा अपराधी के व्यक्तित्व को महत्त्व न देकर केवल उसकी क्रिया को महत्त्व दिया गया। इन त्रुटियो के कारण क्लैसिकल सिद्धान्त की तरह नियो-क्लैसिकल सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया। इन सिद्धान्तो को अस्वीकार करने पर भी इनको इस कारण महत्त्व दिया जाता है क्योकि इन्होने पहली बार कानूनी सुधार की माँग की।

जैविकीय सिद्धान्त (Biological Theory)

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जैविकीय विचारधारा द्वारा अपराध को

[1] Robert G Caldwell, *Criminology*, Ronald Press, New York, 1956, 401

समझने का प्रयास किया गया। यह दृष्टिकोण 'प्रमाणवाद' (positivism) पर आधारित था जिसमें सामाजिक घटना के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञान की कार्य-पद्धति (methodology) व दृष्टिकोण को अपनाने पर बल दिया जाता है। लोम्ब्रोजो, गोरिंग व हूटन आदि जीवशास्त्रियों ने सर्वप्रथम इस पद्धति को अपनाकर अपराधी व्यवहार को वैज्ञानिक रूप से समझाया। इनके सम्प्रदाय को 'अपराधशास्त्र का प्रमाणवादी सम्प्रदाय' (positive school of criminology) कहा जाता है। प्रमाण-वादी (positivists) 'स्वतन्त्र इच्छा' (free will) में विश्वास न कर 'नियतिवाद' (determinism) की धारणा में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार जैविकीय तत्त्व ही व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। इन प्रमाणवादियों के सिद्धान्तों का विश्लेषण हम अलग-अलग करेंगे।

लोम्ब्रोजो का सिद्धान्त (Lombroso's Theory)

इटली निवासी लोम्ब्रोजो सेना में डाक्टर थे। उन्होंने सैनिकों के व्यवहार का एक अध्ययन कर उनको दो भागों में विभाजित किया : (क) कष्टदायक (trouble-some), तथा (ख) नियमबद्ध (orderly)। दोनों के लक्षणों के विश्लेषण से उसने पाया कि कष्टदायक सैनिकों के कुछ विशेष शारीरिक लक्षण थे जबकि नियमबद्ध सैनिकों में ऐसी विशेषता नहीं थी। कष्टदायक सैनिकों का गोदन (tattooing) भी घटिया, अश्लील व अपरिष्कृत था जबकि नियमबद्ध सैनिकों का गोदन अनुत्तेजित व शीलवान था। शारीरिक लक्षणों की इन विशेषताओं के आधार पर उसने यह उप-कल्पना की कि व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों एवं उसके व्यवहार का पारस्परिक सम्बन्ध है। सेना की सेवा के पश्चात् जब लोम्ब्रोजो एक कारागृह में चिकित्सक बना तो उसे विलेला (Vilela) नाम के एक जघन्य अपराधी की मृत्योपरान्त शव परीक्षा (post-mortem) का अवसर मिला जिसमें उसने उसकी खोपड़ी (skull) के अध्ययन में लंगूरों जैसे लक्षण तथा पूर्व-विकास की अवस्था (atavism) पायी। तत्पश्चात् अन्य अपराधियों के अध्ययन में भी ऐसे ही लक्षण मिलने पर 1872 में उसने 'पूर्व-विकास की ओर विकसित होने व लौटने का सिद्धान्त' (evolutionary atavism) विकसित किया जिसमें उसने अपराधियों में कुछ शारीरिक दोष (physical stigmata) पाये जाने पर बल दिया। उसके मत से व्यक्ति शारीरिक दोष वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त करता है। इन शारीरिक दोषों के कुछ उदाहरण उसने लम्बे कान (unusually large ears), लम्बे हाथ ((excessively long arms), असाधारण आकार का सिर, अस्त-व्यस्त मुँह या ललाट, चिपकी नाक, उथला होंठ (swollen and protruding lips), बहुत बड़ी या छोटी तथा लंगूरों जैसी ठुड्डी (excessively long or short or flat chin as in apes) आदि बताये हैं।

लोम्ब्रोजो के अनुसार जिस व्यक्ति में भी उक्त दोषों में से पाँच या उससे अधिक दोष होंगे वह व्यक्ति अवश्य अपराध करेगा। ऐसे व्यक्तियों को उसने शारीरिक दोषों वाले अपराधी (physical criminal type) बताया है। पाँच से कम परन्तु

तीन या इससे अधिक दोषों वाला व्यक्ति अपराधी व्यक्ति का अपूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करता है तथा तीन से कम दोषो वाला बिल्कुल प्रतिनिधित्व नही करता ।[1] शारीरिक दोषो के विश्लेषण मे उसने 383 अपराधियों मे से 43 प्रतिशत मे पाँच व उससे अधिक दोष पाये तथा 21 प्रतिशत मे केवल एक ही दोष पाया । इसके अतिरिक्त उसने शारीरिक दोषों की तुलना की दृष्टि से अपराधियो (हत्यारो) और अनपराधियो (इटली के सैनिकों) का तुलनात्मक अध्ययन किया । 709 अपराधियो और 711 अनपराधियों के अध्ययन मे पाया गया कि जब पाँच या अधिक खोपडी सम्बन्धी दोषो (skull anamolies) वाले अनपराधियो की सख्या शून्य (zero) प्रतिशत थी तो अपराधियो की सख्या 4 9 प्रतिशत थी। इसी प्रकार जब 37 2 प्रतिशत अनपराधियो मे एक भी दोष नही था तो सर्वथा-दोष रहित अपराधियों की सख्या केवल 10 0 प्रतिशत थी । 51·8 प्रतिशत अनपराधियो तथा 52 0 प्रतिशत अपराधियो मे एक से दो दोष थे। 11 0 प्रतिशत अनपराधियो और 33 1 प्रतिशत अपराधियों मे तीन से चार दोष थे। लोम्ब्रोजो की मान्यता थी कि ईमानदार व्यक्तियो मे जब शारीरिक दोष मिलते है तो यह समझना चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों मे अपराधी प्रवृत्ति होने पर भी प्रकट रूप मे उनका अपराध न करने का कारण वे परिस्थितियाँ है जिन्होने इनको अपराध के प्रलोभन से सुरक्षित रखा है ।[2]

'जन्मजात अपराधी' (born criminals) का सिद्धान्त 1876 मे प्रतिपादित कर लोम्ब्रोजो ने कहा—(1) अपराधी एक विशेष प्रकार के पैदायशी व्यक्ति होते हैं। (2) कुछ शारीरिक लक्षणो के दोषो द्वारा इनको पहचाना जा सकता है । (3) ये शारीरिक दोष 'पूर्व विकास की अवस्था' (atavism) एव अधमावस्था (degeneracy) के चिह्न व लक्षण है न कि अपराध के 'कारण' (cause) । अत पूर्व विकास की अवस्था तथा अधमावस्था को ही अपराध का कारण मानना चाहिए । (4) 'अपराधी जैसे' (criminal type) व्यक्ति को अपराध करने से तब ही रोका जा सकता है जबकि वह विशिष्ट प्रकार के अनुकूल पर्यावरण मे रहे । अत लोम्ब्रोजो ने बार-बार दुहराया है कि लगभग सभी अपराधों मे अपराध का कारण प्रतिकूल पर्यावरण न होकर व्यक्तियो की अपराधीय जैविकीय प्रवृत्ति है जो उनके शारीरिक दोषो द्वारा बाह्य रूप से ज्ञात होती है ।[3] लाम्ब्रोजो का सिद्धान्त प्रारम्भ मे 'स्वतन्त्र इच्छा'

[1] C Lombroso, *Crime Its Causes and Remedies*, 1911, trans by Henry P Horton, Boston, Little Brown and Co

[2] 'When the sigmata are found in honest men and women, we may be dealing with criminal natures who have not yet committed the overt act because the circumstances in which they have lived protected them against temptation' See Ashley Montagu's article on 'The biologist looks at crime' in *David Dressler's book Readings in Criminology and Penology*, New York, 1964, 178

[3] 'In almost all cases, it was not the *unfavourable environment* which led to the commission of crime but the *biological predisposition* to commit it, externally advertised by the presence of stigmata' *Ibid*, 178

(freewill) की धारणा एवं क्लैसिकल सिद्धान्त के विरुद्ध था किन्तु बाद में उसने अपना सिद्धान्त टार्डे (Tarde) के अनुकरण सिद्धान्त के विरुद्ध तथा जैविकीय एवं सामाजिक नियतत्त्ववाद (social determinism) के विवाद पर केन्द्रित किया।

लोम्ब्रोजो अपराधी को गम्भीर दण्ड देने के पक्ष में नहीं था। वह दण्ड के प्रतिशोध व बदले (revenge) के उद्देश्य को भी नहीं मानता था। बैकेरिया के विचार के विपरीत उसकी मान्यता थी कि क्योंकि अलग-अलग अपराधियों की अलग-अलग आवश्यकताएँ होती हैं अतः एक ही प्रकार का अपराध करने वाले अपराधियों को एक ही प्रकार का दण्ड देना अनुचित होगा। वह फेरी (Ferri) के इस विचार से सहमत था कि यदि एक अपराधी का दस वर्ष में पुनरावास (rehabilitation) किया जा सकता है तो बीस वर्ष तक उसे जेल में रखना उसी प्रकार मूर्खता होगी जिस प्रकार एक उस अपराधी को पाँच वर्ष के बाद ही छोड़ दिया जाये जिसे वास्तव में दस वर्ष रखने की आवश्यकता है। अतः लोम्ब्रोजो अनिर्धारित दण्ड (indeterminate sentence) का समर्थक था।[1]

लोम्ब्रोजो का विचार था कि दण्ड केवल आत्म-बचाव के उद्देश्य से तथा अपराधियों को दूसरों के लिए खतरा पैदा करने से रोकने के लक्ष्य से देना चाहिए। उसका यह भी विचार था कि जेल अपराधी का सुधार करने में अधिक सफल नहीं होते। जेल से छूटने के पश्चात् अपराधी इस कारण समाज के लिए अधिक खतरा बन जाता है क्योंकि जेल के वातावरण में वह अधिक पतित, दूषित चरित्र (depraved) विकारशील व क्रोधात्मक (irritated) बन जाता है।[2]

लोम्ब्रोजो छोटी कारागृह अवधि (Short prison-term) के पक्ष में भी नहीं था। उसका विचार था कि क्योंकि अल्पावधि साधारण अपराधी को गम्भीर अपराधियों के सम्पर्क में लाती है अतः उसके जघन्य अपराधी बनने की सम्भावना बढ़ जाती है। इस कारण ऐसे अपराधियों के लिए वह घर में कैद करने (home confinement), न्यायिक भर्त्सना (judicial admonition), जुर्माना कारावास के बिना बेगार श्रम (forced labour without imprisonment), शारीरिक दण्ड (corporal punishment), स्थानीय निर्वासन (local exile), शर्तिया दण्ड (conditional sentence) आदि विकल्पों (alternatives) के पक्ष में था। मृत्युदण्ड को वह अन्तिम उपाय (last resort) के रूप में ही स्वीकार करता था। क्षतिग्रस्त व्यक्तियों (victims) के लिए वह अपराधियों द्वारा मुआवज़े (compensation) देने के पक्ष में था।

फेरी और गारोफैलो दोनों इटली निवासी अपराधशास्त्रियों ने भी लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त का समर्थन किया। अतः इस सम्प्रदाय को 'अपराधशास्त्र का इटालियन सम्प्रदाय' (Italian School of Criminology) भी कहा जाता है। फेरी ने यद्यपि 1884 में लोम्ब्रोजो के इस विचार का, कि अपराध आनुवंशिक तत्त्वों के कारण

[1] Lombroso, *Crime: Its Causes and Remedies*, Trans. H. P. Horton, Little Brown, Boston, 1911, 386.

[2] *Ibid.*, 381.

पाया जाता है, समर्थन किया था किन्तु उसके विचार से जैविकीय तत्वो के अलावा भौगोलिक, सामाजिक एव आर्थिक तत्त्व भी अपराध के लिए उत्तरदायी है।[1] भौगोलिक कारको में उसने जलवायु, तापमान, नमी (humidity) आदि को सम्मिलित किया है; सामाजिक कारको मे प्रथाएँ, धर्म, शासन-व्यवस्था, जनसख्या का घनत्व आदि; मानवशास्त्रीय कारको मे प्रजाति, लिग, आयु, अवयवी (organic) दशा आदि, एव आर्थिक कारको मे निर्धनता, औद्योगिक स्थिति, आर्थिक विकास आदि को सम्मिलित किया है। अपराध निरोध के लिए उसने सतति-निरोध, वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद (divorce) की स्वतन्त्रता, सस्ते मकान आदि जैसे सामाजिक उपायो तथा स्वतन्त्र व्यापार, एकाधिपत्य की समाप्ति, बैको की स्थापना आदि जैसे आर्थिक उपायो का सुझाव दिया है। उसके मत से ये उपाय राज्य ही अपना सकता है। अत श्रेष्ठतर व सर्वोत्तम उपाय अपनाकर अपराध को कम करने का दायित्व राज्य का ही है। फेरी के विचारो के आधार पर यह कहना असत्य न होगा कि फेरी ही प्रथम व्यक्ति था जिसने अपराध की व्याख्या मे बहु-कारकवादी (multiple-factor) दृष्टिकोण का प्रयोग किया, तथापि वर्तमान अपराधशास्त्री सिरिल बर्ट (Cyril Burt) को ही इस दृष्टिकोण के सर्वप्रथम उपयोग का श्रेय देते है।

गारोफैलो ने 1885 मे बताया कि अपराध सहृदयता (pity), अन्य व्यक्तियो को कष्ट पहुँचाने के विरुद्ध घृणा और सत्य-निष्ठा (probity) अथवा अन्य व्यक्तियो के सम्पत्ति अधिकार के प्रति सम्मान जैसे मूल मनोभावो (*sentiments*) का उल्लघन है एव अपराध का प्रमुख कारण शारीरिक विसामान्यता (*physical abnormality*) नही परन्तु मनोवैज्ञानिक अधमता (psychic anomaly) है।[2] इससे ज्ञात होता है कि गारोफैलो के विवरण मे मनोवैज्ञानिक उन्मुखता (psychological orientation) अधिक व जैविकीय उन्मुखता कम थी। उसके मत मे यदि अपराधी-मनोविज्ञान (criminal psychology) अपराधी मानवशास्त्र (criminal anthropology) का अग माना जाता है तो उसके विचार को जैविकीय सम्प्रदाय का अग मानना चाहिए अन्यथा नही। अपराध को कम करने हेतु वह निरास (elimination) को महत्त्व देता है और इसके लिए तीन सुझाव बतलाता है—(i) सदैव के लिए सामाजिक जीवन के लिए अयोग्य अपराधी को मृत्यु-दण्ड देना, (ii) युवा और हताश अपराधियो को आजीवन कारावास, (iii) विशिष्ट दबाव के कारण अपराध करने वालो से बलपूर्वक क्षतिपूर्ति कराना।

फेरी और गारोफैलो द्वारा समर्थित लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त की चार्ल्स गोरिग[3] और थार्स्टेन सेलिन[4] आदि ने आलोचना की है। 1913 मे गोरिग ने 3000

[1] Enrico Ferri, *Criminal Sociology*, translation by Joseph I Kelley and John Lisle, Little Brown & Co, Boston, 1917

[2] R Garofalo, *Criminology*, trans Robert W. Millar, Little Brown, Boston, 1914

[3] Charles Goring *The English Convict: A Statistical Study*. His Majesty's stationary office, London, 1913

[4] Thorsten Sellin, *American Journal of Sociology*, May 1937, 897–99

अपराधियों के बारह वर्ष के अध्ययन के आधार पर लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त की समालोचना कर कहा कि 'शारीरिक लक्षणों के आधार पर अपराधी की अपराधी से तथा अपराधी की अनपराधी से बहुत तुलनाएँ हमने कीं किन्तु हमारे प्रमाणों ने कभी शारीरिक दोषों वाले अपराधी (physical criminal type) की अवधारणा के प्रमाण को सत्य नहीं पाया और न अपराधी मानवशास्त्रियों के मत का समर्थन किया । अतः हमारा प्रामाणिक निष्कर्ष यही हो सकता है कि शारीरिक दोषों वाले अपराधी जैसी कोई वस्तु नहीं है ।[1]

गोरिंग का उद्देश्य लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त को अविश्वसनीय (discredit) सिद्ध करना नहीं था परन्तु उसकी पद्धति (methodology) की आलोचना करना था। गोरिंग ने स्वयं कहा है कि वह लोम्ब्रोजो के निष्कर्षों के प्रति प्रत्याघात (react) नहीं कर रहा है परन्तु उसके पद्धति के प्रति प्रत्याक्रमण (react) कर रहा है । वह स्वयं सांख्यिकीय पद्धति में विश्वास करता था और उसी पद्धति के आधार पर अपराध-शास्त्र का एक नया विज्ञान स्थापित करना चाहता था । लोम्ब्रोजो के अनुसन्धान के अव्यवस्थित (haphazard) पद्धति की चर्चा करते हुए उसका कहना था कि अगर वैज्ञानिक पद्धति के नियमों की उपेक्षा (disregard) करना एक अपराध करने के बराबर है तब लोम्ब्रोजो से बढ़कर और कोई वैज्ञानिक अपराधी नहीं है । एक सिद्धान्त को व्यक्त करके फिर उसका आनुभविक परीक्षण (empirical test) करने के बजाय लोम्ब्रोजो ने तथ्य (fact) का इस प्रकार समंजन (adjust) किया कि वह सिद्धान्त में सही जुड़ जाये । इस प्रकार उसने संभ्रान्ति (confusion) ही पैदा की ।[2]

लोम्ब्रोजो ने ऐसी आलोचनाओं के उपरान्त अपने जन्मजात अपराधियों के सिद्धान्त को 1911 में संशोधित कर अपराध की व्याख्या में जैविकीय कारकों के अतिरिक्त सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारक भी सम्मिलित किये और कहा कि सभी अपराधी जन्मजात अपराधी नहीं होते; केवल 2/5 ही ऐसे अपराधी होते हैं । इस संशोधन के पश्चात् उसने चार प्रकार के अपराधी बताये : जन्मजात अपराधी, उन्मादी (insane) अपराधी, संवेगात्मक (emotional) अपराधी तथा आकस्मिक (occasional) अपराधी । आकस्मिक अपराधियों को उसने चार उपविभागों में बाँटा है—(i) आभासी व अवास्तविक अपराधी (pseudo-criminal)—जिनके अपराध समाज को गम्भीर क्षति नहीं पहुँचाते तथा जो अहितकर संकल्पयुक्त नहीं होते, (ii) अपराध शील अपराधी (criminaloids)—जो प्रतिकूल पर्यावरण की उपज होते हैं, (iii) भावावेग अपराधी (criminals by passion)—जो अपने मनोभावों को प्रकट करने के कारण अपराध करते हैं; तथा (iv) अभ्यस्त अपराधी (habitual criminals)—जो बार-बार अपराध करते हैं और जिनमें जन्मजात अपराधियों जैसे लक्षण नहीं होते ।

[1] Charles Goring, *op. cit* , 173.

[2] 'If to disregard the laws of scientific procedure is to commit a grave offence, there has been no greater scientific criminal than Lombroso. Instead of stating a theory and then testing it empirically Lombroso adjusted fact to fit his theory and they created confusion.' —Goring, *English Convict*, *op. cit.*, 12.

लोम्ब्रोजो के अनुसंधान का लाभ यह हुआ कि अपराधशास्त्रियों का केन्द्र अपराध से हटकर अपराधियों पर केन्द्रित हो गया।

मॉरिस पारमेली (Maurice Parmellee) ने भी यह कहा है कि लोम्ब्रोजो वह आविष्कारक (pioneer) था जिसने आधुनिक विज्ञान में प्रमाणवादी (positive) आगम (inductive) पद्धतियों को अपराध पर लागू किया और अपराधशास्त्र के नये विज्ञान के विकास को चेतना प्रदान की।[1] वूल्फगेंग (Wolfgang) का कहना है कि लोम्ब्रोजो ने सामाजिक तत्त्वों से महत्त्व हटाकर व्यक्तिगत तत्त्वों को महत्त्व नहीं दिया परन्तु उसने अपराध से महत्त्व हटाकर अपराधी को महत्त्व दिया।[2]

प्रमाणवादी सम्प्रदाय के योगदान का मूल्यांकन
(Evaluation of Contribution of Positive School)

प्रमाणवादी सम्प्रदाय में लोम्ब्रोजो फैरी और गारोफैलो के अपराधी व्यवहार का अध्ययन, तथा उनका अपराधी कानून के सुधार में योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने क्लैसिकल सम्प्रदाय को अस्वीकार करके आनुभविक अनुसंधान (empirical research) को महत्त्व दिया। स्वतन्त्र इच्छा के स्थान पर निश्चयवाद (determinism) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने यह भी कहा कि दण्ड का सम्बन्ध अपराध से नहीं परन्तु अपराधी से होना चाहिए। वे मृत्युदण्ड को प्रभावशाली प्रतिरोधक (deterrent) नहीं मानते थे। उन्होंने निश्चित दण्ड व्यवस्था (definite sentence system) के स्थान पर अनिर्धारित दण्ड व्यवस्था (indeterminate sentence system) की सिफारिश की। मोटे रूप से क्लैसिकल सम्प्रदाय और प्रमाणवादी सम्प्रदाय के विचारों में निम्न अन्तर दिया जा सकता है

क्लैसिकल और प्रमाणवादी सम्प्रदायों की तुलना

क्लैसिकल सम्प्रदाय	प्रमाणवादी सम्प्रदाय
1. स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।	1. निश्चयवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।
2. अपराध की कानूनी परिभाषा को स्वीकार करता है।	2 अपराध की कानूनी परिभाषा को अस्वीकार करता है।
3. दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए।	3 दण्ड अपराधी के अनुकूल होना चाहिए।
4. कुछ अपराधों के लिए मृत्युदण्ड स्वीकार करता है।	4 मृत्युदण्ड को समाप्त करना चाहता है।
5. यह निश्चित दण्ड के पक्ष में है।	5 यह अनिर्धारित दण्ड के पक्ष में है।
6. यह आनुभविक अनुसंधान में विश्वास नहीं करता है।	6 यह आनुभविक अनुसन्धान में विश्वास करता है।

[1] See Sue Titus Reid, *Crime and Criminology*, *op. cit.*, 119

[2] "Lombroso served to redirect emphasis from the crime to the criminal, not from social to individual factors."—Wolfgang, *Cesare Lombroso* 288

परन्तु प्रमाणवादी सम्प्रदाय के योगदान की निम्न आलोचनाएँ भी दी जा सकती हैं :

(1) उनकी पद्धति (methodology) में गम्भीर त्रुटियाँ थीं, (2) उनके सैम्पल बहुत छोटे तथा अप्रतिनिधिक (non-representative) थे, (3) उन्होंने न तो नियन्त्रित समूहों का उपयोग किया और न अनुवर्ती अध्ययन (follow-up studies) किये, (4) उनके अनेक शब्दों की परिचालित (operational) परिभाषाएँ न तो स्पष्ट थीं और न संक्षिप्त (concise), (5) उन्होंने कुतर्क-सम्बन्धी (sophisticated) सांख्यिकीय विश्लेषण का भी उपयोग नहीं किया।

शारीरिक सिद्धान्त (Physiological Theory)

कुछ विद्वानों ने अपराध को व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसके शारीरिक लक्षणों के संदर्भ में भी समझाया है। इनमें से हम यहाँ हूटन (Hooton), शेल्डन (Sheldon), गाल (Gall), शिलाप (Schlapp) तथा कुछ अन्य आनुवंशिकता (heredity) के सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे।

हूटन का सिद्धान्त (Hooton's Theory)

हारवर्ड विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० हूटन ने 1929 से 1939 तक दस वर्ष की अवधि में 13,873 पुरुष बन्दियों और 3,203 अनपराधियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दो पुस्तकें[1] लिखीं। उसके अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य यह निश्चित करना था कि क्या अपराधियों के शारीरिक लक्षणों का उनके असामाजिक व्यवहार (anti-social conduct) से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? उसने इस तथ्य के अध्ययन का कोई प्रयास नहीं किया कि व्यक्ति का व्यवहार उसके शारीरिक लक्षणों के कारण ही उत्पन्न होता है (conduct is caused by physical characteristics)। इस सम्बन्ध में उसने चिम्पांजी (chimpanzee) जैसे जानवर का उदाहरण दिया। यद्यपि चिम्पांजी के शरीर की रचना (shape) उसके व्यवहार को निश्चित नहीं करती, परन्तु यह तथ्य कि वह चिम्पांजी है उसके व्यवहार को निश्चय ही निश्चित करता है। यह उदाहरण मनुष्यों के ऊपर लागू करके उसका कहना है कि हमें अपराधियों और अनपराधियों के शारीरिक लक्षणों में अन्तर की जाँच करनी चाहिए। उसने अपराधियों के सैम्पल में मैसाचुसेटस् (Massachusetts) और अन्य राज्यों के कारागृहों और सुधारालयों के आवासियों (inmates) को सम्मिलित किया तथा अनपराधियों के सैम्पल में उसने मैसाचुसेटस् के ही सैनिक अधिकारियों (militia officers), तैराकियों (bathing-house patrons), अस्पताल के बाहरी रोगियों (out-patients), अग्निशामकजनों

[1] Ernest A. Hooton, *Crime and the Man*, Harvard Univ. Press, Cambridge, 1931.

Ernest A. Hooton, *The American Criminal : An Anthropological Study*, Harvard Univ. Press, Cambridge, 1939.

(firemen) व हारवर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सम्मिलित किया। उसने दोनों सैम्पलों के 107 मानवशास्त्रीय लक्षणों (anthropological characteristics) का विश्लेषण किया। उसके प्रमुख निष्कर्ष निम्न थे

(1) अपराधियों के दाढ़ी और शरीर के बाल सूक्ष्म (thinner) और सिर के बाल घने (thicker) होते हैं। बालों का रंग लाल-भूरा अधिक और सफेद कम होता है। उनके ललाट (foreheads) छोटे, और तिरछे (low and sloping), होंठ पतले (thin lips) और जबड़े दबे हुए (compressed jaws) होते है।

(2) अपराधियों के अपराध का कारण शारीरिक हीनता (physical inferiority) है।

(3) शारीरिक हीनता आनुवंशिकता (heredity) द्वारा प्राप्त होती है।

(4) शारीरिक रूप से हीन व्यक्ति स्वयं को समाज मे कुसमायोजित पाते है; अतः अपराधी व्यवहार द्वारा अपराधी समाज में समायोजित हो जाते है।

(5) शारीरिक हीनता वाले व्यक्ति तीन प्रकार के बताये जा सकते हैं (i) अवयवी रूप से अव्यवस्थित (organically unadaptable), (ii) मानसिक रूप से अवरुद्ध (mentally stunted), और (iii) सामाजिक रूप से विकुंचित (sociologically warped)।

(6) सुधार की दृष्टि से उसका विचार था कि केवल युवा अपराधियों (youthful offenders) का सुधार ही सम्भव है। वह प्रथम अपराधियों (first offenders) को पक्के (hardened) अपराधियों से पृथक् करने पर बल देता था तथा प्रथम अपराधियों के पुनर्वास के लिए उन्हें पुनः शिक्षित करने एवं किसी पेशे (vocation) में प्रशिक्षण देने के पक्ष में था। अभ्यस्त (habitual) अपराधियों को जिन्हें वह निराशाजनक शारीरिक रूप से घटिया व्यक्ति (hopeless constitutional *inferiors) मानता था, सदा के लिए कारावास में रखना चाहता था।*

हूटन के सिद्धान्त की सदरलैण्ड,[1] मोहड, मैकॉरमिक,[2] रास[3] व मान्टेगू[4] आदि ने *निम्न कारकों के आधार पर आलोचना की है—*

(1) अपराधियों तथा अनपराधियों का प्रतिरूप (sample) प्रतिनिधिक (representative) *नहीं था। हूटन ने अपराधियों का प्रतिरूप केवल कारागृह के* बन्दियों में ही लिया और कारागृह के बाहर पाये जाने वालों को छोड़ दिया। सभी बन्दी आवश्यक रूप से अपराधी नहीं होते। इसी प्रकार अनपराधियों के प्रतिरूप में उसने जनसाधारण की अपेक्षा शारीरिक विकास में अधिक स्वस्थ व औसत के ऊपर वाले व्यक्तियों को लिया। अपराधी और अनपराधी के प्रतिरूपों में एक ही जनसंख्या, एक ही क्षेत्र, एक ही सामाजिक, आर्थिक एवं व्यावसायिक स्तर के व्यक्तियों को लेना

[1] E. H Sutherland, *Journal of Criminal Law and Criminology*, March-April 1939, 911-14

[2] *T C. McCormick, American Sociological Review, April 1940, 252-54*

[3] F. A Ross, *American Journal of Sociology*, November 1939, 477-80

[4] Ashley Montagu, *American Anthropologist*, July-Sept 1940, 381-408

चाहिए था। समपृष्ठभूमि के इन आधार पर यदि अपराधियों के कुछ लक्षण अनपराधियों में नहीं मिलते तो कहा जा सकता है कि इन लक्षणों और अपराध का पारस्परिक सम्बन्ध हो सकता है किन्तु उनको अपराध का कारण नहीं बताया जा सकता।

(2) उसकी अनुसंधान विधि (research methodology) भी दोषपूर्ण थी। उसने अपराधियों से साक्षात्कार के समय के अपराध को आधार मानकर बिना उनके पूर्व अपराधों के अध्ययन के अपराधियों की कुछ श्रेणियाँ (categories) विकसित कीं। उदाहरणार्थ, उसने लम्बे व दुबले व्यक्ति हत्यारे व लुटेरे, लम्बे और भारी व्यक्ति, जालसाज और चालबाज, छोटे कद के व दुबले व्यक्ति, चोर और सेंध लगाने वाले, छोटे कद के व भारी व्यक्ति, आक्रमणकारी व यौन अपराधी बताये तथा मध्यम शरीर वालों के लिए उसने बताया कि वे कोई विशेष अपराध नहीं करते। यदि हूटन अपराधियों के पूर्व अभिलेख (record) का विश्लेषण करता—क्योंकि उसके प्रतिरूपों में लगभग आधे अपराधियों के पूर्व दण्ड का अभिलेख था—तो सम्भवतया ये अपराधी श्रेणियाँ सत्य निकलतीं।

(3) हूटन ने शारीरिक हीनता को वंशगत बताया है जबकि सदा ऐसा नहीं होता।

(4) सामाजिक रूप से विकुंचित व्यक्तियों की हीनता को भी उसने वंशगत बताया है जबकि यह हीनता पारस्परिक सामाजिक क्रिया के दोषों के कारण ही उत्पन्न होती है।

(5) शारीरिक और मानसिक दोष हीनता कैसे उत्पन्न करते हैं, यह उसने नहीं बताया।

(6) श्वेतवस्त्रधारी जैसे अपराधों पर उसने ध्यान नहीं दिया है जबकि ये अपराध कभी हीनता के कारण नहीं होते, बल्कि लोभ व आर्थिक उद्देश्य के कारण होते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के कारण हूटन का सिद्धान्त वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में स्वीकार नहीं किया जाता।

शेल्डन का सिद्धान्त (Sheldon's Theory)

हारवर्ड विश्वविद्यालय के ही प्रो० विलियम शेल्डन ने 1949 में हूटन के सिद्धान्त के पश्चात् शारीरिक बनावट (physical constitution) के आधार पर अपराध को समझने का प्रयास किया था।[1] क्रिश्मेर (Kretschmer) ने 1925 में शेल्डन से पहले पाँच प्रकार के शरीर—शक्तिहीन (asthenic), हृष्ट-पुष्ट (athletic), ठिगना कद (pyknic), मन्दाग्निपीड़ित (dysplastic) और मिश्रित

[1] William H. Sheldon, H. H. Stevens, and W. B. Tucker, *Varieties of Human Physique*, Harper & Bros, N. York, 1940.
William H. Sheldon, E. M. Hart, and Eugene McDermott, *Varieties of Delinquent Youth*, Harper & Bros., New York, 1949.

प्रकार (mixed type)—देकर स्वभाव (temperament) और शारीरिक प्रकार (body type) के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध बताया था।[1] मनोरोग-चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक शेल्डन ने भी इस सम्बन्ध को स्वीकार कर अपराधिता और व्यक्तित्व में जीवविज्ञान (biology) की भूमिका का अध्ययन किया तथा जीवविज्ञान, मनोविज्ञान और मनोरोगविज्ञान को अपराधी व्यवहार को समझने के लिए आधार बनाया। अपने अनुसंधान के निष्कर्षों को उसने तीन खण्डों में प्रकाशित किया। सिर, चेहरे, हाथ, गर्दन, भुजा, पाँव, जाँघ व कंधे के नाप के आधार पर उसने तीन प्रकार के आकारकीय (morphological) ढाँचे व मानव-शरीर बताए, तत्पश्चात् हर ढाँचे के अलग-अलग स्वभाव दिये। तीन प्रकार के शरीर-गठन (body type) और तत्सम्बन्धी स्वभाव (temperament) इस प्रकार थे[2] (i) गोलाकार (Endomorph) शारीरिक गठन वाले व्यक्ति—इनकी त्वचा चिकनी, मखमली तथा देह छोटी (short) और कोमल हड्डियों वाली होती है।[3] ऐसे व्यक्ति सदा सुविधापूर्ण, आरामदेह, सुखद और विलासी वातावरण पसन्द करते हैं। विश्राम, अच्छा खाना व मित्रों का साहचर्य इन्हें अधिक पसन्द है। (ii) मझले कद (Mesomorph) के शारीरिक गठन वाले व्यक्ति—ये मांसपेशी (muscles) युक्त आयताकार गठन वाले व्यक्ति हैं जिनका वक्षस्थल चौड़ा, कलाइयाँ और हाथ भारी तथा शरीर शक्तिशाली होता है।[4] ये सदैव फुर्तीले, निश्चयात्मक, सिद्धान्ती, साहसी, उत्साही व उद्योगी होते हैं तथा इनका व्यवहार आक्रामक होता है व इनके प्रभुत्व (domination) और आधिपत्य जमाने से बहुत प्रेम होता है। (iii) लम्बाकार (Ectomorph) शारीरिक गठन वाले व्यक्ति—ये व्यक्ति कोमल अस्थियों से युक्त (skinny body) लम्बे आकार (tall) के होते हैं।[5] ये सदा थके-थके से रहते हैं, संवेदनशील (sensitive) होते हैं और मित्र-मण्डली से कतराकर समय से अलग-अलग रहते हैं। यह गोपनशील (secretive) भी अधिक होते हैं। शेल्डन ने 1949 में बॉस्टन की एक असरकारी सुधारात्मक संस्था में 200 अपराधी युवकों की जाँच करके पाया कि लगभग आधे अपराधियों का मनोरोगमय व्यक्तित्व था। शेष आधे प्रतिरूप में उसने शरीर-गठन, स्वभाव और अपराधी व्यवहार में महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध पाया। अतः उसने यह थीसिस (thesis) दी कि अपराधी व्यवहार शरीर-गठन पर निर्भर करता है। तर्कयुक्त शारीरिक नाप द्वारा व्यक्ति के अपराध व्यवहार की यथार्थ रूप से (accurately) भविष्यवाणी की जा सकती है। उसके अनुसार लम्बाकार शरीर-गठन वालों में अपराध सर्वाधिक मिलता है। उसने तीन प्रकार की अपराध-वृत्ति बतायी हैं: (क) राजसिक वृत्ति (Dionysian)—जो लम्बाकार शरीर-गठन व उनसे सम्बन्धित स्वभाव वाले व्यक्तियों में पायी जाती है। (ख) भ्रमपूर्ण वृत्ति (Paranoid)—जो

[1] E. Kretschmer, *Physique and Character*, 1925.
[2] W. H. Sheldon, *Varieties of Human Physique*, op. cit., 236
[3] This is similar to Kretschmer's Phynic type
[4] This is similar to Kretschmer's Athletic type
[5] This is similar to Kretschmer's Asthenic type

गोलाकार शरीर-गठन व उनसे सम्बन्धित स्वभाव वाले व्यक्तियों में पायी जाती है। (ग) हीबीफ्रेनिक वृत्ति (Hebephrenic)—जो मझोले कद के शरीर-गठन व तत्सम्बन्धी स्वभाव वाले व्यक्तियों में पायी जाती।

शेल्डन ग्लूक (Sheldon Glueck) तथा इलीनॉर ग्लूक (Eleanor Glueck) ने भी 1956 में शेल्डन का समर्थन किया। ग्लूक और ग्लूक[1] के मत में शरीर-गठन की अपराधी व्यवहार में प्रमुखता का कारण है कि—(i) शरीर-गठन में भिन्नता का सम्बन्ध अपराध से प्रत्यक्ष सम्बन्धित विभिन्न लक्षणों से है, (ii) विभिन्न शारीरिक रचना वाले व्यक्ति पर्यावरण दवाव (environmental pressures) में अलग-अलग रूप से प्रभावित होते हैं व उनकी अनुक्रिया अलग-अलग होती है। उनकी यही अनुक्रिया उनके अपराधी व्यवहार को स्पष्ट करती है। परन्तु सदरलैण्ड[2] और बार्न्स और टीटर्स[3] व्यक्तित्व को सामाजिक तत्त्वों की उपज मानते हैं जिसमें शारीरिक-गठन नहीं आता। परिस्थिति विशेष के प्रति व्यक्ति की अनुक्रिया (response) केवल उनकी शारीरिक बनावट की नहीं अपितु पूरे व्यक्तित्व की होती है। व्यक्तित्व सामाजिक अन्तःक्रिया, संस्कृति, आनुवंशिक तत्त्वों आदि पर निर्भर है। अतः शरीर की रचना को ही व्यक्ति के अपराधी व्यवहार के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। बार्न्स और टीटर्स का यह भी मत है कि समूह के सदस्य की शारीरिक रचना समूह के प्रति धारणाओं को निर्धारित न करके समूह में प्रचलित व दृढ़ धारणाएँ ही, शारीरिक रचना के बावजूद, सदस्य के व्यवहार को निर्धारित करती हैं।[4]

कपाल-विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त (Phrenological Theory)

कपाल-विज्ञान के एक मानस वैज्ञानिक विएना निवासी फ्रांज जोजेफ गाल (Franz Joseph Gall) ने 1809 में शेल्डन, हूटन और लोम्ब्रोजो से पहले कारागृहों और पागलखानों के आवासियों की खोपड़ी के नाप के अध्ययन पर आधारित कपाल-विद्या सम्बन्धी अपराधी व्यवहार की सैद्धान्तिक अवधारणा दी थी। अपराधियों और अनपराधियों की खोपड़ियों के आकार में उसे अन्तर मिला। उसकी थीसिस थी कि कपाल का वाह्य रूप (exterior of skull) मस्तिष्क के आन्तरिक आकार (interior of brain) जैसा होता है। मस्तिष्क में अलग-अलग विभाग (faculties) होते हैं। प्रत्येक विभाग का सम्बन्ध अलग-अलग लक्षणों—लड़ाकूपन (combativeness),

[1] Glueck and Glueck, *Physique and Delinquency*, Harper Bros., New York, 1956.

[2] Sutherland, *American Sociological Review*, February 1951, 10–13.

[3] H. E. Barnes, and N.K. Teeters, *New Horizons in Criminology*, Prentice Hall Inc., Englewood, 1959, 4th ed., 134.

[4] 'It is therefore possible that, rather than the constitution of any single member of the group determining his attitudes toward that group, the attitudes of the group, already in existence and solidified, predisposes certain types of behaviour towards, and consequently from, individuals of that biological constitution.'—*Ibid.*

विनाशता (destructiveness), लाभ की लिप्सा (acquisitiveness) आदि से होता है । अत. कपाल के नाप द्वारा मस्तिष्क के विभागो के विकास को जानकर अपराधी व्यवहार को समझा जा सकता है । गाल के मत मे विनाशता के लक्षण से युक्त व्यक्ति हत्या करेगा, लाभ-लिप्सा के लक्षण से युक्त चोरी और लूटपाट करेगा, गोपनशीलता (secretiveness) से युक्त राजद्रोह और धोखाधडी करेगा, लडाकूपन के लक्षण से युक्त मारपीट करेगा, तथा लालच (covetousness) से युक्त लक्षण वाला बेईमानी और चोरी का अपराध करेगा । किन्तु गाल यह भी मानता है कि मस्तिष्क के विभागो मे शक्ति और दुर्बलता के आधार पर लक्षणो को प्रभावित करने की क्षमता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार शरीर की कुछ इन्द्रियाँ व्यायाम द्वारा बलिष्ठ व शक्तिशाली तथा व्यायाम के अभाव मे दुर्बल व शक्तिहीन हो जाती है । अत दुर्बल विभागो वाले व्यक्तियो मे प्रबल विभागो वालो की अपेक्षा अपराध कम मिलता है ।

गाल के सिद्धान्त की उन्नीसवी शताब्दी के मध्य बहुत मान्यता थी । 1856 मे पेनिसिलवेनिया (Pennsylvania) के एक सुधार-घर (penitentiary) मे 416 बन्दियो के अध्ययन मे 70 9% मे लाभ-लिप्सा 17.3% मे विनाशता, 8 2% मे काम-वासना (amativeness), 3 4% मे लडाकूपन तथा 0 2% मे ईर्ष्या का लक्षण पाया गया ।

गाल के सिद्धान्त की मान्यता उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे, कुछ वैज्ञानिक अनुसन्धानो के फलस्वरूप, समाप्त हो गई । वैज्ञानिक अनुसन्धानो ने सिद्ध किया कि मस्तिष्क विभिन्न विभागो मे विभाजित नही होता, अत हर विभाग को एकान्तिक रूप से (exclusively) अलग-अलग लक्षणो से सम्बन्धित नही किया जा सकता । मानवी व्यवहार जटिल होने के कारण ऐसे सिद्धान्तो द्वारा बोधगम्य नही हो सकता ।

अन्तःस्रावी सम्प्रदाय (Endocrinological School)

हूटन और शेल्डन के 'शारीरिक बनावट' के सम्प्रदाय के साथ अन्त स्रावी सम्प्रदाय को भी समझना आवश्यक है । अन्त स्रावी विज्ञान ग्रन्थियो (glands)—रस स्रवण करने वाला अग—का विज्ञान है । इस सम्प्रदाय के अनुसार ग्रन्थि के ठीक कार्य करने (malfunctioning) के कारण ही व्यक्ति अपराध करता है । 1924 मे शिलाप (Schlapp)[1] द्वारा अध्ययन किये गये कैदियो मे से एक तिहाई को ग्रन्थि से सही कार्य न करने के कारण भावात्मक अस्थिरता से ग्रसित पाया गया । शिलाप और स्मिथ ने 1928 मे चोरी और हत्या के अपराध का आधार ग्रन्थि के ठीक कार्य न करने को ही समझाने का प्रयास किया ।

इस सम्प्रदाय के विरुद्ध मुख्य तर्क यह है कि बहुत से अपराधियो की ग्रन्थियाँ सामान्यत: कार्य करती हुई मिलती है जबकि बहुत-से विधि-सम्मत आचरण करने वाले नागरिको की ग्रन्थियाँ ठीक कार्य करती हुई नही मिलती । अन्त स्रावी विज्ञान

[1] M G Schlapp, 'Behaviour and Gland Disease', *Journal of Heredity*, vol 15, 1924, 11

को एक प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हास्कीन्स (Hoskins)[1] का मत है कि अन्तःस्रावी विज्ञान को अपराधशास्त्र का एक विशिष्ट पहलू मानने से पहले वर्तमान में अन्तःस्रावी विज्ञान में उपलब्ध तथ्यों से अधिक तथ्य संकलित (integrate) व एकत्रित करने होंगे । विख्यात शरीर-रचना विज्ञानी (anatomist) प्रो० एशले मान्टेगू (Ashley Montagu)[2] का भी विचार है कि ग्रन्थि के ठीक कार्य न करने और अपराधिता में सम्बन्ध स्थापित करने वाली सूचनाओं (reports) में से एक का भी वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन नहीं किया गया है । अन्तःस्रावी व्यवस्था का व्यक्ति के व्यवहार सम्बन्धी तथ्यों के अपूर्ण, असिद्ध एवं अज्ञात होने से सभी रिपोर्ट असत्य कारणयुक्त भ्रम की स्पष्ट उदाहरण हैं ।

आनुवंशिकता पर अन्य अध्ययन

लोम्ब्रोजो, हूट्टन, शेल्डन आदि के अनुसन्धानों के अतिरिक्त अपराध में पैतृकता की भूमिका को अध्ययन करने हेतु कुछ अन्य सर्वेक्षण भी किये गये हैं । इनमें से विशेष रूप से तीन अध्ययनों का विश्लेषण निम्न प्रकार है—

(1) चार्ल्स गोरिंग (Charles Goring) का अध्ययन—गोरिंग ने माता-पिता, सन्तान तथा भाई-भाई के अपराधों का सांख्यिकीय (statistical) अध्ययन किया। 1913 में इंग्लैण्ड में 3000 अपराधियों की मनोवृत्ति (mentality) सम्बन्धी लक्षणों और उनके अपराधी नियन्त्रित समूह (non-criminal control group) की तुलना में उसने आनुवंशिकता के अतिरिक्त आठ प्रकार के पर्यावरण का भी अध्ययन किया । उसने पाया कि बच्चों ने अपराधी माता-पिता से अलग रहने पर भी वही अपराध किये जो उनके माता-पिता ने किये थे । इस आधार पर उसने पूर्वधारणा दी कि अपराधी प्रवृत्ति में पर्यावरण का महत्त्व न होकर आनुवंशिकता का महत्त्व होता है ।

यद्यपि कुतर्क-सम्बन्धी सांख्यिकीय विश्लेषण (statistical analysis) के कारण गोरिंग का आनुभविक कार्य (empirical work) लोम्ब्रोजो के कार्य से उच्चतर (superior) था परन्तु लोम्ब्रोजो के जिस यथार्थ रूप से नापने वाले उपकरणों (accurately measuring instruments) की कमी की उसने आलोचना की थी, उसने स्वयं ही वह गलती दुहराई । उसने बुद्धि नापने के लिए उस समय उपलब्ध साइमन-बाइनेट (Simon Binet) परीक्षणों का प्रयोग न करके अपनी स्वयं की धारणा के आधार पर ही अपराधियों की मानसिक क्षमता (mental ability) की चर्चा की थी । दूसरा, उसने अपराध पर पर्यावरण के प्रभाव की बिल्कुल उपेक्षा की । तीसरा, अनपराधियों के सैम्पल में उसने जनसंख्या के उस हिस्से में से चुनाव किया जो उस जनसंख्या में पाये जाने वाले लक्षणों से अनेक रूप में भिन्न था जो अपराधियों

[1] R.G. Hoskins, *Endocrinology*, Norton, New York, 1941, 348.

[2] Ashley Montagu, 'The Biologist Looks At Crime,' in *The Annals*, vol. 217, September 1941, 55.

को अधिकांश जन्म देती है। उदाहरण के लिए गोरिंग ने इग्लैण्ड के दो विश्वविद्यालयों के स्नातको (undergraduates), अस्पताल के आवासियो व सैनिकों का अध्ययन किया और यह सभी जानते है कि इन वर्गों के सदस्य इतना अपराध नही करते जितना दूसरे वर्गों के व्यक्ति करते है।

गोरिंग की उप-कल्पना को सदरलैण्ड[1] आदि ने इस आधार पर दोषपूर्ण बताया कि . (i) इसमे पर्यावरण के तत्त्व के बहिष्कार (elimination) द्वारा पैतृकता के महत्त्व को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है, (ii) मानसिक योग्यता को पर्यावरण से अप्रभावित मानकर आनुवशिकता को अत्यधिक महत्त्व दिया है और पर्यावरण की भूमिका का अल्पानुमान लगाया गया है, (iii) सम्पूर्ण पर्यावरण अध्ययन न कर केवल आठ प्रकार के पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्व अध्ययन किये गये है, तथा (iv) गोरिंग ने अपराधी भाई-बहनो के अध्ययन मे अपराध का अनुपात 102 · 6 पाया। यदि आनुवशिकता ही अपराध का प्रमुख कारण होती तो अपराधी माँ-बाप के न केवल लडको मे अपितु लडकियो मे भी अपराध की सख्या उतनी ही मिलती।

(2) विख्यात (famous) और पतित (degenerate) परिवारो का अध्ययन—विनशिप (Winship), इसाब्रुक (Estabrook), डग्डेल (Dugdale) और गोडार्ड (Goddard) ने एडवर्ड (Edward), ज्यूक्स (Jukes) और कालीकैस (Kallikaks) के विख्यात तथा मानसिक रूप से हीन व अपभ्रष्ट परिवारो के अध्ययन करने पर पाया कि अपराध एक आनुवशिक घटना है। जोनाथन एडवर्ड परिवार के अध्ययन मे विनशिप ने पाया कि जोनाथन का कोई पूर्वज (ancestor) अपराधी नही था, अत उसके किसी भी वशज (descendant) ने अपराध नही किया था। अधिकाश उत्तर-वशज प्राध्यापक, लेखक, न्यायाधीश, पादरी, राज्यपाल आदि थे। दूसरी ओर डग्डेल[2] ने 1877 मे और इसाब्रुक[3] ने 1915 मे ज्यूक परिवार के 1200 सदस्यो के अध्ययन मे पाया कि इस परिवार के पूर्वजो के अपराधी होने के कारण 140 उत्तर-वशजो ने अपराध किया, जिनमे से 70 ने चोरी और 7 ने हत्याएँ की। गोडार्ड ने 1912 मे कालीकैक परिवार के 480 सदस्यो के अध्ययन मे वशजो मे ऐसा ही अपराधी व्यवहार पाया। अत इन विद्वानो ने कथित अध्ययनो के आधार पर पैतृकता को ही अपराधी व्यवहार का मुख्य कारण बताया।

मुख्य प्रश्न यह है कि यदि पैतृकता ही अपराध का कारण होती तो सभी उत्तर-वशजो ने क्यो अपराध नही किया ? कुछ ने ही क्यो किया जबकि पैतृकता के नियम सभी पर समान रूप से लागू होते हैं। फिर एडवर्ड परिवार के कुछ पूर्वजो के हत्या आदि के अभिलेख (records) थे, अत विनशिप की यह धारणा भी असत्य

[1] Sutherland, *Principles of Criminology*, 6th ed, Times of India Press, Bombay, 1965, 100

[2] Richard Dugdale, *The Jukes, a Study in Crime, Pauperism and Heredity*, Putnam, New York, 1877

[3] A H Estabrook, *The Jukes in 1915*, Washington, 1916

थी कि एडवर्ड परिवार के किसी भी पूर्वज ने अपराध नहीं किया था । अपराधिता यदि आनुवंशिक होती तो जोनाथन के अनेक वंशज अपराधी होते । अत: पर्यावरण तत्त्व की बिल्कुल अवहेलना नहीं की जा सकती ।

(3) **समरूप (identical) और भ्रातृक (fraternal) जुड़वाँ बच्चों (twins) का अध्ययन**—समरूप जुड़वाँ बच्चे एक ही अण्ड-कोष (egg-cell) की उपज होते हैं। जोड़े के दोनों सदस्यों का एक ही लिंग होता है । भ्रातृक जुड़वाँ अलग-अलग अण्ड-कोष से उत्पन्न होते हैं किन्तु दोनों का लिंग आवश्यक रूप से एक नहीं होता । अत: समरूप जुड़वाँ बच्चों के आनुवंशिक रूप से (genetically) समान होने से इन पर परीक्षण में पैतृकता का तत्त्व अधिक नियन्त्रित होता है । जुड़वा बच्चों में से जब एक अपराधी हो और दूसरा भी वैसा ही अपराध करे तब इन जुड़वाँ को अविरुद्ध व संवादी (concordant) जुड़वाँ बच्चे कहा जाता है परन्तु जब जुड़वा में से एक अपराधी हो और दूसरा न हो तो इन्हें विसंवादी (discordant) कहा जाता है। जर्मन विद्वान् लांगे (Lange)[1] ने 1929 में तथा अमरीकन विद्वानों—न्यूमैन (Newman),[2] फ्रीमैन (Freeman) और हालजिन्गर (Holzingar) ने 1937 में समरूप जुड़वाँ के व्यवहार का अध्ययन कर अपराधी व्यवहार में पैतृकता के महत्त्व का विश्लेषण किया। लांगे ने 13 समरूप जुड़वाँ बच्चों में से 10 (77%) संवादी (दोनों अपराधी) और 3 (23%) विसंवादी (एक अपराधी और एक अनपराधी) पाये; 17 भ्रातृक जुड़वाँ बच्चों के अध्ययन में उसने केवल 12% और 214 साधारण भाइयों के अध्ययन में केवल 8% ही संवादी भाई पाये। समरूप जुड़वाँ 13 बच्चों में से 10 में जुड़वाँ जोड़े के दोनों सदस्यों के अपराध की प्रकृति लांगे ने एक ही पायी। अत: उसने निष्कर्ष निकाला कि पैतृकता का अपराधी व्यवहार में बहुत महत्त्व है । न्यूमैन, फ्रीमैन और हालजिन्गर ने 42 समरूप जुड़वाँ बच्चों के विश्लेषण में 93% बच्चों में संवादी जुड़वाँ पाये जाने पर अपराधिता के आनुवंशिक तत्त्व पर बल दिया है । ऐसा ही निष्कर्ष क्रैन्ट्स (Krantz, 1936) व स्टम्फ (Stumpff, 1956) आदि के समरूप जुड़वाँ के अध्ययनों में भी मिलता है । एक अन्य विद्वान् न्यूमैन का समरूप जुड़वाँ के व्यवहार के बारे में मत है कि समरूप जुड़वाँ भ्रातृक जुड़वाँ की अपेक्षा सामाजिक क्रियाओं में घनिष्ठ सहयोगी होते हैं अत: दोनों की ही मुठभेड़ ऐसे सामाजिक तत्त्वों व प्रभावों से हो सकती है जो उनको अपराधिता की ओर ले जाते हैं ।

उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर अपराध में पैतृकता के महत्त्व को माऊरेर (Mowrer) व मान्टेगू (Ashley Montagu) आदि विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। मान्टेगू[3] के मत में कोई व्यक्ति अपराध करने की प्रवृत्ति आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त

[1] J. Lange, Translation by Charlottee Haldane, *Crime and Destiny*, New York, 1930.

[2] H.H. Newman, *Multiple Human Births*, New York, 1940.

[3] M. F. Ashley Montagu, 'The Biologist looks at Crime' in David Dressler's (editor) book, *Readings in Criminology and Penology*, Columbia University Press, New York, 1964, 183-85.

नही कर सकता। अपराध जैविकीय तथ्य नही अपितु एक सामाजिक तथ्य है। जुडवाँ बच्चो को इन अध्ययनो मे पर्यावरण के तत्त्व को सर्वथा निकाल दिया गया है। अत. जुडवाँ के व्यवहार को केवल पैतृकता के आधार पर समझाना एक भ्रम उत्पन्न करने के अलावा और कुछ नही है। माऊरेर[1] ने भी कहा है कि जुडवा बच्चो के अध्ययन अपराधिता मे पैतृकता के महत्त्व को समझाने मे अन्य क्रिया-विधियो की तरह असफल हुए हैं।

माऊरेर व मान्टेगू की आलोचनाओ के उपरान्त भी अपराधिता मे पैतृकता का महत्त्व बिल्कुल त्यागा नही जा सकता है। वर्तमान मे अपराधशास्त्री आनु-वंशिकता को प्रमुख कारक न मानकर अपराधी व्यवहार का एक कारक अवश्य मानते हैं। पैतृकता का महत्त्व, अपराधी व्यवहार व साधारण मानव व्यवहार मे, कितना है इस सन्दर्भ मे भिन्न-भिन्न विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं। नेथेनियल हर्श (Nathanial Hirsch) मानव व्यवहार मे 40% पैतृकता तथा 60% पर्यावरण को उत्तरदायी ठहराता है जबकि बारबारा बर्क्स (Barbara Burks) के अनुसार, पैतृकता 80% उत्तरदायी है। अत: सीमा व विस्तार के विवाद मे न पडकर इतना कहा जा सकता है कि अपराधिता मे पैतृकता के तत्त्व की सर्वथा अवहेलना नही की जा सकती।

जैविकीय सम्प्रदाय का मूल्याकन
(Evaluation of Physiological or Biological School)

उपर्युक्त जैविकीय अध्ययनो मे सबसे प्रमुख दोष यह मिलता है कि पर्यावरण के तत्त्व की या तो सर्वथा अवहेलना की गयी है या उसका अति अल्प महत्त्व माना गया है और वशानुक्रमण के तत्त्व पर अत्यधिक बल दिया गया है। द्वितीय अध्ययन हेतु समूहो का चयन ठीक न होने से तथा चुने हुए समूहो का सम्पूर्ण जनसख्या का प्रतिनिधित्व न करने से अनुसधान पद्धति दोषपूर्ण है। फिर व्यक्ति का समग्र (as a whole) के रूप मे अध्ययन करने के स्थान पर केवल एक जैविकीय जीव (biological organism) के रूप मे अध्ययन किया गया है। व्यक्ति का शारीरिक एव मानसिक कार्य निष्पादन करना सास्कृतिक तत्त्वो से बहुत प्रभावित होता है। अत जैविकीय, सास्कृतिक और सामाजिक कारको को एकत्रित कर कहा जा सकता है कि अपराध व्यवहार का ग्रहण किया हुआ (adoptive) वह रूप है जिसे अधिकाश व्यक्ति कुसमायोजन (maladjustment) की समस्या के कारण अपनाता है।

उक्त तर्कों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि जैविकीय सिद्धान्त का आजकल शैक्षणिक (academic) मूल्य से अधिक महत्त्व नही है यद्यपि यह लाभ इससे अवश्य हुआ है कि इस सम्प्रदाय ने पहली बार वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अपराधी व्यवहार को समझने के लिए अपराधी व्यक्ति

[1] R Ernest Mowrer, *American Sociological Review*, August 1954, 468-71

का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्प्रदाय के विकास के पूर्व व्यक्ति के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)

अपराध के कारणों में लोम्ब्रोजो, गोरिंग, हूट्टन आदि द्वारा दिये गये जैविकीय सिद्धान्त में 'संरचना' (structure) द्वारा 'प्रकार्य' (function) निर्धारित किये जाने पर बल मिलता है तथा इनके सिद्धान्तों में आनुवंशिक जैविकीय असाधारणता (abnormality) को अपराध का प्रमुख कारण बताया गया है। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक मानसिक दुर्बलता (mental retardation) व मानसिक हीनता (mental deficiency) के आधार पर अपराध समझाते है। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में शारीरिक हीनता (constitutional inferiority) को अपराध का कारण माना गया है तथापि प्रथम सम्प्रदाय शारीरिक गठन के अन्तर को महत्त्व देता है और द्वितीय मानसिक अन्तर के महत्त्व को मानता है।

मानसिक दुर्बलता को समझने के लिए हमें मानसिक हीनता (mental deficiency) और मानसिक व्यतिक्रम व अस्त-व्यस्तता व विक्षिप्तता (mental derangement) के अन्तर को समझाना होगा। इसाक रे (Issac Ray) ने 1938 में मानसिक रूप से हीन व्यक्ति उसे बताया जिसके मानसिक विभाग (faculties) या तो बिल्कुल विकसित नहीं होते हैं या दोषपूर्ण रूप से विकसित होते हैं। दूसरी ओर उसके अनुसार मानसिक विक्षप्त व्यक्ति के मानसिक विभागों में विकास मिलता तो है किन्तु यह विकास इस प्रकार का होता है कि व्यक्ति असाधारण व्यवहार कर देता है। मानसिक रूप से हीन (mentally deficient) व्यक्ति को मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति (feeble minded) तथा मानसिक रूप से विकृत (mentally deranged) व्यक्ति को मानसिक रोगग्रस्त (diseased) व्यक्ति भी कहा गया है।

1905 में बाइनेट (Binet) ने व्यक्ति की मानसिक हीनता व बुद्धि को नापने के लिए साइमन (Simon) की सहायता से बाइनेट-साइमन पैमाना (Scale) बनाया जिसमें 54 परीक्षण (Tests) निर्धारित किये गये थे। इस पैमाने को अमरीका में अब संशोधित करके 90 परीक्षण निश्चित किये गये हैं। अतः बुद्धि-लब्ध (I. Q.) नापने के लिए निम्न फार्मूला (सूत्र) मिलता है—

$$\text{बुद्धि-लब्ध (I. Q.)} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{शारीरिक आयु}} \times 100$$

मानसिक आयु का अभिप्राय व्यक्ति की अपनी विभिन्न समस्याओं को सरलता व कठिनाई से हल करने की क्षमता से है। उदाहरणार्थ, एक 15 वर्ष का बच्चा जब अपनी समस्याओं को आसानी से सुलझाने योग्य होता है, एक 9 वर्ष का बालक इसमें बहुत-सी कठिनाइयाँ अनुभव करता है। अतः 15 वर्ष वाले बालक की मानसिक आयु 9 वर्ष के बालक की मानसिक आयु से ऊँची होगी।

गोडार्ड (Goddard) ने 1921 में व्यक्ति के निम्न बुद्धि-लब्ध व मन्द बुद्धि

को उसके व्यवहार से सम्बन्धित कर अपराधिता को समझाने का प्रयास किया।[1] उसने बुद्धिहीन व्यक्तियों की संस्था (जिसका निर्देशक वह स्वयं था) के सभी सदस्य (inmates) के बुद्धि परीक्षण के आधार पर पाया कि किसी सदस्य की भी मानसिक आयु 13 वर्ष से ऊपर नहीं थी। एक सामान्य व्यक्ति की 16 वर्ष कालक्रमानुसार व शारीरिक (chronological) आयु को औसत मानकर—जिसमें वह उचित और अनुचित क्रियाओं में अन्तर करने की मानसिक क्षमता रखता है—एक व्यक्ति का बुद्धि-लब्ध (I. Q.) गोडार्ड निम्न प्रकार बताता है—

$$\text{बुद्धि-लब्ध} = \frac{13 \times 100}{16} = 81$$

अतः गोडार्ड ने मन्द बुद्धि की सर्वोच्च सीमा निर्धारण के लिए 12 वर्ष की मानसिक आयु ली तथा ($\frac{12}{16} \times 100$) = 75 से कम बुद्धि-लब्ध वाले को बुद्धिहीन बताया। अपराध में मन्द बुद्धि के अध्ययन में उसने कहीं 89% बुद्धिहीन अपराधी पाये और कहीं 28% पाये। अतः मध्यम (median) अंक के आधार पर उसने 70% अपराधियों में मन्द बुद्धि पाये जाने के कारण अपराध का प्रमुख कारण यह ही क्षीण बुद्धि बताया। उसके मत से अपराध का सबसे बड़ा एक कारण निम्न मनोवस्था (low grade mentality), विशेषकर मन्द बुद्धि (feeble minded-ness), है।

गोडार्ड ने स्वयं के मन्द बुद्धि सिद्धान्त के कुछ प्रमुख प्रस्ताव इस प्रकार दिये हैं[2]—(1) लगभग सभी अपराधी बुद्धिहीन होते हैं; (2) मन्द बुद्धि आनुवंशिक होती है तथा इस दुर्बलता का संचरण मेन्डल के प्रबल एवं गौण आहकाणु के सिद्धान्त के अनुसार होता है, (3) बुद्धिहीन व्यक्ति, विशेष नियन्त्रण के अभाव में, बहुत अधिक सुझावग्राही (suggestible) होने से तथा पर्याप्त बुद्धि के बिना कानून के तर्क या अधिमूल्यन न कर सकने के कारण अपराध करते हैं; (4) स्वयं की क्रियाओं का परिणाम न समझ सकने के कारण बुद्धिहीन व्यक्ति को दण्ड का भय भी अपराध करने से नहीं रोक सकता; तथा (5) अपराध को रोकने के लिए बुद्धिहीन व्यक्तियों का बन्ध्याकरण (sterilisation) आवश्यक है।

कुछ वर्ष बाद गोडार्ड ने अपना विचार बदल डाला और कहा कि केवल बुद्धिहीन व्यक्ति ही नहीं सभी व्यक्ति सम्भाव्य (potential) अपराधी होते हैं।

मर्चिसन (Murchison), लाउरे (Lowrey), टर्मन (Terman), शेल्डन और ग्लूक (Sheldon and Glueck, 1934), वीज (Weiss, 1944), मेरिल (Merrill, 1947), सिरिलबर्ट (Cyril Burt), जेलेनी (Zeleny, 1933) आदि ने भी मानसिक हीनता और अपराध के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया। इन विद्वानों के मत में कानून का पालन करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अपराधी मानसिक हीन नहीं होते

[1] Henry H. Goddard, *Juvenile Delinquency*, Dodd, Mead & Co., New York, 1921

[2] Henry H. Goddard, *Human Efficiency and Levels of Intelligence*, Princeton University Press, Princeton, 1920, 73

तथा बाल-अपराधियों और सम्पूर्ण बाल जनसंख्या की बुद्धि में अधिक अन्तर नहीं होता। टर्मन (Terman) ने 1000 अमरीकन स्कूलों के बालकों के अध्ययन में (बिना वैज्ञानिक चुनाव के) 50% बालकों में बुद्धिलब्ध 93 और 108 के बीच पाया तथा केवल 0·3% बालकों का बुद्धिलब्ध 65 से कम व 2·6% का 75 से कम पाया। दूसरी ओर हीले और ब्रानर (Healy and Bronner)[1] ने 1926 में 4000 बाल-अपराधियों के अध्ययन में केवल 13·5% को मानसिक रूप से हीन पाया; बर्ट[2] ने 8% को, मेरियल[3] ने 1731 बाल-अपराधियों में से 23% को मानसिक हीन व 70 से कम बुद्धि-लब्ध (I. Q.) वाला, एवं शेल्डन[4] और ग्लूक ने 13·1% को मानसिक हीन पाया। यदि बाल अपराधियों और सम्पूर्ण बाल जनसंख्या की औसत बुद्धि में अन्तर मिलता है तथापि इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक हीनता ही बाल अपराध का कारण है। वीज (Weiss) और सैम्पलीनर (Sampliner)[5] ने 16 और 21 वर्ष के मध्य के 189 पहली बार अपराध करने वाले किशोरों के अध्ययन में पाया कि उनमें बुद्धि का वितरण आम लोगों की बुद्धि के वितरण के समान है। रेक्लेस (Reckless)[6] का भी मत है कि अपराधी वर्ग साधारण नागरिक वर्ग की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है।

सदरलैण्ड[7] ने भी 1926–29 में समस्त बुद्धि सम्बन्धी परीक्षणों के परिणामों को एकत्रित कर मानसिक-हीनता व मन्द बुद्धि और अपराध के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन किया और 350 प्रतिवेदनों (जिनमें 1,50,000 अपराधियों और बाल अपराधियों का अध्ययन किया गया था) के विश्लेषण के आधार पर निम्न पाँच निष्कर्ष दिये—(1) 1910–14 के मध्य बुद्धिहीन अपराधियों की संख्या 50% थी जबकि 1925–28 के मध्य यह केवल 20% ही पायी गयी। यह कमी बुद्धिलब्ध (I.Q.) परीक्षणों की पद्धति में परिवर्तन के कारण ही पायी गयी थी। (2) अपराधियों में पाये जाने वाले बुद्धिलब्ध साधारण जनता में पाये जाने वाले बुद्धिलब्ध के समान थे। जेलेनी[8] (Zeleny) ने भी बाल अपराधियों और साधारण बाल-जनसंख्या की मानसिक हीनता का अनुपात 1·2 : 1 पाया। (3) समाज के मन्दबुद्धि व्यक्तियों में

[1] W. Healy and A. Bronner, *Delinquents and Criminals*, Macmillan & Co., New York, 1926.

[2] Cyril Burt, *The Young Delinquent*, University of London Press, London, 1938.

[3] M. Merrill, *Problems of Child Delinquency*, Boston, 1947.

[4] Sheldon and Glueck, *One Thousand Juvenile Delinquents*, Cambridge, 1934, 102.

[5] H. R. Weiss and R. Sampliner, 'A Study of Adolescent Felony Violators', *Journal of Criminal Law*, March-April 1949, 377–91.

[6] W. Reckless, 'The etiology and delinquent and criminal behaviour', *Social Science Research Council Bulletin*, New York, 1943, 716.

[7] H. Edwin Sutherland, 'Mental deficiency and crime', Chapter 13 in Kimbal Young's (editor) book *Social Attitudes*, 1931, 357–75.

[8] Zeleny, 'Feeblemindedness and criminal conduct,' in *American Journal of Sociology*, January 1933, 564–78.

पायी जाने वाली अपराधिता की मात्रा सामान्य व्यक्तियो मे पायी जाने वाली अपराधिता की मात्रा के बराबर थी। (4) कारागृहो मे मन्दबुद्धि बन्दी उतने ही अनुशासित थे जितने अल्प सामान्य बन्दी। (5) पैरोल (parole) पर छोड़े गये बुद्धिहीन अपराधी पैरोल नियमो का उतना ही पालन करते हैं जितना साधारण अपराधी।

अतः उक्त अध्ययनो के आधार पर यह कदापि नही माना जा सकता कि मन्दबुद्धि ही अपराध का प्रमुख कारण है। अर्थात् गोडार्ड के सिद्धान्त को इस आधार पर अस्वीकार करना है कि बुद्धि जैविकीय घटना न होकर जैविकीय और सामाजिक तत्त्वो के परस्पर क्रिया की उपज होती है। मानसिक हीनता भी पूर्णतया पैतृक नही होती है। वर्तमान प्रमाणो के अनुसार अधिक मानसिक हीनता गर्भावस्था काल मे व जन्म के समय बलकृत-क्षति के कारण उत्पन्न होती है। मानसिक हीनता वाले सभी वर्गों व सभी शैक्षणिक स्तर पर मिलते हैं। यह भी माना जाता है कि मानसिक-हीन व्यक्ति आवश्यक रूप से व्यवहार सम्बन्धी जोखिम (behaviour risks) नहीं होते।

अपराध मे मानसिक हीनता के महत्त्व को अस्वीकार करने पर भी मानव व्यवहार मे बुद्धि के महत्त्व का न्यूनानुमान (underestimation) नही किया गया है। यद्यपि मान्यता है कि स्थिर सास्कृतिक प्रोत्साहन की स्थिति मे बुद्धि-लब्ध आयु से विचरित नही होता किन्तु फिर भी गम्भीर बीमारी आदि जैसे कारक सीखने की वृद्धि-दर को तथा बुद्धिलब्ध को अवश्य प्रभावित करते है। यह प्रमाणित है कि निम्न से उत्कृष्ट सास्कृतिक पर्यावरण मे लाने पर बच्चो की सीखने की मात्रा व बुद्धिलब्ध बढते हैं तथा उत्कृष्ट से घटिया सास्कृतिक पर्यावरण मे इसका विपरीत होता है। चूंकि बुद्धि का सम्बन्ध केवल जन्म से नही अपितु जन्म और पोषण व प्रशिक्षण दोनो से होता है इसलिए अब भी बुद्धि और सुधार के बीच सम्बन्ध को महत्त्व दिया जाता है।

मनोविकार विश्लेषण का सिद्धान्त (Psychiatric Theory)

मनोरोग विज्ञान (psychiatric) चिकित्सा (medicine) की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध मानसिक अव्यवस्था से है। यह सिद्धान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व के सीखे हुए पहलुओ का जैविकीय प्रेरणाओ (biological drives) द्वारा वशीभूत किये जाने पर जोर देता है, जिसके कारण वह व्यक्ति अपराध करता है।[1] यह सिद्धान्त यद्यपि सभी व्यक्तियो को जन्मजात अपराधी (born criminals) मानता है किन्तु इसकी मान्यता है अधिकाश व्यक्ति अपने अपराधी जैविकीय आवेगो (criminal biological impulses) को नियत्रित करना सीखते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य

[1] Franz Alexander, & Hugo Staub, '*The Criminal, the Judge, and the Public : A Psychological Analysis*,' Macmillan & Co , N York, 1931

David Abrahamsen, *The Psychology of Crime*, John Wiley & Sons, N York, 1964

जन्मजात व स्वाभाविक रूप से आक्रमणकारी (innately aggressive) होते हैं। व्यक्ति अपराध करना चाहते नहीं हैं परन्तु जैविकीय प्रेरणाओं और सीखे हुए कमजोर अन्तर्बाधाओं (weak inhibitions) के कारण वे अपराध करने पर मजबूर हो जाते हैं।

हीले और ब्रानर ने अपराध के कारणों को शारीरिक और मानसिक लक्षणों के स्थान पर संवेगात्मक व्याकुलता (emotional disturbances) और व्यक्तित्व-संघर्ष (personality conflicts) में खोजने का प्रयास किया। हीले[1] ने 1915 में 1000 बाल अपराधियों के विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि अपराध व्यक्ति की मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति (expression) है तथा अपराधिता में 'व्यक्तित्व-संघर्ष' केन्द्रीय तत्त्व है। उसके मत में निराशाएँ व्यक्ति में संवेगात्मक व्याकुलता उत्पन्न करती हैं। व्यक्तित्व के संतुलन (equilibrium) हेतु उक्त व्याकुलता व पीड़ा को दूर करना आवश्यक है। अतः इस पीड़ा को प्रतिस्थापन्न (substitute) व्यवहार द्वारा दूर करने का प्रयास किया जाता है। यह प्रतिस्थापन्न व्यवहार अपराधी व्यवहार होता है।

नैराश्य→संवेगात्मक व्याकुलता→पीड़ा को दूर करना→प्रतिस्थापन व्यवहार→अपराध।

उपर्युक्त आधार पर हीले के मत में अपराधी के सुधार हेतु उसके मानसिक, समाजशास्त्रीय, जैविकीय व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर बल देना चाहिए। बार्न्स और शैलू (Barnes and Shalloo) इसी को वैयक्तिक अध्ययन (case study) का सर्वाधिक विकसित रूप मानते हैं।

1936 में हीले ने पुनः इच्छा-तृप्ति (wish-satisfaction) के आधार पर अपराधी-व्यवहार को समझाया। बाल अपराधियों की उनके अनपराधी सहोदरों (siblings) से तुलना कर उसने देखा कि समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिस्थापित सन्तुष्टि ढूँढ़ने में अपराधियों की तुलना में अनपराधी अधिक सफल होते हैं। उसने यह भी देखा कि बाल-अपराधी, परिवार के प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, अन्य व्यक्तियों से सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित करने में कम योग्य थे। उसने 13% अनपराधियों में संवेगात्मक व्याकुलता पायी तथा 0·91% अपराधियों में भावात्मक विक्षोभ पाया। अतः उसके अनुसार अपराधी तुलनात्मक दृष्टि से अधिक विक्षोभ और व्याकुलता के कारण अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु अपराधी प्रतिस्थापन-व्यवहार अधिक करते हैं। कोई लड़का या लड़की अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति हेतु समाज द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार समाधान ढूँढ़ने में असफल होने पर अपराधी-व्यवहार द्वारा पूर्ति करने का प्रयास करता है।

हीले के उक्त सिद्धान्त में विलियम थामस[2] द्वारा 1923 में प्रतिपादित 'चार इच्छाओं' (Four Wishes) के सिद्धान्त का अधिक आधार मिलता है। कैवन[3] के

[1] Healy, *The Individual Delinquent*, Little Brown & Co., Boston, 1915.
[2] W. Thomas, *The Unadjusted Girl*, Little Brown & Co., Boston, 1923.
[3] Ruth S. Cavan, *Criminology*, Crowell, New York, 1955.

अनुसार हीले ने अपराधी-व्यवहार को व्यक्तिगत और सामाजिक तत्वों के संश्लेषण (synthesis) के आधार पर समझायी है। रेकलेस[1] कहता है कि हीले के सिद्धान्त को इस कारण अस्वीकृत किया जा सकता है कि किसी वैयक्तिक विश्लेषक (case-analyst) द्वारा अनपराधियो की तुलना में अपराधियो मे संवेगात्मक व्याकुलता पाना अधिक सरल है।

हीले की थीसिस की निम्न आधारो पर आलोचना की गयी है (1) उसके सैम्पल बहुत छोटे थे जिस कारण उसके सांख्यिकीय विश्लेषण व निष्कर्ष अर्थहीन थे, (2) उसके शब्द अस्पष्ट रूप से (vaguely) परिभाषित थे जिस कारण उनका परीक्षण नही किया जा सकता।

यद्यपि हीले की मनोविकार विश्लेषण पद्धति को आजकल मान्यता नही दी जाती तथापि मनोविकार विश्लेषण पद्धति के योगदान को अवश्य स्वीकार किया जाता है क्योकि (1) यह वैयक्तिक अपराधी की ओर ध्यान आकर्षित कराती है, (2) इसने व्यक्तित्व के विकास मे बाल्यावस्था को महत्व दिया है, (3) इसने मानव-व्यवहार मे अविवेकी (non-rational) तत्व को समझाकर ज्ञानवर्द्धन किया है, तथा (4) इसने व्यक्तित्व के कार्य करने की विधि मे एक गहन अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत की है।

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Psychoanalytical Theory)

मनोविश्लेषण (Psychoanalysis) मनोरोगविज्ञान (Psychiatry) की एक शाखा है। अपराधशास्त्र के क्षेत्र मे मनोविश्लेषण के प्रयोग द्वारा ग्लूक, हीले, ब्रमबर्ग आदि ने अपराध को संवेगात्मक समस्याओ के आधार पर समझाया है। फ्रायड ने भी मनोविश्लेषणात्मक विधि के आधार पर अपराधी-व्यवहार की एक व्याख्या दी है। वह स्व (व्यक्ति-self) के विकास मे तीन स्तर—इड, इगो और सुपरइगो—बताता है। इड मे वह कामोत्तेजना व अनुराग (libido and love प्रवृत्ति के अलावा क्रूर व परपीडक (sadistic) एव विनाशक (destructive) प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित करता है। इड को अचेतन सहजप्रेरणात्मक पशुवत् प्रवृत्ति (unconscious instinctual animal tendency) माना गया है, इगो को वास्तविकता (reality), और सुपरइगो को चेतना अथवा अन्तरात्मा की आवाज (conscience)। जैसे-जैसे व्यक्ति का बाह्य सामाजिक संसार से सम्बन्ध बढता जाता है, उसकी सहज प्रेरणात्मक प्रवृत्तियाँ इगो या अहम् मे विकसित होती जाती हैं और इगो फिर सुपरइगो या नैतिक मन मे विकसित होता जाता है। जब इड और इगो और सुपरइगो के बीच असाधित संघर्ष (unsolved conflicts) बढते जाते हैं तथा सुपरइगो इड को नियन्त्रित नही कर पाता तब व्यक्ति अपराधी-व्यवहार करता है।

मनोविश्लेषक कार्पमैन (Karpmann) के अनुसार सभी व्यक्ति इस रूप मे जन्मजात अपराधी है कि वे ससार मे अप्रतिबन्धयुक्त और अदमनीय (unrepressed)

[1] Walter C Reckless, 'The etiology of delinquency and criminal behaviour', *Social Science Research Bulletin*, No 50, 1943

व्यक्तियों के रूप में जन्म लेते हैं। अतः समाज एक वह संरचन (mechanism) है जो हमें इस प्रकार प्रतिबन्धित करता है जिससे हम अपनी अपराधी मनोवृत्तियों का प्रतिरोध कर सकें। कार्पमैन[1] का यह भी विश्वास है कि हर व्यक्ति स्वार्थी, घृणास्पद, संकीर्ण विचार का और ईर्ष्यालु पैदा होता है परन्तु संस्कृति उसे स्नेही, निष्ठाशील, दयालु और सहानुभूतिशील बनाती है। अतः अपराधी-व्यवहार हमारे उन असामाजिक विचारों का प्रतीक है जो हमारे अन्दर पाये जाते हैं।

मनोविश्लेषक डेविड अब्राह्मसेन ने फिर व्यक्ति द्वारा अपराध करने के तीन कारण बताये हैं : (i) हर व्यक्ति में असामाजिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। जीवन में कभी कोई ऐसी घटना घटती है जो उसकी इस समाज-विरोधी प्रवृत्ति को प्रेरणा देती है जिसके फलस्वरूप वह अपराध करता है। (ii) कभी-कभी व्यक्ति कोई ऐसा अनुचित कार्य कर बैठता है जिसके लिए वह स्वयं को अपराधी मानता है और चाहता है कि उसे उसका दण्ड मिले। परन्तु क्योंकि समाज को इस अनुचित कार्य का कोई ज्ञान नहीं होता, उसे दण्ड नहीं मिलता। अब क्योंकि व्यक्ति की दोषी भावना (guilt feeling) जड़ पकड़े होती है और उसे दण्ड की अचेतन इच्छा रहती है, अतः वह अपराध करके दण्ड प्राप्त करता है और अपनी दोषी भावना को दूर करता है। (iii) जो व्यक्ति सांवेगिक रूप से शक्तिहीन और असुरक्षित होता है वह इसे छिपाने के लिए आक्रमणकारी सांवेगिक धारणा विकसित करता है। इस आक्रमणकारी धारणा को जब वह प्रतिवाद और विद्रोह द्वारा प्रदर्शित करता है तब उसका व्यवहार अपराधी होता है।

अपराध के इन तीन 'निश्चित तरीकों' के अलावा अब्राह्मसेन ने दो 'नियम' (laws) भी दिये हैं :[2] (i) अपराध एक से अधिक कारकों के कारण होता है, तथा (ii) अपराध व्यक्ति की अपराधी मनोवृत्तियों, सम्पूर्ण परिस्थितियों और उसके प्रलोभन के प्रति मानसिक और सांवेगिक प्रतिरोधन पर आधारित है। इससे सम्बन्धित उसने एक अंकगणितीय फार्मूला (mathematical formula) भी दिया है—

$$\text{अपराध} = \frac{\text{मनोवृत्तियाँ} + \text{परिस्थितियाँ}}{\text{प्रतिरोध}} \left(C = \frac{T+S}{R} \right)$$

अब्राह्मसेन द्वारा अपराध के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये दो 'नियम' तो समझ में आते हैं परन्तु उसके तीन 'निश्चित तरीकों' में अधिक बल नहीं मिलता। यदि यह भी मान लिया जाये कि असामाजिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा अपराध का एक कारण है तो भी उसके दण्ड की अचेतन इच्छा और आक्रमणकारी सांवेगिक धारणा का अपराध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु अब्राह्मसेन के अपराध के बहुकारक-

[1] Ben Karpmann, *Case studies in the Psychopathology of Crime*, Washington, 1923.

[2] David Abrahamsen, *The Psychology of Crime*, Columbia University Press, New York, 1960, 33.

वादी सिद्धान्त को आजकल बहुत से समाजशास्त्री मानते हैं। इसी प्रकार उसके अगणितीय फार्मूले में व्यक्तित्व और परिस्थितियों पर बल देना भी बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है। अत. हम यह कह सकते हैं कि मनोविश्लेषकों (psychoanalysts) के अनुसार अपराधी व्यवहार उन प्रतिबन्धकों के कारण उत्पन्न होता है जो समाज व्यक्ति के विनाशक अन्त प्रेरणात्मक स्वभाव पर स्थापित करता है। मनोविश्लेपणात्मक सिद्धान्त क्योंकि अपराध को व्यक्तित्व का परिणाम मानता है अत यह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के विपरीत है जो अपराध को व्यक्तित्व का परिणाम न मानकर पर्यावरण का परिणाम मानता है।

मनोवैज्ञानिक, मनोविकार विश्लेपण तथा मनोविश्लेपणात्मक सिद्धान्तों का मूल्यांकन (Evaluation of Psychological, Psychiatric and Psychoanalytical Theories)

(1) ये सिद्धान्त इस तथ्य को समझाने में असफल रहे हैं कि जिन व्यक्तियों में अपराधिता सम्बन्धी लक्षण पाये जाते हैं, उनमें से कुछ तो अपराधी बन जाते हैं, परन्तु कुछ क्यों नहीं बनते ?

(2) ये सिद्धान्त यह भी नहीं समझा पाये हैं कि जिन व्यक्तियों में अपराधिता सम्बन्धी लक्षण नहीं पाये जाते वे अपराध क्यों करते हैं ?

(3) इन सिद्धान्तों में बहुत से शब्द अस्पष्ट रूप से (vaguely) प्रयोग किये गये हैं तथा उनकी परिचालित (operational) परिभाषाएँ भी सूक्ष्म (precise) नहीं हैं।

(4) उनके द्वारा जाँच किये जाने वाले उपाय (tools) भी सुनिश्चित (precise) नहीं है।

(5) उनके सैम्पल बहुत छोटे हैं।

(6) इन सिद्धान्तों का भावीकथन (predictive) मूल्य बहुत सीमित है क्योंकि ये यह सक्षेपत कह नहीं सकते कि किस प्रकार के लक्षणों वाले व्यक्ति अपराधी बनेंगे और किस वाले अपराधी नहीं बनेंगे।

भौगोलिक सिद्धान्त (*Geographical or Cartographic Theory*)

अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में कुछ लोगों ने अपराध पर भौतिक भूगोल (Physical Geography) तथा जलवायु, तापमान, वर्षा, भूमि आदि भौगोलिक तत्त्वों के प्रभाव का अध्ययन किया। इनमें माटेस्क्यू (Montesquieu), क्वीटलेट (Quetlet), डीक्स्टर (Dexter), क्रोपोटकिन (Kropotkin), लेकासाने (Lacassagne), जोसेफ कोहेन (Joseph Cohen) आदि के नाम प्रमुख हैं।

माटेस्क्यू ने 1748 में एक विचार प्रस्तुत किया कि जैसे-जैसे हम पोल-रेखा (poles) की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे मदोन्मत्तता (drunkenness) भी बढ़ती है तथा

जैसे-जैसे हम विषुवत्-रेखा (equator) की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे अपराधी व्यवहार भी बढ़ता है।[1] फ्रांस के विद्वान् क्वीटलेट (Quetlet) ने फिर 1850 में अपराध का ताप-सम्बन्धी सिद्धान्त (Thermic Law of Crime) दिया जिसके अनुसार व्यक्ति के विरुद्ध अपराध दक्षिण में अधिक मिलते हैं तथा ग्रीष्मकाल में बढ़ जाते हैं और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध उत्तर में अधिक मिलते हैं एवं सर्दियों में बढ़ जाते हैं। क्वीटलेट के थीसिस का चैम्पन्यूफ (Champneuf)[2] ने भी समर्थन किया है। 1825 और 1830 के मध्य फ्रांस में अपराध के लिए अभियुक्त परन्तु बिना दण्डित व्यक्तियों (under trials) के अध्ययन में उसने पाया कि उत्तर-फ्रांस में जब व्यक्तियों के विरुद्ध किये गये हर 100 अपराधों के पीछे सम्पत्ति-सम्बन्धी 181·5 अपराध मिलते हैं, दक्षिण-फ्रांस में व्यक्ति के विरुद्ध किये गये हर 100 अपराधों के पीछे सम्पत्ति-सम्बन्धी 48·8 अपराध ही मिलते हैं।

फ्रेंच विद्वान् लैकासाने (Lacassagne) ने भी फ्रांस में 1825 और 1880 के मध्य अपराधों के अध्ययन में पाया कि सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराध सबसे अधिक दिसम्बर महीने में और उसके उपरान्त जनवरी, नवम्बर और फरवरी में मिलते हैं। अमरीकी विद्वान् डेक्स्टर (Dexter)[3] ने 1904 में न्यूयार्क (अमेरिका) में अपराधों के अध्ययन में वायुमण्डलीय दाब (barometric pressure), ताप (heat), नमी (humidity), आदि जैसे मौसमी तत्त्वों (meteorological conditions) का अपराध पर प्रत्यक्ष प्रभाव पाया। डेक्स्टर ने 1891 और 1897 के मध्य के लगभग 40,000 पुरुषों और महिलाओं के आक्रमण और प्रहार-सम्बन्धी अपराधों के रिकार्डों, 1884 और 1896 के मध्य के 184 हत्याओं तथा 1891 और 1897 के मध्य के न्यूयार्क जेलों के अनुशासिक अभियोग-सम्बन्धी 3891 अपराधों के विश्लेषण के आधार पर अपराध और भौगोलिक तत्त्वों के सम्बन्ध का अध्ययन किया। उनके अनुसार—(i) जैसे नमी (आर्द्रता) बढ़ती है वैसे हिंसात्मक क्रियाएँ घटती हैं; (ii) जैसे वायुमण्डलीय दाब घटता है वैसे हिंसात्मक अपराध बढ़ता है; (iii) तापमान व्यक्ति की भावात्मक स्थिति को प्रभावित करता है जो फिर लड़ाई-झगड़े के लिए प्रेरक होता है, यही कारण है कि आक्रमण व प्रहार के अपराध गर्मियों में अधिक मिलते हैं; (iv) 150 से 200 मील प्रतिदिन गति वाली मन्द हवाओं का सम्बन्ध रणोत्सुक आक्रमण (pugnacious assaults) द्वारा शक्ति को निर्मुक्त करने से पाया जाता है; तथा (v) वर्षा ऋतु में हिंसात्मक अपराधों की संख्या कम हो जाती है।[4]

रूस के विद्वान् पीटर क्रोपोट्किन (Peter Kropotkin)[5] का कहना है कि

[1] Montesquieu, *Spirit of Laws*, quoted by Barnes and Teeters, *op. cit.*, 143.

[2] Champneuf, quoted by Joseph Cohen in his article 'The geography of Crime' in Dressler's book *Readings in Criminology and Penology*, *op. cit.*, 221.

[3] Edwin Grant Dexter, *Weather Influence*, MacMillan & Co., New York, 1904, 142–52.

[4] Dexter, See Dressler's book, *op. cit.*. 223–24.

[5] Prince Peter Kropotkin, quoted by Bernaldo de Quiros, *Modern Theories of Criminality*, Little Brown, Boston, 1911, 34.

पिछले माह के औसत तापमान व आर्द्रता अथवा हवा में पानी की मिलावट (humidity) के आधार पर आश्चर्यजनक यथार्थता (exactness) से हम अगले माह में अपराध की मात्रा पूर्वसूचित (predict) कर सकते हैं। उसके फार्मूले के अनुसार महीने के औसत तापमान को 'x' मानकर उसे 7 से गुणा कर उसमें महीने की औसत आर्द्रता 'y' जोड़कर यदि कुल उपलब्ध संख्या को फिर 2 से गुणा किया जाये तो उस महीने की औसत हत्या (homicide) की मात्रा ज्ञात हो सकती है।

$$\{2(7x+y)\}$$

परन्तु इन सभी जलवायु विशेषज्ञों (climatologists) ने अपराध में भौगोलिक तत्त्वों की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर बताया है, *अपराध के कारणों सम्बन्धी* व्याख्या का अत्यधिक सरलीकरण किया है तथा वैज्ञानिक व व्यवस्थित रूप से अध्ययन नहीं किया है। यद्यपि आज के समाजशास्त्री मानवीय व्यवहार में भौगोलिक तत्त्वों की भूमिका को अस्वीकार नहीं करते परन्तु वैज्ञानिक अध्ययनों के अभाव में यह स्पष्ट नहीं मानते कि इनकी भूमिका का महत्त्व किस मात्रा में है। इसी तर्क के आधार पर अपराध में भी भौगोलिक तत्त्वों की भूमिका को अधिक बल नहीं दिया जा सकता। यदि केवल भौगोलिक तत्त्वों के प्रभाव के कारण ही व्यक्ति अपराध करते तब एक ही भौगोलिक पर्यावरण में रहते हुए लोगों में एक ही प्रकार का अपराध एक ही मात्रा में मिलना चाहिए। परन्तु क्योंकि ऐसा नहीं मिलता इससे सिद्ध होता है कि भौगोलिक तत्त्वों के अलावा अन्य कुछ तत्त्व भी व्यवहार को व अपराध को निर्धारित करते हैं। परन्तु साथ में हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अपराधशास्त्र में क्योंकि कुछ निश्चित अपराधों में निश्चित मौसमी (seasonal) और क्षेत्रीय *(regional) लक्षण मिलता है अतः भौगोलिक तत्त्वों का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक* है। उदाहरण के लिए, अमरीका की अपराध-सम्बन्धी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि हत्याओं की मासिक मात्रा एक निश्चित मौसमी प्रतिरूप प्रदर्शित करती है। सबसे अधिक हत्याओं की मात्रा जुलाई में मिलती है तथा घटती-घटती जनवरी में सबसे कम मिलती है। फिर फरवरी से बढ़ती जाती है और जुलाई में सर्वाधिक मिलती है। इसी प्रकार लूट, सेंधमारी व मोटरगाड़ियों की चोरी जैसे सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध भी जाड़ों में बढ़ते व ग्रीष्म ऋतु में घटते मिलते हैं। लूटमार के अपराधों की संख्या दिसम्बर में सर्वाधिक हो जाने पर जनवरी से घटती-घटती जुलाई में सबसे कम मिलती है और फिर बढ़ती जाती है।[1] अपराधों के इस मौसमी घटाव-बढ़ाव का वैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है।

अपराध का आर्थिक सिद्धान्त (*Economic Theory of Crime*)

कुछ विद्वानों ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में अपराध और आर्थिक कारकों का सम्बन्ध भी अध्ययन किया है। 1847 में रसेल (Russel) ने इंग्लैण्ड में

[1] Uniform Crime Reports, Federal Bureau of Investigation, U S A quoted by Joseph Cohen in Dressler's book, *op cit*, 225

एक वर्ष (1842) में सबसे अधिक अपराध की संख्या को आर्थिक उतार-चढ़ाव व सामान्य विपत्ति (general distress) से सम्बन्धित किया। 1855 में जोजेफ फ्लेचर (Joseph Fletcher) ने 1810 से 1847 तक के 37 वर्षों के काल में खाद्य पदार्थों के मूल्यों और अपराधों की संख्या में सम्बन्ध पाया। 1857 में वाल्श (R. H. Walsh) ने इंग्लैण्ड में 1844 से 1854 तक के 10 वर्ष के काल में अपराधी-दर के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से अच्छे और खराब वर्षों तथा मन्दी और तेजी के दिनों से पाया। 1865 में जार्ज वान मेयर (George Von Mayer) ने राई (Rye—एक प्रकार का खाद्यान्न) के मूल्यों में मन्दी और तेजी से चोरी के अपराधों के उतार-चढ़ाव का सम्बन्ध स्थापित किया। उसके अनुसार राई के मूल्यों में हर आधी पेनी (Penny—1/12 शिलिंग के बराबर एक अंग्रेजी सिक्का) की वृद्धि से हर एक लाख व्यक्तियों के पीछे एक चोरी बढ़ती है। इसी प्रकार राई के मूल्यों के घटने से चोरी में भी कमी मिलती है। किन्तु थार्स्टेन सेलिन (Thorsten Selin) ने द्वितीय महायुद्ध के पूर्व स्थापित किये गये अपराधी-दर व व्यापार-चक्र के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। उसका कहना है कि आर्थिक उतार-चढ़ाव और अपराध-दरों में कोई सम्बन्ध नहीं है।

रीनमैन (Reinemann)[1] ने भी फिलाडेल्फिया (Philadelphia) में बाल-अपराधियों के अध्ययन में पाया कि मन्दी (depression) के काल में बाल-अपराध की संख्या बढ़ती है, यथावत् प्रसामान्य (fairly normal) आर्थिक विकास के काल में (जिसे न वैभव (prosperity) का और न मन्दी का काल माना जा सकता है) कम होती है, किन्तु अत्यधिक सम्पन्नता के काल में सर्वाधिक होती है।

रेक्लेस (Reckless)[2] ने इन अध्ययनों का संकेत देते हुए कहा है कि विस्तृत सांख्यिकीय अध्ययनों ने आर्थिक क्रिया के उतार-चढ़ाव एवं आर्थिक वैभव व मन्दी के अपराधों की दर से सम्बन्ध को असत्य सिद्ध किया है। 1894 में इटली निवासी फरनासारी ने इटली में अपराध के अध्ययन में पाया कि जबकि इटली की 60% जनसंख्या निर्धन थी, इटली के कुल दण्डित अपराधी जनसंख्या का 85 से 90% यही 60% निर्धन वर्ग उपलब्ध करता था। 1916 में डच अपराधशास्त्री बोंगर[3] ने भी कहा कि निर्धनता अपराध का प्रमुख प्रेरक प्रस्तुत करती है। उसके अनुसार अपराध धन के असमान वितरण तथा श्रम-वर्ग के शोपण से निर्धनता बढ़ाने के कारण उत्पन्न होता है। बोंगर के अनुसार अपराध मनुष्य की स्वार्थी भावना के कारण बढ़ता है। औद्योगिक विकास के पूर्व व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकताओं की

[1] J. O. Reinemann, 'Juvenile delinquency in Philadelphia and Economic Trends', *Temple Law Quarterly*, April 1947, 576-83.

[2] 'The relation of the ebb and flow of economic activity, of depression and prosperity, to the volume of crime had been severely discounted by elaborate statistical studies.' W. Reckless, *The Etiology of Delinquent and Criminal Behaviour*, 47-48.

[3] W. A. Bonger, *Criminology and Economic Conditions*, Little Brown & Co., Boston, 1916, 643.

पूर्ति के लिए ही उत्पादन करते थे जिस कारण आर्थिक क्षेत्र में उत्पादकों में प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी। किन्तु उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में औद्योगिक विकास के साथ-साथ पूंजीवाद का भी विकास हुआ जिसमें उत्पादकों में, क्रेताओं और विक्रेताओं में, विक्रेताओं में आपस में, तथा पूंजीपतियों और श्रमिकों में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष व तनाव बढ़ते गये। यह संघर्ष, तनाव तथा श्रमिकों व जनता का शोषण अस्वस्थ व हानिप्रद रहने की अवस्थाएँ उत्पन्न करता है जो फिर असामाजिक व्यवहार व अपराध को बढ़ाता है। फिर औद्योगिक विकास के साथ बाल-श्रमिकों तथा महिला-श्रमिकों की समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। बहुत से बालक घरों से दूर अपराधी वातावरण के सम्पर्क में आकर स्वार्थी व्यक्ति और पक्के अपराधी बन जाते हैं। महिलाओं में भी अनैतिकता बढ़ती है। यौन अपराध के साथ, व्यापारिक अपराध और राजनीतिक अपराध आदि भी बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में, औद्योगीकरण का प्रभाव व पूंजीवाद तथा धन का असमान वितरण विभिन्न प्रकार के अपराधों को विभिन्न रूप में प्रभावित करता है। इस आधार पर बोंगर का विचार था कि अपराधी-दर को कम करने के लिए समाज की पूंजीवादी व्यवस्था में आर्थिक परिवर्तन तथा उत्पादन और वितरण के साधनों का पुनर्संगठन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना आवश्यक है जो धन के वितरण में कम-से-कम अन्तर लाकर अधिक-से-अधिक स्थिरता ला पायेगा। मार्क्स ने भी आर्थिक परिस्थितियों को मानव-व्यवहार का एक प्रमुख आधार बताया है। इसके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में निर्धनता आवश्यक रूप से पायी जाती है और यह निर्धनता वैयक्तिक विघटन को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में अपराध पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का एक आवश्यक परिणाम है। अब यदि पूंजीवाद व वर्ग-संघर्ष ही अपराध के कारण हैं और इन्हें श्रमिक-वर्ग को उचित पुरस्कार देकर व व्यक्तियों को समाज के कल्याण के लिए कार्य करने की प्रेरणा देकर ही कम किया जा सकता है तो प्रश्न है कि रूस जैसे समाजवादी देश में अपराध क्यों मिलता है? सिडनी और वेब (Sidney and Webb)[1] तथा हरमेन मैनहाइम (Harmann Mannheim)[2] जैसे विचारकों का इस बारे में कहना है कि भूतकालीन पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभाव रूस में अब भी निरन्तर बने हुए हैं और सरकार इन प्रभावों को समाप्त करने का प्रयास कर रही है।

सिरिल बर्ट (Cyril Burt)[3] ने अपने एक सर्वेक्षण के आधार पर निर्धनता और अपराध के मध्य सम्बन्ध पाया। उसने 1939 में लन्दन में एक बाल-अपराधी के अध्ययन में पाया कि 19 प्रतिशत बाल-अपराधी निर्धन परिवारों के सदस्य थे और 37 प्रतिशत मामूली (moderately) निर्धन परिवार के सदस्य थे। अतः जब

[1] Sidney and Webb, *Soviet Communism : A New Civilization*, Charles Scribner's Sons, New York, *1936*

[2] Hermann Mannheim, *Criminal Justice and Social Reconstruction*, Kegan Paul, London, *1946, 109*

[3] Cyril Burt, *The Young Delinquent*, University of London Press, London, 1938, 68–69

लन्दन की कुल जनसंख्या में से केवल 30·7 प्रतिशत जनसंख्या इन दो वर्गों में पाई जाती थी, अपराधियों में 56 प्रतिशत अपराधी इन दो वर्गों के सदस्य थे। इस प्रकार सिरिल वर्ट का कहना था कि क्योंकि लगभग आधे अपराधी निर्धन होते हैं अतः निर्धनता को अपराध का एक प्रमुख कारण मानना होगा। परन्तु उनका यह भी कहना था कि अपराध केवल निर्धनता के कारण ही नही होते। निर्धनता के अलावा आनुवंशिक कारक, पर्यावरण सम्बन्धी कारक, शारीरिक व बुद्धि सम्बन्धी कारक तथा स्वभाव आदि सम्बन्धी अन्य कारक भी इसके लिए उत्तरदायी मानने होंगे। इस प्रकार सिरिल वर्ट अपराध में बहुकारकवादी सिद्धान्त को मानता है।

अमरीका में काल्डवेल[1] (1931), विलियम आगवर्न[2] (1935), ग्लूक[3] तथा शा और मैके[4] (Shaw and McKay) ने फिर अपराधियों और अनपराधियों की आर्थिक स्थिति के अध्ययन के आधार पर पाया कि निम्न आर्थिक वर्ग में अपराध और बाल-अपराध की संख्या उच्च आर्थिक वर्ग की तुलना में अधिक पायी जाती है। हीले और ब्रानर[5] (Healy and Bronner) ने भी 1915 में 675 बाल-अपराधियों के अध्ययन में लगभग एक चौथाई बालकों को निर्धन पाया। इन बालकों का उसने पाँच वर्गों में वर्गीकरण किया : निराश्रय वर्ग (destitute), निर्धन वर्ग (poor class), सामान्य वर्ग (normal class), सुखद व आरामदेह वर्ग (comfort class), एवं विलासी वर्ग (luxury class)। 5 प्रतिशत बाल-अपराधियों को उसने निराश्रय वर्ग का सदस्य पाया, 22 प्रतिशत को निर्धन वर्ग का, 35 प्रतिशत को सामान्य वर्ग का, 34 प्रतिशत को सुखद वर्ग का, तथा 4 प्रतिशत को विलासी वर्ग का सदस्य पाया। अतः उनका कहना था कि क्योंकि 73 प्रतिशत बाल-अपराधी सामान्य व अच्छे परिवारों के सदस्य हैं, व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को अपराध में प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता।

भारत में भी अपराध व निर्धनता के मध्य सम्बन्ध अध्ययन करने के लिए कुछ सर्वेक्षण हुए हैं। लखनऊ के रिफार्मेट्री स्कूल में 107 बाल-अपराधियों के अध्ययन में 67 प्रतिशत अति निर्धन परिवारों के 24 प्रतिशत मामूली निर्धन परिवारों के, तथा 9 प्रतिशत अच्छी हालत के खाते-पीते (well off) परिवारों के सदस्य पाये गये। बरेली के बाल-जेल में 185 बाल अपराधियों के अध्ययन में 84 प्रतिशत अति निर्धन परिवारों के, 5·4 प्रतिशत मामूली निर्धन परिवारों के, तथा 10·6 प्रतिशत अच्छे खाते-पीते परिवारों के सदस्य मिले।[6] रटन शा (Rutton Shaw)[7] ने 225

[1] M. G. Caldwell, 'The economic status of families of delinquent boys in Wisconsin', *American Journal of Sociology*, September 1931, 231-39.

[2] William F. Ogburn, 'Factors in the variation of crime among cities', *Journal of the American Statistical Association*, March 1935, 12-34.

[3] Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, *op. cit.*, 280.

[4] Shaw and McKay, *Juvenile Delinquency and Urban Areas*, 141-46.

[5] Healy and Bronner, *Delinquents and Criminals*, MacMillan, New York, 1926, 121.

[6] Kr. Ram Singh, *Juvenile Delinquency in India*, Lucknow.

[7] G. N. Rutton Shaw, *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Deccan College Series, 1947, 49.

बाल अपराधियो के अध्ययन मे 20 प्रतिशत मासिक आय 150 रुपये से कम पायी, 58 प्रतिशत की 150–500 रु० के बीच, 12·3 प्रतिशत की 500–1000 के बीच, 4·7 प्रतिशत की 1000–2000 के बीच, तथा 2 6 प्रतिशत की 2000 रु० से ऊपर पायी। दूसरे शब्दो मे एक चौथाई से भी कम बालको को उसने निर्धन पाया।

केन्ट राइस (Kent Rice) और डेनियल ग्लेजर (Daniel Glaser)[1] ने जेम्स प्लान्ट (James Plant) के अध्ययन का हवाला देते हुए बाल-अपराध और वयस्क अपराध को निर्धनता से सम्बन्धित करने के स्थान पर बेरोजगारी से सम्बन्धित करके दो उपकल्पनाएँ दी हैं—(i) बाल-अपराधियो द्वारा किये गये अपराधो की सख्या बेरोजगारी की दर से विलोम क्रम से (inversely) सम्बन्धित है; (ii) वयस्को द्वारा किये गये सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधो की सख्या बेरोजगारी की दर से प्रत्यक्षत: (directly) सम्बन्धित है। जेम्स प्लान्ट ने पहली उपकल्पना का आधार यह दिया है कि बेरोजगारी के कारण पिता अधिक समय घर पर रहता है तथा बच्चो का सहचारी (companion) भी रहता है व उनके व्यवहार को भी नियन्त्रित करता है जिस कारण पिता की बेरोजगारी का बच्चो की अपराध-दर पर उल्टा ही प्रभाव पडता है तथा जितनी बेरोजगारी अधिक होगी उतनी बाल-अपराध की दर कम होगी; अत. बाल अपराध और बेरोजगारी का एक दूसरे से विलोम सम्बन्ध है। दूसरी ओर वयस्क अपराध मे बेरोजगारी का प्रभाव उल्टा ही मिलता है। जितनी वयस्को मे बेरोजगारी अधिक होगी उतना उनमे अपराध की दर अधिक मिलेगी। कुमारोस्की[2] (Komarousky) ने जेम्स प्लान्ट की पहली उपकल्पना को अस्वीकार किया है। उसके अनुसार बेरोजगारी से पिता का सत्ताधिकार अपने बच्चो पर बढता नही किन्तु घटता है। सत्ता के घटने के कारण बालक अधिक समय घर से दूर रहते है व उनमे अपराध अधिक मिलता है। हमारा विचार है कि उपर्युक्त सभी अध्ययन अप्रतिनिधिक (non-representative), अयथार्थ (inaccurate) व अपूर्ण (incomplete) होने के कारण इनके निष्कर्षों को स्वीकार नही किया जा सकता। ये अध्ययन निर्धनो के प्रति विशेषत अन्यायी (unfair) हैं क्योंकि धनवानो की तुलना मे इनको खोजना, गिरफ्तार, अभियोजित (prosecute) और दण्डित करना अधिक आसान है। सदरलैण्ड[3] का भी विचार है कि निर्धन वर्गों मे अपराध की अधिक दर मिलने का कारण व्यक्तियो की निर्धनता नही है किन्तु वे प्रशासकीय प्रक्रियाएँ है जो धनवानो के प्रति अधिक पक्षपाती होती है। अत जब दो आर्थिक वर्गों—निर्धन व धनवान—के दो व्यक्ति एक ही अपराध के लिए अभियुक्त (accused) है, निम्न वर्ग वाले अभियुक्त व्यक्ति के गिरफ्तार, अभियोजित व दण्डित होने की सम्भावना ऊँचे वर्ग वाले अभियुक्त

[1] Daniel Glaser and Kent Rice, *Crime and Economic Condition* in Dressler's book, *op cit*, 278-86

[2] Mirra Komarousky, *The Unemployed Man and His Family*, Dryden, New York, 1940

[3] Sutherland, *op cit*, 179

व्यक्ति से अधिक होती है। यही कारण है कि निम्न वर्ग में अपराध दर अधिक और उच्च वर्ग में कम मिलती है। सदरलैण्ड का इस सम्बन्ध में यह भी विचार है कि कानूनों का निर्माण व कार्यान्वयन मुख्यतः निम्न आर्थिक स्तर के व्यक्तियों द्वारा किये गये अपराधों के सन्दर्भ में किया जाता है।

इन सभी विचारों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष रूप से निर्धनता की भूमिका अपराध में बहुत अधिक नहीं है। जार्ज वोल्ड[1] ने भी अपराध के आर्थिक सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि अपराध और आर्थिक व्यवस्था के मध्य सम्बन्ध इतना अनिश्चित है कि अपराध के कारणों में आर्थिक तत्त्वों के योगदान के प्रति कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता है। अतः साधारणतः यह माना जाता है कि अपराध के विभिन्न पर्यावरण सम्बन्धी कारकों में से 'आर्थिक स्थिति' एक कारक है। इस प्रकार यह विचार अपराध के कारणों में 'बहुकारकवादी दृष्टिकोण' का एक अंग माना जा सकता है। काल्डवेल[2] का भी कहना है कि अपराध के कारणों के आर्थिक सिद्धान्त की मानवीय व्यवहार के किसी विशिष्टतावादी स्पष्टीकरण व व्याख्या (particularistic explanation) की तरह आलोचना की जा सकती है। व्यवहार में आर्थिक तत्त्व अन्य जैविकीय, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, राजनीतिक व शैक्षणिक तत्त्वों से कार्यात्मक रूप से (functionally) अन्ततः सम्बन्धित हैं तथा इन सभी तत्त्वों को सम्पूर्ण परिस्थिति में पारस्परिक अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में देखना चाहिए। हमारा भी विचार है कि जब तक आर्थिक तत्त्वों का सभी सामाजिक समस्याओं से वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता तब तक अपराध को आर्थिक परिस्थितियों में जोड़ना केवल द्विरुक्ति (tautology—एक बात का दूसरे शब्दों में दुबारा कथन) व अर्थहीन सामान्यीकरण (absurd generalisation) होगा। फिर आर्थिक तत्त्वों को 'केवल एक' कारक न मानकर एक प्रमुख कारक मानने का अर्थ मार्क्स की विचारधारा को अस्वीकृत करना होगा। अब मार्क्स के सिद्धान्त की बिल्कुल उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इसके अलावा 'प्रमुख' तत्त्व से हमारा अभिप्राय क्या होगा? फिर अपराधशास्त्रियों के पास ऐसे तथ्य भी नहीं हैं कि एक समाज में अपराध और आर्थिक व्यवस्था में सम्बन्ध की दूसरे समाज में ऐसे सम्बन्ध से तुलना की जा सके। इस कारण अलग-अलग समाजों में अपराध के कारण हमें अलग-अलग ही ढूंढ़ने होंगे।

एकल कारक सिद्धान्तों का मूल्यांकन (Critique of Single factor studies)

अपराध के कारणों की व्याख्याओं में उपर्युक्त एक कारक वाली व्याख्याएँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। इस उपागम (approach) में एक व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण (personality trait) तथा पर्यावरण का एक लक्षण छांटकर अपराध के कारण को ज्ञात करने का प्रयास किया गया है। सेलिन और सदरलैण्ड ने अनेक एक कारक

[1] George Vold, *Theoretical Criminology*, *op. cit.*, 181-82.
[2] R. G. Caldwell, *Criminology*, 248.

वाले अध्ययनों का विश्लेषण करते हुए अपराध के कारणों से सम्बन्धित अनेकों सामान्यीकरण (hundreds of generalisation) पाये। उन्होंने इन अध्ययनों को तीन प्रकारों (types) में विभाजित किया है (1) जिन्होंने अपराधियों में पाये जाने वाले लक्षणों की अनपराधियों के लक्षणों से तुलना की; (2) जिन्होंने एक विशेष लक्षण वाले एक समूह या एक क्षेत्र में पायी जाने वाली अपराध की मात्रा को एक अन्य समूह या अन्य क्षेत्र, जिसमें वह लक्षण नहीं पाया जाता, में पायी जाने वाली अपराध की मात्रा से तुलना की, (3) जिन्होंने एक विशेष लक्षण पाये जाने वाले क्षेत्रों में अपराध की उन प्रवृत्तियों (trends) का अनुरेखण (trace) किया जो अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलते।[1]

इस एक कारक वाले उपागम में निम्न दोष हैं . (1) यदि अपराध के कारणों के लिए एक सिद्धान्तकार (theorist) द्वारा दिया गया केवल एक ही कारक उत्तरदायी माना जाये तो अन्य सिद्धान्तकारों द्वारा दिये गये अन्य एकल कारकों को छोड़ देना होगा अब किसे स्वीकार किया जाये और किसे अस्वीकार, इस पर सहमति हो ही नहीं सकती। (2) इस उपागम को प्रयोग करने वाले सिद्धान्तकार यह तथ्य समझाने में असफल रहे हैं कि दिया हुआ अपराधी लक्षण पाये जाने वाले व्यक्ति अपराध क्यों नहीं करते और जिनमें यह लक्षण नहीं मिलता वे अपराध क्यों करते हैं। उदाहरण के लिए यदि विघटित परिवार (broken homes) को बाल-अपराध का कारण माना जाये तो सभी बाल-अपराधी विघटित परिवारों की उपज क्यों नहीं होते हैं?

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theory)

जीवशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों आदि के विपरीत समाजशास्त्री अपराध को पर्यावरण में परिचालन करने वाले सामाजिक तत्त्वों की उपज के सन्दर्भ में देखते हैं। वे अपराधियों को सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण से पृथक् असामान्य व्यक्तियों का समूहन (aggregation) न मानकर समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन से प्रभावित तत्त्व समझते हैं। दूसरे शब्दों में समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय के अनुसार अपराध सामाजिक पर्यावरण की उपज है तथा यह सीखा हुआ व्यवहार है। इसे सीखने की प्रक्रिया वैसी ही होती है जैसी साधारण व्यवहार के सीखने में पायी जाती है। रूथ कैवन (Ruth Cavan) का कहना है कि अपराधी व्यवहार सामूहिक साहचर्य द्वारा उसी प्रकार सीखा जाता है जैसे नम्रता, टैनिस व मशीन चलाना आदि साहचर्य द्वारा सीखे जाते हैं। लैकासाने (Lacassagne) का कहना है कि अपराध में प्रमुख तत्त्व सामाजिक पर्यावरण है तथा पर्यावरण वह ऊष्मा (heat) है जो अपराधिता का अभिजन (breeding) करती है। अपराधी एक अणुजीव (microbe) है जो तब तक महत्त्वहीन है जब तक वह उस तरल पदार्थ से नहीं मिलता जो उसे उभरने योग्य बनाता है। जिस प्रकार अणुजीव जन्म के समय विषहीन होता है किन्तु जैसे-जैसे बढ़ता है वह जहरीला होता जाता है, यहाँ तक कि उसका एक डंक व्यक्ति

[1] See Reid Sue Titus, *Crime and Criminology*, op cit, 84

की मृत्यु तक लाता है, इसी प्रकार व्यक्ति भी ऐसे ही अपराध सीखता है। जन्म के समय वह अपराध के बारे में कुछ नहीं जानता किन्तु सामाजिक पर्यावरण में धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आकर अपराध सीखता है।

अपराध के प्रति आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की जड़ें उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशाब्दियों के दुर्खीम, बोंगर, शा और मैके आदि विद्वानों के लेखों रचनाओं में मिलती हैं। 1912 में दुर्खीम (फ्रांसीसी) ने कहा कि अपराध सामाजिक उद्विकास की एक स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी घटना (incident) है। 1916 में डच अपराधशास्त्री बोंगर ने कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त के आधार पर अपराध को पूंजीवाद की उपज बताया। परन्तु इन सभी विद्वानों के सामान्य सिद्धान्त समुचित प्रमाण पर आधारित नहीं थे। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शॉ और मैके, सदरलैण्ड, थार्सटन सेलिन आदि अमरीकी अपराधशास्त्रियों ने समाजशास्त्रीय विचारधारा के आधार पर अपराध सम्बन्धी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। 1942 में शॉ और मैके (Shaw and McKay) ने अपराध के कारणों में व्यक्तियों के लक्षणों को महत्त्व न देकर सामाजिक विघटन व विशिष्ट पड़ोस में सामुदायिक नियन्त्रण के अभाव को महत्त्व दिया। उनके अनुसार इन क्षेत्रों में मानसिक बीमारी, निर्धनता व बाल-अपराध के साथ उच्च मात्रा में वयस्क अपराध भी मिलता है।

काल्डवेल (Caldwell) ने इस समाजशास्त्रीय विचारधारा के निम्न आठ आधार दिये हैं[1]—

(1) संस्कृति, (2) सामाजिक नियन्त्रण, (3) प्राथमिक व द्वितीयक समूह, (4) सामाजिक प्रक्रियाएँ, (5) सामाजिक परिवर्तन, (6) सीखने की प्रक्रिया, (7) स्थिति व भूमिका, (8) उप-सांस्कृतिक अन्तर। इन तत्त्वों के आधार पर विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपराध को परिस्थितियों तथा उपार्जित जीवन के अनुभवों की उपज के रूप में समझाया है। यद्यपि सभी समाजशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि अपराध के कारणों में सामाजिक अनुभवों द्वारा प्राप्त धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु उनमें इस बात पर असहमति है कि कौन-सा 'सामाजिक तत्त्व' अपराध उत्पन्न करता है तथा अपराध में व्यक्तित्व के भूमिका की प्रकृति और सीमा क्या है ? एक ओर सदरलैण्ड का विचार है कि अपराध केवल 'साहचर्य' की उपज है तथा टैफ्ट (Taft) का विचार है कि अपराध 'संस्कृति के कुछ लक्षणों' की उपज है और इसमें व्यक्तित्व की कोई भूमिका नहीं है तो दूसरी ओर क्लिनार्ड, सेलिन, रेक्लेस व रूथ कैवन आदि के विचार हैं कि अपराध परिस्थिति और व्यक्तित्व दोनों की मिश्रित उपज है। इनका कहना है कि अलग-अलग व्यक्तिगत तत्त्वों के कारण परिस्थिति के प्रति व्यक्तियों की प्रक्रियाएँ अलग-अलग मिलती हैं जिस कारण एक ही परिस्थिति होते हुए भी उसमें कोई व्यक्ति तो अपराध करता है और कोई नहीं करता। समाजशास्त्रियों ने अपराध के कारणों को दो परिप्रेक्ष्य से अध्ययन किया है। पहला उपागम अपराधी व्यवहार को समाज की संरचना व व्यवस्था से अन्तःसम्बन्धित करता है (how is criminal

[1] Caldwell, *op. cit.*, 176–77.

behaviour related to social structure or social system)। दूसरा उपागम उस प्रक्रिया का अध्ययन करता है जिसके द्वारा व्यक्ति कानून पालन करने वाला नागरिक न बनकर अपराधी बनता है (process by which an individual becomes a criminal rather than a law-abiding citizen)। परन्तु कारणो से सम्बन्धित सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त इन दो श्रेणियो (categories) मे स्पष्ट रूप से फिट नही होते क्योंकि कुछ सिद्धान्त प्रक्रिया और सामाजिक सरचना दोनो पर इकट्ठा बल देते हैं। विश्लेषण की दृष्टि से इन्हें हम निम्न प्रकार दिखा सकते हैं—

अपराध के कारणो के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

(A) सामाजिक संरचना सम्बन्धी सिद्धान्त (Social Structural Theories)

(1) मर्टन का ऐनामी का सिद्धान्त।
(2) उपसस्कृति के सिद्धान्त—
  (i) क्लोवार्ड-ओहलिन का विभिन्न अवसर का सिद्धान्त,
  (ii) कोहेन का मूल्य अनुस्थापन का सिद्धान्त,
  (iii) माटजा का अपराध और बहाव का सिद्धान्त,
  (iv) वाल्टर मिलर का निम्नवर्गीय सस्कृति सिद्धान्त।
(3) पारिस्थितिक (ecological) सिद्धान्त।
(4) उपसस्कृति सघर्ष सिद्धान्त।
(5) आधुनिक सघर्ष सिद्धान्त।

(B) सामाजिक प्रक्रिया सम्बन्धी सिद्धान्त (Social Process Theories)

(1) सदरलैण्ड का विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त,
(2) वाल्टर रेक्लेस का दमनीय (containment) सिद्धान्त,
(3) हावर्ड बेकर का लेबलिंग (labelling) सिद्धान्त।

इन सिद्धान्तो का विश्लेषण यहाँ हम उपर्युक्त दो श्रेणियो के आधार पर न करके इनके महत्त्व के आधार पर ही करेंगे।

सदरलैण्ड का विभिन्न सम्पर्क (Differential Association) सिद्धान्त

सदरलैण्ड को अनेक विद्वानो ने पहला समाजशास्त्री बताया है जिसने अपराध की वैज्ञानिक सामाजिक व्याख्या की है। सदरलैण्ड[1] का कहना है कि अपराध को समझने के लिए बहुत से परिस्थिति एव व्यक्तित्व से सम्बन्धित कारक दिये जाते है। कभी-कभी यद्यपि इनमे से वे कारक मिलते हैं जिनको अपराध से सम्बन्धित किया जाता है फिर भी व्यक्ति अपराध नही करता तथा इसी प्रकार कभी-कभी जब व्यक्ति को अपराध करते हुए पाया जाता है, इन कारको मे से कोई भी उपस्थित नही होता।

1 Sutherland, *op. cit*

उदाहरण के लिए वुद्धिहीनता या भावात्मक व्याकुलता या निर्धनता आदि अपराध के कारण वताये जाते हैं किन्तु चोर-वाजारी व तस्कर न तो निर्धन होते हैं, न वुद्धिहीन और न ही भावात्मक दृष्टि से व्याकुल व्यक्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि अपराधी व्यवहार को समझने के लिए हमें वे 'तत्त्व' (mechanisms) ढूँढ़ने होंगे जो अपराधी व्यवहार में उपलब्ध होते हैं परन्तु अनपराधी व्यवहार में नहीं, या फिर अनपराधी व्यवहार में उपलब्ध होते हैं किन्तु अपराधी व्यवहार में नहीं। उदाहरणत: साँस लेना (respiration) दोनों प्रकार (अपराधी और अनपराधी) के व्यवहारों में मिलता है, इस कारण इसको अपराधी व्यवहार से जोड़ना अवैज्ञानिक होगा। इसी प्रकार ऐसे तत्त्वों को भी अपराधी व्यवहार से ग्रथित नहीं करना चाहिए जिनका उससे कोई प्रत्यक्ष सम्वन्ध दिखाई नहीं देता। उदाहरणत: मान लीजिए दो वच्चों को चोरी करते हुए देखकर पुलिस उनके पीछे भागती है। एक लम्वी टाँगें होने के कारण जल्दी भाग जाने में सफल होता है और दूसरा छोटी टाँगें होने से जल्दी न भाग सकने के कारण पकड़ लिया जाता है। पहला वालक भागने के वाद आगे चलकर डाक्टर या पुजारी वन जाता है परन्तु दूसरा जेल से छूटने के उपरान्त पेशेवर अपराधी वन जाता है। तव क्या यह कहना उचित होगा कि छोटी टाँगों के कारण व्यक्ति अपराधी एवं लम्वी टाँगों के कारण व्यक्ति पुजारी या डाक्टर वनता है, तथा क्या टाँगों की लम्वाई को व्यक्ति के व्यवहार से जोड़ना उचित होगा? इस प्रकार के सम्वन्ध स्थापित करना अवैज्ञानिक होता है। अत: सदरलैण्ड का विचार है कि ऐसे विचारों को अपराध की व्याख्या में अस्वीकार करना चाहिए।

सदरलैण्ड के अनुसार हमारे सामने दूसरी समस्या अपराधी व्यवहार की परिभाषा की है। अपराधशास्त्र में हम हर प्रकार के व्यवहार की नहीं किन्तु केवल अपराधी व्यवहार की ही व्याख्या करते हैं। अपराधी व्यवहार मानवीय व्यवहार का एक अंग होता है तथा इसमें अनपराधी व्यवहार के वहुत से लक्षण मिलते हैं। अत: इसे समझाने हेतु हमें वही सामान्य रूपरेखा अपनानी होगी जो सामान्य मानवीय व्यवहार को समझाने के लिए अपनायी जाती है। अन्तर केवल इतना ही होगा कि हमें अपराधी व्यवहार को अनपराधी व्यवहार से पृथक् करना होगा।

फिर सदरलैण्ड का कहना है कि अपराधी व्यवहार की दो व्याख्याएँ—परिस्थिति सम्वन्धी (situational or mechanistic) व्याख्या तथा ऐतिहासिक व जन्म सम्वन्धी (historical or genetic) व्याख्या—हो सकती हैं। पहली व्याख्या में अपराध को उन प्रतिक्रियाओं द्वारा समझाया जाता है जो अपराध करने के समय कार्य करते हुए पायी जाती हैं तथा दूसरी व्याख्या के अनुसार व्यक्ति के अपराध को समझने के लिए उसके जीवन के अनुभवों को समझना आवश्यक होता है। इन दो व्याख्याओं को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए एक भूखा व्यक्ति रास्ते से जाते हुए किसी खाने की दुकान पर दुकानदार को नहीं पाता है। उस समय परिस्थिति का लाभ उठाकर वह रोटी चोरी करके अपनी भूख मिटाता है। यहाँ चोरी का कारण क्या उसकी भूख और दुकानदार का अनुपस्थित होना था?

यदि हाँ तब यह कहा जायेगा कि परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण उसने चोरी की। यह अपराध की परिस्थिति सम्बन्धी व्याख्या होगी। दूसरी व्याख्या के अनुसार परिस्थिति नही किन्तु व्यक्ति के जीवन की पृष्ठभूमि व उसके जीवन के अनुभव ही उसकी अपराधी प्रवृत्ति विकसित करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण मे भूखे व्यक्ति द्वारा रोटी चुराकर खाना उसके पृष्ठभूमि तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा सीखे हुए व्यवहार व उपार्जित प्रवृत्तियो के कारण ही है। इन दोनो व्याख्याओ मे से सदरलैण्ड ऐतिहासिक व्याख्या को ही मानता है। उसका विचार था कि किसी परिस्थिति को अपराध के लिए अनुकूल या प्रतिकूल समझना व्यक्ति पर ही निर्भर करता है। किसी बैंक मे डाका डालने के लिए चौकीदार द्वारा बन्दूक लिए खडे रहने की प्रतिकूल परिस्थिति को लुटेरा चौकीदार को मारकर या पकडकर तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियो को पिस्तौल दिखाकर व चुप रहने को वाध्य कर अनुकूल परिस्थिति मे बदल देता है। अतः अपराध करने मे परिस्थिति नही अपितु व्यक्ति का पिछला इतिहास व उसका अन्य लोगो से सम्पर्क द्वारा अपराध सीखना प्रमुख तत्त्व होता है।

इसी धारणा के आधार पर सदरलैण्ड ने 1939 मे 'विभिन्न सम्पर्क' (Differential Association) के सिद्धान्त की रचना की जिसमे उसने निम्नलिखित नौ उपधारणाएँ (propositions) दी हैं :[1]

(1) अपराधी व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार होता है। इसका नकारात्मक अर्थ यह हुआ कि अपराधी व्यवहार आनुवशिक नही होता। जो व्यक्ति पहले से ही अपराध करने के लिए प्रशिक्षित नही है वह अपराधी व्यवहार का आविष्कार नही कर सकता। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार बिना यान्त्रिक विज्ञान शिक्षा के कोई व्यक्ति यान्त्रिक आविष्कार नही कर सकता।

(2) अपराध विचारो के सचार के प्रक्रम (process of communication) मे दूसरे लोगो से अन्तक्रिया द्वारा सीखा जाता है। विचारो का आदान-प्रदान अधिकतर मौखिक होता है, यद्यपि यह सकेतो द्वारा भी हो सकता है।

(3) अपराधी व्यवहार मुख्य रूप से घनिष्ठ प्राथमिक समूहो (intimate personal group) मे सीखा जाता है। इसका अर्थ हुआ कि अवैयक्तिक व द्वितीयक समूहो जैसे, क्लब, चलचित्र, समाचार-पत्र आदि का अपराध मे कोई महत्त्व नही होता।

(4) अपराधी व्यवहार सीखने मे दो बातें सम्मिलित है : (क) अपराध करने के सरल और जटिल उपाय (technique) सीखना; तथा (ख) विशेष मनोवृत्तियो, प्रेरणाओ (motives), प्रेरक शक्तियो (drives) और तर्क-वितर्कों (rationalisations) का सीखना।

(5) विशेष प्रेरणाओ एव प्रेरक शक्तियो को कानूनी सहिताओ (legal codes) की स्वीकृत (favourable) या तिरस्कृत (unfavourable) परिभाषाओ द्वारा सीखा जाता है।

[1] Sutherland, *op cit*

(6) व्यक्ति अपराधी इस कारण बनता है क्योंकि वह कानून के उल्लंघन के अनुकूल परिभाषाओं को कानून के उल्लंघन के प्रतिकूल परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक अपनाता है। यही सदरलैण्ड के अनुसार 'विभिन्न सम्पर्क' का मूल सिद्धान्त है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के अपराधी बनने का कारण उसका अपराधी प्रतिमानों (patterns) के सम्पर्क में अधिक आना तथा अनपराधी प्रतिमानों से पृथक् रहना है।

(7) सम्पर्कों की विभिन्नता, अवधि (duration), तीव्रता (intensity), प्राथमिकता (priority) और पुनरावृत्ति (frequency) के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। दूसरे शब्दों में, प्रारम्भिक जीवन में व्यक्ति का अपराधी व्यवहार से सम्पर्क पहले कैसे हुआ, कितनी बार हुआ, कितने समय तक रहा तथा कितना तीव्र रहा, इन सब बातों का उसके अपराध करने या न करने में बहुत महत्त्व है।

(8) अपराधी प्रतिमानों के सम्पर्क में अपराधी व्यवहार सीखने की विधियाँ वही हैं जो किसी कानून द्वारा मानवीय व्यवहार के सीखने में पायी जाती हैं, अर्थात् अपराधी व्यवहार केवल अनुकरण की प्रक्रिया द्वारा नहीं सीखा जाता।

(9) यद्यपि अपराधी व्यवहार सामान्य आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति (expression) है फिर भी इसको केवल इन्हीं के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि अनपराधी व्यवहार भी इन्हीं आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति हैं। चोर रुपया प्राप्त करने के लिए चोरी करता है किन्तु एक ईमानदार श्रमिक भी इसी उद्देश्य से ही मजदूरी करता है। दोनों की आवश्यकताएँ सामान्य हैं; इस कारण केवल इन आवश्यकताओं के आधार पर उनके व्यवहार का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सदरलैण्ड ने अपराध की आनुवंशिक जड़ों की सम्भावना को अस्वीकार किया है तथा उसके अभिगृहीत (acquired) लक्षणों पर ही बल दिया है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सदरलैण्ड के अनुसार व्यक्ति इस कारण अपराध करते हैं क्योंकि प्रधानतः (predominantly) उसके घनिष्ठ (intimate) सम्पर्क अपराधी व्यवहार संरूपों (criminal behaviour patterns) से रहते हैं। इन सम्पर्कों द्वारा अपराधी विधियाँ (techniques) और अपराधी मूल्य दोनों सीखे जाते हैं।

सदरलैण्ड की यह विवेचना अपराध करने वाले 'व्यक्ति' की दृष्टि से दी गई है। उसने इसे उस 'समुदाय' की दृष्टि से भी समझाया है जिसमें अपराध किया जाता है। इसको उसने 'विभिन्न सामूहिक संगठन' (differential group organisation) का नाम दिया है। इस विवेचना के अनुसार अपराध की जड़ सामूहिक संगठन में पायी जाती है। हर समुदाय में दो प्रकार के समूह पाये जाते हैं : (i) वे जो अपराध करने के लिए संगठित किये जाते हैं, तथा (ii) वे जो अपराध रोकने के लिए संगठित होते हैं। अतः समुदाय में अपराध की मात्रा विभिन्न सामूहिक संगठन की अभिव्यक्ति (expression of the differential group organisation) है। इस प्रकार किसी समुदाय में अपराध-दर उसमें अपराध करने वाले व अपराध रोकने वाले

समूहो की सख्या पर निर्भर करती है।

जेम्स शार्ट (James Short) ने 1955 मे अमरीका के एक नगर मे 176 स्कूल के विद्यार्थियो (126 लडको व 50 लडकियो) का अध्ययन कर सदरलैण्ड के सिद्धान्त का समर्थन किया है।[1] सूचनादाताओ से पूछे गये प्रश्नो मे से प्रमुख प्रश्न थे · (1) जिन मित्रो से आप प्राय (most often) सम्पर्क रखते है, क्या उनमे मे कोई अपराधी है ? (2) जिन मित्रो को आप लम्बे समय (longest period) से जानते है क्या उनमे से कोई अपराधी है ? (3) जिन मित्रो को आप जीवन के सर्वप्रथम मित्र मानते है क्या उनमे से कोई अपराधी था ? (4) जिन मित्रो को आप सबसे अच्छे (best) मित्र मानते है, क्या उनमे से कोई अपराधी है ? (5) क्या आपके वर्तमान मित्रो मे से कोई अपराधी है ? (6) जिस समुदाय मे आपका पालन-पोषण हुआ था क्या उसमे युवा व्यक्तियो द्वारा अधिक अपराध किया जाता था ? तथा (7) क्या आप किसी वयस्क अपराधी को जानते हैं ? इस अध्ययन द्वारा शॉर्ट ने यह सिद्ध किया कि अपराधी मित्रो से सम्पर्क अवधि, तीव्रता, प्राथमिकता व पुनरावृत्ति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होते है।

सदरलैण्ड का सिद्धान्त अपराध को एक कारक के आधार पर नही किन्तु बहुत से कारको के आधार पर समझाता है। अत यद्यपि यह वर्तमान समय मे स्वीकृत अपराध के बहु-कारकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध नही है, फिर भी इस सिद्धान्त की अनेक तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है। शेल्डन ग्लूक[2] का कहना है कि यह सिद्धान्त इतना सामान्य है कि यह अपराध के कारण व निरोधन तथा अपराधियो की सुधार सम्बन्धी विवेचनाओ मे अधिक योगदान नही देता। इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रमुख रूप से काल्डवेल, हर्बर्ट, ब्लाच, जार्ज वोल्ड, नीसे, आदि द्वारा दिये गये तर्क इस प्रकार हैं—

(1) सभी अपराध सीखे नही जाते तथा कुछ भावात्मक व्यवहार के कारण भी होते हैं।

(2) मेबिल इल्यट (Mable Elliott)[3] का कहना है कि प्रथम बार अपराध करने वाले तथा आकस्मिक अपराधियो मे सदरलैण्ड द्वारा अनुमानित कानून की प्रतिकूल परिभाषा देने वाले व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने से अपराध सीखने की प्रक्रिया नही पायी जाती।

(3) यह सिद्धान्त द्वितीयक समूहो की भूमिका की बिल्कुल अवहेलना करता है।

[1] James F Short, Differential Association and Delinquency in *Social Problem*, vol 4, No 3, January 1957, 233 39.

Also see his article in Rose Giallombardo's book, *Juvenile Delinquency*, John Wiley and Sons, New York, 1966, 85-91

[2] Sheldon Glueck, see Dressler's book *Readings in Criminology and Penology*, *op cit*, 307

[3] Mabel A Elliott, *Crime in Modern Society*, Harper and Bros, New York, 1952, 402

(4) काल्डवेल[1] और क्रीसे[2] का कहना है कि यह सिद्धान्त हर प्रकार के अपराध के कारणों की व्याख्या नहीं करता तथा केवल व्यवस्थित (systematic) अपराधों को ही समझाता है।

(5) टैपन[3] व काल्डवेल के अनुसार यह सिद्धान्त आनुवंशिकता को तथा शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों को एवं पर्यावरण-सम्बन्धी उत्तेजना की उग्रता को महत्त्व नहीं देता।

(6) जार्ज वोल्ड[4] का कहना है कि सदरलैण्ड ने यह नहीं समझाया है कि एक व्यक्ति अन्य लोगों से अन्तःक्रिया द्वारा कुछ धारणाओं व प्रेरकों को क्यों अपना लेता है और कुछ को क्यों अप्रोज्य ठहराता है तथा हर वह व्यक्ति जो अपराधिता के सम्पर्क में रहता है अपराधी संरूप क्यों स्वीकार नहीं करता।

(7) यह सिद्धान्त मानव व्यवहार में 'स्वतन्त्र इच्छा' के तत्त्व तथा 'प्राप्ति की इच्छा' आदि जैसी उन मूल प्रवृत्तियों को भी अस्वीकार करता है जिनका महत्त्व आजकल अनेक वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।

(8) यह सिद्धान्त सीखने की प्रतिक्रिया को बहुत सरल रूप से प्रस्तुत करता है जबकि सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सीखने की प्रतिक्रिया में जटिलता पायी जाती है। फिर केवल 'सीखने की प्रक्रिया' को ही मानव व्यवहार का सम्पूर्ण आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे प्रयोजन और प्रत्यक्षीकरण पर आधारित सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

(9) हर्बर्ट ब्लाच (Herbert Bloch)[5] का कहना है कि अनुसन्धान की दृष्टि से सदरलैण्ड के सिद्धान्त की आनुभविक परीक्षण द्वारा (empirically) जाँच नहीं की जा सकती क्योंकि इसमें शब्दों का परिचालन (operationalisation) नहीं किया गया है तथा 'कानून के उल्लंघन के पक्ष में साहचर्य व संसर्ग' का मात्रात्मक (quantitative) अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

(10) क्लारेन्स रे जेफरी (Clarence Ray Jeffery)[6] का कहना है कि सदरलैण्ड का सिद्धान्त अपराधिता की उत्पत्ति को स्पष्ट नहीं करता जबकि इसके पहले कि कोई व्यक्ति अन्य अपराधी संसर्गों के सम्पर्क में आकर अपराध करना सीखे, अपराधी धारणाओं व मनोवृत्तियों का अस्तित्व आवश्यक है। साथ में जेफरी का यह भी कहना है कि यह सिद्धान्त आयु, लिंग, अल्पसंख्यक समूह व नगरीय क्षेत्रों से

[1] R.G. Caldwell, *op. cit.*, 182-83.

[2] Donald R. Cressey, *Journal of Criminal Law, Criminology and Police Science*, May-June 1952, 43-52.

[3] Paul W. Tappan, *Crime, Justice and Correction*, McGraw Hill, New York, 1960, 180.

[4] George Vold, *op. cit.*, 194-205.

[5] Herbert Bloch, *Man, Crime and Society*, *op. cit.*, 110-15.

[6] Clarence Ray Jeffery, 'An integral theory of crime and criminal behaviour', *Journal of Criminal Law, Criminology and Police Science*, March-April 1959, 537.

सम्बन्धित विभिन्न दर (differential rate) का भी विश्लेषण नहीं करता ।

1952 में डोनाल्ड क्रीसे ने अमानत-सम्बन्धी उल्लंघन (trust violations) के 125 अपराधियों के एक अध्ययन के आधार पर कहा कि वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा यह सिद्ध या असिद्ध करना शायद ही सम्भव हो कि सदरलैण्ड का सिद्धान्त वित्तीय अमानत के उल्लंघन या अन्य किसी भी प्रकार के अपराध को स्पष्ट करता है ।[1] इसी प्रकार लेमर्ट ने भी जाली चैक बनाने के लिए दण्डित 72 कैदियों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि इन अपराधियों के न तो कोई पूर्व अपराधी रिकार्ड थे और न ही उनके साहचर्य अपराधी पाये गये थे ।

डेनियल ग्लेजर (Daniel Glaser)[2] ने विभिन्न सम्पर्क के स्थान पर 'विभिन्न अभिज्ञान' (Differential Identification) की अवधारणा का प्रयोग कर सदरलैण्ड के सिद्धान्त को संशोधित किया है तथा इसी आधार पर उसने यह समझाने का प्रयास किया है कि सभी व्यक्ति अपराधियों के सम्पर्क में आने के उपरान्त भी क्यों अपराधी नहीं बनते । यह स्पष्टीकरण उसने मर्टन के 'सन्दर्भ समूह' (Reference Group) की अवधारणा का प्रयोग करके दिया है । 'सन्दर्भ समूह' वह समूह है जिसका स्वरूप कर्ता की क्रिया के लिए रूपरेखा (frame of reference) उपलब्ध करता है, यद्यपि वह उस समूह द्वारा सदस्य स्वीकार किये जाने की अभिलाषा नहीं रखता । यह 'सन्दर्भ समूह' व्यक्ति का भूतपूर्व, वर्तमान व भावी सदस्यता समूह हो सकता है । इसी प्रकार 'सन्दर्भ समूह' सकारात्मक (positive) व नकारात्मक (negative) भी होते हैं । सकारात्मक समूह की तरह नकारात्मक समूह भी व्यक्ति के लिए प्रेरणा का प्रमुख साधन हो सकते हैं । जैसे व्यक्ति समाज के उन व्यक्तियों से जिन्होंने उसे अस्वीकृत किया है (जिन्हें हम 'अगृहीता' कह सकते हैं), नकारात्मक सन्दर्भ समूह मानकर किनारा करता है तथा अपराध के पक्ष वाले समूह से, जो उसे स्थिति देता है, सकारात्मक सन्दर्भ समूह मानकर अपना अभिज्ञान करता है । इस सन्दर्भ समूह की अवधारणा को प्रयोग करते हुए ग्लेजर का कहना है कि एक व्यक्ति तब अपराध करता है जब वह स्वयं का उन वास्तविक व काल्पनिक व्यक्तियों से अभिनिर्धारण (identification) करता है जिनकी दृष्टि से उसका अपराधी व्यवहार स्वीकृत होता है ।[3] दूसरे शब्दों में, व्यक्ति उन व्यक्तियों का 'चुनाव' करता है जिनके साथ वह अपने को एकसम समझता है तथा जो उसके व्यवहार के लिए मॉडल के रूप में कार्य करते हैं ।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर सदरलैण्ड के सिद्धान्त की आलोचना करने के

[1] D R Cressey, *Journal of Criminal Law, Criminology and Police Science, op cit*, 43

[2] Daniel Glaser, 'Criminology Theories and Behaviour Images', *American Journal of Sociology*, March 1956 440

[3] 'A person pursues criminal behaviour to the extent that he identifies himself with real or imaginary persons from whose perspective his criminal behaviour seems acceptable' —*Ibid*, 159

उपरान्त भी यह माना जाता है कि सदरलैण्ड का इस सिद्धान्त द्वारा अपराधशास्त्र में योगदान प्रमुख रहा है क्योंकि : (1) इस सिद्धान्त ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर अपराध में सामाजिक कारकों को महत्त्व दिया है, (2) यह अपराधी व्यवहार व कानून व्यवहार के सीखने में समानता बताता है, तथा (3) यह इस बात पर बल देता है कि अपराध केवल व्यक्तित्व के विघटन के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि बहुत से ऐसे अपराधी हैं जिन्होंने स्वयं का उसी प्रकार समायोजन किया है जिस प्रकार बहुत से प्रतिभाशाली व्यक्ति अपना समायोजन करते हैं।

उपसंस्कृति के सिद्धान्त (Subcultural Theories)

मैनहीम (Mannheim)[1] के अनुसार, दुर्खीम और मर्टन के ऐनामी के सिद्धान्त ने वर्ग-अभिमुख सिद्धान्तों (class-oriented theories) की रूपरेखा (framework) प्रस्तुत की। वर्ग-अभिमुख सिद्धान्तों से उसका अभिप्राय यह नहीं था कि ये सिद्धान्त मध्य और उच्च वर्गों की तुलना में निम्न वर्ग में अधिक अपराध पाये जाने पर जोर देते हैं। इसके विपरीत उसका हवाला उन व्याख्याओं की ओर था जो विभिन्न सामाजिक वर्गों के कुछ लक्षणों पर, उनके (वर्गों के) आपसी संघर्षों पर, तथा उनके द्वारा उत्पन्न किये गये उपसंस्कृतियों के संघर्ष पर आधारित हैं।[2]

नवीन वर्ग-अभिमुख सिद्धान्तों ने भी सामाजिक वर्ग की उपसंस्कृति पर ही अपना ध्यान संकेन्द्रित किया है। इसमें प्रमुख रूप से हम निम्न चार सिद्धान्तों को सम्मिलित कर सकते हैं : (1) क्लोवार्ड और ओहलिन का सिद्धान्त, (2) कोहेन का सिद्धान्त, (3) माटजा का सिद्धान्त, (4) मिलर का सिद्धान्त। यद्यपि उपसंस्कृति पर बल देने वाले सिद्धान्तकार इस बात पर सहमत नहीं होते कि उपसंस्कृतियों में प्रतिमान (norms) क्यों पाये जाते हैं परन्तु इन सभी अध्ययनों में यह समझाने का प्रयास अवश्य मिलता है कि उपसंस्कृति ने विचलित व अपराधी व्यवहार को कैसे स्वीकृत किया है तथा यह विचलित व्यवहार उस उपसंस्कृति में किसी प्रस्थिति से कैसे प्रभावित होता है।[3]

उपर्युक्त बताये गये चार उपसंस्कृति सिद्धान्तों में से इस अध्याय में हम केवल क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त का ही विश्लेषण करेंगे तथा शेष तीन सिद्धान्तों की हम बाल-अपराध के अध्याय में व्याख्या करेंगे क्योंकि यह तीनों सिद्धान्त मुख्यतः बाल अपराध के कारणों की ही व्याख्या करते हैं।

[1] Hermann Mannheim, *Comparative Criminology*, Houghton Mifflin, Boston, 1965, 499.

[2] Which are based on certain characteristic features of the different social classes, on the existing conflicts between the latter, and between the sub-cultures created by them.

[3] All these studies are characterised by their attempt to understand delinquent behaviour as sanctioned by the subculture and influenced by the status requirements of the subculture.

क्लोवार्ड और ओहलिन का 'विभिन्न अवसर' (Differential Opportunity) सिद्धान्त

क्लोवार्ड और ओहलिन ने दुर्खीम और मर्टन के 'व्याधिकी' (Anomie) सिद्धान्त तथा शा, मैक्के और सदरलैण्ड के सिद्धान्तो का संकलन करके अपराधिता पर लागू किया है। उन्होंने इन विद्वानो के सिद्धान्तो मे विभिन्न तत्वो की पुन परिकल्पना (reconceptualise) करके सम्बन्धन (linking) अवधारणाएँ विकसित की और 1960 मे 'विभिन्न अवसर' का सिद्धान्त दिया। उन्होंने अपराधियो के जीवन तथा उनकी अपराधी क्रियाओं को अपने सिद्धान्त का आधार न मानकर अपराधी नियमो (*norms*) पर बल दिया है।

क्लोवार्ड-ओहलिन का सिद्धान्त अपराधी *उप-संस्कृति (delinquent* subculture) से सम्बन्धित सिद्धान्त है। इससे पूर्व कि क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त का विश्लेषण करें, हम पहले अपराधी उप-संस्कृति से सम्बन्धित कुछ प्रश्नो का विश्लेषण करेंगे, जैसे अपराधी उप-संस्कृति क्या है, इसके प्रति विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं, इत्यादि।

क्लोवार्ड-ओहलिन ने 'अपराधी-गिरोह' उस समूह को माना है जो चोरी, ठगी, मदोन्मत्तता, अवैध लिंगीय सम्बन्ध आदि अपराधी क्रियाओं के घेरे मे सगठित होता है। उनके अनुसार 'अपराधी उप-संस्कृति' वह उप-संस्कृति है जिसमे[1] (क) केन्द्र-बिन्दु अपराधी-क्रिया होती है, तथा (ख) जिसमे अपराधी क्रियाओ के कुछ रूप, उप-संस्कृति द्वारा समर्थित, प्रबल *भूमिकाओ के लिए आवश्यक होते हैं।*

अपराधी उप-संस्कृति के निर्माण, स्थिरता तथा *विभिन्न व्यक्तियो द्वारा* इनके सदस्य बनने से सम्बन्धित चार प्रमुख सम्प्रदाय व विचार मिलते हैं—

(1) **मूल्य-संघर्ष व संस्कृति-संघर्ष विचारधारा** (Value conflict or culture conflict approach)—इस विचारधारा के अनुसार अपराधी उप-संस्कृति सांस्कृतिक संहिता (codes) के संघर्ष को निरूपित (represent) करती है तथा इसका एक रूप निम्न और मध्यवर्गीय मूल्यो के संघर्ष मे मिलता है। कोहेन इस सम्प्रदाय का समर्थक है।

(2) **किशोरावस्था से वयस्कता मे परिवर्तन-सम्बन्धी विचारधारा** (Transition from *adolescence to adulthood approach)*—*इस विचारधारा के अनुसार अपराधी उप-संस्कृति का निर्माण किशोरावस्था से* वयस्कता मे परिवर्तन के समय उत्पन्न हुए उग्र तनाव के कारण होता है। ब्लॉक (Bloch)[2] और नाइडरहाफर (Niederhoffer) इस सम्प्रदाय के समर्थक है।

(3) **पौरुषी आत्म-प्रतिबिम्ब विचारधारा** (Masculine self-image

[1] *Richard Cloward and Lloyd Ohlin, Delinquency and Opportunity A Theory of Delinquent Gangs*, The Free Press, Glencoe, New York, 1960, 7

[2] Bloch, *The Gang. A Study in Adolescent Behaviour*, 1958, New York.

approach)—इस विचारधारा के अनुसार पश्चिमी समाज के एकांकी (nuclear) परिवार के कुछ लक्षण—विशेषकर उनका नारी अधिरोहित (female centered) परिवार होने का लक्षण—बालक के लिए पौरुषी पहचान-सम्बन्धी विचार के विकास में कठिनाई उत्पन्न करता है। इस कठिनाई को वह ऐसे दबाव डालने वाले पुरुषोचित व्यवहार द्वारा समतुल्य (compensate) करता है जिस (व्यवहार) का अपराधी व्यवहार एक अत्युक्तिपूर्ण (exaggerated) रूप होता है। वाल्टर मिलर इस सम्प्रदाय का समर्थक है।

क्लोवार्ड-ओहलिन ने उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों को अस्वीकार करते हुए एक अलग ही अपना मत प्रकट किया है जिसे हम अपराधी उप-संस्कृति से सम्बन्धित चौथा सम्प्रदाय मान सकते हैं। यह निम्न है—

(4) विभिन्न अवसर विचारधारा (Differential opportunity approach)—इस विचारधारा के अनुसार लक्ष्यों की प्राप्ति-सम्बन्धी अवैध अवसर की उपलब्धि समायोजन की समस्या को इस रूप में प्रभावित करती है कि इससे अपराधी व्यवहार उत्पन्न होता है।

गिरोहों के अपराधी उप-संस्कृतियों को स्पष्ट करते हुए क्लोवार्ड-ओहलिन ने तीन प्रकार या प्रतिरूपों की गिरोह उप-संस्कृतियाँ दी हैं[1]—

(i) अपराधी (criminal) उप-संस्कृति, तथा ऐसी उप-संस्कृति वाला अपराधी-गिरोह जिसके सदस्य प्रमुख रूप से अवैध साधनों के प्रयोग द्वारा भौतिक लाभ के लिए संगठित होते हैं अथवा जो धन प्राप्त करने के लिए चोरी, कपट, धोखा, जबरदस्ती वसूली (extortion) आदि साधन प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं। इस उप-संस्कृति में अनुशासन अधिक पाया जाता है। यह उप-संस्कृति उन क्षेत्रों में उत्पन्न होती है जहाँ वे बड़े और सफल अपराधी रहते हैं जिनको समाज में ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। ये बड़े अपराधी बिना किसी हिंसा के कुशल अपराधियों को अपनी अपराधी क्रियाओं के लिए भर्ती करने के पक्ष में होते हैं क्योंकि हिंसा के प्रयोग से उनकी समाज में स्थापित प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि इस अपराधी उप-संस्कृति में हिंसात्मक क्रियाएँ कभी नहीं मिलतीं।

(ii) संघर्ष (conflict) उप-संस्कृति, तथा ऐसी उप-संस्कृति वाला अपराधी गिरोह जिसमें हिंसात्मक क्रियाएँ अधिक पायी जाती हैं तथा जिसके सदस्य स्थिति प्राप्ति के लिए या तो बल-प्रयोग करते हैं या बल-प्रयोग करने की धमकी देते हैं। यह उप-संस्कृति उन क्षेत्रों में मिलती है जहाँ समाज द्वारा मानवीय मूल्यों तथा अपराधी मूल्यों का संकलन नहीं होता जिस कारण बड़े अपराधी छोटे अपराधियों में हिंसा को निरुत्साहित करने के लिए उपस्थित नहीं रहते। यही कारण है कि बालक पुरस्कार प्राप्त करने के लिए हिंसा का प्रयोग करते हैं।

(iii) अपयान व अपक्रमण वाली (retreatist) उप-संस्कृति, तथा ऐसी उप-संस्कृति वाला अपराधी गिरोह जिसमें नशीली वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया

[1] Cloward and Ohlin, *op. cit.*, 20 and 161–78.

जाता है। यह उप-संस्कृति उन क्षेत्रों में मिलती है जहाँ अपराधी पुलिस के दमनकारी व विरोधी उपायों के कारण हिंसा का प्रयोग नहीं कर पाते।

यह तीनों उप-संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न विधियों द्वारा तथा उप-संरचनाओं (substructures) के विभिन्न भागों में उत्पन्न होती हैं। फिर, इन तीनों में न केवल सदस्यों में विभिन्न जीवन-स्तर व विश्वास एवं मूल्य मिलते हैं परन्तु यह सामाजिक नियन्त्रण की भी भिन्न-भिन्न समस्याएँ उत्पन्न करती है। तीनों (उप संस्कृतियों) में समानता यह है कि जो नियम सदस्यों के व्यवहार का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं वे समाज द्वारा माननीय नियमों के विरुद्ध होते हैं।

गिरोह के सदस्यों की गिरोह के प्रति निष्ठा, एवं उप संस्कृति नियमों का सभी सदस्यों पर *नियन्त्रण, समान नहीं पाया जाता। इस कारण क्लोवार्ड-ओहलिन ने* अपराधी-उप-संस्कृतियों का विवरण औसत सदस्य को लेकर नहीं परन्तु पूर्णरूप से गिरोह की विचारधारा प्रतिपादित करने वाले (indoctrinated) सदस्यों को लेकर किया है।

अपराधी उप-संस्कृति के इस विवरण के उपरान्त अब हम क्लोवार्ड-ओहलिन के 'विभिन्न अवसर' सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे। 'विभिन्न अवसर' का सिद्धान्त वास्तव में बड़े नगरों में निम्न वर्गीय क्षेत्रों में किशोरों के अपराधी व्यवहार को लेकर *निरूपित किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार*[1] *हर व्यक्ति की समाज के वैध* और अवैध अवसर व्यवस्था' (opportunity structures) में एक स्थिति होती है। इसी स्थिति के आधार पर वह अपनी अभिलाषाओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा अपने को समाज में समायोजित करता है। जब व्यक्ति अपने लक्ष्यों और अभिलाषाओं को वैध अवसरों द्वारा प्राप्त नहीं कर पाता तब वह उनकी नीचे की ओर पुनरावृत्ति (downward revision) नहीं करता जिस कारण तीव्र कुण्ठा व नैराश्य अनुभव करता है। यह नैराश्य ही उसके विचलित व्यवहार के लिए उत्तरदायी होता है। *साधारण शब्दों में क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त के अनुसार अपराध का* प्रमुख कारण आकांक्षा-स्तर (aspiration level) और अवसर व्यवस्था में सम्भावित व उपलब्ध संयोग (life chances in the opportunity-structure) के बीच दरार व अन्तर है। यद्यपि आकांक्षाएँ हर *व्यक्ति में पायी जाती हैं और सभी व्यक्ति उनको* प्राप्त भी नहीं कर पाते फिर भी वे सभी इस कारण गैर-कानूनी साधनों का प्रयोग नहीं करते क्योंकि यह अवैध साधन हर व्यक्ति के लिए समान रूप से या तो उपलब्ध नहीं होते या सुलभ (accessible) नहीं होते। अत अवैध साधनों की उपलब्धि के अन्तर के कारण ही हमें समाज में अपराधिता की मात्रा में भी अन्तर मिलते हैं। एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध अवसर-व्यवस्था में अपने समायोजन के लिए आयु, लिंग, सामाजिक और आर्थिक स्थिति आदि जैसे परिवर्त्य (variables) मुख्य होते हैं।

क्लोवार्ड-ओहलिन के अनुसार निम्न वर्ग के युवकों में दो प्रकार के अभिस्थापन

[1] Richard A Cloward and Lloyd E Ohlin, *Delinquency and Opportunity A Theory of Delinquent Gangs*, Free Press, New York, 1960, 150

(orientations) पाये जाते हैं—(क) जीवन-शैली (life style) अभिस्थापन तथा मध्य वर्ग की सदस्यता पाने की अभिलाषा; (ख) आर्थिक अभिस्थापन तथा आर्थिक स्थिति को उत्कृष्ट बनाने की अभिलाषा। क्लोवार्ड-ओहलिन का मत है कि अपराधी उप-संस्कृति वाले गिरोह में वे निम्न वर्ग के युवक सम्मिलित होते हैं जो अपनी निम्न वर्ग की सदस्यता तो स्थिर रखना चाहते हैं किन्तु अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की अभिलाषा रखते हैं।

क्लारेंस शिराग (Clarence Schrag)[1] ने क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त की मुख्य उपधारणाओं का व्यवस्थित रूप से पुनर्गठन किया है। यह नयी उपधारणाएँ (propositions) इस प्रकार हैं—(1) मध्य वर्ग के लक्ष्य, विशेषकर आर्थिक लक्ष्य, बहुत फैले हुए होते हैं। निम्न वर्ग के सदस्य इन मध्य वर्ग के लक्ष्यों की पुष्टि करते हैं तथा इन्हें प्राप्त करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधारना चाहते हैं; (2) इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वैध और नियन्त्रित अवसर प्रत्येक संगठित समुदाय में पाये जाते हैं; (3) लक्ष्यों की प्राप्ति के अवसर अलग-अलग सामाजिक वर्गों के लिए अलग-अलग रूप से सुलभ (accessible) होते हैं; (4) किसी विशेष समुदाय व समूह को साध्यों की प्राप्ति के लिए अवैध साधन उपलब्ध हो भी सकते हैं और नहीं भी।

शिराग ने यद्यपि क्लोवार्ड-ओहलिन की उपधारणाओं का पुनर्गठन किया है परन्तु फिर भी उसका कहना है कि क्लोवार्ड का सिद्धान्त दो बातें स्पष्ट नहीं करता—(i) निम्न वर्ग के सभी बालक अपराधी गिरोह की क्रियाओं को क्यों नहीं अपनाते? (ii) लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अवैध साधनों की सुगमता की कल्पना हमें निम्न वर्ग के उन सदस्यों को पहचानने में सहायता नहीं करती जो गिरोह की क्रियाओं में सम्भाव्य भाग लेंगे। इन दोषों के कारण शिराग ने क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त में उपर्युक्त चार उपधारणाओं के अतिरिक्त तीन और उप-धारणाएँ भी जोड़ी हैं। ये हैं—

(1) निम्न वर्ग के उन सदस्यों में अपराधी-गिरोह के कार्यों को अपनाने की ग्रहण-क्षमता (susceptibility) अधिक होती है जो (क) समाज की वैध व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते और अपने को उससे अलग (alienate) करते हैं; (ग) जो अपनी समायोजना की समस्याओं के लिए स्वयं को नहीं किन्तु सामाजिक व्यवस्था को दोषी बताते हैं; (ग) जो वैध नियमों की व्यावहारिक निपुणता (pragmatic efficiency) को अस्वीकार करते हैं।

(2) रूढ़िगत नियमों को अस्वीकार करने का कारण औपचारिक (official or formal) और व्यावहारिक (operative or pragmatic) अवसरों में भेद है। ऐसा भेद करने वाले व्यक्ति औपचारिक प्रमाप की वैधता (validity) को तो चुनौती नहीं देते किन्तु उसकी वास्तविक उपयोगिता को अस्वीकार करते हैं। इस कारण रूढ़िगत नियमों का न मानना (alienation) उन व्यक्तियों में सबसे अधिक मिलेगा

[1] Clarence Schrag, 'Delinquency and Opportunity: Analysis of a Theory', in *Sociology and Social Research*, vol. 46, 1962, 167–70.

जो सोचते हैं कि (प्राप्त करने के औपचारिक अवसरों की उपस्थिति के आधार पर) वे अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के योग्य तो हैं पर क्योंकि वास्तव में उनको इन साधनों की उपलब्धि नहीं है इस कारण वे उनको प्राप्त करने में अन्यायी रूप से वंचित रहते हैं।

(3) इन रूढ़िगत नियमों की वैधता (legitimacy) में स्वयं को अलग करना *नियमों को न मानने वाले व्यक्तियों में अपराध की भावना को कम करता है तथा अपराधी उप-संस्कृति की रचना के लिए नींव प्रस्तुत करता है।*

यद्यपि शिराग द्वारा क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त की *क्रमबद्धता* (systematisation) प्रशसनीय है तथा उसकी उपधारणाएँ क्लोवार्ड के मूल-सिद्धान्त को अच्छे रूप से प्रस्तुत करती हैं परन्तु इनके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि ये आपस में निगमनात्मक रूप से (deductively) सम्बद्ध नहीं हैं तथा दूसरी अवधारणा पहली अवधारणा से तर्कपूर्वक (logically) पीछे-पीछे नहीं चलती। क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त की अमरीका में कुछ अधिक मान्यता है।

शॉर्ट और कार्टराइट (Short and Cartwright)[1] ने क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त का सत्य-स्थापन करने के लिए एक अध्ययन किया जिसमें उन्होंने निम्न वर्ग के किशोरों द्वारा मध्य-वर्गीय स्तर अपनाने के प्रयास का विश्लेषण किया। इनमें से *एक प्रयास था निम्न वर्ग के किशोरों द्वारा 'आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों' (ideal family relations) को अपनाना। आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों से उनका (किशोरों का)* अभिप्राय परिवार के छोटे आकार, नौकरी की स्थिरता (job-stability), वैवाहिक वफादारी (marital fidelity), धनोपार्जन कार्य में स्त्रियों द्वारा पुरुषों की सहायता आदि से था। परन्तु शॉर्ट और कार्टराइट का अध्ययन भी यह सिद्ध करने में सफल नहीं हुआ कि निम्न वर्ग के किशोर, जिनको मध्य वर्ग के मूल्यों, उद्देश्यों व विशेषताओं की प्राप्ति के लिए वैध तरीके उपलब्ध नहीं हैं अथवा प्राप्ति योग्य नहीं है, उनकी प्राप्ति के लिए अवैध तरीके क्यों प्रयोग करते हैं जिससे अपराधी-उप-संस्कृति की रचना होती है।

इसी प्रकार शॉर्ट, टेनीसन और रिवेरा (Short, Tennyson and *Rivera*)[2] ने *भी वैध और अवैध अवसरों की अनुभव-क्षमता (perception)* पर एक अध्ययन किया था जिसमें उन्होंने एक ही पड़ोस के 500 नीग्रो और श्वेत (white) निम्न-वर्गीय गिरोह के लड़कों व ऐसे मध्य-वर्गीय लड़कों के जो किसी गिरोह के सदस्य नहीं थे (non-gang boys), शिक्षा व व्यवसाय से सम्बन्धित उपलब्ध अवसरों के अनुभव योग्यता का विश्लेषण किया। अपने जाँच-परिणाम के आधार पर इन्होंने भी क्लोवार्ड-ओहलिन के 'अवसर संरचना' की धारणा का समर्थन किया है। परन्तु जो इन्होंने

[1] James F Short Jr , Fred L Strodbeck, and D S Cartwright, in *Sociological Inquiry*, vol. 32, No. 2, 1962, 185-202

[2] J. A Short, R A. Tennyson, and Ramon Rivera, 'Perceived opportunities, gang membership and delinquency, in *American Sociological Review*, vol 30, No 1, February 1965, 56-67

अनुभव क्षमता (perception) की संक्रियात्मक परिभाषा (operational definition) दी है वह स्वयं में शंकास्पद (questionable) है। फिर यह भी वैज्ञानिक रूप से सिद्ध नहीं किया गया है कि अवसरों की अनुभव क्षमता वास्तविक व्यवहार को कहाँ तक प्रभावित करती है। इन तर्कों के अतिरिक्त क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ निम्न तर्क भी मिलते हैं—

(1) यह सिद्धान्त अपराधी उप-संस्कृति के विभिन्न प्रकारों के प्रकट होने की आरम्भिक परिस्थितियों को स्पष्ट नहीं करता।

(2) इस सिद्धान्त में प्रयोग किये गये कुछ सैद्धान्तिक शब्दों, जैसे अवसर-व्यवस्था (opportunity structure), अवसर की अनुभव क्षमता (perception of opportunity), दोषी भावना का विलोपन (guilt-elimination), दोहरी असफलता (double failure), वैधता से वंचित होना (legitimacy-denial) आदि की व्यावहारिक परिभाषा (operational definition) नहीं दी गई है जिस कारण उनको अनुसन्धान के लिए अनुपयुक्त पाया जाता है। अनुभवाश्रित परीक्षण (empirical verification) के अभाव में पूरे सिद्धान्त का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।

(3) गार्डन (Gordon) का कहना है कि क्लोवार्ड-ओहलिन द्वारा दिये गये जीवन-शैली और आर्थिक अभिस्थापन एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं तथा यह अलग-अलग नहीं पाये जाते। व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार कर ऊँची सामाजिक स्थिति तथा मध्य वर्ग की सदस्यता भी प्राप्त करता है।

(4) कोहेन[1] का कहना है कि क्लोवार्ड-ओहलिन द्वारा दिया गया वैध और अवैध-अवसर का द्विभाजन (dichotomy) इतना सरल और स्पष्ट नहीं है। यद्यपि दोनों के बीच अन्तर यथार्थ (real) है परन्तु यह ठोस (concrete) नहीं, केवल विश्लेषणात्मक (analytical) है। दूसरे शब्दों में कोहेन के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ अवसर तो वैध होते हैं और कुछ अवैध। एक ही अवसर वैध भी हो सकता है तो अवैध भी। जैसे एक बन्दूक हिरन को मारने के लिए वैध साधन कहलायेगी किन्तु वह ही बन्दूक आदमी को मारने के लिए अवैध साधन मानी जायेगी। अतः वैध और अवैध अवसर के मध्य स्पष्ट भेद के अभाव में क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कुछ कम हो जाता है।

(5) वाल्टर रेक्लेस[2] ने भी क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त की किशोरों के अनुभव-क्षमता के विश्लेषण के आधार पर जाँच करने का प्रयास किया था। उनके द्वारा बनाये गये कुछ प्रश्न इस प्रकार थे : उचित शिक्षा के अभाव में मैं वह काम सम्भवतः नहीं कर पाऊँगा जो मैं करना चाहता हूँ; मेरे जैसे व्यक्ति को कॉलेज में प्रवेश के अच्छे अवसर हैं; बहुत से व्यक्ति मुझ से अधिक सम्पन्न हैं; बहुत से व्यक्तियों की

[1] Albert K. Cohen, *Deviance and Control*, Prentice Hall, Inc. Englewood Cliffs, N. Jersey, 1966, 109–10.

[2] Walter Reckless, *Sociology and Social Research*, July 1963.

तरह मैं भी अधिक सम्पन्न हूँ; मेरा परिवार मेरे लिए वे अवसर उपलब्ध नही कर सकता जो बहुत से बच्चो को उपलब्ध है, तथा मेरे जैसा व्यक्ति यदि परिश्रम करे तो अवश्य प्रगति कर सकता है, आदि। ऐसे प्रश्नो के उत्तरो के विश्लेषण के आधार पर रेक्लेस ने पाया कि यद्यपि अपराधी व्यवहार और सीमित अवसर के मध्य सम्बन्ध अवश्य है किन्तु यह सम्बन्ध उस महत्ता (magnitude) का नही है जैसा कि क्लोवार्ड-ओहलिन बताते है।

(6) हमारा भी विचार है कि क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त मे कानून-पालन से सम्बन्धित वर्ग-अभिनति (class-bias) बहुत अधिक मिलती है जो कि वास्तव मे अपराधिता मे इतनी नही मिलती।

अन्त मे, यह भी कहा जा सकता है कि क्लोवार्ड-ओहलिन का सिद्धान्त सभी प्रकार के अपराधो को स्पष्ट नही करता। इस सन्दर्भ मे स्वय क्लोवार्ड-ओहलिन के इस कथन को ध्यान मे रखना होगा कि उनका सिद्धान्त केवल उन्ही अपराधी क्रियाओ को समझाता है जो अपराधी उप-संस्कृति द्वारा समर्थित सामाजिक भूमिकाएँ निभाने के परिणाम होती है तथा उन अपराधो को अपने उल्लेख से अलग करता है जो उस समूह के सदस्यो द्वारा किये जाते है जिनमे अपराधी क्रियाएँ विनिहित नही होती है।[1] अत वे चोरियाँ, आक्रमण व अन्य अपराध जो अनावश्यक रूप से कानूनी, सामाजिक भूमिकाएँ निभाने के परिणामस्वरूप होते है, इनके सिद्धान्त के आधार पर समझाये नही जा सकते।

ऐनामी (anomie) तथा लक्ष्य-साधनो (means-ends) का सिद्धान्त

अभी तक जिन सिद्धान्तो का हमने विश्लेषण किया है उन्होने अपराध की व्याख्या मे व्यक्तित्व या प्रेरणा (motivation) पर ही बल दिया है। इसके विपरीत मर्टन का सिद्धान्त अपराध को सामाजिक व्यवस्था की कार्य-विधि (functioning) व उसके लक्षणो की दृष्टि से समझाता है। उसको उन्होने अलगाव (alienation) और अप्रतिमानता (anomie) की अवधारणाओ के आधार पर समझाया है।

दुर्खीम का योगदान—अप्रतिमानता व ऐनामी की अवधारणा सर्वप्रथम दुर्खीम ने विकसित की थी। मर्टन के अपराध-सम्बन्धी ऐनामी के सिद्धान्त के विश्लेषण के पहले दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित ऐनामी की अवधारणा को समझना आवश्यक है। दुर्खीम ने यह अवधारणा 1893 मे अपनी पुस्तक 'समाज मे श्रम-विभाजन' मे व्यक्त की थी। इसके अनुसार ऐनामी की परिस्थिति लक्ष्यो पर नियन्त्रण टूट जाने के कारण उत्पन्न होती है जिससे व्यक्ति की आकांक्षाएँ असीमित हो जाती हैं। ये असीमित आकांक्षाएँ विचलित अथवा सामाजिक नियमो से सामूहिक विगल व्यवहार

[1] 'We are concerned only with those forms of delinquent activity which result from the performance of social roles specifically supported by delinquent sub-culture we shall exclude from our perview acts of delinquency that are committed by isolated individuals or by members of group in which delinquent acts are not prescribed' See Cloward and Ohlin, *op cit*, 9-33

के लिए निरन्तर दवाव उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार ऐनामी एक वह स्थिति वतायी जा सकती है जिसमें समाज के सामूहिक नियम व्यक्तियों की क्रियाओं को नियन्त्रित करने में असफल होते हैं। दुर्खीम ने दो प्रकार की आवश्यकताएँ वतायी हैं : शारीरिक और सामाजिक। इनमें से शारीरिक आवश्यकताएँ तो अपने आप व्यक्ति के सावयवी (organic) ढाँचे से विनियमित होती हैं (जैसे तृप्ति होने के बाद व्यक्ति और अधिक खाना नहीं खा सकता) परन्तु सामाजिक आवश्यकताओं में ऐसा नियन्त्रण नहीं मिलता। व्यक्ति की धन, प्रतिष्ठा व शक्ति-सम्वन्धी इच्छाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं। इन इच्छाओं व आकांक्षाओं को नियन्त्रित करने के लिए शरीर का ढाँचा नहीं परन्तु अन्य किसी अभिकरण व एजेंसी की आवश्यकता होती है। यह अन्य एजेंसी दुर्खीम के अनुसार सामाजिक संरचना व सामाजिक व्यवस्था (social order) है।[1]

एक स्थिर समाज वह है जिसमें व्यक्ति समाज के श्रेणीक्रम (hierarchy) में अपनी स्थिति से वहुत कुछ सन्तुष्ट होते हैं तथा केवल उन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं जिनको उपलब्ध करना उनके लिए वास्तव में सम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, स्थिर सामाजिक व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति सामाजिक पुरस्कार के वितरण की कसौटी को वैधता (legitimacy) प्रदान करते हैं तथा व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर सामाजिक श्रेणीक्रम में समाज द्वारा परिभाषित स्थिति को चुनौती नहीं देते। दुर्खीम के अनुसार यह स्थिरता तव टूटती है जव व्यक्ति की आकांक्षाएँ असीमित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में जव उनकी आकांक्षाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं होता तथा उनकी पूर्ति असम्भव होती है, उनमें व्याकुलता उत्पन्न होती है। दुर्खीम ने असीमित आकांक्षाओं की उत्पत्ति के प्रमुख रूप से दो कारण दिये हैं : (क) आर्थिक संकट, तथा (ख) उद्योगवाद। आर्थिक संकट से जो सामाजिक स्थिति में आकस्मिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं वे स्थिति-भ्रान्ति (disorientation) की भावना पैदा करते हैं जिसमें सम्भव और असम्भव तथा उपयुक्त और अनुपयुक्त के वीच सीमा मालूम नहीं होती। तीव्र औद्योगिक विकास तथा काम में न लाये गये विशाल मार्केट का अस्तित्व भी धन-संग्रह की सम्भावना को अपरिमित (infinite) बनाते हैं व लोभ की भावना पैदा करते हैं जिससे धन, प्रतिष्ठा व शक्ति-सम्बन्धी लक्ष्य असीमित हो जाते हैं। बहुत महत्त्वाकांक्षी होने से व्यक्ति बेचैन हो जाते हैं तथा उनके असंख्य लक्ष्य समाज के व्यवस्थापिकीय उपकरणों पर दवाव डालते हैं क्योंकि वे समाज में प्रचलित नियमों द्वारा बँधे नहीं रहते।

दुर्खीम की इस ऐनामी की अवधारणा को निम्न प्रकार भी समझाया जा सकता है। समाज में जटिल श्रम-विभाजन के कारण समाज के विभिन्न अंगों में अपूर्ण समन्वय रहता है जिससे सामाजिक समैक्य (solidarity) घट जाता है एवं विभिन्न सामाजिक वर्गों में संघर्ष वढ़ जाता है। यह स्थिति तव उत्पन्न होती है जव जटिल श्रम-विभाजन में विशिष्ट कार्य करने वालों में आपस में घनिष्ट व निरन्तर

[1] Emile Durkheim, *Suicide*, translated by John A. Spaulding and George Simpson, The Free Press, Glencoe, Illinoise, 1951, 247–57.

अन्त क्रिया नही रहती जिससे सामान्य नियमो व समझौते की एक व्यवस्था विकसित की जा सके। ऐसी स्थिति में अनिश्चितता और अपूर्व सूचनीयता (unpredictability) बढ जाती है जिस कारण लोग एक-दूसरे के प्रति विरोधी उद्देश्य से कार्य करते है जिससे सभ्रान्ति (confusion) बढती है। इसी स्थिति को दुर्खीम 'नियम-विहीनता' (normlessness) की स्थिति एव 'ऐनामी' कहता है। इस पूरे विवरण को निम्न रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है .

बढता हुआ श्रम-विभाजन (सावयवी एकता)
↓
समाज के अगो मे अपूर्ण समन्वय
↓
सामाजिक समैक्य का घटना
↓
वर्गों मे सघर्ष
↓
व्यक्तियो द्वारा एक-दूसरे के प्रति विरोधी उद्देश्य से
कार्य करना तथा सभ्रान्ति का बढना
↓
सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न तत्त्वो के पारस्परिक सम्बन्धो को
नियन्त्रित करने वाले सामान्य नियमो का ह्रास
↓
ऐनामी
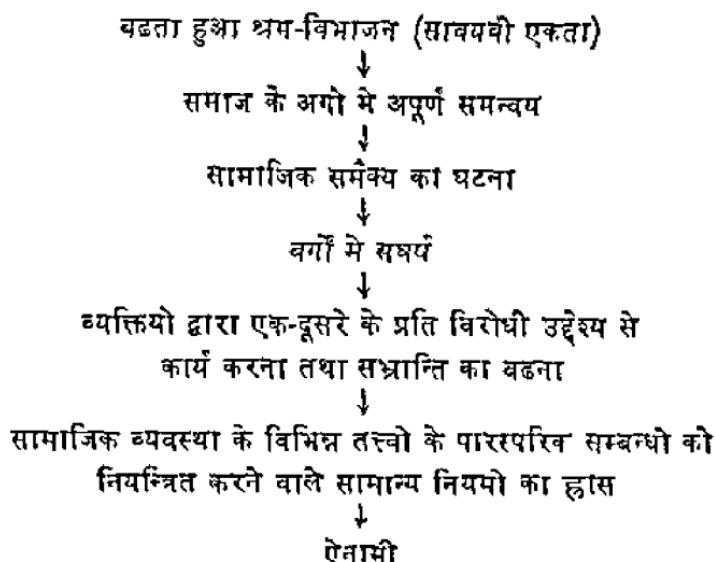
दुर्खीम के अनुसार औद्योगिक समाज मे विषमस्तरीय व्यावसायिक गतिशीलता पर बल इस कारण मिलता है क्योकि बच्चो पर दादा व पिता के व्यवसाय जबरदस्ती नही ठूँसे जाते परन्तु उन्हे अपने मूल्य, योग्यता, कुशलता तथा विशिष्ट ज्ञान विकसित करने के अवसर मिलते हैं जो ऊँची स्थिति प्राप्त करने के साधन होते हैं तथा समाज मे प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए उन्हे तैयार करते है। इस प्रकार क्योंकि औद्योगिक सामाजिक सरचनाएँ सामाजिक पुरस्कारो को सभी व्यक्तियो के लिए समान रूप से उपलब्ध करती है तथा उनकी प्राप्ति की कोई सीमा निर्धारित नही करती, व्यक्तियो की आकाक्षाएँ भी असीमित हो जाती है। परन्तु इन (आकाक्षाओ) मे से अधिकाश के प्राप्त न होने योग्य होने के कारण 'ऐनामी' की परिस्थिति पैदा होती है।

अपराध के बारे मे दुर्खीम का विचार था कि अपराध समाज मे सामान्य (normal) भी है तो प्रकार्यवादी (functional) भी है।[1] अपराध के सामान्य पहलू को समझाते हुए दुर्खीम ने कहा है कि कोई भी समाज अपराध से मुक्त नही हो सकता। समाज मे सभी व्यक्तियो का समान होना तथा उनमे समान नैतिक चेतना (*moral consciousness*) पाना असम्भव है। हर व्यक्ति के लिए क्योंकि आनुवशिक

[1] Durkheim, *Rules of Sociological Method*, The Free Press, N York, 1964, 66

परिस्थितियाँ (hereditary antecedents) और सामाजिक प्रभाव अलग-अलग होते हैं, इस कारण उनमें विभिन्न प्रकार की चेतना (diversified) एवं मतभेद (dissent) पाया जाता है। फलतः समाज में क्योंकि कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होंगे जो सामूहिक प्रतिरूप (collective type) से भिन्न होंगे इसलिए यह अनिवार्य है कि इन विभिन्नताओं में कुछ अपराधी व्यक्ति (criminal characters) भी सम्मिलित हों। यह इसलिए नहीं है कि उनकी क्रियाओं में कोई ऐसा अन्तर्निहित लक्षण (intrinsic quality) है जो अपराधी है परन्तु इसलिए क्योंकि 'सामूहिकता' (collectivity) उनकी क्रियाओं को 'अपराधी' परिभाषित करती है। अतः अपराध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की मूल अवस्थाओं (fundamental conditions) से बँधा होता है।[1]

दुर्खीम ने अपराध को उपर्युक्त आधार पर न केवल सामान्य बताया है परन्तु वह इसे प्रकार्यवादी भी मानता है। अपराध के प्रकार्यवादी पहलू को समझाते हुए उसने कहा है कि अपराध सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षित दशा (prerequisite) है। सामूहिक मनोवृत्ति (collective sentiment) को यदि सकारात्मक विचलन (positive deviation) की अनुमति देने के लिए लचकीला (flexible) होना चाहिए तो उसे नकारात्मक विचलन (negative deviation) की भी अनुमति देनी चाहिए। अगर विचलन की अनुमति न दी गयी तो समाज गतिहीन (stagnant) हो जायेगा। प्रगति के लिए व्यक्तियों द्वारा अपनी रचनात्मकता (originality) अभिव्यक्त करनी चाहिए। यह रचनात्मकता न केवल उन आदर्शवादियों (idealists) को चाहिए जिनके स्वप्न इस शताब्दी के मानव अनुभव से परे हैं अपितु उन अपराधियों को भी चाहिए जो अपने समय के स्तर (level) से निम्न (below) हैं। एक रचनात्मकता दूसरे के बिना घटित नहीं हो सकती। अपराध समाज को ऐसे परिवर्तनों के लिए तैयार करता है। दुर्खीम इस सन्दर्भ में सुकरात (Socrates) का उदाहरण देता है जिसका 'अपराध' उसकी विचार की स्वतन्त्रता (independence of thought) थी। इसके लिए यद्यपि उस समय प्रचलित कानून के अनुसार उसे उपयुक्त दण्ड भी दिया गया था परन्तु उसके 'अपराध' ने एक नई नैतिकता व विश्वास को जन्म दिया जिनकी एथेनियन्स (Athenians) को अति आवश्यकता थी क्योंकि जिन परम्पराओं के अन्तर्गत वे रह रहे थे वे उस समय की जीवन की स्थितियों के अनुकूल नहीं थीं। अतः दुर्खीम का कहना है कि अपराधी को एक अस्वीकरणीय मानव के रूप में नहीं देखना चाहिए और न अपराध को एक ऐसी बुराई समझना चाहिए जिसे बहुत अधिक दबाया नहीं जा सकता।[2]

मर्टन का सिद्धान्त

दुर्खीम द्वारा दिये गये सामाजिक नियन्त्रण के ह्रास की परिस्थितियों को तथा

[1] *Ibid.*, 70.

[2] Criminal should not viewed as a completely unacceptable human-being and crime should not be conceived as an evil that cannot be too much suppressed.—*Ibid.*, 71-72.

विचलित व्यवहार के उद्गमन को मर्टन (1938) ने और विकसित किया। जब दुर्खीम का ऐनामी का सिद्धान्त भावमय (abstract) था, मर्टन ने ऐनामी को अमरीकी जीवन के वास्तविक मामलों (real cases) से सम्बन्धित किया।

मर्टन वास्तव में जैविकीय सिद्धान्त (जिसके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार उसके आनुवंशिक लक्षणों का परिणाम है) और मनोविकार विश्लेषण (psychiatric) सिद्धान्त (विशेषकर फ्रायड का सिद्धान्त, जिसके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार जैविकीय कामनाओं (desire) और सामाजिक प्रतिबन्धों (social restraints) के मध्य संघर्ष से प्रभावित होता है) की आलोचना करना चाहता था। उसके अनुसार हमें मुख्य रूप से इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना है कि एक ही पर्यावरण में अलग-अलग लोग अलग-अलग व्यवहार क्यों करते हैं? इस सन्दर्भ में उसकी स्वयं की थीसिस थी कि *सामाजिक संरचनाएँ कुछ व्यक्तियों पर समाज द्वारा स्वीकृत तरीके के बजाय समाज द्वारा अस्वीकृत तरीके से व्यवहार करने के लिए दबाव डालती है।*[1] अतः उसकी पद्धति पूर्ण रूप से समाजशास्त्रीय थी। यदि हम उसकी इस थीसिस को स्वीकार करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि असमनुरूप व्यवहार समनुरूप व्यवहार की ही तरह सामान्य है (non-conforming behaviour is as normal as conforming *behaviour*)।

मर्टन संगठित सामाजिक जीवन के दो रूपों (features)—सांस्कृतिक संरचना एवं सामाजिक संरचना—में अन्तर मानता है। उसके अनुसार सांस्कृतिक संरचना में लक्ष्यों एवं व्यवहार को नियन्त्रित करने वाले संगठित आदर्शमूलक मूल्य आते हैं, सामाजिक संरचना में वे संस्थागत नियम सम्मिलित हैं जो लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मानवीय साधनों को बनाते हैं व नियन्त्रित करते हैं।

मर्टन के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संरचना में सांस्कृतिक लक्ष्य मिलते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए कुछ संस्थागत आदर्श व उपाय होते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चार लक्ष्य बताये गये हैं जिनको प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास—चार आदर्श व उपाय बताये गये हैं। किसी भी सामाजिक संरचना में उसके सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा संस्थात्मक आदर्शों व उपायों में एक सन्तुलन पाया जाता है। इस सन्तुलन *बिगड़ने की स्थिति को मर्टन 'ऐनामी' कहता है और इसी ऐनामी की अवधारणा को* उसने अपराध के विवरण के लिए प्रयोग किया है। जब दुर्खीम ने केवल असीमित लक्ष्यों को लेकर तनाव, नैराश्य व ऐनामी समझाये हैं, मर्टन ने (उनके लिए) असीमित लक्ष्यों के अतिरिक्त प्राप्ति-योग्य वैध साधनों को भी आधार बनाया है। उसके अनुसार ऐनामी की परिस्थिति लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति के लिए उपलब्ध वैध साधनों के सम्बन्ध के टूटने के कारण उत्पन्न होती है।[2] दूसरे शब्दों में, अपराधी व्यवहार

[1] *Social Structures* exert pressures on some persons to behave in non-conforming rather than conforming ways

[2] Merton, *Social Theory and Social Struture*, Free Press, Illinois, 1949,

समाजशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति द्वारा निर्धारित आकांक्षाओं (culturally prescribed goals) और उनकी प्राप्ति के लिए समाज द्वारा निर्माणित साधनों (socially approved means) के विनियोजन (dissociation or disjunction) का एक लक्षण (symptom) है।[1] मर्टन के अनुसार समाज की संरचना कुछ व्यक्तियों पर सामाजिक आदेशों व रूढ़ियों के अनुरूप व्यवहार के स्थान पर विचलित व्यवहार के लिए एक निश्चित दवाव डालती है। अतः मर्टन के अनुसार अपराध एक सामाजिक परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया (response) है। ऐनामी सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि सभी व्यक्तियों पर आर्थिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रबल सामाजिक दवाव रहता है परन्तु कुछ व्यक्ति वैध तरीके से अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल प्रतियोगी स्थिति (unfavourable competitive positions) में रहते हैं। फलतः ऐसी स्थिति में रहने वाले व्यक्ति विफलता, नैराश्य व कुण्ठा (frustration and strain) अनुभव करते हैं। समाज क्योंकि आर्थिक सफलता पर ही अधिक वल देता है, फिर चाहे वह किसी भी साधन से क्यों न प्राप्त की गयी हो, अतः नैराश्य अनुभव करने वाले व्यक्तियों को (अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए) अवैध उपाय प्रयोग करने के लिए प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार ऐनामी का सिद्धान्त निर्धनों में अपराध की अधिक मात्रा को स्पष्ट करता है। इस प्रकार मर्टन विचलित व्यवहार के विवरण से व्यक्ति की जैविकीय मूल प्रवृत्तियों (biological instincts) को कोई महत्त्व नहीं देता तथा वह व्यक्ति पर वल न देकर 'सामाजिक संरचना' पर वल देता है।

व्यक्तियों द्वारा लक्ष्यों और साधनों के बीच विनियोजन की स्थिति में अपने समायोजन (adaptation) के लिए मर्टन ने दो उपाय बताये हैं—(i) व्यक्ति या तो सांस्कृतिक लक्ष्यों को स्वीकार करते हैं या अस्वीकार करते हैं, तथा (ii) व्यक्ति या तो संस्थात्मक साधनों को स्वीकार करते हैं या अस्वीकार करते हैं। सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थात्मक साधनों को स्वीकार करने से व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक रूढ़ियों और आदर्शों के अनुरूप पाया जाता है परन्तु दोनों में से एक को स्वीकार व अस्वीकार करने या दोनों को अस्वीकार करने से व्यवहार 'विचलित' कहलाता है। इस प्रकार मर्टन व्यक्तियों द्वारा समाज के लक्ष्यों और साधनों के प्रति प्रतिक्रिया की चर्चा करते हुए पांच प्रकार के अनुकूलन के तरीके (modes of adaptation) प्रस्तुत करता है : अनुरूपता (conformity), नवाचार (innovation), कर्मकाण्डवाद (ritualism), अपयान (retreatism), और विद्रोह (rebellion)।

जो व्यक्ति सांस्कृतिक लक्ष्यों को स्वीकार करते हैं परन्तु संस्थात्मक साधनों को नहीं मानते हैं उनको मर्टन 'नव-पद्धति-स्थापक' (innovators) मानता है[2]; जैसे परीक्षा में विद्यार्थी द्वारा नकल करना। लक्ष्यों को अस्वीकार कर साधनों को स्वीकार करने वालों को वह 'कर्मकाण्डी' (ritualists) मानता है; जैसे वे पदाधिकारी (bureaucrats) जो बिना लक्ष्यों को स्वीकार किये नियमों का पालन करते हैं, या

[1] *Ibid*, 128.
[2] *Ibid*, 134-46.

वे हिन्दु जो यद्यपि इस बात को नही मानते कि ब्राह्मणो को खाना खिलाकर अपने पितरो के मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है फिर भी श्राद्ध पर प्रथानुसार ब्राह्मण को बुलाकर उसे खाना खिलाते है व वस्त्र आदि देते है। *लक्ष्यो और साधनो दोनो को न मानने वाले व्यक्ति को मर्टन 'अपयानकर्ता'* (retreatists) मानता है, जैसे ऊँची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नौकरी प्राप्त करने के लिए किसी प्रतिस्पर्धा का सामना करने का प्रयास नही करता किन्तु शराब पीना आरम्भ करता है या फिर किसी मादक वस्तु का सेवन करता है। मर्टन के अनुसार अपयान (retreatism) की स्थिति समाज मे उग्र एनामी की स्थिति है। व्यक्ति निराश और हतोत्साहित होकर पलायनवाद (escapism) की प्रवृत्ति का शिकार हो जाता है और समाज विघटित होने लगता है। *लक्ष्यो और साधनो को अस्वीकार कर प्रतिस्थापित व अनुकरण (substitute)* लक्ष्य और साधन अपनाने वाले व्यक्ति को मर्टन 'विद्रोही' (rebel) मानता है। यह वह व्यक्ति है जो समझता है कि समाज मे सफलता सूचक लक्ष्यो और साधनो को किन्हीं विशेष व्यक्तियो ने अपने मे सीमित कर रखा है और समाज के अधिकाश व्यक्तियो को उन्हे प्राप्त करने के अवसर नही है। ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के लक्ष्यो और साधनो को बदलने के लिए विद्रोह कर देता है और नये आदर्शों और नये साधनो का निर्माण करता है जो सस्थागत नही होते। गाधी, नेहरू, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय आदि इस विद्रोही व्यक्ति के कुछ उदाहरण है। व्यक्ति के इस नियम-अनुयायी (conformist) और विचलित (deviant) व्यवहार को मर्टन ने एक चार्ट के रूप मे निम्न प्रकार समझाया है [1]

	सास्कृतिक लक्ष्य	सस्थागत साधन	अनुकूलन के तरीके
आदर्श अनुरूप	स्वीकृति (+)	स्वीकृति (+)	अनुरूपता (Conformity)
विचलन	स्वीकृति (+)	अस्वीकृति (−)	नवाचार (Innovation)
	अस्वीकृति (−)	स्वीकृति (+)	कर्मकाण्डवाद (Ritualism)
	अस्वीकृति (−)	अस्वीकृति (−)	अपयान (Detreatism)
	प्रचलित लक्ष्यों की अस्वीकृति तथा नये लक्ष्यो का प्रतिस्थापन (±)	सस्थागत साधनो की *अस्वीकृति तथा नये साधनो* का प्रतिस्थापन (±)	*विद्रोह (Rebellion)*

समाज मे ऐनामी की स्थिति की उत्पत्ति के बारे मे मर्टन का कहना है कि जब तक समाज के सदस्य अपनी निश्चित स्थितियो (statuses) के अनुसार भूमिकाएँ निभाते रहते हैं वे सास्कृतिक लक्ष्यो एव सस्थागत आदर्शों के प्रति अपने व्यवहार मे *अनुरूपता (uniformity)* प्रदर्शित करते हैं, परन्तु जब सदस्य अपने व्यवहार मे इस अनुरूपता को बनाये नही रखते, तब समाज मे ऐनामी की स्थिति उत्पन्न हो

[1] Merton, *Social Theory and Social Structure, op cit*, 136.

जाती है। दूसरे शब्दों में, मर्टन के अनुसार लक्ष्यों और साधनों के बीच विनियोजन (disjunction) ऐसे तनाव (strains) उत्पन्न करता है जिससे व्यक्तियों के सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा संस्थागत साधनों के प्रतिबन्धन (commitment) कमजोर हो जाते हैं तथा एनामी की स्थिति पैदा होती है : अतः मर्टन के अनुसार विचलित व्यवहार ही समाज में ऐनामी की स्थिति उत्पन्न करता है तथा ऐनामी की स्थिति के लिए व्यक्ति नहीं किन्तु समाज ही उत्तरदायी होता है क्योंकि सामाजिक संरचना द्वारा एक निश्चित दबाव (a definite pressure) के फलस्वरूप ही ऐनामी की स्थिति पैदा होती है।

विचलित व्यवहार की व्याख्या करते हुए मर्टन ने कहा है कि समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी आय, सामाजिक स्थिति आदि के कारण धन और शिक्षा आदि सम्बन्धी भौतिक प्राप्तियों (material achievements) को—जिन्हें संस्कृति के प्रतिष्ठा-लक्ष्य (status goals) माना जाता है—उचित साधनों द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में वे इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। उनके इसी व्यवहार को विचलित व्यवहार माना जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि विचलित व्यवहार तब उत्पन्न होता है जब समाज में ऐनामी की स्थिति मिलती है या दूसरे शब्दों में जब सामाजिक व्यवस्था तो सांस्कृतिक मूल्यों की एक शृंखला सामने रख देती परन्तु सामाजिक संरचना उन तक पहुँचाने के मार्गों तक किसी न किसी रूप में रोक लगा देती है। इस आधार पर मर्टन के अनुसार जिन समाजों में लक्ष्यों को प्राप्त करने पर अत्यधिक बल दिया जाता है और उनको प्राप्त करने के लिए उचित साधनों पर कम, अथवा जिन समाजों में लक्ष्यों पर अधिक बल नहीं होता किन्तु उनको प्राप्त करने के साधनों पर अधिक बल होता है, उन समाजों में अपराध की दर ऊँची होगी।

मर्टन के उपर्युक्त सिद्धान्त की यदि सदरलैण्ड और क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्तों से तुलना की जाये तो यह कहा जा सकता है कि—

(1) सदरलैण्ड ने अवैध साधनों की सुलभता (accessibility) में अन्तर पर बल दिया है तथा वैध साधनों की प्राप्ति योग्यता में अन्तर को उसने अभिस्वीकार नहीं किया है; मर्टन ने वैध साधनों की सुलभता में अन्तर पर बल दिया है तथा अवैध साधनों की प्राप्ति योग्यता में अन्तर को उसने मान्यता नहीं दी है; क्लोवार्ड-ओहलिन सदरलैण्ड की तरह अवैध साधनों की सुलभता में अन्तर को तथा मर्टन की तरह वैध साधनों की प्राप्ति योग्यता में अन्तर को अभिस्वीकार करते हैं। इस प्रकार क्लोवार्ड-ओहलिन का सिद्धान्त सदरलैण्ड और मर्टन के सिद्धान्तों के मध्य अन्तराल (gap) का सेतुबन्धन करता है।

(2) मर्टन का विचार है कि अवैध अवसर सभी व्यक्तियों को समान रूप में (uniformly) उपलब्ध हैं किन्तु क्लोवार्ड-ओहलिन का विश्वास है कि उनकी (अवैध अवसर) उपलब्धि में समानता के स्थान पर वर्गीय भिन्नता मिलती है तथा (अवैध अवसरों की) उपलब्धि व्यक्ति की सामाजिक संरचना में स्थिति पर निर्भर

करती है।[1]

मर्टन के सिद्धान्त की अलबर्ट कोहेन,[2] मार्शल क्लिनार्ड,[3] लेमर्ट, जेम्स शॉर्ट, लिन्डस्मिथ आदि ने आलोचना की है। प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—(1) कोहेन के अनुसार मर्टन का सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि उसने 'निर्णयकारी' (determinants) को 'परिणाम' (outcome) से सम्बन्धित करने वाले नियमों की व्याख्या नहीं की है अर्थात् उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'क' तत्त्व के कारण निश्चित रूप से 'ख' उसका परिणाम होगा। (2) मर्टन की यह मान्यता कि तनाव के कारण सदा विचलित व्यवहार उत्पन्न होता है, सही नहीं है। तनाव के उपरान्त भी व्यक्ति का व्यवहार आदर्श-अनुरूप हो सकता है। (3) मर्टन ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि लक्ष्यों को कौन (व्यक्ति) अस्वीकार करेगा तथा साधनों को कौन अस्वीकृत करेगा। (4) मर्टन ने अलगाव (alienation) की स्थिति को सुचिन्तित व सकल्पित (deliberate) बताया है जबकि आलोचकों का कहना है कि यह असकल्पित भी हो सकती है। इस आलोचना को हम विस्तृत रूप से इस प्रकार भी समझ सकते है। मर्टन के अनुसार सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा समाज के कुछ समूहों की उन्हें (लक्ष्यों को) प्राप्त करने के सामर्थ्य के मध्य वियोजन (disjunction) ही अलगाव (alienation) है (उदाहरण के लिए अमरीका में नीग्रो की सामर्थ्य)। जो व्यक्ति लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उचित साधनों का प्रयोग नहीं कर सकते उनको पृथक्कारी (alienated) व्यक्ति कहा गया है। अब आलोचकों का यह कहना है कि क्या समाज में अधिकांश व्यक्ति सफलता के सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं? समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति हो सकते है जिन्हें काफी समय तक संस्कृति में सफलता-सूचक उद्देश्यों के बारे में कोई जानकारी ही नहीं हो पाती और यदि हो भी जावे तो उन्हें उन साधनों के बारे में जानकारी नहीं होती जो उन्हें प्राप्त करने के लिए उचित समझे जाते है। इसका अर्थ यह हुआ कि मर्टन ने अलगाव की स्थिति को सकल्पित बताया है परन्तु यह असकल्पित भी हो सकती है। (5) क्लिनार्ड के अनुसार मर्टन का सिद्धान्त पूर्णत इस मान्यता पर आधारित है कि विचलित व्यवहार दोषपूर्ण अनुपात में (disproportionately) *निम्न वर्ग के लोगों में अधिक सामान्य रूप से* पाया जाता है। यह मान्यता सही नहीं है। श्वेत-वस्त्रधारियों एवं अनेक सम्मानित व्यवसाय के लोगों के अध्ययनों से पता चलता है कि अपराध समाज के उच्च वर्गों *में अधिक पाया जाता है।* इसी प्रकार *बाल-अपराध भी न केवल निम्न वर्ग के बच्चों* में किन्तु मध्य और उच्च वर्गों के बच्चों में भी काफी मिलते है। (6) विचलित व्यवहार करने वाले व्यक्ति की स्थिति स्पष्ट करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की भूमिका को *आवश्यक महत्त्व नहीं दिया गया है।* (7) इस सिद्धान्त में विचलित व्यवहार को समझाने के लिए सामाजिक संरचना में व्यक्ति की स्थिति (position)

[1] See Jhonson, *op cit*, 178
[2] Cohen, *op cit*, 77.
[3] Marshall B Clinard, article on 'Criminological Research' in *Sociology Today*, edited by Merton, Broom and Cottrell, Basic Books, New York, 1959.

को एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्य (variable) मान लिया गया है तथा उसके व्यक्तित्व व आत्म-अवधारणा (self-image) आदि जैसे तत्त्वों को कोई महत्ता प्रदान नहीं की गई है। (8) लेमर्ट (Lemert) का कहना है कि ऐनामी जीवन के परिवृत्त (circumscribed) अवसरों की 'परिणाम' नहीं परन्तु 'कारण' हो सकती है। (9) मर्टन का सिद्धान्त अनुपयोगी (non-utilitarian) बाल-अपराध को स्पष्ट नहीं करता जो कि बालक समाज के विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति से लिए नहीं परन्तु केवल दिल्लगी, परिहास व हंसी-मजाक के लिए करता है। (10) यह सिद्धान्त कुछ वयस्क और बाल-अपराधों के हानिकारक (destructive) प्रकृति को भी स्पष्ट नहीं करता। (11) यह सिद्धान्त सामाजिक, मनोवैज्ञानिक परिवर्त्यों व चरों (variables) की उपेक्षा (ignore) करता है जो यह स्पष्ट कर सकते हैं कि व्यक्ति अनुकूलन (adaptation) के एक तरीके को छोड़कर दूसरा क्यों अपनाता है।

संस्कृति संघर्ष (culture conflict) सिद्धान्त

मर्टन जैसे समाजशास्त्री जब विचलित व्यवहार व अपराध को सामाजिक व्यवस्था के दोषों के आधार पर व्याख्या करते हैं, डोनाल्ड टैफ्ट, थार्स्टेन सेलिन, मैबेल इलयट, विलियम ऑगबर्न, जान मॉर्टन आदि इसे सांस्कृतिक व्यवस्था के आधार पर समझाते हैं। संस्कृति-संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है—(i) वे सिद्धान्त जो जातीय व नस्ल सम्बन्धी (ethnic) संघर्ष पर बल देते हैं; (ii) वे सिद्धान्त जो विभिन्न सामाजिक वर्गों के मूल्यों में संघर्ष पर बल देते हैं, और (iii) वे सिद्धान्त जो युवकों और वयस्कों के मध्य-संघर्ष पर बल देते हैं। इनमें से जब कोहेन आदि ने दूसरे सिद्धान्त के सन्दर्भ में अपराधी व्यवहार की व्याख्या की है, डोनाल्ड टैफ्ट ने पहले सिद्धान्त के आधार पर अपराध समझाया है।

(1) टैफ्ट का प्रतियोगी एवं भौतिकवादी संस्कृति (Competitive and Materialistic Culture) **का सिद्धान्त**—टैफ्ट[1] का कहना है कि सामान्य व्यवहार की तरह अपराधी व्यवहार भी सामाजिक सम्बन्धों का अंग व उपज है। व्यक्ति के भूतकालिक और वर्तमान अनुभव उसके व्यवहार को निर्धारित करते हैं तथा यही अनुभव सामाजिक संरचना की संस्थाओं व मूल्यों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएं भी निश्चित करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मानव व्यवहार संस्कृति और वर्तमान स्थितियों के संयुक्त प्रभाव की उपज है। अतः वह संस्कृति, जो अधिक प्रतियोगी एवं भौतिकवादी है तथा जिसमें उच्च स्थिति व प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर अधिक बल दिया जाता है, अधिक अपराध उत्पन्न करेगी। टैफ्ट का कहना है कि ऐसी संस्कृति में जो बहुत गत्यात्मक (dynamic), जटिल व भौतिकवादी है, जिसमें आदेश (precept) और आचरण के मध्य असामंजस्य मिलता है, जिसमें प्रभावी (dominant) और अल्पसंख्यक समूहों के सदस्यों में विभेदक (differential) वर्ताव

[1] Donald R. Taft, *Criminology* (3rd edition), Macmillan, New York, 1956.

मिलता है, जिसमे सफलता की नाप का आधार 'तुम्हारे पास क्या है' के स्थान पर 'तुम क्या प्रदर्शन करते हो' तथा सत्यनिष्ठता के स्थान पर प्रत्यक्ष व उत्कृष्ट उपभोग (conspicuous consumption) होता है, अधिक अपराध ही मिलेगा। इस सन्दर्भ मे टैफ्ट अमरीकी *संस्कृति का उदाहरण देता है जिसे वह 'अपराधी' (criminogenic) संस्कृति कहता है। उसके अनुसार अमरीकी संस्कृति के मुख्य लक्षण है* : भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा, राजनीतिक भ्रष्टाचार की सहिष्णुता, उच्च स्थिति के महत्त्व पर बल, कुछ कानूनो की अवज्ञा, बढ़ती हुई व्यक्तित्व शून्यता (impersonality), समूह के प्रति निष्ठा तथा अर्द्ध-अपराधी शोषण की स्वीकृति, आदि। ऐसे मूल्यो वाली संस्कृति मे हमे अधिक अपराध ही मिलेगा क्योकि इस (संस्कृति) मे हजारो लाखो व्यक्तियो के अनुभव अलग-अलग होते है। फिर, इन संस्कृतियो मे प्रतिस्पर्धा मे सफल व्यक्तियो का अधिक समादर किया जाता है। स्वाभाविक रूप से कुछ व्यक्ति असफल ही रहेगे तथा उन्हे बिना अधिकार वाले व्यक्ति की तरह ही रहना होगा। ऐसी असफलताएँ नैराश्य (frustration) उत्पन्न करती है जिससे फिर अपराध बढ़ता है।[1]

टैफ्ट यद्यपि अपराध की उत्पत्ति मे समाज की संस्कृति को प्रमुख कारक मानता है *किन्तु वह शारीरिक और आनुवंशिक व्यक्तिगत अन्तर को भी अपराधी व्यवहार के लिए उत्तरदायी समझता है, यद्यपि वह यह भी मानता है कि यह तत्त्व* भी संस्कृति से ही प्रभावित होते हैं। अत टैफ्ट के अनुसार अपराध के कारणो को हमे तीन दिशाओ मे ढूँढना होगा : (i) हमे अपराधियो के असाधारण व्यक्तित्व को समझना होगा; (ii) हमे अपराधियो के असामान्य अनुभवो को समझना होगा; (iii) हमे सामान्य संस्कृति के प्रभाव को जानना होगा।

टैफ्ट का कहना है कि उसका यह 'संस्कृति-संघर्ष' का सिद्धान्त सदरलैण्ड, हीले, शेल्डन और ग्लूक व बोगर के सिद्धान्तो पर आधारित है।

(2) थार्स्टन सेलिन[2] (Thorsten Sellin) का सिद्धान्त—सेलिन ने भी *अपराधी व्यवहार की प्रतिमानो मे संघर्ष के सम्बन्ध मे व्याख्या की है। उसके अनुसार* हर व्यक्ति बहुत से सामाजिक समूहो का सदस्य होता है और इन सभी समूहो के अपने-अपने व्यावहारिक प्रतिमान (conduct norms) होते है, जैसे परिवार, खेल-समूह, राजनीतिक समूह, धार्मिक समूह, आदि। परिवार मे व्यक्ति एक प्रकार के प्रतिमान सीखता है और अन्य समूहो मे दूसरे प्रकार के। यह अन्य समूहो के प्रतिमान या तो परिवार द्वारा सिखाये प्रतिमानो का प्रतिवाद करते है या उनको प्रोत्साहित करते है। जितनी समाज की संस्कृति जटिल होगी उतनी ही इस बात की सम्भावना अधिक होगी कि विभिन्न समूहों के प्रतिमान एक-दूसरे से संघर्ष मे रहेगे। यह संस्कृति संघर्ष (culture conflict) *तथा विवादग्रस्त प्रतिमान (conflicting norms)* ही व्यक्ति को इन्हे उल्लघन के लिए बाध्य करते है।

[1] *Ibid*, 338-40

[2] Thorsten Sellin, *Culture, Conflict and Crime*, Social Science Research Council, Bulletin No 41, New York, 1938, 105-130.

सेलिन ने प्राथमिक संघर्ष और द्वितीयक संघर्ष में अन्तर किया है। प्राथमिक संघर्ष सांस्कृतिक प्रतिमानों में वह संघर्ष है जो दो भिन्न संस्कृतियों में विरोध के कारण उत्पन्न होता है।[1] द्वितीयक संघर्ष वह संघर्ष है जो एक (single) संस्कृति के उद्विकास से पैदा होता है।[2] प्राथमिक संघर्ष का उदाहरण एक वह भारतीय ग्रामीण व्यक्ति है जो अमरीका में रहते हुए एक उस अमरीकन की पिटाई करता है जिसने उसकी 17 वर्ष की आयु वाली लड़की को छेड़ने का प्रयास किया था। इस 'अपराध' के लिए जब उसे गिरफ्तार किया जाता है तब उसे ताज्जुब लगता है क्योंकि भारत में अपने गांव में अपने परिवार की इज्जत बचाने के लिए ऐसे व्यवहार की उससे अपेक्षा की जाती है; परन्तु अमरीका में उसे अपराध माना जाता है। यह दो भिन्न संस्कृतियों के प्रतिमानों में संघर्ष का स्पष्ट उदाहरण है। दूसरी ओर जब भारत में रहते हुए यही देहाती शहर में प्रवजन के बाद एक शहरी व्यक्ति की अपनी लड़की की छेड़-छाड़ के लिए पिटाई करता है तो उसका यह ही 'अपराध' द्वितीयक संघर्ष (अथवा वह संघर्ष जो सामाजिक विभेदीकरण (social differentiation) की उस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है जो उसकी अपनी संस्कृति के उद्विकास को स्पष्ट करता है) का उदाहरण होगा। हर संस्कृति में ऐसा सामाजिक विभेदीकरण उस संस्कृति के समता (homogeneity) से विषमता (heterogeneity) में सामान्य विकास के कारण पाया जाता है। यह सामाजिक विभेदीकरण नये मूल्यों वाले सामाजिक समूहों को पैदा करता है जो अन्य सामाजिक समूहों के मूल्यों को नहीं समझ पाते। यह फिर सामाजिक संघर्ष एवं अपराध बढ़ाता है।

(3) **मैबेल इलयट (Mabel Elliot) का सिद्धान्त**—मैबेल ने भी अमरीका में अपराध को वर्तमान संस्कृति के सन्दर्भ में समझाया है। उसका[3] कहना है कि वर्तमान अमरीकी अपराध की जड़ भूतकालिक संस्कृति में इतनी ही मिलती है जितनी वर्तमान संस्कृति में। कानून के संयम को स्वीकार करने की अनिच्छा, दमनात्मक (oppressive) कानून के विरुद्ध विद्रोह से उत्पन्न होती है। मार्शल क्लिनार्ड, मिल्टन बैरन आदि भी समाज की संस्कृति को अपराधी व्यवहार के लिए एक प्रमुख तत्त्व मानते हैं। मिल्टन बैरन[4] के अनुसार अपराध को उत्तेजित करने वाले कारक अमरीका की संस्कृति में निहित होते हैं। क्लिनार्ड का कहना है कि ऐसी संस्कृति में कानून पालन करने वाले बच्चों का पालन-पोषण स्पष्टतः असम्भव है जहाँ वयस्क कानून का उल्लंघन करते हैं।[5] जान मार्टन ने भी अपराधी व्यवहार

[1] Primary conflict is conflict of culture norms when two different cultures clash.

[2] Secondary conflict is conflict which occurs within the evolution of a single culture.

[3] Mabel Elliot, *Crime in Modern Society*, Harper and Bros., New York, 1952, 273.

[4] Milton Barron, *The Juvenile in Delinquent Society*, 1954, 201.

[5] M. Clinard, *Secondary Community Influence and Juvenile Delinquency*, 1949.

की अधिकता संस्कृति-संघर्ष के आधार पर समझायी है।[1] उसका कहना है कि वे व्यक्ति जो दो संस्कृतियो के मध्य मे होते है, वास्तव मे किसी एक संस्कृति के सदस्य नही होते। सीमान्त (marginal) व्यक्तियो मे दो संस्कृतियो मे से प्रभावी संस्कृति के लक्षण अधिक होते है। यद्यपि उनमें इस संस्कृति की आकांक्षाएँ भी अधिक मिलती है परन्तु वे इस (संस्कृति) मे पूर्णत भाग नही ले सकते। इस कारण सीमान्त व्यक्ति न केवल दो संस्कृतियो के मध्य फँसे रहते हैं परन्तु उनके विरुद्ध विभिन्न प्रकार के पूर्वग्रह (prejudices) भी पाये जाते है। ये सब स्थितियाँ उनके कष्ट, उलझन, अशान्ति-नैराश्य व आत्म-विश्वास आदि की कमी को बढाती हैं जिससे फिर अपराध को प्रेरणा मिलती है।

संस्कृति-संघर्ष सिद्धान्तो का मूल्यांकन (Evaluation of Cultural Conflict Theories)

टैफ्ट, सेलिन तथा इलियट मैरेल के संस्कृति संघर्ष के सिद्धान्तो की उन विद्वानो द्वारा आलोचना की गयी है जो इस मूल थीसिस से असहमत हैं कि अपराधी भिन्न प्रतिमानो के प्रति प्रतिक्रिया दिखाते हैं। इनका कहना है कि अपराधी विभिन्न (different) प्रतिमानो के प्रति नही परन्तु समरूप (same) प्रतिमानो के प्रति ही प्रतिक्रिया प्रकट करते है, केवल इन प्रतिमानो में प्रतिफल (reward) का अभाव (scarcity) पाया जाता है। उदाहरण के लिए एक फुटबाल खेल मे दो टीमो मे से केवल एक ही टीम के जीतने के लक्ष्य के कारण एक ही टीम जीतेगी। इससे एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि मान लीजिए कि एक चोर ऐसी वस्तु की चोरी करता है जिसका कोई मूल्य ही नही है तब क्या इसे चोरी माना जायेगा? यह उदाहरण चोरी सम्बन्धी प्रतिमानो में संघर्ष तथा अपराध को तो समझा सकता है परन्तु यह सेलिन के उपर्युक्त उदाहरण को कैसे समझाता है? सोलोमन कोबरिन (Soloman Kobrin) का कहना है कि जिन क्षेत्रो मे बाल-अपराध की अधिक मात्रा पायी जाती है उनमें उपलब्ध आँकड़े यह बताते हैं कि उन क्षेत्रो मे परम्परागत (conventional) तथा अपराधी (criminal) प्रतिमानो की प्रबलता (dominance) के स्थान पर अधिकांश व्यवहार प्रतिमानो की द्वैतावस्था (duality) पायी जाती है।[2] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति संघर्ष सिद्धान्त कुछ प्रकार के अपराध तो समझा सकते है (जैसे अपराधी-गिरोहो मे पाया जाने वाला अपराध या एक देश मे पैदा हुए व्यक्ति का दूसरे देश मे प्रवजन करने पर वहाँ की संस्कृति से संघर्ष के कारण वहाँ के कानूनों का उल्लंघन) परन्तु यह सभी प्रकार के अपराधो को नही समझाते। दूसरा, संस्कृति संघर्ष के सिद्धान्त मे अपराधी के व्यक्तिगत लक्षणो की बिल्कुल उपेक्षा की गयी है।

[1] John Martin, *Marginal Man*, 53

[2] Soloman Kobrin, 'The Conflict of Values in Delinquency Areas', *American Sociological Review*, Jan 1962, 167-75

नवीन संघर्ष सिद्धान्त (Modern Conflict Theories)

1960 दशक के अन्त में अमरीका में अपराध के अध्ययन के लिए एक नया परिप्रेक्ष्य, जिसको संघर्ष परिप्रेक्ष्य (conflict perspective) कहा गया है, विकसित हुआ। क्वीने (Quinney, 1970), टर्क (Turk, 1969), लोफलैण्ड (Lofland, 1969), टेलर (Taylor, 1975) इस परिप्रेक्ष्य के कुछ प्रमुख समर्थक हैं। यह परिप्रेक्ष्य कानून लागू करने वाली यंत्र-प्रणाली सहित सरकारी कार्य-प्रणाली पर नियन्त्रण पाने के लिए 'सत्ता' की भूमिका पर बल देता है।[1] इस परिप्रेक्ष्य की अब हम विस्तृत चर्चा करेंगे।

अपराध से सम्बन्धित बहुत से सिद्धान्त इस मान्यता (assumption) पर आधारित हैं कि समाज में लक्ष्यों, मूल्यों और प्रतिमानों से सम्बन्धित एक एकमत (consensus) मिलता है जो उस समाज के कानून में प्रतिबिम्बित (reflect) होता है। इसे मतैक्य (consensus) भी कहा जा सकता है। रोजको पाऊंड (Roscoe Pound) कानून को न केवल एक सामाजिक शक्ति (social force) परन्तु समाज की उपज (social product) भी मानता है जो समाज की चेतना (consciousness) को प्रतिबिम्बित करता है। वुल्फगेंग फ्राइडमैन (Wolfgang Friedmann) की भी मान्यता है कि कानून को जिस प्रकार समाज की सामाजिक चेतना प्रकट करनी चाहिए उसी प्रकार वह करता भी है।[2] पाऊंड कानून को न केवल सामाजिक माँगों की पूर्ति करने वाली एक सामाजिक संस्था मानता है परन्तु इसे (कानून को) वह विरोधी हितों के समाधान करने का तथा सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का एक साधन भी समझता है।[3] अतः कानून को यदि प्रकार्यवादी (functional) दृष्टि से देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि कानून परस्परव्यापी (overlapping) तथा परस्पर विरोधी व विवादग्रस्त माँगों (conflicting claims and demands) को पूरा करने, समाधान करने (reconcile), एकमय करने (harmonize) व समंजन करने (adjust) का एक प्रयास है।[4]

इसके विपरीत संघर्ष सिद्धान्त कानून को एक वह उपकरण, जो हितों के बाहर व हितों के मध्य संघर्ष सुलझाता है, समझने के स्थान पर हितों का परिणाम

[1] This perspective stresses the role of *power* in winning control over government operations, including the law-enforcement (crime-defining) machinery.

[2] 'The state of criminal law continues to be, as it should be, a reflection of the social consciousness of a society.'—Wolfgang Friedmann, *Law in a Changing Society*, Punguin Books, England, 1964, 143.

[3] Law is not only a social institution to satisfy social wants but is a mechanism for resolving conflicting interests and this way maintaining social order.

[4] 'Law is an attempt to satisfy, to reconcile, to harmonize, to adjust these overlapping and often conflicting claims and demands.'—Roscoe Pound, 'A Survey of Social Interest', *Harvard Law Review*, Oct. 1943. 39.

मानता है।[1] यह सिद्धान्त कानून को शासकी वर्ग (ruling class) का साधन (tool) तथा विद्यमान व्यवस्था (existing order) को सुरक्षित रखने की विधि मानता है। रिचर्ड क्वीनै का तो कहना है कि अमरीका में राज्य और उसकी कानूनी व्यवस्था का अस्तित्व ही केवल इसलिए है जिससे वे शासकीय वर्ग के पूंजीवादी हितों को कायम रख सकें।[2]

अपराध के अध्ययन में संघर्ष-उपागम का लोफलैण्ड (Lofland) के शब्दों में निम्न प्रकार सारांश दिया जा सकता है :[3] (1) अपराध तब पैदा होता है जब अच्छी तरह संगठित (well organised) व बड़े आकार के अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक (sizeable minority or majority) समूहों को, जिनको अधिक सत्ता (large amount of power) होती है, उन व्यक्तियों से या उन शिथिल या ढीले रूप से संगठित (loosely organised) छोटे समूह से, जिनको छोटी सत्ता (little power) होती है, बहुत अधिक भय लगता है, (2) तब राज्य के विद्यमान निदेश तथा सम्बन्धित कानून लागू करने वाली विधियाँ देश-निकाला, कारावास, एवं विनाश द्वारा व्यक्तियों को समाज से बलपूर्वक हटाने का प्रावधान करती हैं, (3) ऐसे (बलपूर्वक हटाये जाने के) प्रावधान उन्हीं व्यक्तियों के लिए सफलतापूर्वक अपनाये जाते हैं जिनको बहुत कम सत्ता होती है तथा जो अच्छी तरह संगठित नहीं होते हैं।[4]

क्विने (Quinney) ने संघर्ष-परिप्रेक्ष्य प्रयोग करते हुए 1970 में निम्न तीन सैद्धान्तिक प्रस्ताव (*theoretical propositions*) दिये [5]

प्रस्ताव 1 · अपराध की परिभाषा, (definition of crime)—अपराध मानवीय व्यवहार की वह परिभाषा है जो राजनीतिक रूप से संगठित समाज में

[1] Conflict theory views law as a consequence of interests rather than merely as an instrument that functions outside of interests to resolve conflicts between interests

[2] 'Legal system exists to secure and perpetuate the capitalist interests of the ruling class'—Richard Quinney, *Criminal Justice in America: A Critical Understanding*, Little Brown, Boston, *1974*, *8*

[3] Lofland, John, *Deviance and Identity*, Englewood Cliffs, New Jersey, Prentice Hall, *1969*, *14–18*

[4] (1) Crime emerges when individuals or loosely organised small groups *with little power are strongly feared by a well organised sizable minority or* majority who have a large amount of power (2) Then the existence of state *rulings and corresponding* enforcement *machanisms provide for the possibility* of forceably removing actors from civil society, either by banishment or im*prisonment* or annihilation, (3) It is precisely those actors who have little power and who are not organised toward whom such actions can most successfully be undertaken See Richard Quinney, *The Social Reality of Crime*, Little Brown and Co, Boston, 1970, 15 18

[5] *Ibid*, 15–18 Also see Gallher & McCartney, *Criminology*, *op cit*, 121.

प्राधिकृत एजेंटों द्वारा निर्धारित की जाती है।

प्रस्ताव 2 : अपराधी परिभाषाओं का निर्माण (formulation of criminal definitions)—अपराधी परिभाषाएँ उन व्यवहारों की व्याख्या करती हैं जो समाज के उन खण्डों के हितों का विरोध करती है।

प्रस्ताव 3 : अपराधी परिभाषाओं का अनुप्रयोग (applications of criminal definitions)—अपराधी परिभाषाएँ समाज के उन खण्डों द्वारा लागू की जाती है जिन्हें कानून के निर्माण और लागू करने का अधिकार रहता है।[1]

नामकरण तथा लेबलिंग सिद्धान्त (Labelling Theory)

अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दियों में जिन विद्वानों ने अपराध का अध्ययन किया उनका प्रमुख ध्येय अपराध के कारणों का विश्लेषण करना था। आरम्भ में सिद्धान्तकारों ने यह सुझाव दिया था कि अपराधी व्यक्ति अनपराधी व्यक्ति से भिन्न है। किसी ने यह भिन्नता जैविकीय आधार पर (हीन शारीरिक रचना) तो किसी ने मनोवैज्ञानिक तत्वों (हीन बुद्धि) आदि के आधार पर समझायी। उसके बाद कुछ सिद्धान्तकारों ने अपराध के कारणों को 'सामाजिक संरचना' के आधार पर समझाया। हाल ही में फिर कुछ विद्वानों ने उस 'सामाजिक प्रक्रिया' की व्याख्या की है जिसके द्वारा व्यक्ति अपराधी बनता है। परन्तु इन सभी विद्वानों ने अपराध के कारणों पर ही बल दिया है। नामकरण (लेबलिंग) सिद्धान्त ने एक अलग परिप्रेक्ष्य ही अपनाया है। यह सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि एक व्यक्ति अपराधी क्यों बनता है परन्तु यह समझाता है कि समाज कुछ व्यक्तियों पर अपराधी का नामपट्ट क्यों लगाता है?

यह सिद्धान्त हॉवर्ड बेकर (Howard Becker) ने 1963 में प्रस्तुत किया था।[2] बेकर का विचार था कि सामाजिक विश्लेषकों (social analysts) के लिए विचलित व्यवहार को सही रूप में समझने के लिए उसके प्रति श्रोताजन की प्रतिक्रिया (audience reaction) या समाज की प्रतिक्रिया (societal reaction) जानना प्रमुख अभिरुचि होनी चाहिए क्योंकि इस प्रतिक्रिया के बिना क्रियाओं को अपराधी या विचलित क्रियाएँ नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, अपराध के

[1] *Proposition* 1—Crime is a definition of human conduct that is created by authorised agents in a politically organised society.

Proposition 2—Criminal definitions describe behaviours that conflict with the interests of the segments of society that have the power to shape public policy.

Proposition 3—Criminal definitions are applied by the segments of society that have the power to shape the enforcement and administration of criminal law.

[2] Howard S. Becker, *Outsiders : Studies in the Sociology of Deviance*, Free Press, N. York, 1963, 9-11.

Also see, Galliher and McCartney, *Criminology*, *op. cit.*, 116-18.

Reid Sue Titus, *Crime and Criminology*, *op. cit.*, 231-37.

अध्ययन मे वैयक्तिक व्यक्ति (individual person) नही परन्तु सामाजिक श्रोताजन (*social audience*) *अध्ययन* के *युक्त* विषय (proper subject) होने चाहिए ।

वेबर का कहना है कि अपराध तथा विचलन एक उस क्रिया का गुण व लक्षण नही है जो व्यक्ति द्वारा की जाती है परन्तु यह दूसरो द्वारा 'अपराधी' पर लागू किये गये नियमों (rules) और स्वीकृतियो (sanctions) का परिणाम है।[1] विचल व्यक्ति (deviant) वह है जिस पर यह लेबल सफलतापूर्वक लगाया जाता है तथा विचलित व्यवहार वह व्यवहार है जिसको लोग इस प्रकार लेबल करते है।[2]

काई एरिक्सन (Kai Erikson) ने भी कहा है कि विचल व्यक्तियों को अविचल व्यक्तियों से पृथक् करने वाला (तत्त्व) वह लक्षण नही है जो उनमे (विचल व्यक्तियो मे) अन्तर्निहित है परन्तु वह लक्षण है जो कुछ व्यक्तियो द्वारा दूसरों को प्रदान किया जाता है।[3] जब एक व्यक्ति चिल्लाता है, कूदता है व उसके मुंह से झाग निकलती है तब आवश्यक नही है कि लोग उसे मानसिक बीमारी का रोगी समझें व उसे अस्पताल भिजवाएँ क्योंकि यह सम्मानप्रद (glorious) धार्मिक क्रिया भी हो सकती है जिसको श्रद्धायुक्त भय व विस्मय (awe) से देखा जाता है ।

लेबल किये जाने के प्रभाव का हाल ही के एक उदाहरण ने ध्यान आकर्षित किया है। अमरीका के अलग-अलग राज्यो मे आठ स्वस्थचित्त (sane) अनुसन्धानकर्ताओं ने अपने आपको मानसिक बीमारी से पीडित घोषित करते हुए 12 अस्पतालों के मनश्चिकित्सीय वार्ड (*psychiatric wards*) मे प्रवेश प्राप्त करने का प्रयास किया। जब उनसे उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के बारे मे पूछा गया तब सभी ने अपनी घटनाओं को सच्चाईपूर्ण (*accurately*) बतलाया। किसी को भी विकृत (pathological) अनुभवो की पृष्ठभूमि नही थी। अस्पतालों मे प्रवेश के पश्चात् सभी ने स्वस्थचित्त व्यक्तियों की ही तरह व्यवहार किया। इनमें से सात को स्काइजोफ्रीन (schizophrene) व मानस रोगी घोषित किया गया तथा किसी अस्पताल ने भी इनकी झूठी दिमागी बीमारी की स्थिति का सन्देह नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि स्वस्थचित्त व्यक्ति होते हुए भी इन्हे स्काइजोफ्रीनिया बीमारी के लिए स्काइजोफ्रीन लेबल किया गया तथा नर्सों ने इनके साथ इसी धारणा के आधार पर हर दिन व्यवहार किया।

इस प्रकार किसी क्रिया का अर्थ वे दर्शक ही लगाते है जो उस क्रिया करने

[1] 'Deviance is *not* a quality of the act the person commits but rather a consequence of the application *by others of rules and sanctions to an offender*' —Becher

[2] 'The deviant is one to whom that label has successfully been applied, deviant behaviour is behaviour that people so label' —Becher, *op cit*, 9.

[3] 'It is not a characteristic interest within deviant persons that distinguishes them from non-deviant persons but a property conferred upon certain people by others' —Kai Erikson, 'Notes on the Sociology of Deviance', *Social Problems*, Spring 1962, 308

वाले व्यक्ति की क्रिया को महत्त्व देते हैं। हमारे समाज में जिन—वेश्यावृत्ति, जुआ, शराबखोरी व भिक्षावृत्ति—को अपराध माना जाता है, आवश्यक नहीं है कि उन्हें अन्य संस्कृतियों मे भी अपराध ही माना जाये। इन्हें कुछ विशेष अवसरों के लिए उचित (appropriate) और सम्मान्य (honourable) क्रियाएँ भी माना जा सकता है। भारत में धार्मिक अवसरों पर शराब पीना इसका एक उदाहरण है। इस प्रकार नामकरण व लेबलिंग परिप्रेक्ष्य अलग-अलग संस्कृतियों में सामाजिक और कानूनी विभेदशीलता (variability) को समझाने में उपयोगी हो सकता है।

बेकर का कहना है कि किसी क्रिया को 'अपराधी क्रिया' लेबल किया जायेगा या नही यह तीन तथ्यो पर निर्भर करता है : (1) क्रिया का समय (the time when the act is committed), (2) क्रिया करने वाला कौन है तथा उससे किस व्यक्ति को हानि पहुंची है (who commits the act and who is the victim), (3) क्रिया के परिणाम क्या है (the consequences of the act)। बेकर का यह भी कहना है कि कोई क्रिया विचलन कहलायेगी या नहीं यह अंशतः इस बात पर आधारित है कि क्रिया की प्रकृति क्या है (तथा क्या यह नियमों का उल्लंघन है या नही) और अंशतः इस क्रिया के बारे में अन्य व्यक्ति क्या कहते है? बेकर के अनुसार नियम-भंग व्यवहार (rule-breaking) और विचलित व्यवहार (deviant behaviour) में अन्तर करना चाहिए। विचलन कोई ऐसा गुण या लक्षण नही है जो व्यवहार में ही पाया जाता है परन्तु यह उस अन्तःक्रिया का परिणाम है जो क्रिया करने वाले व्यक्ति तथा उस क्रिया के प्रति प्रतिक्रिया दिखाने वाले व्यक्तियों के मध्य पायी जाती है।[1] बेकर यह भी सुझाव देता है कि कुछ प्रकार के समूहों को अन्य समूहों की तुलना में विचल (deviant) लेबल किये जाने की अधिक सम्भावनाएँ रहती है। ये समूह है : (i) जिन्हें राजनीतिक सत्ता नहीं होती जिस कारण वे अधिकारियों पर उन पर कानून लागू न करने के लिए दवाव नहीं डाल सकते, (ii) जिन्हें शक्तिशाली व्यक्ति अपने लिए खतरा मानते है, और (iii) जिनकी समाज में सामाजिक स्थिति निम्न होती है (विशेषकर आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के समूह)।

अब प्रश्न है कि 'अपराधी' लेबल किये जाने का व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है? लेबलिंग सिद्धान्त के अनुसार इसका न केवल उस व्यक्ति की प्रस्थिति पर परन्तु उसकी भूमिकाओं तथा उसके व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ता है। समाज-शास्त्री व्यक्ति के इस अनुचार व प्रतिक्रिया (response) को आत्म-सम्पन्न भविष्यवाणी (self-fulfilling prophecy) कहते है। उदाहरण के लिए 'दुराचारी' (misbehaving) बालक अपराधी व्यवहार की ओर ढकेले जाते है जो उनके लिए रूढ़िगत (conventional) संसार में वापस आने को कठिन बनाता है। दूसरी ओर यदि इसी दुराचारी बालक को लेबल न किया जाये तो इस बालक का व्यवहार

[1] Deviance is not a quality that lies in behaviour itself but in the interaction between the person who commits an act and those who respond to it.

कभी अपराध की ओर अग्रसर नही होगा ।

कुछ विद्वानो ने लेबलिंग सिद्धान्त का आनुभविक (empirical) परीक्षण करने का प्रयास किया है। इस प्रयास मे स्कवार्ज (Schwartz) और स्कोलनिक (Skolnick)[1] का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है जिसमे एक अपराधी रिकार्ड वाले प्रत्याशित कर्मचारी (potential employee) के प्रति 100 नियोक्ताओ (employers) की प्रतिक्रियाओ को नापा गया। इन 100 नियोक्ताओ को चार समूहो मे विभाजित किया गया तथा हर समूह को प्रत्याशित कर्मचारी के बारे मे अलग-अलग प्रकार का फोल्डर (folder) दिखाया गया। पहले फोल्डर मे बताया गया था कि व्यक्ति का कोई अपराधी रिकार्ड नही है, दूसरे मे बताया गया था कि उसे भर्त्सना के बाद छोड दिया गया है; तीसरे मे बिना भर्त्सना के उसे छोड दिया गया बताया गया था तथा चौथे मे उसे अदालत द्वारा दण्डित (convicted) बताया गया था। मोटे रूप मे अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि नियोक्ता अपराधी रिकार्ड वाले व्यक्ति को अपने यहाँ नियुक्त नही करेंगे। वैसे, उत्तरो मे घटाव (decline) पहले फोल्डर मे कम था और उसके बाद दूसरे, तीसरे व चौथे मे बढता गया।

स्कवार्ज और स्कोलनिक ने अपने अध्ययन की दूसरी क्रमावस्था (phase) मे उन 58 डाक्टरो का अध्ययन किया जिन पर अनाचार (malpractice) के लिए अभियोग चलाया गया था। इन डाक्टरो का या तो व्यक्तिगत रूप से या फोन पर साक्षात्कार किया गया या फिर उनसे प्रश्नावली भरवायी गयी। इस सर्वेक्षण ने डाक्टरो के अनाचार की उन पर कोई व्यावसायिक हानि सिद्ध नही की।

स्कवार्ज और स्कोलनिक का कहना है कि डाक्टरो को सरक्षी सस्थागत पर्यावरण (protective institutional environment) पर्याप्त था जो प्रत्याशित कर्मचारी को पर्याप्त नही था जिस कारण प्रत्याशित कर्मचारी को तो 'लेबलिग' ने प्रभावित किया परन्तु डाक्टरो को नही किया।

लेबलिंग सिद्धान्त का मूल्याकन—*लेबलिग सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत से तर्क* मिलते है

(1) *यह सिद्धान्त अपराध के कारणो के प्रश्न की उपेक्षा करता है।*

(2) किट्सयूज (Kitsuse) का कहना है कि लेबलिग परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करने का अर्थ होगा कि सरकारी अपराधी रिकार्डों को हमे केवल उन्हे सकलन (compile) करने वाली सस्थाओ द्वारा व्यवहार के विभिन्न प्रकारो के प्रति प्रतिक्रियाएँ ही समझना होगा। इस आधार पर अपराध की दर पुलिस क्रिया को प्रतिबिम्बित करने के लिए तो उपयोगी हो सकती है परन्तु समाज मे अपराधी व्यवहार की मात्रा को सही रूप मे प्रदर्शित करने के लिए अप्रासगिक (irrelevant) होगी। उदाहरण के लिए किसी एक क्षेत्र मे चोरो को पकडने का अर्थ यह नही होगा कि अन्य क्षेत्रो मे चोरियाँ हो ही नही रही है, परन्तु इसका अर्थ केवल यह

1—Richard D Schwartz and Jerome H Skolnick, 'Two studies of legal stigma', *Social Problems*, Fall 1962, 136

होगा कि पुलिस उस क्षेत्र में ऐसे अपराधों से निपटने में अधिक जागरूक (vigilant) व सावधान है। अतः लेबलिंग सिद्धान्तकार न केवल अपराध सम्बन्धी सरकारी रिकार्डों को अस्वीकार करते हैं परन्तु वे इन तथ्यों को वैज्ञानिक पद्धति के रूप में प्रयोग करने की भी आलोचना करते हैं। वे क्षेत्रीय अवलोकन (field observation) को अधिक महत्त्व देते हैं।

(3) लेबलिंग के यदि नकारात्मक प्रभाव हैं तो इसके सकारात्मक प्रभाव भी हो सकते हैं। जैसे, एक व्यक्ति अपराधी लेबल किये जाने पर अपराध करना ही छोड़ सकता है। वास्तव में लेबलिंग के भिन्न प्रभाव व्यक्ति के जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं (stages) पर निर्भर करते हैं।

(4) कोहेन और स्टार्क का कहना है कि लेबलिंग सिद्धान्त ने संघर्ष-सिद्धान्त से बहुत कुछ ग्रहण (borrow) किया है, विशेषकर इस व्याख्या में कि लेबल कौन करता है और क्यों करता है? संघर्ष-सिद्धान्तकारों का तर्क यह है कि जो वर्ग सत्ता में होता है वह अन्य वर्गों को नियंत्रित करने के लिए लेबलिंग प्रक्रिया प्रयोग करता है। परन्तु यह तर्क सही नहीं है। अधिकांशतः कानूनी व्यवस्था स्थापित करने के लिए भी शासक को नियम/कानून उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों की पहचान करनी ही पड़ती है।

लेबलिंग परिप्रेक्ष्य 1960 और 1970 के दशकों में बहुत लोकप्रिय (popular) रहा। इसका प्रमुख कारण सरकार के प्रति अविश्वास व अधिकारियों के प्रति अभिनति (bias) और भ्रष्टाचार का सन्देह था। ऐसे काल में सरकार द्वारा दी गयी वास्तविकता की तथा अपराध की परिभाषाएँ व्यक्तियों द्वारा कम ही स्वीकार की जाती हैं। भारत में इसका उदाहरण आपत्काल (emergency) में पुलिस द्वारा दिये गये अपराधी आँकड़ों के प्रति सन्देह का पाया जाता था। वर्तमान में (दिसम्बर 1980) साम्प्रदायिक दंगों सम्बन्धी तथा भागलपुर जेल में हवालाती कैदियों (undertrials) को अन्धा करने सम्बन्धी पुलिस द्वारा दिये गये तथ्यों के बारे में भी ऐसा ही सन्देह मिलता है।

समाजशास्त्री सिद्धान्तों का मूल्यांकन
(Evaluation of Sociological Theories)

किसी भी सिद्धान्त के मूल्यांकन में दो प्रकार की त्रुटियाँ प्रमुख रहती हैं: (i) पद्धति सम्बन्धी (methodological) त्रुटियाँ, (ii) विज्ञान-तर्क सम्बन्धी (logic-of-science) त्रुटियाँ। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी हमें दोनों तरह की त्रुटियाँ मिलती हैं।

जहाँ तक पद्धति-सम्बन्धी त्रुटियों का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि:

(1) किये गये अध्ययनों में अवधारणाओं (concepts) की या तो स्पष्ट परिभाषाएँ (precise definitions) या परिचालित परिभाषाएँ (operational definitions) नहीं मिलती हैं।

(2) आनुभविक (empirical) अनुसन्धानों के सैम्पल या तो अधिकांशत: छोटे थे या पूर्वाग्रह (bias) दूर करने के लिए उनका वैज्ञानिक आधार पर चयन नही किया गया था।

(3) कुछ विद्वानों के सिद्धान्तों का आनुभविक परीक्षण ही नही किया जा सकता है (जैसे, सदरलैण्ड व मर्टन के सिद्धान्त)।

जहाँ तक विज्ञान-तर्क सम्बन्धी त्रुटियो का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि :

(1) *समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में द्विसस्यक भ्रान्ति* (dualistic fallacy) मिलती है क्योंकि यह सिद्धान्त अपराधियों और अनपराधियों की दो द्विभागी श्रेणियाँ (dichotomous categories) मानकर प्रत्येक श्रेणी मे दो सैम्पल चुनकर दोनो की तुलना करते हैं। यह एक ऐसी गम्भीर भ्रान्ति है जिसके कारण आनुभविक अध्ययनों की वैज्ञानिक वैधता (validity) को ही अस्वीकार किया जा सकता है। यह भ्रान्ति लेबलिंग सिद्धान्त के अलावा अन्य सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो मे पायी जाती है।

(2) *इन सिद्धान्तो मे पूर्वसूचनीयता (predictability) सम्भव नही है*, अथवा ये अपराधी व्यवहार को पूर्व सूचित नही कर सकते हैं, जैसे किन परिस्थितियो में कौनसे अपराध किये जायेंगे और कौन करेंगे ? इसी प्रकार यह अधिक मात्रा वाले अपराधी क्षेत्रो मे रहते हुए भी जापानियो (Japanese) और चीनियो (Chinese) मे कम अपराधी दर पाये जाने का स्पष्टीकरण भी नहीं दे सकते है।

बहुकारकवादी सिद्धान्त (Multiple Factor Theory)

उपर्युक्त सभी सिद्धान्त अपराध की केवल एक कारण (single factor) के आधार पर विवेचना करते है, परन्तु अब कुछ अपराधशास्त्रियों ने अपराध को बहु-कारको के आधार पर समझाया है। इस बहुकारकवादी सिद्धान्त का प्रतिपादक इंग्लैण्ड निवासी सिरिल बर्ट (Cyril Burt) माना जाता है, यद्यपि बर्ट के पूर्व इटली के विद्वान् फेरी (Ferri) ने 1884 मे और विलियम हीले (William Healy) ने 1915 मे अपराध के विभिन्न कारणो का विवेचन किया था। सिरिल बर्ट[1] ने 1925 में निम्न छह कारणो के आधार पर अपराध की व्याख्या की थी . (1) आनुवंशिक (hereditary) कारक, (2) पर्यावरण सम्बन्धी (environmental) कारक, (3) शारीरिक (physical) कारक, (4) बुद्धि सम्बन्धी (intellectual) कारक, (5) स्वभाव सम्बन्धी (temperamental) कारक, और (6) संवेग व मनोग्रन्थि (sentiments and complexes) सम्बन्धी कारक।

आनुवंशिक कारको मे बर्ट जन्म द्वारा प्राप्त दुर्बलताओं (weaknesses) पर बल देता है। पर्यावरण सम्बन्धी कारको मे वह दो प्रकार के पर्यावरण बतलाता है : (क) घर के अन्दर के पर्यावरण, जिसमे वह अनुशासन, निर्धनता, अनैतिकता आदि कारक सम्मिलित करता है, तथा (ख) घर के बाहर के पर्यावरण, जिसमें वह

[1] Cyril Burt, *The Young Delinquent*, (4th edition), 1944, 599-600

सहचारिता, अवकाश, मनोरंजन, रोजगार आदि कारक सम्मिलित करता है। शारीरिक कारकों में वह : (क) शारीरिक विकास सम्बन्धी तत्त्व (physical developmental conditions) अथवा छोटे व लम्बे कद में दुबले व्यक्तित्व जैसे शरीर-गठन का अल्प-विकास, और (ख) विघटित शरीर-सम्बन्धी तत्त्व (physical pathological conditions) अथवा शारीरिक दोष, गम्भीर बीमारी, स्थायी रोग आदि सम्मिलित करता है। बुद्धि सम्बन्धी कारकों में वह साधारण से कम (sub-normal) बुद्धि (अथवा बुद्धिहीनता) और साधारण से अधिक (super-normal) बुद्धि (अथवा विशेष प्रतिभा) सम्मिलित करता है। स्वभाव सम्बन्धी कारकों में वह मन की संवेगात्मक स्थिति तथा मनोभावों (sentiments) में सकारात्मक व नकारात्मक अभिरुचियों (interests) व उपार्जित (acquired) संवेगात्मक प्रवृत्तियों पर बल देता है।

बर्ट का कहना है कि किसी एक, दो या तीन कारकों को प्रमुख मानकर अपराध की व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि वास्तव में यह (अपराध) अनेक कारकों के संयोग से घटित होता है और विभिन्न कारणों का संयोग तथा उनकी प्रवृत्ति अलग-अलग अपराधों में अलग-अलग रूप में मिलती है। बर्ट के अनुसार प्रत्येक अपराध में चार प्रभावक मिलते हैं : (1) स्पष्ट प्रभाव (conspicuous influence) वाले प्रभावक, (2) प्रमुख सहायक (chief cooperating) प्रभावक, (3) थोड़ा उत्तेजित करने वाले (minor aggravating) प्रभावक, और (4) वे प्रभावक जो उपस्थित रहते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील नहीं होते (apparently inoperative)।

बर्ट के सिद्धान्त को जार्ज वोल्ड, अब्राहमसेन, वाल्टर रेक्लेस, काल्डवेल मेबिल इलयट, आदि विद्वान् भी मानते हैं। अब्राहमसेन के अनुसार अपराधी व्यवहार के कारणों के अध्ययन में हमें बहुकारकों व उनके संयोग को सदा ध्यान में रखना चाहिए। इन कारकों में से एक कारक दूसरे कारक से अधिक अंशदायी (contributory) हो सकता है किन्तु एक विशेष कारक कभी भी सभी अपराधों का कारण नहीं हो सकता।[1]

जार्ज वोल्ड[2] का कहना है कि अपराध को एक ऐकिक (unitary) घटना के रूप में न देखकर विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत उत्पन्न अनेक व्यवहारों के संग्रह के रूप में देखना चाहिए। अन्ततः अपराध में पाये जाने वाले व्यवहार के विभिन्न स्वरूपों को कोई एक एक-कारकवादी सिद्धान्त स्पष्ट नहीं कर सकता।

मेबिल इलयट का कहना है कि अपराधियों पर विस्तृत अनुसन्धान यह निर्णायक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि कोई एक कारक निश्चित रूप से अपराधी

1 'We must always keep in mind the multiple causative factors and their interplay in studying the etiology of criminal behaviour. Among these factors, one may be move contributory than another but no particular single element is ever the causation in all cases.' Abrahamsen, *Psychology of Crime.*

2 George Vold, *op. cit.*, 313.

व्यवहार उत्पन्न नही करता ।[1]

अल्बर्ट कोहेन ने इस बहु-कारकवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। उसका कहना है कि एक-कारकवादी सिद्धान्तो मे यद्यपि एक 'तत्त्व' (variable) पर बल दिया गया है पर उस तत्त्व के लिए बहुत 'कारक' (factors) उत्तरदायी बताये गये है।[2] इस प्रकार वह 'तत्त्व' या कारण (cause) और 'कारक' मे अन्तर मानता है। इसे समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते है किसी युवक का परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने का 'कारण' उसका 'अच्छी तरह न पढ़ना' ही होगा परन्तु इस 'अच्छी तरह न पढने' के कारक बहुत से हो सकते है, जैसे पुस्तको का न होना, पढ़ाई मे अरुचि, बीमार पड़ जाना, परीक्षा के दिनो मे परिवार के किसी सदस्य की आकस्मिक मृत्यु, आदि। इस प्रकार एक-कारकवादी मनोविकार विश्लेषण के सिद्धान्त मे यद्यपि 'नैराश्य' (frustrations) अपराध का एकमात्र कारण बताया गया है परन्तु इस नैराश्य उत्पन्न होने के बहुत 'कारक' दिये गये हैं। अन्य एक-कारकवादी सिद्धान्तो मे भी यही चीज मिलती है। इस कारण कोहेन के अनुसार बहु-कारकवादी सिद्धान्त एक-कारकवादी सिद्धान्त से बहुत भिन्न नही है। कोहेन का कहना है कि बहु-कारकवादी 'दृष्टिकोण' (approach) स्वय मे एक सिद्धान्त (theory) नही है परन्तु एक सिद्धान्त की खोज का अधित्याग (abdication) है। यह (दृष्टिकोण) केवल इस बात पर बल देता है कि 'यह' विशेष घटना कुछ 'इन' विशेष परिस्थितियो के समूह से तथा एक 'वह' विशेष घटना कुछ 'उन' विशेष परिस्थितियो के समूह से 'उत्पन्न' होती है; अर्थात् 'यह बाल अपराध, खराब पड़ोस, बुद्धिहीनता और शराबी पिता के कारण और 'वह' बाल अपराध निर्धनता, टूटे परिवार व खराब स्वास्थ्य के कारण उत्पन्न हुआ है। अत एक लेखक कुछ 'कारणो' को अपनी अन्तर्दृष्टि (intuition) के आधार पर ही बताता है।

कोहेन की आलोचना के अलावा बहु-कारकवादी सिद्धान्त की और आलोचनाएँ भी दी जाती है। इस दृष्टिकोण को मानने से हम आनुभविक परीक्षण (empirical study) के लिए कोई उपकल्पना नही बना सकते जिसको लेकर आवश्यक तथ्य इकट्ठा कर उसको प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सके। फिर, बहु-कारको मे हम प्रत्येक कारक को उचित महत्त्व भी नही दे सकते। इसलिए हाल ही मे काल्डवेल[3] द्वारा बहु-कारकवादी सिद्धान्त का संशोधन अधिक वैज्ञानिक लगता है जिसके अनुसार सभी कारको को ढूँढने के स्थान पर किन्ही चुने हुए सांख्यिकीय कारको को लेकर ही अपराध को समझाया जा सकता है।

[1] Mabel Elliott and Merril Francis, *Social Disorganisation* (3rd ed), Harper and Bros , New York, 1950, 111

[2] Albert Cohen, *Deviance and Control, op cit* Also see his article on 'Multiple Factor Approaches' in Johnston and Wolfgang and Salvitz, *Sociology of Crime and Delinquency*, 1962, 77-79

[3] *Caldwell, op cit* , 136-55

हमारा दृष्टिकोण

अपराध के कारणों को समझाने के लिए हम दो कारकों—(क) व्यक्तित्व सम्बन्धी बहु-लक्षणों, और (ख) बहु-परिस्थितियों पर बल देना होगा। व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों के कारण ही कुछ व्यक्ति अपने को हर परिस्थिति में समायोजित नहीं कर पाते और निराश होकर सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यह विभिन्न व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण शारीरिक व मानसिक तथा आनुवंशिक व पर्यावरणिक हो सकते हैं। इसी प्रकार जब हम अपराध में 'परिस्थिति' को प्रमुख कारण मानते हैं तब उससे हमारा तात्पर्य केवल एक नहीं परन्तु अनेक परिस्थितियों से होना है। इस अनेक 'परिस्थिति' के तथ्य को निम्न उदाहरणों से समझा जा सकता है—

मान लें कि एक 'र' व्यक्तित्व वाला व्यक्ति 'अ' परिस्थिति का सामना करता है; ऐसी स्थिति में उसका कार्य 'क' होगा; परन्तु यदि परिस्थिति 'अ' नहीं है तो उसका कार्य 'ख' होगा। 'अ' परिस्थिति का सामना करने के उपरान्त यदि वह 'ब' परिस्थिति का सामना करता है तो उसका कार्य 'क क' होगा परन्तु यदि वह परिस्थिति 'ब' नहीं है तो उसका कार्य 'क ख' होगा। फिर, 'ब' परिस्थिति का सामना करने के बाद यदि व्यक्ति 'स' परिस्थिति का सामना करता है तो उसका कार्य 'क क क' होगा परन्तु यदि परिस्थिति 'स' नहीं है तो उसका कार्य 'क क ख' होगा। यहाँ कार्य 'क क क' ही अपराध होगा।

परिस्थिति	कार्य	परिस्थिति	कार्य
अ	क	'ब' नहीं	क ख
'अ' नहीं	ख	'अ' 'ब' के साथ 'स'	क क क
'अ' के साथ 'ब'	क क	'स' नहीं	क क ख

इसे और स्पष्ट समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लें, एक उच्च शिक्षा-प्राप्त अमीर युवक जो आलसी, खर्चीला व आश्रयी स्वभाव का है, 19 वर्ष की आयु में विवाह कर शिक्षा समाप्ति के उपरान्त नौकरी करने का प्रयास करता है। अब दो सम्भावनाएँ हैं: वह या तो नौकरी प्राप्त करने में असफल होगा या सफल। यहाँ पहली परिस्थिति 'अ' और दूसरी परिस्थिति 'अ-नहीं' मानी जा सकती है। पहली परिस्थिति में नौकरी न मिलने पर युवक का व्यवहार 'क' तथा नौकरी मिलने पर उसका व्यवहार 'ख' माना जा सकता है। अब पहली परिस्थिति के साथ ही (अथवा नौकरी न मिलने पर भी) यदि उसके अमीर माता-पिता उसके और उसकी पत्नी के खर्च के लिए रुपये नहीं देते हैं तो हम कहेंगे कि यह युवक अब 'ब' परिस्थिति का सामना कर रहा है और यदि उसे माता-पिता से रुपया मिलता है तब 'ब-नहीं' परिस्थिति का सामना कर रहा है। 'ब' परिस्थिति में उसका व्यवहार 'क' के क्रम (continuation) में 'क क' होगा और दूसरी परिस्थिति में 'क ख' होगा। नौकरी प्राप्ति की असफलता तथा माता-पिता द्वारा खर्च न मिलने के अलावा

युवक एक और परिस्थिति का सामना भी कर सकता है। मान लीजिए उसके कुछ मित्र तस्कर हैं (परिस्थिति 'स') या फिर तस्कर नही है (परिस्थिति 'स-नही')। परिस्थिति 'स' की अवस्था मे युवक का कार्य 'क क क' (तस्करी) तथा परिस्थिति 'स-नही' की अवस्था मे 'क ख ख' हो सकता है। अत हम कह सकते हैं कि 'क क क' कार्य उच्च शिक्षा और विवाह उपरान्त नौकरी न मिलने, माता-पिता द्वारा खर्चा न पाने, एव तस्करो की मित्रता का ही परिणाम है। यह 'क क क' कार्य अपराध न होता यदि यहाँ परिस्थिति 'अ' के बाद या तो परिस्थिति 'ब' नही होती या फिर परिस्थिति 'स' नही होती। इसी को हम 'बहु-परिस्थिति' का तत्व मानते हैं। इस 'बहु-परिस्थिति' के साथ व्यक्तित्व सम्बन्धी 'बहु-लक्षणो' को भी लेकर हम एक विशेष अपराध का विश्लेषण कर सकते हैं।

अत हमारे अपराधी व्यवहार के इस विवरण मे पद, भूमिका, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक मान-दण्ड, सस्कृति, सामूहिक जीवन, सीखने की प्रक्रिया, तथा अन्त क्रिया की प्रक्रियाएँ प्रमुख तत्त्व है। दूसरे शब्दो मे, हमारे विचार मे अपराध के वितरण मे सामाजिक कारको के साथ-साथ जैविकीय, मनोवैज्ञानिक व आर्थिक कारको को भी ध्यान मे रखना होगा जिससे हम व्यक्ति के सामाजिक प्रभावो की सग्रहण-शीलता (receptivity to social influences) और उसके 'सामाजिक परिस्थितियो मे समायोजन' (adaptation to social situations) का अध्ययन कर उसके अपराधी व्यवहार का वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकें।

तीसरा अध्याय

दण्ड-व्यवस्था
(PUNISHMENT)

यह प्रश्न सदा पूछा जाता है कि समाज अपराधी से किस प्रकार का व्यवहार करे ? क्या एक मारे जाने योग्य घृणित व्यक्ति (nuisance) के रूप में, या कुचले जाने योग्य शत्रु के रूप में; या अनुशासित किये जाने योग्य जिद्दी, अड़ियल; ढीठ व हठी व्यक्ति के रूप में; या कर्जा चुकाने के लिए बाध्य किये जाने वाले ऋणी (debtor) के रूप में; या उपचार किये जाने वाले मरीज के रूप में, या फिर एक उदाहरण-व्यक्ति के रूप में जिससे दूसरों को यह आभास करवाया जा सके कि असामाजिक व्यवहार कभी लाभदायक नहीं होता । इसके साथ यह प्रश्न सदा निराधार माना जाता है कि अपराधी स्वयं को किस दृष्टि से देखे, जबकि वास्तव में यह एक मूलभूत प्रश्न है । इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें दो और प्रश्नों के उत्तर देने होंगे—(i) दण्ड देना किन कारणों से उचित एवं अनिवार्य है, तथा (ii) दण्ड का ध्येय क्या होना चाहिए ?

धार्मिक आचार-नीति को मानने वाले व्यक्ति के लिए अपराधी को दण्ड देने का प्रश्न दूरव्यापी व गहरा है । उसके लिए अपराधी को दण्ड देना उसके धर्म व विश्वास (faith) से सम्बन्धित है । वह ईश्वर को न केवल पैदा करने वाले प्रजापति (creator) व शासक (ruler) के रूप में देखता है अपितु उसे सर्वश्रेष्ठता का मूल साधन (source) भी मानता है । वह अनुचित कार्य को ईश्वर के विरुद्ध पाप मानता है तथा पापी को क्षमा करने के दार्शनिक सिद्धान्त में विश्वास करता है । वह दण्ड-प्रणाली को यदि समाप्त करना नहीं चाहता तो दण्ड के कष्ट को कम करना अवश्य चाहता है । परन्तु वर्तमान समाज के दण्ड-सम्बन्धी (penological) सिद्धान्तों ने इस धार्मिक दर्शननीति से कोई प्रेरणा नहीं ली है । हमारे कानून-रचयिता आधुनिक समाज को जटिल (intricate) मानते हैं तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को पुरानी सामाजिक व्यवस्था से इतना भिन्न मानते हैं कि उनका विचार है कि पुराने धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्त व सामाजिक नियम आज के समाज के लिए कोई मार्ग-दर्शन नहीं दे सकते । वे यह भी नहीं मानते कि प्राचीन काल की तरह हमें केवल समाज के हितों की रक्षा करनी है । इनके विचार में आज के युग में समाज के हितों के साथ-साथ व्यक्ति अपराधी के हितों की भी रक्षा करना कानून-रचयिताओं का कर्त्तव्य है ।

इन्ही विचारों के कारण आज की दण्ड-सम्बन्धी नीति प्राचीन काल, मध्य काल व ब्रिटिश काल की दण्ड-सम्बन्धी नीतियो से भिन्न पायी जाती है। इसके पहले कि हम इन विभिन्न नीतियो का विश्लेषण करें, हमे दण्ड की अवधारणा व इसके विभिन्न उद्देश्यो आदि को समझना होगा।

दण्ड की अवधारणा (Concept of Punishment)

दण्ड की अवधारणा को समझने के लिए हमे निम्न बातो को ध्यान मे रखना होगा (1) दण्ड के रूप मे दी जाने वाली पीडा (pain) सदा अप्रिय होती है, (2) यह पीडा उस क्रिया के कारण पहुँचाई जाती है जो सत्ता (authority) द्वारा नापसन्द की जाती है अर्थात् दण्ड उत्तेजना (provocation) के कारण अथवा अपराधी की क्रिया द्वारा क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) और समाज के लिए अप्रियता उत्पन्न करने के कारण दिया जाता है, (3) दण्ड केवल अपराध करने वाले व्यक्ति को दिया जाता है, (4) क्रिया (जो दण्ड की आवश्यकता को जगाती है) तथा दण्ड की प्रकृति के मध्य विनिमय (correspondence) रहता है, तथा (5) दण्ड समाज द्वारा (अपनी एजेंसी के माध्यम से) पहुँचाया जाता है।

बेन (Benn) और फ्लू (Flew)[1] ने दण्ड की अवधारणा मे पाँच तत्वो पर बल दिया है—(1) दण्ड मे पीडा या ऐसे परिणाम अवश्य होने चाहिए जिन्हे सामान्यत अप्रिय माना जाता है, (2) यह कानूनी नियमो के विरुद्ध अपराध के लिए दिया जाना चाहिए, (3) जिसे दण्ड दिया जाये वह वास्तव मे अपराधी या अनुमानित अपराधी होना चाहिए, (4) दण्ड ऐसे व्यक्तियो द्वारा साभिप्राय दिया जाना चाहिए जो स्वय अपराधी नही हो, तथा (5) दण्ड ऐसी सत्ता (या एजेंसी) द्वारा पहुँचाया जाना चाहिए जो उस कानूनी व्यवस्था द्वारा सस्थापित की गयी है जिसके विरुद्ध अपराध किया जाता है।

इन तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दण्ड सत्ता द्वारा प्रतिनिन्दनीय क्रियाओ के लिए अपराधी को दी जाने वाली पीडा है। काल्डवेल[2] ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है 'यह वह क्षति है जो राज्य द्वारा उस व्यक्ति को पहुँचाई जाती है जिसे अपराध के लिए दोषी घोषित किया जाता है।'

दण्ड के उद्देश्य (Objects of Punishment)

दार्शनिक, वकील और अपराधशास्त्रियो की दृष्टि मे दण्ड के उद्देश्य अलग-अलग हैं। दार्शनिक का सरोकार जब दण्ड के औचित्य (justification) से रहता है, वकील का सरोकार दण्ड के कानूनी सवर्गों (categories) से रहता है तथा

[1] Ben and Flew, quoted by H L A Hart, in his article 'Principles of Punishment' in *Crime and Justice*, Vol II, edit by Radzinowicz and Wolfgang, Basic Books Inc Publishers, New York, 1971, 21

[2] Robert G Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Co, New York, 1956,

अपराधशास्त्री का सरोकार दण्ड देने वाले एवं दण्ड प्राप्त करने वाले व्यक्ति से व दण्ड से उद्दिष्ट (intended) व अउद्दिष्ट (unintended) प्रभावों से रहता है। कैमस (Camus)[1] दण्ड का औचित्य प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रता के परिरक्षण तथा उसे बढ़ाने के संदर्भ में बताता है। दूसरी ओर साम्यवादी इसे (दण्ड के औचित्य को) व्यक्ति को राज्य की सेवा करने की आवश्यकता सिखाने (जिससे राज्य कम्युनिस्ट आदर्श को फैला सके) के सन्दर्भ में बताते हैं। अधिकांश लेखक इस विचार को स्वीकार करते हैं कि दण्ड का उद्देश्य समाज के मूलभूत मूल्यों के प्रति अनुरूपता (conformity) प्राप्त करना है।

कुछ विद्वानों के अनुसार दण्ड के प्रमुख उद्देश्य दण्डात्मक (punitive), निरोधात्मक (preventive), तथा चिकित्सीय (therapeutic) हैं। दण्डात्मक विचारधारा के अनुसार अपराधी को अशोध्य (incorrigible) व जीवन और सम्पत्ति के लिए खतरा माना जाता है। अतः इसी खतरे के कारण दण्ड का प्रमुख ध्येय समाज की रक्षा करना होता है। इसमें अपराधी के अपराध करने की सामर्थ्य को महत्त्व न देकर उसके द्वारा की गयी क्रिया पर ध्यान दिया जाता है। निरोधात्मक विचारधारा के अनुसार दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पुनः अपराध करने से रोकना है। यह तभी सम्भव होगा जब उसे कठोर दण्ड दिया जाये जो भविष्य में उसे पीड़ा की याद दिलाता रहे तथा उसे पुनः कानून का उल्लंघन करने से रोके। चिकित्सीय विचारधारा के अनुसार अपराधी की तुलना एक 'बीमार' व्यक्ति से की जाती है। जिस प्रकार बीमार व्यक्ति के रोग की जांच करके उसे दूर करने का प्रयास किया जाता है, उसी प्रकार अपराधी के अपराध के कारणों को मालूम करके उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। अतः इस (चिकित्सीय) विचारधारा में रोग-जांच सम्बन्धी (clinical) उपायों पर अधिक बल मिलता है।

अलग-अलग दण्डशास्त्रियों ने दण्ड के अलग-अलग उद्देश्य बताये हैं: होमन्स (Homans) के अनुसार दण्ड का प्रमुख उद्देश्य अपराध निवारण (prevention) है। बेन्थम (Bentham)[2] ने भी इसी उद्देश्य पर बल दिया है तथा निवारण के साथ वह हानिपूर्ति (compensation) भी आवश्यक समझता है। उसके अनुसार दण्ड के प्रमुख लक्ष्य निवारण व क्षतिपूर्ति हैं। नीमेसिस (Nemesis) के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी पर यह प्रभाव डालना है कि अच्छा कर्म सदा पुरस्करणीय होता है तथा बुरा कर्म करने वाले को उसका फल भोगना पड़ता है। वाल्टर मोबरली (Walter Moberly) का विचार है कि दण्ड द्वारा न्याय के व्यापक सिद्धान्त को लागू करना है जिससे व्यक्तियों को उनका अधिकार मिल सके।

[1] See 'Introduction' in *Crime and Justice*, Vol. II, *op. cit.*, 6.

[2] J. Bentham, *Principles of Penal Law* in John Bowring (ed.), 'The Works of Jeremy Bentham', W. Tait, Edinburgh, 1884, 550, quoted by E. H. Sutherland in *Principles of Criminology*, 1965, 284.

दण्ड के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of justification for punishment)

समाज अपराधी को दण्ड क्यों देता है ? दण्ड के सात प्रमुख कारण बताये गये हैं (1) बदला व प्रतिशोध, (2) असमर्थीकरण, (3) संयम व व्यक्तिगत प्रतिरोधन, (4) दूसरों का प्रतिरोधन, (5) सामाजिक एकता का अनुरक्षण, (6) सुधार व पुनर्वास, (7) क्षतिपूर्ति व पुनःस्थापन। इन सबका हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

(1) **प्रतिशोध** (Retribution or revenge)—दण्ड का सबसे प्रमुख औचित्य प्रतिशोध बताया गया है। यह औचित्य 'आँख के लिए आँख' (eye-for-an eye) के सिद्धान्त (doctrine) पर आधारित है। हत्या के लिए प्राणदण्ड की सजा भी इसी मत पर आधारित है। कहा जाता है कि कनपट्टीमार जिसने अनेक हत्याएँ की थीं, रंगा और बिल्ला जिन्होंने चोपड़ा बच्चों की हत्या की, या फूलन देवी जिसने 20 व्यक्तियों को एक पंक्ति में खड़ा कर मार दिया, आदि जैसे अपराधियों को यदि बदले की भावना से दण्ड न दिया जाय तो सामाजिक व्यवस्था (social order) स्थापित रखने के लिए कौन-सा दण्ड दिया जाये ? इस प्रकार बदले की भावना अपराध की नैतिक व्यवस्था (moral order) के उल्लंघन की परिभाषा पर आधारित है।

(2) **असमर्थीकरण** (Incapacitation)—अपराधी को शारीरिक रूप से इस प्रकार असमर्थ करना कि वह पुनः अपराध न कर सके, जैसे हाथ काट देना, उसके ललाट पर उसके द्वारा किये गये अपराध का नाम खुदवाना जिससे हर व्यक्ति उससे सावधान रहे, आदि। यद्यपि इन पद्धतियों का आजकल समर्थन नहीं किया जाता परन्तु यौन विपर्यस्त व्यक्तियों (sexual perverts) का यौन नपुंसकीकरण (sexual castration) बन्दीकरण का विकल्प (alternative) भी बताया जाता है।

(3) **व्यक्तिगत अवरोध** (Individual deterrence)—दण्ड का औचित्य अपराधी को प्रत्यावर्ती (recidivist) बनने से रोकना भी है। यह माना जाता है कि बन्दीकरण अपराधी में जेल से छूटने के बाद पुनः अपराध करने की प्रवृत्ति दबाता है। परन्तु प्रश्न है कि यदि अपराधियों को जेल न भेजा जाता तो उनमें से कितने प्रत्यावर्ती बनते ? तथा जेल से छूटने के बाद अपराधी पुनः अपराध क्यों करते हैं ? क्या नशीले पदार्थों का सेवन (drug abuse), मद्यपान (alcoholism), लिंगीय अपराध (sex offences) आदि जैसे अपराधों में दण्ड वास्तव में प्रतिरोधन का काम करता है।

(4) **सामान्य प्रतिरोध** (General deterrence or deterrence of others)—यह माना जाता है कि अपराधी को दिया गया दण्ड इसी प्रकार की मनोवृत्ति वाले दूसरे व्यक्तियों को अपराध करने से रोकता है। अतः यह विचार अपराधी को गम्भीर दण्ड देने पर बल देता है। इसी सन्दर्भ में अठारहवीं शताब्दी के न्यायाधीश का हवाला दिया जाता है जिसने मृत्युदण्ड देते समय अपराधी को कहा

था कि 'तुम को इसलिए फांसी नहीं दी जाती कि तुमने भेड़ चुराई है परन्तु इसलिए कि दूसरे व्यक्ति भेड़ न चुरायें ।'[1]

(5) **सामाजिक एकता का अनुरक्षण** (Maintenance of social solidarity)—कुछ व्यक्तियों का कहना है कि दण्ड समाज के लोकाचारों (mores) की मर्यादा बनाये रखता है । दुर्खीम का कहना है कि 'दण्ड का असली कार्य सामाजिक एकता को अविकल रखना है ।'[2] वीहोफेन (Weihofen) का कहना है कि एक अपराधी मुकदमा (trial) उस जन-कार्य (public performance) के समान है जिसमें दर्शक (spectators) अपने आक्रमणकारी आवेगों (aggressive impulses) को समाज द्वारा स्वीकृत उपायों से उसी प्रकार शनैः-शनैः निस्सारित करते हैं जिस प्रकार मुकदमे का सामना करने वाला अपराधी अपने आक्रमणकारी आवेगों को समाज द्वारा अस्वीकृत तरीकों से निकालता है । दोष का सामूहिक स्वच्छन (cleaning) समाज के नैतिक तत्त्वों (morals) को उपोदबलित (reinforce) करता है तथा उसके सदस्यों को उल्लंघनकारी (transgressor) के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्हें आपस में बांधे रखता है ।[3] यह भी कहा गया है कि दण्ड व्यक्ति को अपराधी से निजी रूप से बदला लेने से रोकता है । व्यक्ति तब कानून अपने हाथ में लेते हैं जब वे अपराध को बहुत अधिक धिक्कारते हैं और यह अनुभव करते हैं कि राज्य अपराधी के विरुद्ध सही कार्यवाही नहीं कर रहा है ।[4] इस विचारधारा का प्रमुख दोष यह है कि यह ज्ञात करने का कोई निश्चित आधार नहीं है कि निजी बदले को रोकने के लिए कितने दण्ड की आवश्यकता है । अतः इस विचारधारा का समर्थन करने वाला कोई आनुभविक प्रमाण (empirical evidence) नहीं है ।

(6) **सुधार व पुनर्वास** (Reformation or rehabilitation)—आज की विचारधारा दण्ड को पुनःस्थापन का प्रमुख आधार मानती है । जेलों में सुधार, परिवीक्षा पर छोड़ देना, पैरोल का अधिक उपयोग, अनिश्चित दण्ड अवधि की नीति पर बल, आदि इसी विचार पर आधारित हैं ।

(7) **क्षतिपूर्ति व पुनःस्थापन** (Reparation or Restoration)—दण्ड

[1] 'You are to be hanged not because you have stolen a sheep but in order that others may not steal sheep' quoted by Reid, *Crime and Criminology*, *op. cit.*, 500.

[2] 'True function of punishment is to maintain social cohesion intact.'—
—Durkheim, *Division of Labour in Society*, The Free Press, N. York, 1964, 108.

[3] 'A criminal trial is public performance in which the spectators work off in a socially acceptable may aggressive impulses of much the same kind that the man on trial worked off in a socially unacceptable way. Collective 'cleaning' of guilt may serve to reinforce the morals of society and bind its members closer together in their fight against the transgressor.' —Weihofen quoted by Reid, *op. cit.*, 502.

[4] 'Punishment deters people from taking private revenge. People will take the law into their hands if they are sufficiently outraged at a crime and do not feel that the state is taking the correct action.'

का एक औचित्य क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) को अपराध की पूर्व स्थिति में पुन स्थापित करना भी बताया गया है। विशेषकर दीवानी (civil) मामलो मे यह सिद्धान्त अधिक लागू किया जाता है जिसमे क्षतिग्रस्त व्यक्ति को मुआवजा देकर उसकी हानि को पूरा किया जा सके। परन्तु यह विचारधारा अपराधी कानून (criminal law) के लिए अधिक उपयुक्त नही समझी जाती। जैसे एक हत्यारा, बलात्कारी (*rapist*), या प्रहारी (*assaultor*) कैसे हानिग्रस्त व्यक्ति को मुआवजा दे सकेगा? परन्तु इसके लिए भी वर्तमान में विचार बदलते जा रहे हैं और मुआवजे की विचारधारा को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

दण्ड की उत्पत्ति (Origin of Punishment)

मैलीनौस्की (Malinowski)[1], लॉवी (Lowie)[2], एल्सवर्थ फैरिस (*Ellsworth Faris*)[3], मरडाक (*Murdock*)[4], हाबहाउस (*Hobhouse*)[5] आदि ने दण्ड-व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रति अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। किसी ने 'बदले की भावना' को, किसी ने 'देवताओ को रुष्ट करने के भय' को, तथा 'विभिन्न समूहो के हितो के संघर्ष' को दण्ड की उत्पत्ति का प्रमुख आधार बताया है। परन्तु सदरलैण्ड[6] का कहना है कि अब यह सम्भव नही दिखाई देता कि हम कभी यह जान पायेंगे कि दण्ड की उत्पत्ति कब, क्यो और कैसे हुई? परन्तु ऐसा लगता है कि जब मानव सामाजिक प्राणी के रूप मे प्रकट हुआ, इसकी (दण्ड की) जड पहले ही सन्निहित थी।

दण्ड के सिद्धान्त (Theories of Punishment)

(1) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive theory)

यह सिद्धान्त बदले की भावना (vengeance sentiment) पर आधारित है तथा इस मान्यता पर बल देता है कि अपराधी को दण्ड देना राज्य का निश्चयात्मक नैतिक (positive moral) कर्त्तव्य है। इस सिद्धान्त का आधार 'दाँत के लिए दाँत'

[1] Bronislaw Malinowski, *Crime and Custom in Savage Society*, Harcourt, Brace & Co, New York, 1932

[2] Robert H Lowie, *Primitive Society*, Boni and Live right, New York, *1920, 397–426*

[3] Ellsworth Faris, *The Nature of Human Nature*, McGraw Hill Book Co, New York, 1937

[4] Georg P Murdock, *Our Primitive Contemporaries*, Macmillian Co, New York, 1934, 43

[5] *L Hobhouse*, *Morals in Evolution*, Vol I, Chapman and Hall, London, 1906, 79-133

[6] E H Sutherland and D K Cressay, *Principles of Criminology*, The Times of India Press, Bombay, 1965, 389

तथा 'आँख के लिए आँख' है। यह माना जाता है कि यदि अपराधी ने किसी की आँख निकाली है तो हमें भी उस अपराधी की आंख निकालनी चाहिए; यदि उसने किसी का (शारीरिक) अंग नष्ट किया है तो हमें उसका अंग नष्ट करना चाहिए और यदि उसने किसी का दांत तोड़ दिया है तो उसका वैसा ही दांत तोड़ना चाहिए।[1] अपराधी ने क्योंकि कानून का उल्लंघन किया है और किसी को हानि पहुँचाई है तथा क्योंकि वह समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन में असफल रहा है, इस कारण उसे दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिए। फिर, यदि उसे दण्ड न दिया गया तो क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) व उसके रिश्तेदार एवं मित्र अपराधी को दण्ड देने का कार्य स्वयं अपने हाथ में लेंगे तथा उस समाज से असहयोग करेंगे जिसने उनकी रक्षा नहीं की है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि प्रतिशोधन (retribution) सामाजिक एकता प्राप्त करता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड अपराधी के असामाजिक व्यवहार का एक स्वाभाविक और तर्कपूर्ण परिणाम है। यह उस नैतिक व्यवस्था की सर्वोच्चता और सत्ता का प्रतिसमर्थन व पुष्टिकरण है जिसे अपराधी ने अपनी क्रिया से भंग किया है। समाज इस क्रिया के प्रति अपना तिरस्कार व विरोध व्यक्त करने के लिए उसे दण्ड देता है। इस क्रिया के लिए दण्ड न देना उसी प्रकार तर्क-विरुद्ध व अनुचित होगा जिस प्रकार एक बीमार व्यक्ति को औषधि देने से मना करना होगा। अतः अपराध के लिए दण्ड 'नकारात्मक अपेक्षा' (negative regard) है जो अपराधी ने स्वयं प्राप्त किया है। काण्ट (Kant) और हीगल (Hegal) भी इस विचार को मानते थे।

परन्तु इस सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करके इनकी आलोचना करना आवश्यक है।

(i) यह सिद्धान्त अपराध और दण्ड के मध्य समता (equality) का नियम तथा उचित और अनुचित दण्ड के मध्य विभेद करने वाला संलक्षण (criterion) पेश नहीं करता। हत्या जैसे अपराधों में तो यह नियम (जीवन के लिए जीवन) सरल हो सकता है परन्तु सभी अपराधों में अपराध और दण्ड का समीकरण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, जालसाजी, अपहरण, व्यभिचार आदि अपराधों के लिए समान दण्ड क्या हो सकता है ?

(ii) राज्य द्वारा अपराधी के लिए ऐसी ही क्रूरता प्रयोग करना, जो उसने क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) के लिए प्रयोग की थी, समुदाय के लिए नैतिक पतन होगा।

(iii) यदि हम बदले की भावना के औचित्य को स्वीकार करते हैं तब किसी भी अपराधी को क्षमा करना अनैतिक होगा। किन्तु मानव-जाति की नैतिक और

[1] If a man has caused the loss of a man's eye, his eye one shall cause to be lost; if he has shattered a man's limb, one shall shatter his limb; if a man has made the tooth of a man that is his equal fall out, one shall make his tooth fall out.

धार्मिक अन्तर्भावना ने दान और दया को सदा ही सर्वोच्च मूल्य तथा क्षमा को दैवी मूल्य प्रदान किया है।

(iv) अपराधी को दण्ड देने के अभाव मे क्षतिग्रस्त व्यक्ति द्वारा समाज के साथ सहयोग न करने एव उसका अपराधी को दण्ड देने का कार्य स्वय हाथ मे लेने की मूल कल्पना सही नही है। क्षतिग्रस्त व्यक्ति का अपराधी के प्रति रोष तब तक रहता है जब तक उसको पहुँचाई गई क्षति के लिए हरजाना नही मिलता। हरजाना मिलने के उपरान्त उसका क्रोध ठण्डा हो जाता है तथा वह अपराधी के प्रति दया की भावना विकसित करता है एव इस बात पर कदापि बल नहीं देता कि अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड देकर उससे बदला लिया जाये। काल्डवेल[1] का भी कहना है कि अपराध के क्षतिग्रस्त व्यक्ति अपराधियो को शारीरिक यन्त्रणा देने के विचार से ही झिझकते है। वास्तव मे मानवतावादी आन्दोलन के अनुरूप आजकल अपराधी कानून मे कठोरता को कम करने तथा शारीरिक कष्ट उत्पन्न करने वाले दण्ड को समाप्त करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है।

(v) दण्ड मे शारीरिक कष्ट को समाप्त करने का अर्थ यह नही है कि हम क्षतिग्रस्त व्यक्ति तथा समाज के हितो की उपेक्षा कर रहे है, हम केवल इस बात पर बल दे रहे हैं कि समाज के हितो के साथ-साथ अपराधी के अपराध के कारणो को जानते हुए उसके (अपराधी के) पुन स्थापन को भी ध्यान मे रखना होगा।

(vi) शारीरिक दण्ड की समाप्ति से अपराधी उस पीडा व कष्ट से छुटकारा नही पा सकेगा जिसकी क्षतिग्रस्त व्यक्ति व उसके मित्र और रिश्तेदार आशा करते हैं, केवल उसे पीडा देने के लिए दूसरा उपाय अपनाया जा रहा है।

(vii) इस युग मे यह सोचना कि अपराधी को बदले की भावना से कठोर दण्ड देकर उसे हम पुन अपराध करने से रोकने मे सफल होगे, सही नहीं हैं। अपराधी को बार-बार अपराध करने से केवल तभी रोका जा सकता है जब वह स्वय यह अनुभव करे कि वह गलत कार्य कर रहा है। मैकेन्जी (Mackenzie)[2] का भी कहना है कि अपराधी तभी वास्तविक पश्चाताप करेगा जब वह यह अनुभव करेगा कि उसे दिया गया दण्ड उसकी स्वय की क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है और यही अनुभव ही दूसरो मे अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करेगा।

इन आलोचनाओ के उपरान्त भी हम यह नही कहते कि दण्ड-व्यवस्था ही समाप्त की जाये। हमारा विचार है कि कुछ अपराधियो के अपराध की प्रकृति व उनके कारणो को देखते हुए उन्हे कठोर दण्ड देना अति आवश्यक होता है। फिर, समाज के सदस्यो मे कानून के प्रति निष्ठा व भय तब तक रहेगा जब तक कि कानून के उल्लघन के लिए अपराधियो को दण्ड न दिया जाये। ऐसा न करने का अर्थ यह

[1] Robert G Caldwell, *op cit*

[2] 'It is only when an offender sees the punishment of his crime to be the natural or logical outcome of his act that he is likely to be led to any real repentance and it is only this recognition also that it is likely to lead others to any real abhorrence of crime '—Mackenzie.

होगा कि कानून का पालन करने वाले व्यक्तियों को तथा कानून-उल्लंघनकर्त्ताओं को समान दृष्टि से देखा जा रहा है। ऐसा करने से व्यक्ति कानून के पालन को व्यर्थ व निरर्थक समझेगा तथा इससे स्थापित व्यवस्था को भी खतरा होगा।

अपराधी को दण्ड देना एक संकेत (symbol) प्रस्तुत करता है जिससे कानून का पालन करने वाले व्यक्ति कानून के पालन का समर्थन करते रहते हैं तथा उन्हें अपराध के विरुद्ध लड़ने के लिए शक्ति मिलती रहती है। इससे लोगों में न्याय की भावना भी बनी रहती है। अतः दण्ड में प्रतिशोधन की आवश्यकता में कमी का दृष्टिकोण व्यक्तियों में कानून के पालन के प्रति क्षीण उत्तरदायित्व की प्रवृति की ओर संकेत करता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त को 'बदले की भावना' व 'शारीरिक यन्त्रणा' की दृष्टि से देखना तो अवश्य अनुचित होगा परन्तु 'कठोर दण्ड' देने की दृष्टि से गलत नहीं होगा। स्पष्ट है कि यहाँ हम 'कठोर दण्ड' और 'शारीरिक यन्त्रणा' में अन्तर मानते हैं। प्रतिशोधन को दण्ड का एक उद्देश्य मानना ही होगा, किन्तु इस सिद्धान्त को इस रूप में संशोधित करके स्वीकार किया जा सकता है कि सभी अपराधियों को उनके अपराध की गम्भीरता के अनुसार तथा दूसरों को पहुँचाई गयी क्षति के अनुरूप समान रूप से दण्ड देना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख अपराधशास्त्री माइटरमायर (Mittermeir)[1] ने भी यह कहा था कि वह दण्ड जो अपराध की गम्भीरता से एक कण भी अधिक होता है, अनुचित है। हार्ट (Hart)[2] का कहना है कि यदि अपराधी कानून की व्यवस्थित प्रक्रिया द्वारा बदले की भावना की स्वाभाविक इच्छा पूरी नहीं की जाती तो हमें वैयक्तिक रूप से अधिक रक्तमय (bloody) बदला लेने तथा कौलिक प्रतिहिंसा व कुल-वैर (vendetta) की स्थिति की ओर जाना होगा।

(2) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त की तरह अपराधी को दण्ड देकर बाधा-ग्रस्त कानून को पुनः स्थापित करना नहीं है किन्तु इसका प्रमुख ध्येय अपराधी को पुनः अपराध करने से रोकना तथा अन्य व्यक्तियों के लिए भय व आतंक उत्पन्न करना है कि अपराध करने से कठोर दण्ड मिलता है। किसी न्यायाधीश का एक अभियुक्त को यह कहना कि वह उसे इस कारण दण्ड नहीं दे रहा है कि उसने भेड़ चुराई है परन्तु इस कारण दे रहा है कि भविष्य में भेड़ चुराने का साहस न करे, इस सिद्धान्त की दृष्टि सीमा को स्पष्ट करता है। जॉन सालमण्ड (John Salmond) का भी कहना है कि दण्ड का प्रमुख उद्देश्य अपराधी को उसी प्रकार के व्यक्तियों (यानी जिनमें दण्डित अपराधी की तरह अपराध करने की मनोवृत्ति होती है) के लिए उदाहरण व चेतावनी के रूप में प्रस्तुत करना है। इसी सिद्धान्त के आधार पर अनेक समाजों में सार्वजनिक रूप से सार्वजनिक स्थानों में कठोर व

[1] See Hart's article in *Crime and Justice*, Vol. II, *op. cit.*, 28.
[2] *Ibid.*, 29.

भीषण दण्ड देने की प्रणाली आरम्भ की गयी थी।

यह सिद्धान्त 'स्वतन्त्र इच्छा' (Freedom of will) की विचारधारा पर आधारित है तथा इसमें यह मान्यता मिलती है कि अधिकतर व्यक्ति परिकलक (calculating) होते हैं तथा आत्महित व स्वार्थ के आधार पर कार्य करते हैं। अत यदि उनको यह अच्छी तरह प्रदर्शित किया जाये कि कुछ कार्यों से कोई लाभ नहीं होता, उनको उन कार्यों से रोका जा सकता है।

जो व्यक्ति स्वतन्त्र इच्छा की विचारधारा मे विश्वास करते हैं उन्हें स्वेच्छाचारी व मुक्तिवादी (libertarians) कहा गया है। इन स्वेच्छाचारवादियो के अनुसार व्यक्ति किसी सीमा तक अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होता है। अत समाज को किसी रूप मे उसे प्रेरित करना चाहिए कि वह अपना व्यवहार सामान्य रूप से स्वीकृत आदर्श स्थिति के अनुरूप बनाये रखे। जब वह कानून का उल्लघन करता है तब यह मान लिया जाता है कि यदि वह चाहता तो बिना कानून के उल्लघन के कार्य कर सकता था। अत यह धारणा रहती है कि क्योकि उसने स्वयं को पर्याप्त रूप से अनुशासित नही किया है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। इससे न केवल उसे भविष्य के लिए शिक्षा मिलेगी परन्तु उसके अनुभव से प्रेरित होकर अन्य व्यक्ति भी कानून का पालन करेंगे।

परन्तु बार्न्स और टीटर्स[1], सदरलैण्ड[2], नैथेनियल (Nathaniel), कैन्टर (Cantor)[3], आर्थर एवान्स (Arthur Evans), जॉन बार्कर (John Barker)[4], चैपमैन[5], कोहेन[6], आदि जैसे नियतिवादी (determinists) इस 'स्वतन्त्र इच्छा' की विचारधारा को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार इस विचारधारा मे मौलिक असामजस्य (fundamental inconsistency) मिलता है। उनका तर्क है कि इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति की इच्छा का उसके अनुभवो और शिक्षा से कोई सम्बन्ध नही है। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति को शिक्षा देने का क्या उद्देश्य है? वास्तव मे शिक्षा इसी मान्यता पर दी जाती है कि व्यक्ति का चयन उसके पूर्ववर्ती अनुभवो से निर्धारित होता है तथा यह चयन अन्य व्यक्तियो से सम्पर्क मे आकर सीखे गये मूल्यो द्वारा अभिव्यक्त होता है। अत इस तर्क के आधार पर हमे 'स्वतन्त्र इच्छा' की विचारधारा को अस्वीकार ही करना होगा तथा यह मानना होगा कि अपराधी व्यवहार 'स्वतन्त्र इच्छा' की अभिव्यक्ति नही है किन्तु वशानुक्रमण एव पर्यावरण की उपज है।

[1] H E Barnes and Teeters, *New Horizons in Criminology*, Prentice Hall, New York, 1959

[2] E H Sutherland, *Principles of Criminology*, *op cit*, 364–67.

[3] Cantor, *Crime and Society*, Henry Halt & Co, New York, 1939, 183–87

[4] John Barker, *Crime and its Treatment*, American Book Co, New York, 1941, 484-86.

[5] Chapman, *Determination or Freewill*, Pioneer Press, London, 1943

[6] Morris R Cohen, 'Moral Aspects of the Criminal Law', *The Yale Law Journal*, April 1940, 1009-26.

कुछ समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययनों ने भी यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपराध व्यक्ति की मानसिक रचना व सामाजिक पर्यावरण का परिणाम है तथा व्यक्तियों की क्रियाएँ कभी-कभी मनोवेग व अन्तःप्रेरणा पर आधारित होती हैं जिनको वे न तो समझ पाते हैं और न जिन पर उनका कोई नियन्त्रण ही होता है। यदि यह विचार सही है तब प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त की कल्पना व तर्क में कोई तथ्य नहीं रह जाता।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि अधिकांश अपराधियों के अपराध पूर्व-नियोजित नहीं होते किन्तु परिस्थितिजनित होते हैं। सेठना[1] ने 101 हत्या करने वाले अपराधियों के अध्ययन में 76% हत्याएँ भावात्मक और केवल 24% ही पूर्व-नियोजित पायीं। मैंने स्वयं भी राजस्थान, मध्य प्रदेश व पंजाब में 1966 और 1968 के मध्य हत्या करने वाली 136 महिला अपराधियों के अध्ययन[2] में पाया कि 60·2% की हत्याएँ पूर्व-नियोजित थीं। अतः जब अधिकांश अपराध पूर्व-नियोजित नहीं होते तब यह कैसे स्वीकार किया जाये कि अन्य व्यक्तियों को मिला दण्ड किसी एक व्यक्ति के लिए 'भय' व 'डर' का कार्य करेगा व उसे अपराधी बनने का प्रतिरोध करेगा। यह तो उसी प्रकार होगा कि एक आदमी कोई दुर्घटना कर बैठे और उसकी इसलिए मार-पीट की जाये जिससे दूसरे व्यक्ति कोई दुर्घटना न करें। जिस प्रकार दुर्घटना आकस्मिक होती है उसी प्रकार अधिकांश अपराध परिस्थितिजनित होते हैं। हमें हर अपराध के कारणों को ढूँढ़कर उनका निवारण करना होगा। कुछ अपराधों में यद्यपि हम कारण ढूँढ़ नहीं पाते तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि उनमें कारण है ही नहीं। कोई भी अपराधी अपराध के लिए इस कारण उत्तरदायी (accountable) नहीं है कि वह स्वयं अपनी इच्छा से अपराधी बनना चाहता है परन्तु इस कारण है क्योंकि उसमें कुछ वे 'तत्त्व' हैं जो उसे अपराधी बनाते हैं।

प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध अन्तिम तर्क यह दिया जाता है कि व्यक्ति को दण्ड का भय हो सकता है परन्तु आर्थिक असुरक्षा का भय उसे अपराध करने के लिए बाध्य कर सकता है। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य केवल भय के कारण नहीं होता; उसके बहुत से कार्य निष्ठा, उत्तेजना की भावना, महत्त्वाकांक्षा, क्रोध, लोभ, वासना, कामना व आक्रोश आदि के कारण भी होते हैं जो उसे कभी-कभी कानून का उल्लंघन करने के लिए बाध्य करते हैं।

प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त भी प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की तरह कठोर दण्ड पर बल देता है। अब कुछ विद्वान् प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त को तो मानते हैं परन्तु वे इस तथ्य को नहीं मानते कि अपराधी को कठोर दण्ड देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वे यह तो स्वीकार करते हैं कि दण्ड भय का कार्य करके व्यक्ति को अपराध करने में

[1] M. J. Sethna, *Society and Criminal.*

[2] Ram Ahuja, 'Female Murderers in India', *Indian Journal of Social Work*, Vol. 31, No. 3, Bombay, October 1970, 279.

प्रतिरोधन करता है परन्तु इस प्रतिरोधन के लिए यह आवश्यक नही है कि दण्ड कठोर ही दिया जाये । इनका कहना है कि दण्ड की कठोरता नही परन्तु दण्ड की निश्चितता अपराध करने का प्रतिरोधन करती है । बैकेरिया और बेन्थम भी इस विचार के समर्थक थे । बैकेरिया[1] का विचार था कि मनुष्य कानून के लिए नही है परन्तु कानून मनुष्य के लिए होता है तथा कानून का पालन करना मानवीय प्रसन्नता की वृद्धि के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एक साधन है । अत व्यक्तियो की क्रियाएँ इसी लक्ष्य और साधन के सन्दर्भ मे देखनी चाहिए । यदि वह कानून का उल्लघन करता है तो उसे उसी उल्लघन की हानि के अनुपात मे दण्ड देना चाहिए । इस प्रकार बैकेरिया अपराधी को गम्भीर दण्ड व कठोर यातना देने के पक्ष मे नही था । वह यह भी मानता था कि अपराध के लिए दण्ड पूर्व-निश्चित होना चाहिए जिसमे व्यक्ति उसके परिणामो को सोचकर कानून का उल्लघन न करे । इससे सिद्ध होता है कि बैकेरिया और बेन्थम यह मानते थे कि अपराधी को दण्ड न केवल उसके स्वय के अपराध के लिए परन्तु अन्य लोगो को अपराध करने से रोकने के लिए भी दिया जाता है ।

(3) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative theory)

वर्तमान मे बहुत से विद्वानो ने दण्ड का प्रमुख उद्देश्य अपराधी का सुधार बताया है जिससे वह अपना सामाजिक व्यवस्था मे समायोजन कर सके । इस सिद्धान्त के प्रमुख तीन लक्षण निम्न हैं—

(i) यह सिद्धान्त 'अपराध' पर बल न देकर 'अपराधी' को केन्द्र-बिन्दु मानता है; (ii) इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी के अपराध का कारण समाज, दोषपूर्ण सामाजिक पर्यावरण और वे परिस्थितियाँ हैं जिनमे समाज व्यक्ति को रहने के लिए बाध्य करता है, तथा (iii) यह सिद्धान्त अपराधी की तुलना एक बीमार व्यक्ति से करता है जिसको दवा देने का उद्देश्य उसे रोग मे छुटकारा दिलाना है । इस सिद्धान्त मे विश्वास करने वालो का विचार है कि (अपराधी) सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रम मे शारीरिक दोषो का विचार, व्यक्तित्व के सुसमजन मे कमी, सगठित समाज पर अहितकर प्रभावो को दूर करना तथा अच्छे नागरिक होने के नियमो की अन्तर्निविष्टि जैसे उपाय सम्मिलित होने चाहिए । इस (सुधार-सम्बन्धी) प्रोग्राम मे कुछ पीडा भी अनिवार्यत होनी चाहिए; और कुछ नही तो स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध तो अवश्य होना चाहिए । दूसरे शब्दो में, सुधारात्मक क्रिया-विधि इतनी सुखद भी न हो कि वह अपराधी-क्रियाओ को अधिक प्रोत्साहित करे तथा साथ मे इस प्रकार भी परिकल्पित हो कि अपराधियो के व्यक्तित्व मे वाछनीय परिवर्तन ला सके । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुधारात्मक सिद्धान्त मे भावुकतापूर्ण (sentimental) और उपयोगितावादी (utilitarian) प्रेरको (motives) का मिश्रण मिलता है ।

[1] Cesare Beccaria, *Essay on Crimes and Punishment*, Stephen Gould, New York, 1809, 59

औषध की उपचार शक्ति तथा शिक्षा द्वारा विचारों में परिवर्तन की सम्भावना लोगों के इस विचार को प्रोत्साहित करती है कि अपराधी को पुनः शिक्षित कर समाज का उपयोगी सदस्य बनाया जा सकता है। यथार्थतः आर्थिक दृष्टि से भी प्रत्येक स्त्री और पुरुष समाज के लिए बहुमूल्य पूंजी होते हैं। अतः क्या यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें कारावास में रखकर अनुपयोगी बनाने के स्थान पर सुधारात्मक उपाय अपनाकर उपयोगी जीवन के लिए बचाया जाये ?

कुछ दण्डशास्त्री दण्ड की सीमाओं को बताकर अपराधी को दण्ड देने के स्थान पर उसे सुधारने पर बल देते हैं। इन लोगों द्वारा दी गई दण्ड की प्रमुख सीमाएँ व हानिकारक प्रभाव इस प्रकार हैं—

(i) यदि पीड़ा को वास्तव में प्रभावशाली बनाना है तो इसे उस क्रिया के तुरन्त बाद दिया जाना चाहिए जिसके लिए उसे (पीड़ा को) पहुँचाया जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि अपराधी को उसकी अपराधी क्रिया के महीनों और कभी-कभी वर्षों बाद दण्ड दिया जाता है। इस विलम्ब के कारण अपराध और दण्ड में कोई संसर्ग नहीं रह पाता तथा दण्ड का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

(ii) दण्ड अपराधी को समाज का शत्रु बना देता है क्योंकि दण्ड की अवधि की समाप्ति के उपरान्त भी समाज उससे अपराधी की तरह ही व्यवहार करता है। इस प्रकार कलंकीकरण के कारण व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से कानून पालन करने वाले समूहों से पृथक् हो जाता है तथा पुनः अपराधियों के सम्पर्क में रहने के लिए बाध्य हो जाता है एवं अपने को सुधारने के लिए संरचनात्मक प्रयास करना छोड़ देता है।

(iii) दण्ड अपराधी को अपराध करने के लिए सतर्क बनाता है तथा निपुण व युक्तिशील उपाय अपनाने के लिए बाध्य करता है। अपराधी को दण्ड स्मरण रहता है और उस स्मरण के कारण वह पुनः अपराध करने पर ऐसे उपाय अपनाता है जिनसे उसके पकड़े जाने की सम्भावना न रहे। इस प्रकार वह साधारण अपराधी से कभी-कभी जघन्य अपराधी बन जाता है।

(iv) कभी-कभी दण्ड अपराधी को अपराधी-संसार में ऊँची स्थिति प्रदान करता है। ऐसे समूह में उच्च स्थिति प्राप्त करना, जिसके मत उसके लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, उसके लिए लाभदायक ही रहता है।

(v) दण्ड अवांछनीय धारणाएँ उत्पन्न करता है और क्षुब्ध, प्रतिशोधपूर्ण व क्षतिप्रद होने के उपरान्त तथा दिल में समाज के प्रति कटुता होने के कारण अपराधी समाज को हानि पहुँचाने के लिए सदा अवसर की खोज में रहता है।

दण्ड के इन दोषों व सीमाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में दण्ड सम्बन्धी नीति में परिवर्तन अति आवश्यक है। दण्ड के प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक व सुधारात्मक लक्ष्यों में सन्तुलन के लिए अपराधी को दण्ड देते समय तीन बातों को केन्द्र-बिन्दु बनाना चाहिए—(1) परिस्थिति जिसमें अपराध किया जाता है; (2) अपराध की प्रकृति, तथा (3) अपराधी का व्यक्तित्व। इस दण्ड-नीति

विश्लेषण के पूर्व हम दण्ड के विशिष्टीकरण तथा दण्ड के प्रकारो का विश्लेषण करेगे।

दण्ड के प्रकार (Forms of Punishment)

अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियो मे किये गये दण्डनीय (penal) सुधारो के पूर्व अपराधी को दण्ड देने के लिए मुख्यत निम्न तरीके प्रयोग किये जाते थे

(1) अंग काटना (Mutilation)—दण्ड का यह प्रकार प्रतिशोध के सिद्धान्त तथा आँख के लिए आँख की धारणा पर आधारित था। चोर के हाथ काट देना, झूठ बोलने वाले के कान काट देना, देशद्रोही की जबान काट देना, जासूस की आँखें निकाल देना, इसके कुछ उदाहरण है। दण्ड का यह तरीका अपराधी को पुन अपराध करने से भी रोकता था, क्योंकि अग काट देने से उसके लिए पुन दोहराना (repetition) असम्भव हो जाता था। 1935 और 1936 के बीच डेनमार्क (Denmark) मे 600 यौनवृत्ति का अपराध करने वाले व्यक्तियो (sex offenders) को नपुसक (castrate) किया गया था।[1] कभी-कभी अग काट देने से इतना खून बह जाता था या ऐसा रोग-सचार (infection) हो जाता था जिससे अपराधी की मृत्यु ही हो जाती थी।

(2) दाहांकित करना (Branding)—अपराधी के शरीर के किसी प्रमुख अग पर उसके द्वारा किये गये अपराध का नाम जलते हुए लोहे से छाप देना भी दण्ड का एक उपाय अपनाया जाता था; जैसे, उसके बाँह पर 'चोर' लिखना या पीठ पर 'झूठा' लिखना। यह माना जाता था कि दाहाकित करने से उत्पन्न सामाजिक कलक (social disgrate) न केवल अपराधी के लिए परन्तु अन्य व्यक्तियो के लिए भी अवरोधक प्रभाव का कार्य करेगा।

(3) कुन्दे व कटघरे मे जकड़ना (Stocks and Pillory)—कुन्दे की विधि मे लकड़ी के चौखटे मे छेद करके उनमे अपराधी के टखनो (ankles) को जजीर से बाँध दिया जाता था। पिलोरी में अलग-अलग आकार और आकृति के लकड़ी के कठघरे बनवाकर उनके साथ अपराधी को बाँधकर शहर मे घुमाया जाता था। ऐमे अपराधियो के साथ क्योकि चारण (minstrels) भी होते थे और दर्शक बँधे हुए अपराधियो पर गन्दी सब्जियाँ, फल, कीचड़, पत्थर आदि फेंकते थे, इससे एक ओर अपराधी का अपमान और तिरस्कार होता था तो दूसरी ओर जनता का मनोरजन भी हो जाता था।

(4) देश निर्वासन (Exilement, banishment, transportation, deportation)—गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्तियो को देश से बाहर किसी पूर्व निश्चित स्थान पर (जैसे अण्डमान और निकोबार) निष्कासित किया जाता था। भारत मे यह दण्ड अधिकाशत हत्यारो व देश-द्रोहियो के लिए उपयोग किया जाता था।

(5) कोड़े मारना (Flogging)—शारीरिक दण्ड का सबसे प्रसिद्ध रूप कोड़े

[1] Herbert Bloch and Gilbert Geis, *Man, Crime and Society*, Random House, N York, 1962

मारना था। अपराधी को खम्भे से बाँधकर चमड़े के चाबुक से पूर्व निश्चित संख्या के आधार पर कोड़े लगाये जाते थे। कोड़े जनता के सामने खुले मैदान में लगाये जाते थे जिससे अन्य अपराधियों पर भी प्रतिरोधक प्रभाव पड़ सके। पाकिस्तान में जिया के सैनिक राज में आज भी यह तरीका प्रयोग किया जाता है। कुरान में भी वेश्याओं के लिए 100 कोड़े लगाने पर बल दिया गया है।

दण्ड में विविधता सम्बन्धी व्याख्याएँ
(Explanations for Variations in Punishment)

कुछ समाज कुछ अपराधियों को गम्भीर और कुछ को साधारण दण्ड क्यों देते हैं? इसी प्रकार एक ही समाज में समय-समय पर दण्ड में विविधता क्यों मिलती है? सदरलैण्ड ने दण्ड में विविधता पाये जाने सम्बन्धी तीन व्याख्याओं की चर्चा की है: सांस्कृतिक अनुरूपता की व्याख्या, मनोविश्लेषिक व्याख्या, समाजशास्त्रीय व्याख्या।

(i) **सांस्कृतिक अनुरूपता व्याख्या (Cultural consistency explanation)**–इस विचारधारा के अनुसार दण्ड के प्रकार और दण्ड की गम्भीरता एक दिये हुए समय में संस्कृति के अन्य परिवर्धनों से अनुरूप रहेंगे।[1] जब शारीरिक पीड़ा (physical suffering) को व्यक्ति का नियमित भाग्य (natural lot) माना जाता था, अपराधी को दण्ड देने के लिए शारीरिक दण्ड (corporal punishment) के गम्भीर स्वरूप (severe forms) प्रयोग किये जाते थे। जब व्यक्ति की महिमा (dignity) और नागरिकों की समानता (equality) के महत्त्व (importance) पर बल दिया जाने लगा तब दण्ड में समरूपता (uniformity) पायी जाती थी। जब मूल्य व्यवस्था (price system) विकसित हुई और वस्तु (commodity) और उचित मूल्य (fair price) के मध्य सम्बन्ध सुझाया गया तब अपराध के अनुरूप दण्ड (punishment fitting the crime) वाली विचारधारा का पालन होता था। बैकेरिया और बेंथम जैसे क्लैसिकल अपराधशास्त्रियों ने भी कहा कि दण्ड अपराध के अनुरूप होना चाहिए। अब चिकित्सा उपचार (medical treatmant) की तरह अपराधियों के उपचार में भी विशिष्टीकरण (individualisation) पर अधिक बल मिलता है। इसी प्रकार अब जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता को संस्कृति का महत्त्वपूर्ण लक्षण माना जाने लगा है, बन्दीकरण को दण्ड का गम्भीर स्वरूप समझा जाता है। इस प्रकार कौन से मूल्य अपना महत्त्व खोते हैं या प्राप्त करते हैं, यह अपराधी के लिए दण्ड की प्रकृति को निर्धारित करता है।

(ii) **मनोविश्लेषिक व्याख्या (Psychoanalytic explanation)**—मनोविश्लेषिक (psychoanalysts) दण्ड को व्यक्ति के आक्रमणकारी प्रवृत्तियों (aggressive impulses), विशेषकर सेक्स प्रवृत्ति (sex drive) को तृप्त करने की आवश्यकता के आधार पर समझाते हैं। इस आधार पर यह कहा जाता है कि जब लिंगीय व्यवहार (sexual behaviour) पर बहुत अधिक दमन नहीं रहता, अपराधियों

[1] Sutherland, *Criminology*, *op. cit.*, 345.

का दण्ड भी गम्भीर नही रहता। इसी प्रकार यदि व्यक्ति को आक्रमण (aggression) व्यक्त (express) करने के लिए अन्य तरीके उपलब्ध हो जाते है (जैसे युद्ध-काल मे) तब समाज अपराधियो पर अपना आक्रमण व्यक्त नही करता। अत जैसे-जैसे आक्रमणकारी मनोवृत्तियाँ मुक्त (release) करने तथा लिंगीय प्रवृत्तियो को निकास (outlet) मिलने मे भिन्नता (variation) मिलती है, वैसे-वैसे दण्ड मे भी भिन्नता मिलती है। परन्तु यह *व्याख्या बहुत अस्पष्ट (vague) है। आक्रमणकारी प्रवृत्तियो* को निकास मिलने के अवसरो का परीक्षण कैसे किया जाये ?

(iii) **समाजशास्त्रीय व्याख्या** (Sociological explanation)—यह विचारधारा दण्ड को सामाजिक संरचना (social structure) के लक्षणो से सम्बन्धित करती है। एक मत यह है कि जब समाज मे श्रमिको की अधिक आवश्यकता होती है तब अपराधियो का दण्ड साधारण होगा क्योकि कैदियो को श्रमिको की तरह प्रयोग किया जाता है। जब श्रमिक अधिक उपलब्ध होगे, कैदियो को कठोर दण्ड दिया जायेगा। यदि हम इस विचारधारा को स्वीकार करते है तो बेरोजगारी के काल मे दण्ड अधिक गम्भीर होना चाहिए। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण (evidence) नही मिलता।

एक अन्य सामाजिक संरचना सिद्धान्त के आधार पर सदरलैण्ड ने दण्ड की प्रकृति और मध्य वर्ग के बीच सम्बन्ध बताया है। इस व्याख्या के अनुसार जब निम्न मध्य वर्ग (जो अपनी इच्छाओ का सामान्यत दमन करता है) के हाथ मे दण्ड प्रक्रिया निहित रहती है, वह अपराधियो को गम्भीर दण्ड देता है, और जब निम्न मध्य वर्ग समाज मे अनुपस्थित रहता है, अपराधियो को गम्भीर दण्ड नही दिया जाता। किन्तु इस विचारधारा मे निम्न मध्य वर्ग की स्पष्ट परिभाषा नही मिलती है।

दुर्खीम ने भी दण्ड की सामाजिक संरचनात्मक व्याख्या दी है। इनका कहना है कि दण्ड का प्रकार समाज मे *श्रम-विभाजन की जटिलता (complexity) के साथ परिवर्तित होता रहता है। जिन समाजो मे यान्त्रिक एकता* (mechanical solidarity) पायी जाती है अर्थात् जिन समाजो मे श्रम-विभाजन कम मिलता है, सामाजिक संस्कृति (social cohesion) अधिक मिलती है और (नियमो से) विचलन इस संस्कृति के लिए खतरा पैदा करता है, वहाँ दण्ड साधारण मिलता है जिससे केवल विचलन को दबाया जा सके। परन्तु जिन समाजो मे श्रम-विभाजन जटिल मिलता है तथा *जहाँ जैविक एकता (organic solidarity) मिलती है, वहाँ दण्ड गम्भीर मिलता है।*

इसी प्रकार दण्ड की गम्भीरता को समाज मे सामाजिक विघटन की मात्रा से भी सम्बन्धित किया गया है। जब समाज मौलिक रूप से समरूप (basically homogeneous) होता है, (नियमो से) विचलन कम पाया जाता है और दण्ड भी गम्भीर नही होता, परन्तु जब भिन्नता (heterogeneity) बढती है तो सामाजिक विघटन भी बढता है, विचलन भी बढता है और दण्ड मे गम्भीरता भी।

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तो का आनुभविक (empirical) प्रमाण के अभाव मे समर्थन नही किया जा सकता।

दण्ड का विशिष्टीकरण (Individualisation of Punishment)

अपराध को रोग की तरह मानने की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर, कुछ अपराधशास्त्री अपराध के स्थान पर अपराधी को दण्ड का केन्द्र-बिन्दु मानने के विचार पर बल देते हैं। जिस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान में वर्तमान में एक ही रोग के लिए एक ही औषधि के स्थान पर व्यक्तिगत रोग-निदान (diagnosis) तथा व्यक्तिगत उपचार को महत्त्वपूर्ण माना जाता है, इसी प्रकार यह माना जाता है कि चूंकि एक ही प्रकार का दण्ड विभिन्न व्यक्तियों पर समान प्रभाव नहीं डालता इस कारण दण्ड को 'अपराध' से जोड़ने की अपेक्षा 'अपराधी' के अनुरूप बनाना अधिक उचित और यथार्थवादी (realistic) होगा। यद्यपि इस विचार के निरूपण और अनुप्रयोग में तर्क मिलता है किन्तु कोहेन[1] का कहना है कि इस विचार को पूर्णतया स्वीकार करने में निम्न दो तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(i) दण्ड के विशिष्टीकरण के समर्थकों को दण्ड और रोग के मध्य तुल्यरूपता (analogy) देने में सतर्क व सचेत रहना चाहिए क्योंकि अपराध शारीरिक तत्त्वों का प्रत्यक्ष परिणाम न होकर सामाजिक संस्थाओं पर अधिक निर्भर करता है। सामाजिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली को जाने बिना तथा अपराधी के व्यक्तिगत स्वभाव की जानकारी प्राप्त करने के साधनों के अभाव में उसके उपचार का विचार ही वास्तव में अयुक्तिक (irrational) है। एक चिकित्सक को रोगी के चरित्र के पूरे परिचय की आवश्यकता नहीं है। रोग के निदान में पुनरावर्तक (recurrent) लक्षणों की खोज करके वह सीमित विकल्पों (alternatives) के दायरे में रोगी का उपचार आरम्भ करता है। परन्तु एक न्यायाधीश अपराधी के चरित्र की पूरी जानकारी बिना उसका सही उपचार कदापि नहीं कर सकता।

(ii) विशिष्टीकरण की विचारधारा में उग्र कल्पनावादी व आभासवादी स्थिति (nominalistic position) की प्रवृत्ति मिलती है अर्थात् इस विचारधारा को मानने वाले इस तार्किक तथ्य को भूल जाते हैं कि व्यक्तियों की तुलना में वर्गों से सम्बन्धित विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करना अधिक सरल है तथा कुछ उद्देश्यों के लिए व्यक्तियों की अपेक्षा वर्ग अधिक प्रासंगिक (relevant) होते हैं। जब हमारे देश पर कोई शत्रु आक्रमण करता है तब हम आक्रमणकारी व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं परन्तु आक्रमण करने वाली सेना के विरुद्ध उपाय अपनाते हैं। इसी प्रकार अपराध में भी 'अपराधी व्यक्ति' की अपेक्षा 'अपराधी समूह' व 'अपराधी वर्ग' को केन्द्र-बिन्दु बनाना अधिक वैज्ञानिक सिद्ध हो सकता है।

दण्ड का इतिहास (History of Punishment)

भारत में दण्ड के विभिन्न रूपों के विश्लेषण के लिए हमें इसके इतिहास को चार काल में देखना होगा—(1) पूर्व-मुस्लिम काल, (2) मुस्लिम काल, (3) ब्रिटिश

[1] Moris R. Cohen, 'Moral aspects of punishment' in *Crime and Justice*, Vol. II, 38-39.

काल, और (4) स्वतन्त्रता के बाद का काल।

पूर्व मुस्लिम काल मे अपराधियो को दण्ड देने का अधिकार केवल शासनकर्ता को ही था। अपराधी से अपराध स्वीकार करवाने के लिए यन्त्रणापूर्ण उपाय प्रयोग किये जाते थे। अपराध स्वीकार करने के उपरान्त अपराधी के लिए दण्ड के रूप भी कष्टप्रद हुआ करते थे। छोटे-छोटे अपराधो के लिए कोडे मारना, शरीर के विभिन्न अगो को काटना, देश निष्कासन आदि उपाय अपनाये जाते थे। यह कहना गलत न होगा कि दण्ड का उद्देश्य अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड देकर उससे समाज को मुक्ति दिलाना ही था। आठवी व पन्द्रहवी शताब्दियो के मध्य अपराधियो को दण्ड देने मे जातिगत भेद-भाव भी ध्यान मे रखा जाने लगा। ब्राह्मणो को जघन्य अपराध के लिए भी साधारण दण्ड ही दिया जाता था जबकि निम्न जाति के अपराधियो को साधारण अपराध के लिए भी कठोर दण्ड दिया जाता था। उदाहरण के लिए, गुप्तकाल मे हत्या जैसे गम्भीर अपराध करने वाले ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड न देकर केवल उसके सिर के बाल कटवा दिये जाते थे जबकि इसी हत्या के अपराध के लिए अन्य जातियो के व्यक्तियो के लिए मृत्यु-दण्ड निर्धारित था।

मुस्लिम काल मे भी दण्ड के लिए यन्त्रणापूर्ण उपाय प्रयोग किये जाते थे। अपराधियो को खूंखार जानवरो से लडाना, उबलते तेल मे डालना, जिन्दा दीवार मे चुनवाना, घोडो की पूंछ से बांधकर उन्हें मीलो घसीटवाकर मारना आदि कुछ तरीके थे जो उस समय अपराधियो को दण्ड देने के लिए अपनाये जाते थे। ब्रिटिश काल मे इन यन्त्रणापूर्ण तरीको को समाप्त कर कारावास, जुर्माना व देश-निष्कासन पर ही बल दिया गया। 1920 के उपरान्त जेलो मे भी नये उपाय अपनाकर इनको सुधारात्मक सस्थाओ के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश-निष्कासन व कोडे मारने को बिल्कुल समाप्त किया गया है, बाल-अपराधियो एव साधारण वयस्क अपराधियो के लिए परिवीक्षा प्रणाली अधिक प्रयोग की जा रही है तथा आदर्श एव खुले बन्दीगृह स्थापित कर कारागृहो को भी अधिक उपयोगी बनाया गया है।

1952 मे बम्बई मे केरावाला (Kerawala) द्वारा कुछ अपराधियो के अध्ययन मे पाया गया कि 84% को जुर्माना, 12% को कारावास, 3% को जमानत पर छोडना, 0 8% को देश-निष्कासन, 0·2% को कोडे मारना, तथा 0 02% को मृत्यु दण्ड दिया गया था। इन आंकडो मे अधिकाश अपराधियो का दण्ड जुर्माने के रूप मे मिलता है। इस दण्ड (जुर्माना) के पक्ष तथा विपक्ष मे बहुत से तर्क मिलते हैं। पक्ष मे तर्क हैं : (i) इससे एक ओर राज्य को आर्थिक लाभ होता है तो दूसरी ओर योग्य अपराधो (deserving cases) मे क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) की भी हानि-पूर्ति की जा सकती है। (ii) जुर्माना अपराधी के चरित्र, धन व अपराध की गम्भीरता को देखकर समजित (adjust) किया जा सकता है। (iii) इसमे कारावास जैसा कोई कलकीकरण नही मिलता है। (iv) जुर्माना राज्य के लिए अल्पव्ययी दण्ड है क्योकि इसमे उसे कुछ भी व्यय नही करना पडता है। (v) मृत्यु-दण्ड, कारावास व कोडे मारना एक बार दिये जाने के उपरान्त वापस नही किये जा सकते हैं परन्तु आवश्यकता

पड़ने पर जुर्माना लौटाया जा सकता है ।

जुर्माने के विपक्ष में तर्क इस प्रकार दिये जाते हैं : (i) सुधार की दृष्टि से दण्ड का यह उपाय प्रभावशाली नहीं है । (ii) जुर्माने से न केवल अपराधी परन्तु उसके माता-पिता व आश्रित आदि भी कष्ट उठाते हैं । (iii) यह अपराधियों का पुनः अपराध करने से प्रतिरोधन नहीं करता । (iv) यद्यपि अमीर अपराधियों के लिए जुर्माना दण्ड का कोई कार्य नही करता परन्तु निर्धन अपराधियों के लिए यह कभी-कभी गम्भीर दण्ड हो जाता है ।

फौजदारी (Non-Civil) अपराधों में वर्तमान में कारावास सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है । भारत में प्रत्येक वर्ष जिन लगभग 3,75,000 अपराधियों को कारावास मिलता है उनमें से 85% को छह माह से कम, 10% को छह माह से अधिक परन्तु दो वर्ष से कम, 4% को दो वर्ष से अधिक तथा 1% को जीवन-कारावास दिया जाता है ।[1] वर्तमान में फिर साधारण अपराधियों को परिवीक्षा पर छोड़ने की प्रवृत्ति पर अधिक बल मिलता है ।

दण्ड नीति में परिवर्तन की आवश्यकता
(Need for Change in Sentencing Policy)

प्रश्न है कि क्या दण्ड की उपर्युक्त विधियाँ दण्ड के प्रमुख उद्देश्यों को प्राप्त करती हैं ? क्या यह अपराधी को सुधारने में व पुनः अपराध न करने से रोकती हैं ? हमारा विचार है कि वर्तमान दण्ड-नीति को बदलना अति आवश्यक है । एक-दो या चार-छः महीने तथा कम अवधि के लिए अपराधी को जेल में रखने से कोई लाभ नहीं होता तथा हानि अधिक होती है । इन अपराधियों में से जब 75% से अधिक परिवीक्षा पर छोड़े जाने के योग्य होते हैं तब न्यायालय क्यों नहीं अपना दृष्टिकोण बदलते ? क्या अपराध को केवल कानूनी दृष्टि से ही देखना चाहिए अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी ? जब हम अपराधी का सुधार दण्ड का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं और वर्तमान में हम समाज के हितों के साथ अपराधियों के हितों की भी रक्षा करना चाहते हैं, तो न्यायालय क्यों कानून के वैधानिक पक्ष पर अधिक बल देते हैं ? अपराधी को परिवीक्षा पर छोड़ने से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त उसे कारावास के कलंकीकरण से भी बचाया जा सकता है ।

इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि हम कारावास को बिल्कुल ही समाप्त करना चाहते हैं । हमारा विश्वास है कि कुछ अपराधियों के लिए कारावास अति आवश्यक है । परन्तु बन्दी अपराधियों के लिए फिर हम (i) छुट्टी और पैरोल व्यवस्थाएँ, (ii) खुले बन्दीगृहों का अधिक उपयोग, तथा (iii) अनिश्चित दण्ड-अवधि की व्यवस्था आवश्यक मानते हैं । पहले व दूसरे सुझावों का विस्तृत विवरण हम अन्य अध्यायों में दे चुके हैं; अतः यहाँ हम केवल अनिश्चित दण्ड व्यवस्था का ही उल्लेख करेंगे ।

[1] See *Probation and Prisons—A Statistical Analysis*, Central Bureau of Correctional Services, Delhi, 1972, 42.

अनिश्चित दण्ड व्यवस्था (Indeterminate Sentence System)

इस व्यवस्था मे कारावास की न्यूनतम व अधिकतम सीमाएँ न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाती है परन्तु निश्चित अवधि एक विशेष स्थापित बोर्ड द्वारा तय की जाती है। न्यूनतम अवधि के न्यायालय द्वारा निश्चित किये जाने के उद्देश्य है (i) बोर्ड के भावुक या भ्रष्ट होने पर नियन्त्रण रखना, (ii) अपराधी को कुछ काल के लिए अवश्य जेल मे रखना; और (iii) बोर्ड को अपराधी का अवलोकन कर उसके लिए निश्चित अवधि निर्धारित करने के लिए कुछ समय देना। इसी प्रकार न्यायालय द्वारा अधिकतम अवधि निश्चित करने का उद्देश्य बोर्ड को अनावश्यक रूप से रक्ष व निर्दय होने से रोकना है।

अनिश्चित दण्ड अवधि व्यवस्था अमरीका मे उन्नीसवी शताब्दी के अन्त (1889) से आरम्भ की गयी थी और इस समय चार राज्यो के अलावा शेष सभी 46 राज्यो मे मिलती है। इन राज्यो मे 1910 मे जब 37% दण्डित अपराधियो को अनिश्चित अवधि के आधार पर बन्दी बनाया गया था, 1940 मे 40% को, 1946 मे 45% को तथा 1950 मे 46% को।[1] अब जब यह व्यवस्था अमरीका मे सफलतापूर्वक कार्य कर रही है तो क्यो न इसे भारत मे भी आरम्भ किया जाये ?

यहाँ पर इस व्यवस्था के विरुद्ध दिये गये तर्कों का विश्लेपण करना भी आवश्यक है। प्रमुख रूप से इसके विरुद्ध निम्न तर्क दिये जाते है

(1) इससे क्योकि कारावास का औसत काल कम हो जाता है, अपराध की सख्या बढ़ने की सम्भावना बढ जाती है, (2) यह व्यवस्था केवल अपराधी के सुधार पर बल देती है तथा दण्ड के प्रतिशोधात्मक एव प्रतिरोधात्मक उद्देश्यो की अवहेलना करती है, (3) बन्दी के वास्तविक सुधार के समय को ज्ञात करने के लिए इस व्यवस्था ने कोई सन्तोषजनक उपाय निश्चित नही किया है, (4) बोर्ड द्वारा कारावास की निश्चित अवधि जेल सन्तरी की रिपोर्ट के आधार पर तय की जाती है, जब यदि किसी कारणवश कोई बन्दी सन्तरी को रुष्ट करता है और उस रुष्टता के कारण सन्तरी प्रतिकूल रिपोर्ट देता है तब बन्दी को अनावश्यक रूप से लम्बी अवधि तक जेल मे रहने के लिए बाध्य होना पडता है, (5) इस व्यवस्था मे क्योकि बन्दी का जेल से छुटकारा अच्छी रिपोर्ट पर निर्भर करता है अत बन्दी का जेल मे सम्पूर्ण व्यवहार अपने मूल्यो को परिवर्तित करने के उद्देश्य से नही किन्तु केवल अच्छी रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए ही होता है अर्थात् इससे बन्दियो मे चापलूसी की भावना उत्पन्न होती है, (6) इस व्यवस्था के प्रशासन के लिए उपयुक्त अधिकारी उपलब्ध नही होते जिस कारण अधिकाश अनुपयुक्त अधिकारी ही नियुक्त किये जाते है जो व्यवस्था की सफलता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं, तथा (7) छूटने की निश्चित समय की अनिश्चितता बन्दियो मे व्यग्रता उत्पन्न करती है।

परन्तु उपर्युक्त तर्कों मे अधिक युक्ति व दलील नही है।

(1) यह तर्क कि इसमे कारावास का औसत काल कम हो जाता है सही नही

[1] E. H. Sutherland, *Principles of Criminology*, op. cit., 552

है। अमरीका में 1936 में कारावास-सम्बन्धी आंकड़े सिद्ध करते हैं कि कम-अवधि-कारावास वाले अपराधों में निश्चित अवधि व्यवस्था तथा अनिश्चित अवधि व्यवस्था की औसत अवधि बराबर होती है किन्तु लम्बी अवधि कारावास के अपराधों में, विशेषकर जहाँ कारावास की अवधि दस वर्ष से अधिक होती है, औसत अवधि अधिक होती है। यह निम्न आंकड़ों से भी सिद्ध होता है[1]—

अपराध	निश्चित दण्ड-व्यवस्था में औसत कारावास-अवधि (वर्ष)	अनिश्चित दण्ड-व्यवस्था में औसत कारावास-अवधि (वर्ष)
सेंधमारी	1·64	2·55
चोरी	1·36	2·35
लूट	1·77	5·39

यही तथ्य परिवीक्षा में औसत अवधि के लिए भी सही हैं।

(2) दूसरा तर्क कि अनिश्चित दण्ड-व्यवस्था केवल अपराधी के सुधार-सम्बन्धी पहलू पर ही ध्यान रखती है तथा दण्ड को प्रतिशोधात्मक एवं प्रतिरोधात्मक पहलुओं की अवहेलना करती है, सही नहीं है। न्यूनतम अवधि की व्यवस्था इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही है।

(3) तीसरे तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान निश्चित दण्ड-व्यवस्था में भी तो अपराधी के सुधार को मालूम करने के लिए कोई साधन नहीं है। वर्तमान व्यवस्था में जैसे ही अपराधी की कारावास-अवधि समाप्त होती है उसे छोड़ दिया जाता है, फिर चाहे उसका सुधार हुआ हो या नहीं।

(4) सन्तरी के स्पष्टता-सम्बन्धी चौथे तर्क में कुछ दलील अवश्य मिलती है। परन्तु क्या वर्तमान व्यवस्था में न्यायालयों द्वारा निर्णय लेने में अभिनति (bias) नहीं मिलती ? क्या हमें यह ज्ञात नहीं है कि न्यायाधीश द्वारा निर्णय लेते समय अपराधी की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को अवश्य आधार बनाया जाता है ? जिस अपराध के लिए प्रेम आहूजा की हत्या करने वाले नानावती को जीवन-कारावास दिया गया था (जो बाद में केवल 5 वर्ष का ही रह गया था), उसी अपराध के लिए उसी महीने व उसी दिन किये गये (राजस्थान में) अपराध के लिए एक अन्य अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया गया था।

(5) जेल में बन्दियों द्वारा केवल अच्छी रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए व्यवहार करने सम्बन्धी तर्क के प्रति यह कहा जा सकता है कि यह खतरा वर्तमान व्यवस्था में भी मिलता है। जेल में अपराधी का व्यवहार निश्चित रूप से अपने को सुधारने हेतु नहीं होता, वह तो केवल समय काटने के लिए ही होता है। फिर, सजा में छूट की व्यवस्था (remission) के कारण भी अपराधी सदा इस बात का प्रयास करता रहता है कि उसका व्यवहार ऐसा रहे जिससे जेल-अधिकारी उसको अधिक से अधिक छूट दिलवा सकें।

(6) प्रशासन के लिए अनुपयुक्त अधिकारी-सम्बन्धी दोष वर्तमान न्यायिक प्रणाली मे भी मिलता है। इस समय जो न्यायाधीशो के चुनाव व प्रशिक्षण के लिए प्रोग्राम अपनाये जाते हैं, वैसे ही बोर्ड के सदस्यो के लिए भी अपनाये जा सकते हैं।

(7) छूटने की अनिश्चितता के कारण उत्पन्न व्यग्रता-सम्बन्धी तर्क इस कारण सही नही है कि कुछ न्यूनतम काल के लिए तो अपराधी को जेल मे रहना ही होता है और इस न्यूनतम काल की समाप्ति से पूर्व ही बोर्ड अपराधी के लिए निश्चित अवधि घोषित कर देता है, अत बंदी के लिए व्यग्रता के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता। अनिश्चित दण्ड-व्यवस्था का सबसे बडा लाभ यह होगा कि अपराधी को अनावश्यक रूप से बहुत लम्बे समय के लिए जेल मे नही रहना पडेगा। इससे दण्ड के वैधानिक पहलू से ध्यान हटकर सामाजिक पहलू पर अधिक केन्द्रित होगा।

बंदी के लिए जेल मे रहने के लिए यथार्थ अवधि निश्चित करने के लिए बोर्ड कौन-सा उपाय अपनाता है, यह इस समय तो विवादास्पद प्रश्न ही रहेगा। अमरीका मे वर्तमान मे इस सम्बन्ध मे तीन उपाय अपनाये जाते है (1) अक देने की व्यवस्था (marking system), (2) प्रगामी योग्यता व्यवस्था (progressive merit system), तथा (3) 1933 के अमरीकी पैरोल समिति द्वारा स्वीकृत नियम। अकन व्यवस्था के अनुसार (i) निश्चित अक प्राप्त करने के उपरान्त ही कैदी को जेल से छोडा जाता है; (ii) अच्छे व्यवहार के लिए अधिक अक मिलते है तथा बुरे व्यवहार, आलस्य, असावधानी आदि के लिए अक कम किये जाते हैं; (iii) निश्चित अक मिलने पर कैदी एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी मे पदोन्नत किया जाता है और उच्च श्रेणी मे अक भी उसे अधिक मिलते हैं, तथा (iv) नियमित अको के अलावा विशिष्ट सराहनीय क्रियाओ के लिए बोनस अक दिये जाते हैं।

इस अकन व्यवस्था को कुछ लोगो ने दोषपूर्ण बताया है। उनके तर्क हैं कि : (क) सन्तरी को अक बढाने या कम कराने की सिफारिश करने का अधिकार देकर उसे अनावश्यक रूप से स्वतन्त्री व निरकुश व्यक्ति बनाया गया है, तथा (ख) एक ही क्रिया एक सन्तरी द्वारा जेल-नियमो का लघु-उल्लघन और दूसरे (सन्तरी) द्वारा बृहत् (major) उल्लघन मानी जा सकती है। उदाहरण के लिए, एक सन्तरी एक क्रिया को 'असावधानी' (negligence) रिपोर्ट करता है तो दूसरा उसी को 'अनधीनता' (*insubordination*), तीसरा 'आज्ञा-उल्लघन' (*disobedience*) और चौथा 'अनादर' (disrespect)। अब आज्ञा-उल्लघन के लिए दस अक काटे जाते हैं, अनादर के लिए 100 अक तथा अनधीनता के लिए 200 अक। अत अक देने या घटाने की व्यवस्था अभिनतिपूर्ण (biased) होती है।

प्रगामी के अनुक्रमक योग्यता व्यवस्था मे अक नही दिये जाते परन्तु धीरे-धीरे अपराधी की स्वतन्त्रता बढाई जाती है तथा उसे अधिक विशेषाधिकार (privileges) दिये जाते हैं। 1933 की पैरोल समिति के नियमो के अनुसार फिर अपराधी के मन की स्थिति, अपनी समस्याओ के प्रति धारणाएँ, उस पर्यावरण की अनुरूपता जिसमे छूटने के उपरान्त उसे रहना है आदि से सम्बन्धित मूल नियम

निश्चित किये गये हैं।

हमारा विचार है कि भारत में यथार्थ अवधि निश्चित करने के लिए इन तीनों व्यवस्थाओं की मिश्रित प्रणाली अपनाई जा सकती है। अधिक सुरक्षा वाली जेल से माडल जेल में, माडल जेल से खुले बन्दीगृह में तथा खुले बन्दीगृह से पैरोल पर छोड़े जाने सम्बन्धी पदोन्नति के नियम बनाये जा सकते हैं। एक जेल से दूसरी जेल में पदोन्नति व्यवहार द्वारा निश्चित की जा सकती है। परन्तु छोड़े जाने के लिए जो भी प्रणाली अपनाई जाये, यह आवश्यक है कि अनिश्चित दण्ड-व्यवस्था परीक्षण के रूप में कुछ प्रकार के अपराधियों के लिए शीघ्र अपनाई जानी चाहिए। अपराधी के सुधार में स्थिर (static) दण्ड-नीति की तुलना में गतिशील (dynamic) दण्ड-नीति अधिक सफल होगी।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि भारत में दण्ड-व्यवस्था में परिवर्तन-सम्बन्धी निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(1) **मानवतावाद** (Humanitarianism)—दण्ड-प्रणाली कम से कम कष्ट-जनक एवं व्यथायुक्त होनी चाहिए।

(2) **परिशोधन** (Atonement)—दण्ड-प्रणाली अपराधी को अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप कराने योग्य होनी चाहिए।

(3) **प्रतिशोध से संरक्षण** (Protection from retaliation)—अपराधियों व सन्देहयुक्त अपराधियों को अनधिकारिक प्रतिशोध से संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

(4) **लघुकरण** (Reductivism)—दण्ड इस रूप में दिया जाये जिससे अन्य व्यक्तियों का कानून-उल्लंघन से प्रतिरोधन कर दण्ड देने की संख्या कम की जा सके।

(5) **सामंजस्य** (Consistency)—दण्ड-प्रणाली इस रूप में परिकल्पित की जानी चाहिए कि समान अपराधों के लिए समान दण्ड दिया जाये। इस सुझाव को समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। कालू और इम्तयाज को सोने के बिस्कुट की तस्करी करने के अपराध में दण्ड देने पर कालू को 500 रुपये जुर्माना और इम्तयाज को एक वर्ष का कारावास दिया गया है। इम्तयाज द्वारा उच्च न्यायालय में अपील करने पर उसके दण्ड को अनुचित नहीं माना जाता, उल्टा कालू को 500 रुपये का जुर्माना बहुत कम बताया जाता है। किन्तु सामंजस्य की दृष्टि से न्यायालय इम्तयाज की दण्ड-अवधि इतनी कम कर देता है जिससे वह शीघ्र छोड़ा जा सके। दूसरे शब्दों में, यद्यपि न्यायालय को यह अधिकार है कि दो अपराधियों में से कम से कम एक को उचित दण्ड दे परन्तु यह विचार कि दोनों अपराधियों को समान दण्ड मिले, न्यायालय कालू को ऐसा दण्ड देता है जिसे वास्तव में वह अपर्याप्त मानता है। दण्ड-प्रणाली का इस प्रकार का अभिकल्पन अति अवैज्ञानिक होगा। अतः वर्तमान दण्ड-व्यवस्था में उपर्युक्त सुझावों के आधार पर परिवर्तन आज की तात्कालिक आवश्यकता है।

चौथा अध्याय

प्राणदण्ड
(CAPITAL PUNISHMENT)

प्राणदण्ड की उत्पत्ति-सम्बन्धी मान्यता की पृष्ठभूमि मे अशत प्रतिशोध की भावना और अशत जघन्य अपराधियो से समाज को मुक्त करने का विचार है। कतिपय विद्वानो के मत मे प्राचीन एव मध्ययुगीन प्राणदण्ड के प्रमुख कारण दो थे (i) मानव जीवन प्राचीन काल मे तुच्छ माना जाता था तथा (ii) मध्ययुग मे जीवन के प्रति यद्यपि आदर व्यक्त किया जाने लगा था तथापि दैवी अधिकार (divine right) के अन्तर्गत राज्य को सर्वशक्तिमान एव सर्वसत्ताधारी को न्याय का एकमात्र साधन व शान्ति और लोक सुरक्षा का सरक्षक माना जाने लगा। अत सर्वसत्ताधारी, समाज मे सगठन स्थापित रखने के नाम पर, किसी भी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड दे सकता था।

मृत्युदण्ड के कारणो का विश्लेषण करते हुए अमरीका के एक प्रमुख न्यायवादी (attorney) लिण्डा सिगर (Linda Singer) ने कहा है कि पुराने काल मे मृत्युदण्ड इस कारण दिया जाता था क्योकि भयकर एव क्रूर अपराधियो से छुटकारा पाने का और कोई विकल्प नही था। असभ्य होने के कारण व्यक्तियो को यह ज्ञान नही था कि ऐसे व्यक्ति से कैसा बर्ताव किया जाये जिसने अपने ही सम्बन्धी आदि की हत्या की हो। उन्होने क्योकि बदले की भावना से एक जानवर को दूसरे को मारते हुए देखा था अत. उन्होने सोचा कि उन्हे भी ऐसा ही करना चाहिए। हम मृत्युदण्ड की उत्पत्ति सम्बन्धी सिगर के इस मत से सहमत हो या नही परन्तु यह निश्चित है कि पुराने काल मे नागरिको को मौलिक अधिकार प्रदान करने की विचारधारा कतिपय नही थी तथा अपराधी को अधिकतम सजा देने एव अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्तियो को भयभीत करने की भावना व्याप्त थी।

फलत प्राणदण्ड को समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक बनाया गया तथा ऐसा समय भी आया जबकि नगण्य अपराध के लिए भी मृत्युदण्ड दिया जाने लगा। 1765 मे इग्लैण्ड मे लगभग 220 अपराधो के लिए मृत्युदण्ड निश्चित था। अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियो के मध्य तक भारत मे भी ऐसी ही परिस्थिति थी। 1814 मे 8, 9 और 11 वर्ष की आयु वाले तीन किशोरो को केवल जूते चुराने के छोटे-से अपराध के लिए प्राणदण्ड दिया गया था। मुगलकाल मे मृत्युदण्ड के लिए बहुत नृशस, निर्दय, यन्त्रणापूर्ण व बर्बर उपाय प्रयोग किये जाते थे, जैसे

अपराधी के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े करवाना, जीवित जलाना या गाढ़ देना, गरम तेल में उबालना, जंगली और भयानक जानवरों से लड़वाकर मरवा डालना, हाथी या घोड़े की पूंछ से बांधकर घसीटते-घसीटते मार देना, आदि। किन्तु इन यन्त्रणाप्रद व कष्टसाध्य तरीकों को अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटिश सरकार ने समाप्त कर दिया। सार्वजनिक फांसी भी उन्नीसवीं शताब्दी से समाप्त कर दी गई है। वर्तमान समय में दी जाने वाली फांसी के दण्ड के पांच लक्षण बताये जा सकते हैं: (1) फांसी का दण्ड एक सामाजिक नीति के रूप में दिया जाता है, (2) यह समुदाय के शासी सत्ता (governing authority) द्वारा दी जाती है। (3) फांसी कुछ वरित (selected) जघन्य अपराधों के लिए ही दी जाती है, (4) सार्वजनिक फांसी को समाप्त कर दिया गया है, तथा (5) फांसी के लिए कष्ट-रहित और शीघ्रग उपाय ही अपनाये जाते हैं।

उन्मूलन आन्दोलन (Abolition Movement)

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अनेक वैज्ञानिक अध्ययन अपराध के कारणों को ही सही रूप में समझने के लिए किये जा रहे हैं। फलतः अपराध का कारण अंशतः समाज और अंशतः व्यक्ति को माना जाकर मृत्युदण्ड के प्रति विचार में भी परिवर्तन आ गया है। कोई अपराधी असोध्य (incorrigible) नहीं होता तथा प्रत्येक अपराधी को स्वयं को सुधारने का अवसर अवश्य होना चाहिए। कई मान्यताओं के कारण अनेक देशों ने मृत्युदण्ड प्रणाली को या तो समाप्त कर दिया है या केवल 5–7 अपराधों के लिए ही यह दण्ड देते हैं।

सर्वप्रथम इटली निवासी बेकेरिया (Beccaria) ने अठारहवीं शताब्दी में मृत्युदण्ड के विरुद्ध विचार व्यक्त कर इसे समाप्त करने को कहा, किन्तु आस्ट्रिया ने सर्वप्रथम इस श्रेय को 1787 में प्राप्त किया। इसी अवधि में फ्रांस और इंग्लैण्ट में भी यद्यपि इस दण्ड की समाप्ति हेतु आन्दोलन प्रारम्भ हो गये किन्तु अधिक सफल नहीं रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में तीन प्रमुख विचारधाराओं ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया—(1) विक्टर ह्यूगो आदि दर्शनशास्त्रियों द्वारा समर्थित मानवतावाद ने दण्ड कम करने—विशेषकर शारीरिक और दमनीय दण्ट समाप्त करने—की मनोवृत्ति को बढ़ाया; (2) 1830 के पश्चात् प्रजातन्त्रीय सुधारों के अनुकूल विचारधारा ने राज्य के परमशक्तिवाद (absolutism) को सीमित करने पर बल दिया; तथा (3) बेन्थम (Bentham) से स्टुअर्ट मिल (Stuart Mill) व हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) तक स्पष्ट उपयोगितावादी (utilitarian) विचारधारा ने पीड़ा व दुःख के स्थान पर प्रसन्नता व सुख ढूंढ़ने के विचार की पुष्टि की। इस मत के अनुसार अपराधी को आवश्यकता से अधिक दण्ट न देने पर बल दिया गया। इन्हीं विचारों के कारण अपराधी को गम्भीरतम अपराध के लिए भी मृत्युदण्ट देने के तर्क को चुनौती दी गई। इन विचारधाराओं के कारण शनैः शनैः कुछ देशों ने मृत्युदण्ड समाप्त करना आरम्भ किया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में

लोम्ब्रोजो और गारोफैली आदि अपराधशास्त्रियो के इस कथन से कि उपयुक्त और अनुकूल साधनो द्वारा समाज को अपराधियो से सुरक्षित रखना चाहिए, तथा बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे जर्मनी के समाजवाद और इटली के फासिस्टवाद आन्दोलनो के कारण उत्पन्न इस विचार से कि क्रान्ति द्वारा उत्पादित नयी सामाजिक व्यवस्था को सभी उचित उपायो से प्रतिरक्षित करना चाहिए, मृत्युदण्ड समाप्ति हेतु आन्दोलन पर कुछ प्रभाव पडा किन्तु प्रथम महायुद्धोपरान्त ये (समाप्ति-सम्बन्धी) आन्दोलन पुन. तीव्र हो गये।

वर्तमान मे मृत्युदण्ड समाप्त करने वाले देशो को तीन समूहो मे विभाजित किया जा सकता है

(1) सांविधानिक व्यवस्था द्वारा समाप्त करने वाले देश (Abolitionist dejure)—इस समूह मे लगभग 25 देश हैं जिनमे नार्वे (1905), मैक्सिको (1929), स्वीडन (1921), आस्ट्रिया (1950), स्विट्जरलैण्ड (1942), इटली (1944), डेन्मार्क (1933), पुर्तगाल (1867), मोरावको (1943), कोलम्बिया (1910), अर्जेन्टाइना (1922), नीदरलैण्ड (1850), जर्मनी तथा अमरीका के कुछ राज्य व आस्ट्रेलिया का एक राज्य आदि शामिल है।[1]

(2) स्थापित प्रथानुसार मृत्युदण्ड न देने वाले देश, (यद्यपि कानून मृत्युदण्ड की अनुमति देता है *Abolitionist defacto*) इस समूह के चार-पाँच देशो मे से एक बेल्जियम है।

(3) वे देश जहाँ कानून केवल कुछ विशेष अपराधो के लिए किसी विशेष परिस्थिति मे ही प्राणदण्ड की अनुमति देता है किन्तु व्यवहार मे ऐसा कभी घटित नही होता। अत मृत्युदण्ड समाप्त ही हो गया है। आस्ट्रेलिया के तीन राज्य और अमरीका के दो राज्य इस समूह के उदाहरण है।

इग्लैण्ड मे मृत्युदण्ड 1969 मे समाप्त किया गया था यद्यपि थल-सेना (army), जल-सेना (naval force) व हवाई-सेना (air force) इसको अब भी मान्यता देती है।

दूसरी ओर लगभग एक सौ देश वर्तमान समय मे भी ऐसे है जहाँ प्राणदण्ड की व्यवस्था है। भारत, पाकिस्तान, रूस, थाईलैण्ड, फिलीपाइन्स, चीन, श्रीलका, जापान, बर्मा, ईरान, फ्रास, टर्की, इराक, अमरीका के 42 राज्य, स्पेन, युगोस्लाविया, सयुक्त अरब गणराज्य, इण्डोनेशिया, लेबनान आदि इनके कुछ उदाहरण है। किन्तु इनमे कुछ प्रकार के अपराधियो को मृत्युदण्ड से छूट दी गई है। ये छूट-प्राप्त व्यक्ति है · (i) अवयस्क (जिनकी आयु अलग-अलग देशो मे 15–20 वर्ष से कम है), (ii) गर्भवती स्त्रियाँ, (iii) विकृत व्यक्ति, और (iv) 70 वर्ष की आयु से अधिक वृद्ध व्यक्ति। गर्भवती स्त्रियो के मृत्युदण्ड को केवल प्रसव तक ही स्थगित किया जाता

[1] Karl F Schuessler, *'The deterrent influence of the Death Penalty'*, *Annals of the American Academy of Political and Social Science*, November 1952, 67

है। इन देशों में न्याय-हत्या (Miscarriage of Justice) के विरुद्ध भी कुछ रक्षात्मक उपाय अपनाये गये हैं, जैसे : (क) पुनर्विचार हेतु उच्च न्यायालय में अपील, (ख) अपराध के नवीन तथ्य ज्ञात होने पर मामले (case) का पुनर्विचार, तथा (ग) न्यायालय द्वारा मृत्युदण्ड की कुछ अन्य संस्थाओं द्वारा पुष्टि करना। इराक, फिलीपाइन्स व थाईलैण्ड में यह पुष्टिकरण अन्यायिक (non-judicial) संस्थाओं द्वारा किया जाता है तथा सूडान व रुमानिया में यह मन्त्री-परिषद् या न्याय-मन्त्रालय द्वारा किया जाता है। विभिन्न अपराध जिनके लिए इन देशों में मृत्युदण्ड दिया जाता है वे हैं : हत्या (58 देश), सशस्त्र विद्रोह (24 देश), आग लगाना (21 देश), समुद्री जहाजों को लूटना (11 देश), जासूसी (20 देश), शत्रु देश की सहायता करना एवं गुप्त सूचना भेजना (18 देश), अपहरण (5 देश), सरकार के विरुद्ध युद्ध (13 देश), लूट (8 देश) बलात्कार (5 देश), काले बाजार का धन्धा (4 देश), तथा जाली सिक्के बनाना (2 देश)।

भारत में प्राणदण्ड (Capital Punishment in India)

भारत में इस समय केवल सात अपराधों के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता है : हत्या, राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित करना, सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह (mutiny), झूठी साक्षी जिसके कारण निर्दोष व्यक्तियों को प्राणदण्ड दिया गया हो, किसी अल्पायु या मानसिक रूप से अक्षम या मदहोश व्यक्ति को आत्म-हत्या करने के लिए प्रेरित करना, देश की सैनिक गुप्त सूचनाएँ अन्य देशों तक पहुँचाना, तथा हत्या से सम्मिलित डाकेजनी। परन्तु 16 वर्ष से कम आयु वाले बाल-अपराधियों, असामान्य मस्तिष्क वाले व्यक्तियों तथा गर्भवती स्त्रियों को मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता। विगत 25–30 वर्षों में क्रियात्मक रूप से (in practice) केवल हत्याओं के लिए ही मृत्युदण्ड दिया गया है।

उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष लगभग 17 हजार हत्याएँ रिकार्ड की जाती हैं जो देश में कुल अपराधों का लगभग 1·5 प्रतिशत बनता है :[1]

वर्ष	हत्याओं की संख्या	वर्ष में कुल अपराधों का प्रतिशत
1971	16,180	1.6
1972	15,475	1.6
1973	17,072	1.6
1974	18,64)	1.6
1975	17,563	1.5
1976	16,673	1.5

1976 में की गई 16,673 हत्याओं के लिए 39,761 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया था।[2] इस प्रकार एक हत्या के लिए औसतन 2·3 व्यक्तियों को

[1] *Crime in India*, 1976, 5.
[2] *Ibid.*, 53.

गिरफ्तार किया जाता है ।

सर्वाधिक हत्याएँ उत्तर-प्रदेश मे और सब से कम हिमाचल-प्रदेश मे मिलती हैं। प्रति वर्ष पुलिस हत्या सम्बन्धी रिकार्ड किये गये कुल मामलो मे से तीन-चौथाई ही निष्पादित (dispose off) कर पाती है तथा एक-चौथाई मामले अनिर्णीत (pending) ही रहते हैं । हत्या के लिए प्रति वर्ष दोषारोपित (charge-sheet) किये गये कुल मामलो (लगभग 40 हजार) मे से एक चौथाई (लगभग 10 हजार) को दण्डित किया जाता है जिनमे से फिर केवल 10 प्रतिशत (लगभग एक हजार) को मृत्युदण्ड की सजा दी जाती है । इनमे से भी वास्तव मे 10 प्रतिशत से कम को (100 से कम) फासी दी जाती है । शेष हत्यारो का मृत्युदण्ड दयाभाव की प्रार्थना पर आजीवन कारावास मे परिवर्तित कर दिया जाता है । मृत्युदण्ड भोगने वालो मे आजकल केवल पुरुष ही होते हैं क्योंकि 1961 के उपरान्त भारत मे एक भी महिला को फासी नही दी गयी है । 1960 मे जब 791 मृत्युदण्ड प्राप्त करने वाले व्यक्तियो मे से केवल 210 (27%) को फासी दी गयी, 1970 मे 576 मृत्युदण्ड पाने वाले व्यक्तियो मे से केवल 13 (2 4%) को तथा 1970 मे 312 मे से केवल 82(26%) को ही फासी दी गयी । विभिन्न वर्षों के आंकडे निम्न सारणी मे दिये गये हैं

वर्ष	हत्याओ की सख्या	हत्या के लिए दोषारोपित व्यक्ति	हत्या के लिए दण्डित व्यक्ति	अभियुक्त निर्दोष घोषित व्यक्ति	मृत्युदण्ड मिलने वालो की सख्या	फाँसी दिये जाने वालों की सख्या
1960	12,631	21,587	7,992	13,595	791	210
1970	16,180	32,178	8,508	23,670	576	13
1974[1]	18,649	40,059	—	—	163	66
1976[2]	16,673	39,761	9,617	30,144	312	82

अत कहा जा सकता है कि प्रति वर्ष भारत मे 1960 तक जब लगभग 200 व्यक्तियो को मृत्युदण्ड दिया जाता है, 1964 के उपरान्त 90 से कम व्यक्तियो को फासी दी जाती है ।

भारत मे प्राणदण्ड समाप्ति के प्रयास

सर्वप्रथम ट्रावनकोर राज्य ने 1944 मे मृत्युदण्ड समाप्त किया किन्तु 1950 मे इस राज्य के भारत मे सविलयन के उपरान्त यहाँ अन्य राज्यो की तरह मृत्युदण्ड पुन आरम्भ हो गया । 1956 मे ससद-सदस्य एम० एल० अग्रवाल ने मृत्युदण्ड प्रणाली समाप्ति हेतु एक विधेयक लोक सभा मे प्रस्तुत किया जिसे नवम्बर 1956 मे अस्वीकार किया गया । तत्कालीन गृह-मन्त्री डा० के० एन० काटजू का मत था कि सरकारी नीति की दृष्टि से भारत मे बढते हुए अपराधो की सख्या को ध्यान मे

[1] *Crime in India*, 1976, 53

[2] Article on 'Capital Punishment : Crime against Criminals' in *Surya*, Oct, 1980, 29–33

रखते हुए इस विधेयक की अस्वीकृति वांछनीय है यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वे विधेयक के पक्ष में हैं। राज्य सभा में पुन: 1961 में मृत्युदण्ड समाप्ति विधेयक प्रस्तुत किया गया किन्तु सितम्बर 1961 में इसे अस्वीकार कर दिया गया। तत्कालीन गृह-विभाग की उप-मन्त्री श्रीमती वाइलेट अल्वा (Violet Alva) ने विधेयक पर बोलते हुए कहा था कि प्राणदण्ड समाप्ति के लिए भावावेश को आधार न बनाकर देश की परिस्थितियों के सही मूल्यांकन के आधार पर निर्णय करना चाहिए। उनके विचार में हत्याओं, डकैतियों और जघन्य अपराधों की बढ़ती हुई संख्या के कारण मृत्युदण्ड समाप्ति का समय नहीं आया है यद्यपि सिद्धान्त रूप में यह धारणा स्वीकार की जा सकती है।

1963 में पुन: प्राणदण्ड समाप्त करने की समस्या के अध्ययन हेतु एक विधि आयोग (Law Commission) नियुक्त किया गया। नवम्बर 1971 में इस विधि-आयोग ने भी प्राणदण्ड समाप्त न करने का सुझाव दिया। किन्तु इस आयोग का विचार था कि : (1) अठारह वर्ष से कम आयु वाले अपराधियों को मृत्युदण्ड नहीं देना चाहिए, तथा (2) स्त्रियों को मृत्युदण्ड से विमुक्त करने की आवश्यकता नहीं है। 1973 में गृहराज्य-मन्त्री राम निवास मिर्धा ने संसद में कहा कि मृत्युदण्ड सांविधानिक दृष्टि से मान्य (constitutionally valid) रहेगा परन्तु इसका प्रयोग केवल सीमान्त (extreme) मामलों में ही किया जायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर लोम्ब्रोजो, गारोफैलो, गिलिन, हर्बर्ट स्टीफेन्स, जार्ज आइविस (George Ives), चार्ल्स किंगसले आदि विचारक प्राणदण्ड समर्थक हैं, दूसरी ओर प्रो० हेंटिंग (Henting), बैकेरिया (Beccaria), गांधी जी आदि विद्वान् हैं जो इसे समाप्त करना चाहते हैं। हम दोनों सम्प्रदायों के मतों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

प्राणदण्ड यथावत् रखने के पक्ष में तर्क

(1) **प्रतिरोधात्मक तर्क** (Argument of deterrence)—प्राणदण्ड का भय व्यक्तियों को गम्भीर अपराध करने से रोक सकता है। साथ ही यह अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति को भयभीत भी करता है। लोम्ब्रोजो के मतानुसार अभ्यस्त व अप्रतिसमाधेय अपराधियों के लिए भय व धमकी के रूप में प्राणदण्ड बहुत अच्छी प्रणाली है।

(2) **प्रतिशोध का तर्क** (Argument of retribution)—प्रतिशोध की भावना से गम्भीर अपराध करने वाले को कठोरतम दण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि उसकी मृत्यु से ही जनसाधारण को सन्तुष्ट किया जा सकेगा व उन्हें अपने हाथों में कानून लेने से रोका जा सकेगा। अत: व्यक्ति द्वारा हत्या करने पर समाज उसकी हत्या करे। गारोफैलो के विचार में अपराधियों का निरसन (elimination) समाज के हित में एक प्रकार का नैतिक युद्ध (moral war) है।

(3) **सुरक्षा का तर्क** (Argument of security)—जनसाधारण की सुरक्षा की दृष्टि से गम्भीर अपराध करने वाले अपराधी को निरस्त (eliminate) करना आवश्यक है, जिससे वह अपराध की पुनरावृत्ति कर समाज को हानि न पहुँचाये और

न अवांछनीय आनुवशिक लक्षण ही प्रसारित करे। इसके सम्बन्ध मे जार्ज आइविस (George Ives) का कथन है कि निराशाजनक और अप्रतिसमाधेय अपराधियो का अनावश्यक अनुपोषण करने के स्थान पर राज्य को उन्हे बिना किसी पीड़ा व कष्ट के समाप्त कर देना चाहिए।

(4) **सामाजिक एकता का तर्क** (Argument of social solidarity)—इस तर्क के अनुसार मृत्युदण्ड समाज के सदस्यो को अपराध के विरुद्ध एकीभूत (unify) करता है व उनमे समैक्य भावना उत्पन्न करता है।

(5) **आर्थिक लाभ का तर्क** (Argument of economic benefit)—प्राणदण्ड बन्दी को जीवन-पर्यन्त या दीर्घकाल तक अनुपोषण करने से सस्ता है। इसे समाप्त करने से समाज को बहुत अधिक आर्थिक लाभ होगा। प्रत्येक बन्दी पर राज्य लगभग 60 रुपये प्रति माह व्यय करता है। यदि हत्यारे को मृत्युदण्ड न देकर 14 वर्ष भी कारागार मे रखें तो उस पर 10,080 रुपये, तथा उन 200 अपराधियों पर (1965 के पूर्व) जिन्हे प्रतिवर्ष मृत्युदण्ड दिया जाता है, 20,16,000 रुपये व्यय होंगे। इस 20 लाख की राशि को बचाकर अन्य किसी सार्वजनिक निर्माण-योजना पर लगाया जा सकता है।

परन्तु उपर्युक्त तर्कों की आलोचना निम्न प्रकार है—

(1) अधिकाश हत्याएँ सवेगात्मक (emotional) होती है अत प्राणदण्ड को भय के रूप मे प्रचलित नही रखा जा सकता। भय केवल पूर्व-निर्धारित अपराधो मे ही कार्य कर सकता है और वह भी शत-प्रतिशत अपराधो मे नही। एम० जे० सेठना[1] के 507 हत्याओ के अध्ययन मे से 73·8% हत्याएँ भावात्मक पायी गयी तथा केवल 26 2% पूर्व-निश्चित। मैंने स्वय 1966–69 मे अध्ययन किये गये 136 महिला-हत्या-अपराधियो मे से 52 9% हत्याएँ पर-प्रेरणा के कारण तथा 39 8% हत्याएँ सवेगात्मक और 60·2% पूर्व-कल्पित मिली।[2] थार्सटेन सेलिन (Thorsten Sellin)[3] के मत मे उपलब्ध प्रमाण से स्पष्ट है कि हत्याओ की सख्या और प्राणदण्ड मे सम्बन्ध तुलनात्मक दृष्टि से महत्वहीन है। बार्न्स और टीटर्स (Barnes and Teeters) भी इस सम्बन्ध मे हत्यारो के तीन प्रकार बताते हैं। उनके मत मे तीनो मे से किसी एक प्रकार के हत्यारे के लिए भी प्राणदण्ड प्रतिरोधात्मक नही है। ये तीन प्रकार है[4] : (i) पेशेवर सशस्त्र डाकू (*professional gunmen*), (ii) शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ हत्यारे जिन्हे सवेगात्मक परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है, तथा (iii) गम्भीर शारीरिक व मानसिक हीनता तथा दोषो से पीडित

[1] M J Sethna, *Society and the Criminal*, 1952, Bombay, 388

[2] Ram Ahuja, 'Female murderers in India a Sociological Study', *Indian Journal of Social Work*, October 1970, Vol XXXI, No 3, 277–79

[3] Thorsten Sellin, *Prison Journal*, October 1932 quoted by H E Barnes and N K Teeters in *New Horizons in Criminology*, Prentice Hall, Englewood, 1959, 318.

[4] Barnes and Teeters, *op cit*, 317.

हत्यारे जो हत्या को स्वाभाविक आचरण व व्यवहार के रूप में लेते हैं। इसी प्रकार जार्ज वोल्ड (George Vold)[1] और शूजलर (Schuessler)[2] का भी विचार है कि मृत्युदण्ड अपराधियों को रोक नहीं सकता।

(2) प्रतिशोधात्मक दण्ड इस वैज्ञानिक युग में अपराधी और समाज दोनों के ही हित में नहीं है। अपराधशास्त्र दण्ड के प्रतिशोधकारी (retributive) सिद्धान्त को हर प्रकार से अस्वीकार करता है।

(3) मृत्युदण्ड समाज के सदस्यों को अपराध के विरुद्ध एकीरूप (unify) नहीं करता क्योंकि मृत्युदण्ड के दृश्य जनसाधारण के लिए संवृत (closed) होते हैं तथा मृत्युदण्ड का कोई प्रचार नहीं किया जाता। तदुपरान्त अवैयक्तिक (impersonal) सम्बन्धों के कारण गम्भीर अपराधी भी जनता का ध्यान आकर्षित नहीं कर पाता।

(4) आर्थिक लाभ का तर्क भी हास्यास्पद (ridiculous) है। प्रतिवर्ष अपराधियों पर करोड़ों रुपये व्यय करने वाले राज्य के लिए 20 लाख रुपये की राशि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। तदुपरान्त आज के कारागारों में बन्दियों से पारिश्रमिक कार्य भी करवाया जाता है। बन्दी स्वयं की कमाई से अपना व अपने परिवार का अनुपोषण करता है तथा सरकार पर अधिक बोझ नहीं होता। इसके अलावा यदि हम अर्थ-व्यवस्था के तर्क को महत्त्व देते हैं तो हमें मानना होगा कि जो बन्दी पारिश्रमिक कार्य करने के योग्य नहीं हैं उन्हें भी मृत्यु दे देनी चाहिए। यदि तर्क के रूप में यह मान भी लिया जाय कि मृत्युदण्ड से कुछ बचत होगी तो क्या राज्य को प्रत्येक कार्य आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही करना चाहिए? यदि ऐसा होता तो सरकार करोड़ों रुपये शिक्षा, सड़क-निर्माण व रक्षा-सेवाओं पर व्यय न करती। सामाजिक रक्षा भी सरकार का एक प्रमुख कर्त्तव्य है।

ऐसे ही तर्कों के आधार पर बहुत विद्वान् प्राणदण्ड को समाप्त करने के पक्ष में मिलते हैं।

प्राणदण्ड समाप्ति के पक्ष में तर्क

(1) प्राणदण्ड का कोई प्रतिशोधात्मक मूल्य (deterrent value) नहीं है। इसके समर्थन में दो स्थानों के उदाहरण दिये जाते हैं। इटली में प्राणदण्ड 1890 में समाप्त कर दिया गया किन्तु 1933 में मुसोलिनी (Mussolini) ने पुनः इसे आरम्भ कर दिया। 1947 में पुनः समाप्त किया गया। समाप्ति के पश्चात् हत्याओं में वृद्धि के स्थान पर कमी हुई। 1945 में कुल 237 हत्याएँ हुई जबकि 1954 में इनकी संख्या केवल 46 थी। इसी प्रकार भारत में ट्रावनकोर में 1944 में प्राणदण्ड समाप्त करने पर हत्याओं की संख्या कम हो गई थी। 1946 में वहाँ 186 हत्याएँ हुई जबकि 1948 में इनकी संख्या 104 रह गई। 1950 में ट्रावनकोर के भारत में

[1] George Vold, *Prison Journal*, October 1932, 4-9, quoted by Sutherland in his book *Principles of Criminology*, Times of India Press, Bombay, 1965, 294.

[2] K.F. Schuessler, quoted by Sutherland. *op. cit.*, 295.

विलय होने पर जब पुन प्राणदण्ड प्रारम्भ हुआ तो हत्याओ की संख्या 1950 मे 159, 1951 मे 164 और 1952 मे 170 हो गई। अत. विद्वानो के मत मे इन आँकड़ो से स्पष्ट है कि हत्याओं के बढने-घटने का सम्बन्ध केवल प्राणदण्ड प्रणाली के अस्तित्व या अभाव से नही होता तथा मृत्युदण्ड का कोई प्रतिशोधात्मक मूल्य नही है। साथ मे यह भी कहा जाता है कि क्रूर अपराधी सामान्य लोगो से अलग प्रकार का व्यक्ति होता है और यह आवश्यक नही कि वह मृत्युदण्ड से आतंकित होकर अपराधी कर्म छोड़ दे।

बैकेरिया (Beccaria)[1] का भी मत है कि व्यक्ति के मन व बुद्धि पर पीड़ा व कष्ट की उग्रता का प्रभाव उतना नही पड़ता जितना उनकी निरन्तरता (continuance) का पड़ता है क्योंकि हमारी संवेदन शक्ति (sensibility) हिंसात्मक और क्षणिक मनोवेग (momentary impulse) की अपेक्षा बार-बार दुहराई गई क्रियाओ से सुगमता व शक्तिशाली रूप में प्रभावित होती है। अपराधी की मृत्यु भयानक होते हुए भी क्षणिक दृश्य (momentary spectacle) होने के कारण अन्य व्यक्तियों पर प्रतिरोधात्मक प्रभाव कम ही डालती है। इसके विपरीत व्यक्ति को उसकी स्वाधीनता व स्वतन्त्रता से वंचित करके तथा उसे पशुवत् निरस्कृत (condemn) करके उस क्षति को पूर्ण करने के लिए बाध्य किया जा सकता है जो उसने समाज को पहुँचाई है।

(2) दूसरा तर्क है कि भारत मे जब प्रति वर्ष लगभग 10,000 व्यक्तियो को न्यायालय हत्या के लिए दण्डित करते है तब इनमे से वर्तमान मे 100 से भी कम व्यक्तियो को ही वास्तव मे फांसी दी जाती है। शेष व्यक्ति वैधानिक त्रुटि (legal loopholes) व विकृत होने आदि तत्त्वो के कारण मृत्युदण्ड से बच जाते हैं। अर्थात् प्रतिवर्ष न्यायालयो द्वारा मृत्युदण्ड प्राप्त समस्त व्यक्तियो मे से केवल 1% ही मृत्युदण्ड भोगते हैं। अत. हम जब 99% को मृत्युदण्ड नही देते तब केवल एक प्रतिशत को ही मृत्युदण्ड क्यो दिया जाय।

(3) वास्तविक मृत्युदण्ड भुगतने वाले निर्धन, अप्रभावशाली व साधारण अपराधी होते हैं। साधन सम्पन्न (resourceful) व धनी वर्ग के जघन्य अपराधी मृत्युदण्ड से बच जाते हैं।

(4) न्यायशास्त्र के मूल सिद्धान्तो के अनुसार न्यायिक दण्ड के पीछे अपराधी के सुधार की भावना निहित है। परन्तु मृत्युदण्ड दिये जाने पर अपराधी मे सुधार की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती है। यदि यह कहा जाये कि मृत्युदण्ड देते हुए न्याय-व्यवस्था यह स्वीकार करती है कि उस अपराधी मे किसी प्रकार के सुधार की सम्भावना नही है तो गलत नही होगा। ऐसी मान्यता आधुनिक युग मे मानवतावादी सिद्धान्तो के प्रतिकूल है।

[1] Beccaria, *An Essay on Crimes and Punishment*, Philadelphia, 1809, 99, quoted by Thorsten Sellin in Dressler's book *Readings in Criminology and Penology*, New York, 1964 4?0

(5) राज्य जब किसी व्यक्ति को जीवन दे नहीं सकता तब उसे किसी का जीवन लेने का भी अधिकार नहीं है। मृत्युदण्ड देकर राज्य प्रबुद्ध समाज के बुनियादी और मानवहितवादी मूल्यों का उल्लंघन करता है। आधुनिक सभ्य युग में न तो मानव जीवन को हेय समझा जाता है न मानव-मनोविज्ञान का ज्ञान अपर्याप्त है और न ही अपराधी कानून में प्रतिशोध भावना की प्रभुता है। अतः राज्य द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड को विषमतापी (cold-blooded) हत्या ही मानना होगा। मृत्यु की प्रतीक्षा के लिए अपराधी को एक संगठित कर्मकाण्ड (ritual) की अग्निपरीक्षा (ordeal) देनी पड़ती है जिसे कि मारे जाने वाले व्यक्ति (victim) ने अनुभव नहीं किया था। अतः यह एक व्यंगोक्ति (irony) ही है कि मृत्युदण्ड तक अपराधी के स्वास्थ्य की रक्षा की जाय।

(6) कभी-कभी न्यायिक भूल के कारण निर्दोष व्यक्तियों को भी मृत्युदण्ड भुगतना पड़ता है। शंकास्पद व्यक्तियों (suspects) को हिरासत में लेने, अभियोग चलाने की अनुत्तरदायी प्रणाली के कारण तथा वादों (cases) को शीघ्र समाप्त करने के कारण भूल की सम्भावना सदैव बनी रहती है। ऑटो पोलाक (Otto Pollak, 1952), स्टैन्ले गार्डनर (Stanley Gardner, 1952) व जैरोम फ्रैन्क (Jerome Frank, 1957) आदि ने अमरीका में न्यायालयों द्वारा दण्डित अपराधियों के ऐसे उदाहरण बताये हैं जिन्होंने कभी अपराध ही नहीं किया था। मृत्युदण्डोपरान्त कभी-कभी अपराधी की निर्दोषता सामने आती है। ऐसी स्थिति में समाज मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्ति की या उसके परिवार की क्षतिपूर्ति कैसे करेगा।

मानवतावादियों (humanists) का भी कहना है कि वर्तमान न्यायशास्त्र पुराना (archaic) और भ्रमयुक्त (anachronic) है। यदि न्यायकर्ता हत्यारे को मृत्युदण्ड देने का निश्चय करता है तो वह उतना ही दोषी है जितना हत्यारा। कार्ल मेनिंगर (Karl Menninger) ने भी कहा है कि जेल में रखे गये सभी बन्दियों द्वारा किये गये कुल अपराध समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचाते जितनी उनको फांसी देने वाले अपराध पहुँचाते हैं।[1]

(7) इस युग में जब यह माना जाता है कि प्रत्येक अपराधी शोध्य (corrigible) है तब क्यों न जघन्य अपराधी को भी मृत्युदण्ड न देकर उसे सुधारने व अच्छे नागरिक बनने का एक और अवसर प्रदान करें। ऐसे अनेक उदाहरण बताते हैं कि कारागार में रहने पर भी हत्यारे अच्छी पुस्तक लिखकर समाज को कुछ विद्या सम्बन्धी (academic) योगदान देते हैं। जान बन्यन (John Bunyan) ने हत्या के अपराध पश्चात् कारागार में रहते हुए *'Pilgrim's Progress'* पुस्तक लिखी। वाल्टर रेले (Walter Releigh) ने *'History of the World'*, आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) ने *'De Profundis'* तथा मार्को पोलो (Marco Polo) ने

[1] All the crimes committed by all the jailed criminals do not equal in total social damage that of the crimes committed against them by hanging them.

'Account of the Travel to the Far East' कारागार मे रहते हुए ही लिखे। भारत मे दारासिंह हत्या के अभियोगोपरान्त कारावास से छूटने पर कुश्ती मे भारत का नाम ऊँचा कर सका। ये उदाहरण सिद्ध करते है कि अवसर मिलने पर हत्यारे भी समाज के गौरवशाली व्यक्ति बन सकते है।

(8) कभी-कभी प्राणदण्ड राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होता है जो समाज मे भ्रष्टाचार फैलाता है।

(9) यदि मृत्युदण्ड प्रतिशोध भावना से न देकर समाज की सुरक्षा की दृष्टि से दिया जाता है तो यह सुरक्षा दीर्घकालीन कारावास द्वारा भी प्रदान की जा सकती है।

(10) बेकेरिया (Beccaria) का, जो रूसो (Rousseau) के राज्य-उत्पत्ति के सामाजिक सविदा सिद्धान्त मे विश्वास के आधार पर राज्य द्वारा अपराधी को विधि (law) के उल्लघन के लिए दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार करता है, मत है कि सविदा मे राज्य को किसी व्यक्ति के जीवन लेने का अधिकार कदापि नही दिया गया है; अत. राज्य किसी को मृत्युदण्ड नही दे सकता।

1958 मे एल्मो रोपर (Elmo Roper)[1] द्वारा अमरीका मे एक मत-गणना मे 50% व्यक्तियो ने मृत्युदण्ड का विरोध किया, 42% इसके पक्ष मे थे तथा 8% ने कोई मत प्रकट नही किया। मृत्युदण्ड का विरोध निम्न आर्थिक समूह से अधिक मिला। निम्न व उच्च आर्थिक समूहो के विरोध का अनुपात 53 42 था। कैलीफोर्निया विधायी उपसमिति (California Legislative Sub-Committee) द्वारा 1957 मे कुछ चुने हुए व्यक्तियो को मृत्युदण्ड के प्रति विचारो से सम्बन्धित भेजी गयी प्रश्नावली के विश्लेषण मे पाया गया कि 93 न्यायाधीशो, जिला न्यायविदो (District Attorneys), काउन्टी शेरिफो (Sheriffs) मे से 83·9%, 23 पादरियो मे से 17·4% तथा 45 प्राध्यापको मे से 46 7% इसे समाप्त करने के विरुद्ध थे।[2] मृत्युदण्ड की स्थिति को लेकर प्राय न्यायाधीशो (judges) मे भी मतभेद मिलते हैं। एक ओर वे न्यायाधीश है जो इसे समाप्त करना चाहते है तो दूसरी ओर ऐसे दण्डनायक है जो इसे स्थिर रखना चाहते हैं। न्यायाधीश कृष्णा अय्यर का विचार है कि मृत्युदण्ड को न्यायशास्त्र व्यवस्था की जड से ही उखाड देना चाहिए। वर्तमान मे न्यायालयो को इस पर निर्णय लेने का विवेकाधीन अधिकार (discretionary power) दिया गया है कि जघन्य अपराधी को फासी की सजा दें या उसे आजीवन कारावास मे बदल दें और यह विवेकाधीन अधिकार मनमाना (arbitrary) है। यह मनमानी, मृत्युदण्ड को भारतीय सविधान की धारा 14 के अन्तर्गत शून्य व प्रभावहीन (void) बनाती है क्योकि यह (धारा) मनमाने निर्णय

[1] Elmo Roper quoted by E H Johnson in his book *Crime, Correction and Society*, Dorsey Press, Illinois, 1964, 416

[2] 'Problem of Death penalty and its administration in California', *Assembly Interim Committee Report*, 1957 49, quoted by Johnson, *op cit*, 416

लेने को निषेधित करती है। अत: कृष्णा अय्यर की मान्यता है कि मृत्युदण्ड अपराधियों के विरुद्ध अपराध है तथा हर उस दिन जिस दिन कानूनी प्रक्रिया के द्वारा किसी व्यक्ति को फांसी दी जाती है, हमें मानवीय न्याय के झण्डे को आधा झुकाना चाहिए।[1]

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश आनन्द का भी कहना है कि मृत्युदण्ड कानूनी अन्याय (legal injustice) है। अधिकांशत: क्योंकि न्याय नैतिक आधार पर नहीं किन्तु अन्य किसी आधार पर ही दिया जाता है अत: मृत्युदण्ड को हमें शीघ्रतापूर्ण समाप्त करना चाहिए।[2] न्यायपति आनन्द के विचार का समर्थन कलकत्ता उच्च न्यायालय के इस निर्णय से भी मिलता है कि हाल ही में उन चार पुलिस आफिसरों को अदालत द्वारा बरी कर दिया गया जिन पर नैक्सलाइट (naxalite) आन्दोलन के मध्य दो भाइयों की हत्या कर देने का आरोप था। इस निर्णय के कारण जितने भी अन्य पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध मामले विचाराधीन (pending) थे, सभी को बन्द कर दिया गया।

न्यायाधीश आनन्द की मान्यता है कि अपराध का प्रमुख कारण अपराधी का बीमार मन (sick mind) है। जो अपराधी हत्या करता है उसे मानव हत्या सम्बन्धी विक्षिप्त व्यक्ति (homicidal maniac) माना जा सकता है। ऐसे व्यक्ति को बिजली की कुर्सी से अधिक मनोरोग चिकित्सक (psychiatrist) की आवश्यकता होती है। हत्या करने वाला व्यक्ति जब हत्या करता है तो वह अपने सामान्य मन: स्थिति (senses) में नहीं होता परन्तु उसे मृत्युदण्ड देने वाला न्यायाधीश तो स्वस्थचित्तता (senses) में होता है। अत: हत्यारा तो पागल व्यक्ति है ही परन्तु उसे फांसी देने वाला न्यायाधीश उससे भी अधिक विक्षिप्त है।

दूसरी ओर न्यायपति ए० पी० सेन (A. P. Sen) का कहना है कि एक अपराधी एक निर्दोष व्यक्ति की पूर्व योजनानुसार (pre-planned) और निष्ठुर रूप से (cold-blooded) हत्या करके जब समाज के विरुद्ध अपराध करता है तब ऐसा व्यक्ति जिन्दा रहने का अधिकार खो देता है। उसे अपना जीवन देकर अपनी क्रिया का परिणाम भुगतना ही होगा।[3]

दिल्ली उच्च न्यायालय के न्यायाधीश लूथरा (Luthra) भी मृत्युदण्ड को उचित मानते हैं। उनका कहना है कि मानववादी फांसी दिये जाने वाले हत्यारे में

[1] 'Death penalty is a crime against criminals. Every sombre dawn a human-being is hanged by the legal process, the flag of human justice should be hung half-mast.' —Justice Krishna Iyer, *Surya*, Oct. 1980, 30-33.

[2] 'Death penalty is legal injustice. There should be no such thing as death sentence because justice is often imparted on the basis of considerations other than moral or ethical.' —Justice Anand, *Surya*, Oct. 1980, 29.

[3] 'When a man commits a crime against society by executing a cold-blooded and a pre-planned murder of an innocent person, the brutality of which shocks the court, he must face the consequences of his act. Such a person forfeits his right to live.' —Justice A. P. Sen, *Surya*, *op. cit.*, 29.

इतनी रुचि क्यो लेते हैं तथा वे अपनी सहानुभूति को हत्या किये जाने वाले व्यक्ति के परिवार मे क्यो नही रखते ?[1]

सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को मानवीय अधिकारो सम्बन्धी पास किये गये सार्वलौकिक घोषणा (universal declaration) मे भी कहा गया है कि हर व्यक्ति को जीवन (life), स्वतन्त्रता (liberty) व सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तथा किसी भी व्यक्ति को नृशस (cruel) व अपमानजनक (degrading) उपचार (treatment) एव दण्ड नही दिया जाना चाहिए ।[2] इस प्रकार राष्ट्र सघ की महासभा (General Assembly) द्वारा 16 दिसम्बर 1966 को नागरिक (civil) व राजनीतिक अधिकारो सम्बन्धी मान लिये गये अन्तर्राष्ट्रीय औचित्य (international convenance) मे दण्ड से सम्बन्धित निम्न धारणाएँ मिलती हैं

(1) हर व्यक्ति को जिन्दा रहने का जन्मजात अधिकार है तथा कानून को इस अधिकार को सुरक्षित करने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का जिन्दा रहने का अधिकार मनमाने रूप से छीना नही जा सकता।

(2) जिन देशो मे मृत्युदण्ड समाप्त नही किया गया है, यह केवल जघन्य अपराधो के लिए ही दिया जायेगा।

(3) मृत्युदण्ड पाने वाले को क्षमा (pardon) व दण्ड-परिवर्तन (sentence commutation) प्राप्त करने के प्रयास करने का अधिकार दिया जायेगा।

(4) 18 वर्ष की आयु मे कम व्यक्तियो तथा गर्भवती महिलाओ को मृत्यु-दण्ड नही दिया जायेगा।[3]

मृत्युदण्ड के कानूनी औचित्य तथा इसके भविष्य के प्रश्न पर 9 मई 1980 को सर्वोच्च न्यायालय के पाँच न्यायाधीशो (चन्द्रचूड, सरकारिया, उटवालिया, गुप्त और भगवती) द्वारा विचार किया गया जिसमे पाँच मे से चार न्यायाधीशो ने मृत्युदण्ड को न्याय-सगत व सावैधानिक बताया तथा इसे विशेप परिस्थितियो मे दिये

[1] 'Why are humanists so concerned about the man who is going to be hanged and not about the family of the man who has been murdered? People should channalise their sympathies towards the families of the bereaved and let the judiciary serve its purpose' —Justice Luthra, *Surya*, *op cit*, 30

[2] 'Every one has the right to life, liberty and security of person No one shall be subjected to torture or to cruel degrading treatment or punishment' Universal Declaration on Human Rights passed by the U N

[3] International Convenant on Civil and Political Rights adopted by the General Assembly of the U N on Dec 16, 1966 · (1) Every human being has the inherent right to life and this right shall be protected by the law No one shall be arbitrarily deprived of his life (2) In countries which have not abolished death penalty, sentence of death may be given only for the most serious crimes (3) Any one sentenced to death shall have the right to seek pardon or commutation of the sentence (4) Sentence of death shall not be imposed for crimes committed by persons below 18 years of age and on pregnant women

जाने पर बल दिया। न्यायाधीश भगवती ने बहुमत के इस निर्णय से असहमति व्यक्त करते हुए मृत्युदण्ड को अमानवीय, अनुचित व असांविधानिक बताया और कहा कि भारतीय संविधान की धारा 14 के आधार पर मृत्युदण्ड अनधिकृत (void) है क्योंकि यह अधिकार न्यायालय को मनमानी प्रवृत्तियां (arbitrary tendencies) का विवेकाधीन अधिकार (discretionary power) प्रदान करता है। परन्तु इसी न्यायपति भगवती ने 21 सितम्बर 1980 को मानसिंह के केस में मृत्युदण्ड को औचित्यपूर्ण (valid) घोषित किया।

उपर्युक्त विवेचनों के अनुसार स्पष्ट है कि भारत में और अन्य देशों में मृत्यु-दण्ड के प्रति निम्न प्रवृत्तियां मिलती हैं : (i) इसे समाप्त करने की अस्थिर व घटती-बढ़ती प्रवृत्ति (fluctuating tendency) मिलती है। (ii) अनिवार्य (mandatory) मृत्युदण्ड के स्थान पर अनुज्ञात्मक (permissive) मृत्युदण्ड प्रतिस्थापित करने की प्रवृत्ति मिलती है। (iii) प्राणदण्ड की व्यवस्था वाले अपराधों की संख्या में कमी है। (iv) प्रतिवर्ष मृत्युदण्ड भुगतने वालों की संख्या कम है। (v) जनसाधारण को मृत्यु-दण्ड के दृश्य नहीं दिखाये जाते। (vi) मृत्युदण्ड से पूर्व यन्त्रणापद उपायों के स्थान पर अब यन्त्रणाहीन उपाय अपनाये जाते हैं।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राणदण्ड के लाभ वर्तमान दण्ड प्रणाली में संशोधन करके प्राप्त हो सकते हैं तथा इसकी हानियां केवल इसे समाप्त करके दूर की जा सकती हैं। इस समय अधिकांश देशों में व्यावहारिक रूप में केवल हत्या के लिए ही मृत्युदण्ड दिया जाता है। भारत में भी क्रियात्मक रूप में स्वतन्त्रता के पश्चात् हत्या के अपराध में ही मृत्युदण्ड दिया जाता है। प्रश्न है कि व्यक्ति क्यों हत्या करता है तथा उसके द्वारा हत्या में उसके व्यक्तित्व और पर्यावरण का योगदान कितना है? इस पुस्तक के 'अपराधी महिलाओं' के अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि भारत में हत्या करने वाले किस प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं तथा वे क्यों हत्या करते हैं?

1916 में भारत में 16,673 हत्याओं के कारणों के विश्लेषण में पाया गया कि 18·5% मामलों में हत्या का कारण व्यक्तिगत दुश्मनी (personal enemity) था, 15·2% मामलों में सम्पत्ति से सम्बन्धित झगड़े (disputes over property) थे, 8·5% मामलों में आकस्मिक उत्तेजना (sudden provocation) थी, 8·3% मामलों में सैक्स सम्बन्धी कारण (sexual causes) थे, 8·2% मामलों में लाभ प्राप्त करना (gains) था, 0·7% मामलों में पागलपन (lunacy) था, तथा 40·6% मामलों में अन्य कारण थे।[1]

मनोरोग चिकित्सकों (psychiatrists) की मान्यता है कि हत्या करने वाला व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक बीमारी (cortical ataxia) से पीड़ित होता है। फ्राइड (Frued) के अनुसार यह बीमारी व्यक्ति के शरीर की वह अवस्था बनाती है जिसमें व्यक्ति के अंगों (limbs) और उसके मन (mind) में सामंजस्य

[1] *Crime in India*, 1976, *op. cit.*, 90.

(harmony) नही पाया जाता। यह मस्तिष्क-क्षति (brain damage) उसके कुण्ठाओं (frustration) की अन्दरूनी भावना (innermost feeling) का परिणाम होती है।

इस विश्लेषण के बारे मे लेखक का यही मत है कि हत्या की समाप्ति के लिए एक वैज्ञानिक अपराधशास्त्री का यह स्वाभाविक विचार होगा कि यदि हम अपराधो की सख्या कम करना चाहते हैं तो अपराध व अपराधियो के प्रति हम वैसी ही विज्ञानानुमोदित धारणा अपनाएँ जैसी समाज शारीरिक रोगो के लिए अपनाता है। कैंसर या अन्य घातक रोग से पीडित व्यक्ति को समाप्त कर देना एक अर्थहीन धारणा है। इसी प्रकार समाज द्वारा निरनुमोहित कार्य करने वाला सामाजिक दृष्टि से पीडित व्यक्ति को दण्ड देना भी विसगत व अयुक्त है। हमे यथासम्भव उस अस्वस्थ सामाजिक पर्यावरण को नियन्त्रित करना चाहिए जो अपराधी व्यवहार जैसी खराब आदतो को जन्म देता है और सुधार की ऐसी व्यवस्थाओ का निर्माण करना चाहिए जो सुधारने योग्य अपराधियो का पुनरावास व पुन प्रतिष्ठित कर सके। हमारे मत से समाज के लिए 'दण्ड' की अपेक्षा 'सुधार' अधिक महत्त्वपूर्ण है। साधारण शब्दो मे, हम मृत्युदण्ड के विरुद्ध इस कारण हैं कि यह उसी समाज को शक्तिहीन बनाता है जिसकी इसे सुरक्षा करनी है, जनविवेक (public conscience) का दमन करता है, आधुनिक दण्डशास्त्र की पुनर्वास धारणा को अस्वीकार करता है तथा दण्डात्मक (punitive) होने की अपेक्षा अधिक प्रतिशोधात्मक है। लेविस (Lewis), वाकर (Walker) और रैडजाविज भी मृत्युदण्ड को प्रचलित रखने के बिल्कुल विरुद्ध है।[1] उनके विचार मे कोई भी थोडी-सी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति इस क्रूरता व बर्बरता के प्रचलन का समर्थन नही करेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि भारत इसे सामाजिक नीति के रूप मे समाप्त कर पायेगा ? जब अनेक देश, जिन्होने इसे समाप्त कर दिया था, पुन इसे आरम्भ कर रहे हैं तब क्या अन्य समाजो के अनुभवो की हम सर्वथा उपेक्षा कर पायेगे ? इसके लिए अधिकतम यह कहा जा सकता है कि हमारा समाज उन अपराधो की सख्या सीमित कर सकता है जिनके लिए सविधान मे मृत्युदण्ड निर्धारित किया गया है।

[1] See Radzinowicz and Wolfgang (eds), *Crime and Justice*, Vol II, Basic Books, New York, 1971, 43–48 and 106

पाँचवाँ अध्याय

कारागृह प्रणाली

(PRISON SYSTEM)

अपराधी को कारागार में रखने के चार प्रमुख उद्देश्य दिये गये हैं :

(1) **सामाजिक पृथक्करण** (Social isolation)—अपराधी को समाज से पृथक् करना जिससे वह पुन: अपने विचलित व्यवहार द्वारा नियम पालन करने वाले व्यक्तियों की शान्ति भंग न करे ।

(2) **प्रतिरोधक दण्ड** (Deterrent punishment)—अपराधी को दण्ड देना जिससे (क) अपराधी एक निर्धन से निर्धन परन्तु ईमानदार नागरिक से अधिक बुरी अवस्था में (worse off) रहे, (ख) कानून पालन करने वाले व्यक्तियों को यह संतोष रहे कि कानून उल्लंघनकर्ता को दण्ड मिल रहा है तथा उन्हें अपराध-व्यसन (recidivism) के खतरे से सुरक्षित किया जा रहा है ।

(3) **सुरक्षा** (Protection)—कानूनी-नियम उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को अलग करके उसको कलंकित करके समाज को उससे सतर्क करना व उससे संरक्षित करना ।

(4) **सुधार** (Correction)—अपराधी में नये विचारों का निर्माण करके उसे सुधारना जिससे वह कानून पालन करने वाला नागरिक बन सके, भविष्य में सामाजिक नियमों की वास्तविकता की उपेक्षा न करे तथा व्यग्र, अधीर व उतावला होकर अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एवं ऊँची स्थिति रूपी पुरस्कार प्राप्त करने के लिए समाज व संस्कृति द्वारा माननीय और अनुमोदनीय मूल्यों का उल्लंघन न करे । इन सबका साधारण अर्थ है कारागारों में दण्डित अपराधियों के अपराधी मूल्यों व मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाना ।

कारागार प्रशासन द्वारा इसके लिए अपनाये जाने वाले कुछ प्रमुख साधन हैं : (i) परम्परागत मूल्यों को मानने वाले वन्दियों को सुरक्षा प्रदान करना तथा उन मूल्यों को मानते रहने की प्रेरणा देना; (ii) प्रशासनिक अधिकारियों एवं वन्दियों के मध्य सामाजिक दूरी इतनी कम रखना कि कारागार की परिस्थिति उनके व्यक्तित्व में उत्पन्न हुए नियमों सम्बन्धी संघर्षों को दूर कर सके तथा उनके मूल्यों को परिवर्तित करने में प्रेरित कर सके; (iii) कारागार में ऐसा औपचारिक व अनौपचारिक संगठन स्थापित करना जो उनके परम्परागत मूल्यों के लिए आदर

उत्पन्न कर सके; (iv) बन्दियो को कुछ ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रमो द्वारा व्यस्त रखना जिससे उनमे कार्य करने के लिए रुचि स्थापित रहे तथा वह कार्य जेल से मुक्ति के उपरान्त उनके समाज मे पुनर्वास मे सहायक हो सके।

किन्तु इन उपायो के उपरान्त भी क्या कारागृह अपराधी के असामाजिक मूल्यो को परिवर्तित करने मे सफल होता है ? क्या जेल मे छूटने के उपरान्त यदि अपराधी पुन अपराध नही करता तो यह जेल मे मिले प्रशिक्षण व मूल्य-परिवर्तन के कारण ही है अथवा उसके स्वय के व्यक्तित्व के कारण ? यदि कारागृह अपराधियो मे मूल्य-परिवर्तन नही कर पाता तब क्या दण्ड व सुधार नीतियो मे कारावास को इतना महत्त्व देना चाहिए जितना वर्तमान समय मे दिया जाता है ? क्या कारावास को समाप्त किया जाये एव कारागृहो मे कुछ मूल परिवर्तन लाकर इन्हे वास्तविक रूप से सुधारात्मक सस्थाएँ बनाना चाहिए ? ये कुछ प्रश्न है जिन्होने वर्तमान मे भारत के समाजशास्त्रियो व अपराधशास्त्रियो का ध्यान आकर्षित किया है । इसके पूर्व कि इन प्रश्नो का विश्लेषण करें, कारागृहो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इनमे समय-समय पर लाये गये परिवर्तन, तथा इनमे पायी जाने वाली 'कैदी व्यवस्था' आदि को समझना आवश्यक है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

प्राचीन एव मध्य युग के अन्तर्गत भारत मे कारागृहो को अपराधियो के मुकदमे के चलने तथा दण्ड कार्यान्वित करने की अवधि तक केवल 'दण्डस्थल' अथवा 'रोक रखने के स्थान' (places of detention) के रूप मे ही प्रयोग किया जाता था। सोलहवी शताब्दी के मध्य से जेलो को देश की कानून व्यवस्था मे 'दण्ड का एक रूप' माना जाने लगा। सत्रहवी शताब्दी मे ब्रिटिश कानून और न्याय कार्य-विधि लागू कर देश की सविधान प्रणाली मे परिवर्तन किये गये। 1858 के पश्चात् व्यवहार-प्रक्रिया सहिता (Civil Procedure Code) एव दण्ड-प्रक्रिया सहिता (Criminal Procedure Code) बनाये गये और विभिन्न अपराधो के लिए कारावास को दण्ड का एक प्रमुख साधन बनाया गया।

'दण्ड स्थल' होने से उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक कारागृहो की व्यवस्था बहुत दयनीय थी। निर्दयता, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था आदि कारागृहो के मुख्य लक्षण थे। एक जिले के समस्त कारागृह जिलाधीश के परिवीक्षण मे रहते थे तथा इनकी अरुचि, विमुखता, प्रतियास व उदासीनता के कारण यहाँ अच्छे भोजन, आवास व प्रशिक्षण-कार्यक्रम का अभाव था। 1835 मे मकौले ने कारागृहो मे विकराल व आतककारी दशा के प्रति ध्यान आकर्षित किया जिससे 1836 मे कारागृहो मे व्यवस्था के अध्ययन हेतु एक भारतीय कारागृह समिति (Indian Jails Committee) नियुक्त की गई। समिति द्वारा 1838 मे प्रस्तुत रिपोर्ट मे जेलो के निम्न श्रेणी कर्मचारियो मे भ्रष्टाचार व अनुशासनहीनता आदि पाया जाना बताया गया परन्तु कमेटी ने कोई सुधार सम्बन्धी सुझाव नही दिये। इसने शिक्षा, धार्मिक उपदेश,

अच्छे व्यवहार के लिए पुरस्कार प्रणाली आदि को बिल्कुल अस्वीकार किया तथा केन्द्रीय कारागृह स्थापित कर अपराधियों को नीरस, मलिन, उकता देने वाला, कष्टप्रद व अरुचिकर कार्य देने पर बल दिया।[1] इससे ज्ञात होता है कि समिति किस प्रकार उस समय प्रचलित दण्ड के प्रतिरोधक तत्त्व (retributive element) से प्रभावित हुई थी।

इन सुझावों के पश्चात् प्रथम केन्द्रीय कारागृह 1846 में आगरा में स्थापित किया गया तथा 1850 में समस्त प्रान्तों को कारागृह-महा-निरीक्षक नियुक्त करने व 1864 में जिला कारागृह के अधीक्षक के लिए सिविल सर्जन नियुक्त करने के आदेश दिये गये। 1864 में दूसरी समिति नियुक्त की गई जिसके सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए 1870 में भारत सरकार ने कारागृह-सम्बन्धी कानूनों के संशोधन हेतु एक कारागृह-अधिनियम पास किया। इसके अनुसार कारागृह अधीक्षक, जेलर, डाक्टर तथा अन्य आवश्यक पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्बन्धी व्यवस्था के अतिरिक्त कारागृह-प्रबन्ध के लिए अनुशासन, श्रम, दण्ड, व्यय आदि के नियम भी निर्धारित किये गये। इस कानून में पुरुष और महिला अपराधियों, वयस्क व बाल-अपराधियों तथा दीवानी व फौजदारी अपराधियों के पृथक्करण की भी व्यवस्था मिलती है। तत्पश्चात् 1877 में तीसरी समिति (All India Jail Committee), 1889 में चौथी तथा 1892 में पांचवी समिति नियुक्त हुई किन्तु इन्होंने भी कारागृहों में सुधार हेतु कोई विशेष सुझाव नहीं दिये। 1889 की समिति ने केवल विचाराधीन मुकदमे वालों (undertrials) को दण्ड-प्राप्त (convicted) अपराधियों से एवं आकस्मिक को अभ्यस्त अपराधियों से पृथक् करने का सुझाव दिया। 1894 में एक अन्य कारागृह नियम द्वारा अपराधी से नौ घण्टे कार्य करने तथा कारागृह नियमों का उल्लंघन करने के लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गई। 1897 में रिफार्मेट्री एक्ट पास करके 15 वर्ष से कम आयु वाले किशोर अपराधियों को कारागृह भेजने के स्थान पर रिफार्मेट्री स्कूलों में भेजने की व्यवस्था की गई।

कारागृहों में सर्वाधिक सुधार 1919 के भारतीय कारागृह समिति के सुझावों के उपरान्त ही किये गये। समिति का सुझाव था कि अपराधी को कारागृह में रखने का मुख्य ध्येय उसे सुधार कर समाज में पुनः स्थापित करना है।[2] अतः समिति ने कारागृहों को 'दण्ड स्थल' न मानकर 'सुधार स्थल' बताया। समिति के प्रमुख सुझाव थे : अपराधियों का वर्गीकरण तथा पृथक्करण, दण्ड की अवधि में कमी (remission) की योजना, सम्बन्धियों और मित्रों से सम्पर्क की सुविधा, प्रशिक्षण कार्यक्रम, 25 वर्ष से कम आयु के अपराधियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था, धार्मिक और नैतिक उपदेश, कारागृह से छूटने पर आर्थिक सहायता तथा परिवीक्षा और बार्सटल सेवाओं का आयोजन। इस समिति की सिफारिशों का परिपालन किया गया तथा उसी वर्ष कारागृह विभाग को प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में दे दिया गया।

[1] Quoted in the *Report of the Indian Jails Committee*, 1919, 30.
[2] *Ibid.*, 25.

1919 की समिति के पश्चात् समय-समय पर कुछ प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने प्रान्तों में कारागृह व्यवस्था सुधारने हेतु समितियाँ नियुक्त की हैं, जैसे 1925 में पंजाब कारागृह अनुयोग समिति, 1946 में उत्तरप्रदेश कारागृह सुधार समिति, 1962 में राजस्थान कारागृह सुधार आयोग तथा 1972 में बिहार कारागृह समिति, आदि। भारत सरकार के अनुरोध पर 1951 में संयुक्त राष्ट्र संघ के एक विशेषज्ञ डा० वाल्टर रेक्लेस जेल प्रशासन का अध्ययन कर कुछ सुधार-सम्बन्धी सुझाव देने के लिए भारत आये। उन्होंने कारागृह नियमावली (manual) में संशोधन करने तथा सुधारात्मक सेवाओं का एक केन्द्रीय कार्यालय स्थापित करने के सुझाव दिये। सरकार ने 1957 में रेक्लेस के सुझावों तथा 1952 में भारतीय कारागृहों के महानिरीक्षकों के सम्मेलन के सुझावों के आधार पर कारागृह एक्ट में सुधार हेतु एक भारतीय कारागृह नियमावली समिति स्थापित की। इस समिति ने 1959 में अपराधियों के वर्गीकरण में गतिशीलता व सक्रिय प्रक्रिया अपनाने, कारागृह नियमावली को समय-समय पर संशोधित करने, निःसंग व एकान्तवासी कारावास (solitary confinement) को समाप्त करने, हर राज्य में अनुसन्धान इकाई स्थापित करने तथा भारतीय सुधारात्मक सेवाओं के कार्यालय स्थापित करने के सुझाव दिये। इन सुझावों के आधार पर कारागृह, परिवीक्षा, उत्तर संरक्षण तथा बच्चों के लिए संस्थात्मक सेवाओं के एकीकरण (integration) की दृष्टि से सरकार के गृह-विभाग के नियन्त्रण के अन्तर्गत 1961 में दिल्ली में एक सुधारात्मक सेवाओं का केन्द्रीय ब्यूरो (Central Bureau of Correctional Services) स्थापित किया जिसे आजकल राष्ट्रीय सामाजिक प्रतिरक्षा संस्था (National Institute of Social Defence) कहा जाता है। भारत सरकार ने जुलाई 1980 में जेल प्रशासन में सुधार लाने, वर्तमान नियमों व कानूनों का परीक्षण करने, कैदियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने तथा प्रशिक्षण व शिक्षा आदि सम्बन्धी सुझाव देने के लिए न्यायाधीश ए० एन० मुल्ला की अध्यक्षता में एक छह सदस्यीय कमेटी नियुक्त की है जिसकी सिफारिशें 1982 तक आने की आशा है।

उक्त ऐतिहासिक विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय कारागृहों में खण्डशः रूप में (piece-meal) समय-समय पर कुछ सुधार किये गये हैं; किन्तु मोटे रूप में कारागृहों में अब भी सुधार-सम्बन्धी नीति के स्थान पर दण्ड-सम्बन्धी नीति ही अपनाई जाती है। कारागृहों में पायी जाने वाली विकराल परिस्थिति का उल्लेख पं० नेहरू ने भी अपनी आत्मकथा में किया है। उनके अनुसार, 'आजीवन कारावास वालों को कारागृहों में वर्षों तक किसी व्यक्ति या जानवर तक का मुँह देखने को नहीं मिलता। बाहरी समाज के साथ इनका सम्पर्क सर्वथा समाप्त हो जाता है। उनके विचार सदैव प्रतिशोध, घृणा एवं भय से लिप्त रहते हैं; फलतः वे दया, स्नेह, परोपकारिता, अच्छाई जैसे विचारों को भूल जाते हैं। जीवन का नित्य-क्रम उनके लिए मशीन जैसा बन जाता है और वे स्वचालित यन्त्र की तरह कार्य करते रहते हैं। समय-समय पर उनका शारीरिक भारोत्तोलन

होता है किन्तु उनके मन और आत्मा का भारोत्तोलन नहीं होता जो दमन और अत्याचार के भयानक वातावरण में मुरझाते जाते हैं। मृत्यु-दण्ड के विपक्ष में तर्क दिये जाते हैं जो सही भी प्रतीत होते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में आजीवन कारावास भोगी अपराधियों की स्थिति से मृत्यु-दण्ड उत्तम है।'

आज से 40 वर्ष पहले कारागृहों की स्थिति दयनीय रही हो किन्तु विगत 30–40 वर्षों में स्थिति में पर्याप्त सुधार किये गये हैं। इनमें से प्रमुख हैं : (i) वर्गीकरण व पृथक्करण, (ii) वेतन प्रणाली, (iii) आदर्श और खुले कारागारों की व्यवस्था, (iv) पंचायत प्रणाली, (v) नवीन प्रशिक्षण कार्यक्रम, (vi) मनोरंजन, (vii) चिकित्सा, (viii) शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ, (ix) दण्ड की अवधि में छूट देने का नियम, (x) कार्य का निश्चित समय, (xi) सम्बन्धियों और मित्रों से सम्पर्क की सुविधा, (xii) पैरोल पर मुक्ति, (xiii) कारागृह-कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति, आदि।

कारागृह-संगठन (Organisation of Prisons)

आजकल भारत में मुख्यतया तीन प्रकार के कारागृह पाये जाते हैं : (क) अधिकतम सुरक्षा वाले कारागृह (maximum-security prisons), (ख) मध्यम सुरक्षा वाले कारागृह (medium security prisons) तथा आदर्श कारागृह (model jails), और (ग) निम्नतम सुरक्षा वाले कारागृह (minimum security prisons) तथा खुले कारागार (open or wall-less jails)।

अधिकतम सुरक्षा वाले कारागृह (Maximum Security Prisons)

एक राज्य में तीन प्रकार के अधिकतम सुरक्षा वाले जेल मिलते हैं : केन्द्रीय कारागार, जिला कारागार, व उप-कारागार। सम्पूर्ण कारागृह-विभाग का प्रबन्ध व कार्य संचालक कारागार-महानिरीक्षक होता है जो उप-महानिरीक्षक की सहायता से कारागार प्रशासन की देख-भाल करता है। केन्द्रीय-कारागार का कार्यभार अधीक्षक के अन्तर्गत होता है और जिला-कारागार के कार्यभारी (in-charge) की स्थिति उप-अधीक्षक के समान होती है। प्रत्येक केन्द्रीय एवं जिला कारागार में जेलर, डिप्टी-जेलर, उप-जेलर, वार्डर तथा डाक्टर होते हैं। इनके अतिरिक्त पेशेवर, जालसाज व भगोड़े (escapees) अपराधियों को छोड़कर शेष अपराधियों में से कुछ को अच्छे व्यवहार के आधार पर तथा दण्ड अवधि की कम से कम आठवें भाग की समाप्ति उपरान्त पदोन्नति कर बन्दी-अधिकारी (convict officers) बनाया जाता है। इनसे अपराधियों के अधीक्षण (supervision) का कार्य लिया जाता है। प्रारम्भ में इनसे केवल बन्दी-प्रहरी (convict watchman) का कार्य करवाया जाता है परन्तु कुछ काल बाद बन्दी-दरोगा (convict overseer) तथा बन्दी-वार्डर (convict warder) पद पर पदोन्नति दी जाती है। केन्द्रीय कारागृहों में कारागार-कल्याण अधिकारी (prison welfare officer) भी होता है जो कुछ राज्यों में राज्य के समाज-कल्याण विभाग की ओर से वन्दियों के कल्याण सम्बन्धी कार्य की देख-भाल

करना है। कुछ कारागारों में अपराधियों के विशिष्ट प्रशिक्षण हेतु काष्ठ-कला-प्रशिक्षक, बुनाई-शिक्षक, रंगाई-शिक्षक, लोहार-अनुदेशक, दर्जी-शिक्षक, चमड़े की वस्तुएँ व बेंत-बुनाई निदेशक तथा दरी-बुनाई शिक्षक आदि भी होते हैं।

कतिपय व्यक्ति इस व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन सम्बन्धी दो सुझाव देते हैं—

(1) एक ही व्यक्ति (कारागृह-महानिरीक्षक) में सारी सत्ता निहित करने की अपेक्षा 'ब्यूरो प्ररूप' या 'बोर्ड प्ररूप' व्यवस्था होनी चाहिए एवं तदनुसार एक जेल व्यवस्थापिका समिति नियुक्त करनी चाहिए जैसे अमरीका में *न्यासधारी व्यवस्थापिका* बोर्ड (Institutional Board of Trustees) या राज्य कारागार कमीशन या नियन्त्रण सम्बन्धी मण्डल (Board of Control) आदि हैं। इस प्रकार का सुझाव 1946 के उत्तरप्रदेश कारागृह सुधारक समिति के कुछ सदस्यों ने दिया था।[1] कुछ *अन्य सदस्यों का विचार था कि (i) अन्य विभागों में भी सत्ता का प्रबन्ध एक व्यक्ति* के हाथ में होता है और कार्य-कुशलता में कोई दोष नहीं पाया जाता, अतः कारागृहों में भी व्यवस्था परिवर्तन निरर्थक है, (ii) कारागार महानिरीक्षक की सहायता के लिए उप-महानिरीक्षक व जेल-अधीक्षक होते हैं, (iii) एक से अधिक सदस्यों वाली *कारागृह व्यवस्थापिका समिति की नियुक्ति के फलस्वरूप एक से अधिक विभाग-*कार्यभारी होंगे, अतः आपसी मतभेदों व संघर्षों के कारण कारागार प्रशासन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। इस लेखक के मत में बोर्ड-प्ररूप व्यवस्था विशेष रूप से नीति-निर्धारण सम्बन्धी कार्यों के लिए उपयुक्त होती है न कि प्रशासनिक कार्य के लिए। कारागृह-प्रशासन सम्पूर्ण रूप से लिखित नियमों के आधार पर होता है, केवल यदा-कदा कारागार-महानिरीक्षक को कुछ उपक्रम करना होता है। ऐसी अवस्था में भी वह राज्य के गृह-मन्त्री की सहमति के बिना कोई नई योजना आरम्भ नहीं कर सकता। *ऐसी परिस्थिति में बोर्ड या मण्डल का होना अनावश्यक ही है। प्रशासनिक* उत्तरदायित्व को एक से अधिक समान पद और अधिकार वाले पदाधिकारियों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इससे सही नेतृत्व भी उपलब्ध नहीं हो सकता।

(2) दूसरा सुझाव बन्दी-पदाधिकारियों की नियुक्ति के विरुद्ध दिया जाता है। 1925 की पंजाब कारागार समिति के अनुसार बन्दी-पदाधिकारीगणों के द्वारा कारागारों में तस्कर व्यापार, चोरी में वस्तुएँ लाने व जेल में छुट-पुट चोरी आदि जैसे अवैध कार्य बढ़ते हैं तथा अपराधियों को अवैध दण्ड देने के लिए कारागार-*अधिकारी इन्हीं बन्दी-अधिकारियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार ये अधीनस्थ* कर्मचारी एक अनुत्तरदायी वर्ग बनाते हैं।[2] भारतीय कारागार समिति 1919 ने इस पर कोई अन्तिम सुझाव नहीं दिया क्योंकि अध्यक्ष सर एलेक्जेन्डर कार्ड्यू के विरुद्ध होने पर भी कुछ सदस्य इसके पक्ष में थे। 1929 की उत्तर प्रदेश कारागार जाँच समिति ने इस व्यवस्था में बन्दी-वार्डर समाप्त करने का सुझाव दिया। राजस्थान

[1] *Report of the U P Jails Reforms Committee*, 1946, 7.
[2] Quoted in the *Report of the U P Jails Enquiry Committee*, 1929, 105

कारागार सुधार आयोग[1] 1962 ने भी वन्दी-प्रहरी और वन्दी-दरोगा के पद स्थिर रखे जाकर ही इस व्यवस्था को स्थिर रखने का सुझाव दिया, यद्यपि यह आयोग वर्तमान दण्डशास्त्रियों के विचारों के अनुसार इस व्यवस्था के पक्ष में नहीं था। मेरे विचार से यह व्यवस्था दोषयुक्त होते हुए भी इसमें आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक लाभ अधिक हैं। इससे अपराधियों को पदोन्नति प्राप्त कर अधिक सुविधाएँ लेने और अपने को सुधारने की प्रेरणा मिलने के साथ-साथ उनमें आत्म-विश्वास व नेतृत्व की भावना भी जाग्रत होती है। वन्दियों को उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यक्रम सौंपकर उनमें उपक्रम, अभिक्रमशीलता, साधन सम्पन्नता, आत्म-सम्मान आदि भावनाओं का भी विकास होता है। हमारे विचार में वन्दी-अधिकारी अपराधियों के कल्याणार्थ जितना कार्य कर सकता है उतना एक वाहरी कारागृह-कल्याण अधिकारी नहीं कर सकता। आर्थिक दृष्टि से भी यह लाभदायक है क्योंकि वन्दी अधिकारियों की संख्या वार्डरों की संख्या से वहुत अधिक होती है, फलतः अर्थ व्यय होता है। व्यवस्था की थोड़ी वहुत त्रुटियों को दूर करना सम्भव है।

अधिकतम सुरक्षा वाले केन्द्रीय कारागृहों में वन्दियों का वर्गीकरण व पृथक्करण (classification and segregation) भी मिलता है। पृथक्करण अपराधियों के सुधार सम्वन्धी उपाय अपनाने के साथ-साथ कारागृह की प्रशासनिक व्यवस्था के लिए भी आवश्यक है। प्रमुख रूप से वर्गीकरण के उद्देश्य निम्न हैं: (i) एक ही प्रकार के अपराध करने वाले अपराधियों को अलग कर उनके लिए सुधार का एकीकृत (integrated) कार्यक्रम विकसित करना; (ii) अपराधियों के मूल्यों और धारणाओं में परिवर्तन लाने के लिए उनके प्रवृत्ति व ग्रहण-क्षमता (susceptibility) के आधार पर विशेष सुधार सम्वन्धी उपाय अपनाना; (iii) सुधार-सम्वन्धी योजनाओं को अपराधियों की वदली हुई आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित करते रहना। इसी प्रकार पृथक्करण के प्रमुख उद्देश्य हैं: साधारण व आकस्मिक अपराधियों को कठोर, अभ्यस्त व पेशेवर अपराधियों से पृथक् कर उनके प्रभाव से वचाना तथा समाज के परम्परागत मूल्यों को स्वीकार करने वाले अपराधियों को उन मूल्यों को मानते रहने की प्रेरणा देना।

वर्तमान भारत में आयु, लिंग, मानसिक अवस्था तथा दण्ड की प्रकृति के अनुसार अपराधियों में पृथक्करण मिलता है। पुरुषों को महिलाओं से, वच्चों को वयस्कों से, पागलों को सामान्य से, दीवानी (civil) को फौजदारी (criminal) से तथा मृत्युदण्ड वालों को अन्य अपराधियों से पृथक् रखा जाता है। दण्ड का रुपया न देने के कारण दीवानी न्यायालय के आज्ञा के अन्तर्गत जो व्यक्ति कारागार भेजा जाता है उसे सिविल वन्दी माना जाता है। अधिकांशतः इन्हें केन्द्रीय कारागारों में न रखकर जिला कारागारों में रखा जाता है। सिविल वन्दियों में तीन स्तर क्रम मिलते हैं: पहले में राजपत्रित (gazetted) अधिकारी, दूसरे में अराजपत्रित अधिकारी व उनके

[1] *Report of the Rajasthan Jail Reforms Commission*, Govt. of Rajasthan, Jaipur, March 1964, 275-76.

समकक्ष अपराधी तथा तीसरे मे अन्य समस्त साधारण और अशासकीय व्यक्ति आते है। इन्हे उनके तत्सम्बन्धी पदक्रमो के अनुसार भोजन, आवास आदि सम्बन्धी सुविधाएँ मिलती हैं। सिविल बन्दी को व्यक्तिगत साधनो से भोजन, वस्त्र, पुस्तक व समाचार-पत्र आदि प्राप्त करने की अनुमति होती है। सामान्यतया एक राज्य मे सिविल बन्दियो की सख्या दो-तीन सौ से अधिक नही होती, अतः वर्तमान नियमानुसार इन्हे पृथक् कारागारो मे न रखकर साधारण कारागारो मे ही रखा जाता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से बन्दियो को प्रमुख रूप से 'दण्डित' (convicted) और 'विचाराधीन' (undertrial) अथवा न्यायालय मे विचाराधीन मुकदमे वाले बन्दियो मे विभाजित किया जाता है। दण्डित अपराधियो को पुनः साधारण और कठोर कारावास के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है। कठोर कारावास वालो को अभ्यस्त व आकस्मिक उप-श्रेणियो मे; आकस्मिक को सामान्य और स्टार (star) उप-श्रेणियो मे; तथा अभ्यस्त अपराधियो को पेशेवर और अपेशेवर उप-श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है। विचाराधीन वादो वाले अपराधियो (undertrials) को केन्द्रीय और जिला कारागारो मे अलग कक्षो मे रखा जाता है। यद्यपि एक राज्य मे इनकी सख्या हजारो मे होती है परन्तु इनसे श्रम नही कराया जाता। कानून इन्हे अपराध सिद्ध होने तक निर्दोष मानता है। यद्यपि नियमानुसार पूर्व दण्डित विचाराधीन मुकदमे वाले अपराधियो को पहली बार मुकदमा चलने वालो से पृथक् रखना होता है परन्तु व्यवहार मे इसका कम अनुसरण ही होता है। विचाराधीन मुकदमे वालो को उनके व्यक्तिगत साधनो से भोजन, वस्त्र, पुस्तक, समाचार-पत्र आदि प्राप्त करने की भी सुविधाएँ दी जाती हैं। उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त राजनीतिक और अराजनीतिक श्रेणियो मे भी अपराधियो को विभाजित किया जाता है। राजनीतिक कारणो से दण्डितो को पृथक् रखकर भोजन, वस्त्र, आदि की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। 1919 की भारतीय कारागृह समिति राजनीतिक बन्दियो को विशेषाधिकार देने के विरुद्ध थी। उसके मत मे 'अपराध अपराध ही है' तथा अपराधी से उदारता का व्यवहार करना अपराध करने को प्रोत्साहन देना है।[1] वर्तमान मे वर्गीकरण के उद्देश्य को वैयक्तिक उपचार मानकर तथा राजनीतिक अपराधी की प्रवृत्तियाँ वास्तव मे अनपराधी मानते हुए उसे पृथक् रखकर विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। पागल और बुद्धिहीन अपराधियो को भी अलग रखकर उनका चिकित्सकीय इलाज किया जाता है। कार्य करने मे समर्थों से कार्य कराया जाता है।

प्रशासको, अपराधशास्त्रियो आदि को आज भी अधिकतम सुरक्षा वाले कारागृहो मे वर्गीकरण सम्बन्धी एक प्रमुख प्रश्न आकर्षित किये हुए हैं कि, क्या बन्दियो को रात्रि के समय पारस्परिक अन्तःक्रिया की सुविधाएँ दी जानी चाहिए अथवा नही तथा, क्या कारागार मे कोठरियो की व्यवस्था (cellular system)—जिसमे बन्दियो को आपस मे मिलने की छूट दिन मे दी जाती है और रात्रि मे उन्हे

[1] *Reports of Indian Jails Committee*, 91.

अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर दिया जाता है—होनी चाहिए या नहीं ? कुछ विद्वान् कारागार में कोठरियों की व्यवस्था के विरुद्ध हैं। इनके मत में अपराधी का सुधार ईंट-चूने की बन्द कोठरियों से या पृथक्करण से नहीं होता अपितु वह स्वयं चरित्र परिवर्तन कर प्रलोभन व अपराधी प्रवृत्तियों का प्रतिरोध करता है। किन्तु व्यवहार सीखने में सम्पर्कों पर अधिक बल देने वाले समाजशास्त्री रात्रि में अपराधियों का पृथक्करण आवश्यक मानते हैं। इनके अनुसार कार्य व्यस्तता के कारण दिन में अपराधियों को बातचीत का अधिक अवसर नहीं मिलता किन्तु रात्रि में कार्य-विहीनता के कारण बात करने का अधिक अवसर मिलने से न केवल कुकर्मी व दुराचारी बन्दी अवैध, अनैतिक व उद्धृत क्रियाओं की योजनाएँ बना सकते हैं अपितु इससे जुआ व समलिंग-कामुकता (homosexual) आदि समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। अतः ये कारागार अधिकारियों के लिए अनुशासनहीनता की कठिनाइयाँ तथा अपराधियों के सुधार में बाधा उत्पन्न करेंगी। मेरे मत में अपराधियों को रात्रि में अलग कोठरियों में बन्द करने की व्यवस्था से लाभ व हानि दोनों हैं। अपने व्यवहार व भविष्य आदि के प्रति सोचने के लिए हर व्यक्ति को एकान्त (privacy) आवश्यक है। सही चुनाव के आधार पर जिन बन्दियों के लिए रात्रि के एकान्त संसीमन (solitary confinement) क्षतिमयपूर्ण व जोखिम वाला नहीं दिखाई देता उन्हें अवश्य अलग रखना चाहिए। परन्तु इससे कारागार की आवास (accommodation) समस्या अवश्य उत्पन्न होगी। वर्तमान परिस्थिति में यह आसान नहीं दिखाई देता कि प्रत्येक कारागार में इतने अपराधियों को पृथक्-पृथक् रखने की सम्भावना हो सकती है। अतः यह कहना पड़ेगा कि जहाँ सम्भव हो और जिन अपराधियों में जोखिम दिखाई न दे उन्हीं पर रात्रि में पृथक्करण का सिद्धान्त लागू करना चाहिए। इंग्लैण्ड व अमरीका में दिन में कार्य करने में साहचर्य (association) तथा रात्रि में पृथक्करण के नियम पाये जाने की व्यवस्था है। यह पूर्ण पृथक्करण और पूर्ण सम्पर्कन के मध्य का मार्ग (middle course) है जो बन्दियों के लिए यथार्थ में हितकारी होगा। रगल्स (Ruggles)[1] के अनुसार रात्रि पृथक्करण (अथवा cellular system), संकुलता व निर्बन्ध सहवास (promiscuity) एवं अनियन्त्रित सम्पर्कन (association) का हानि निरोधक है। यह व्यवस्था व्यक्तिगत सुधार-सम्बन्धी योजनाएँ (individualisation) निश्चित करने में सहायता करती हैं तथा वर्गीकरण को आसान एवं पर्यवेक्षण (supervision) को सरल व सस्ता (economical) बनाती है।

आदर्श बन्दीगृह (Model Jails)

अधिकतम सुरक्षा वाले बन्दीगृहों में दैनिक दिनचर्या वस्तुतः एक-सी होने से व्यक्तिगत उपचार सम्भव नहीं है तथा बन्दियों को कार्य करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस अनुभव पर यह विचार किया गया कि आकस्मिक स्टार अपराधियों के

[1] Brise E. Ruggles, *The English Prison System*, Macmillan & Co., 1921, 103.

लिए प्रत्येक राज्य मे कम-से-कम एक आदर्श बन्दीगृह स्थापित करना चाहिए। इनमे बाहरी समाज जैसी काम करने की व्यवस्था प्रदान कर, नये प्रशिक्षण कार्यक्रम अपनाकर तथा वेतन आदि प्रारम्भ कर अपराधियो की वैयक्तिक देखभाल की जाये व नई प्रेरणा दी जाये। अत. विगत 15-20 वर्षों मे तीन राज्यो (उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र) मे आदर्श बन्दीगृह स्थापित किये गये हैं। राजस्थान मे आदर्श बन्दीगृह की स्थापना दिसम्बर *1956* मे अजमेर के केन्द्रीय कारागार को सपरिवर्तित करके की गयी। लखनऊ (उत्तरप्रदेश) मे 1949 मे केन्द्रीय कारागार को परिवर्तित करके ऐसा बन्दीगृह आरम्भ किया गया था। महाराष्ट्र मे ऐसा बन्दीगृह पूना मे मिलता है। अजमेर का आदर्श बन्दीगृह अब केन्द्रीय कारागृह मे परिवर्तित किया गया है।

आदर्श कारागारो मे प्रवेश साधारण कारागारो से स्थानान्तरण द्वारा एव मजिस्ट्रेट के निर्देशानुसार होता है। इस बन्दीगृह मे लाने की प्रमुख शर्तें है : 21–25 वर्ष की आयु-समूह का होना, शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होना एव *अच्छे व्यवहार का अभिलेख (record) होना*। प्रवेशोपरान्त अपराधी को कुछ समय अतिथि-केन्द्र (Reception-Centre) मे रखा जाता है। यहाँ अपराधी को कार्य करने के प्रति रुचि, योग्यता, प्रवणता तथा सहयोग प्राप्त करने के प्रयास का अवलोकन किया जाता है। अतिथि-केन्द्रो के अनिवार्य कार्यक्रमो मे 2–3 घण्टे की पढाई, 1–2 घण्टे का शारीरिक व्यायाम, खेल और मनोरजन तथा 3–4 घण्टे का किसी उद्योग, कृषि व बागवानी के कार्य मे प्रशिक्षण मिलता है। औद्योगिक प्रशिक्षण मे निवाड, दरी, कालीन व गलीचा बनाना, कपडा बुनना, तेल पेरना, काष्ठकला, वस्त्र बनाना व बेत की बुनाई के कार्य सम्मिलित हैं। लखनऊ आदर्श बन्दी गृह मे सामान बनाने के लिए कच्चा माल व औजार कारागार द्वारा जुटाये जाते है तथा उत्पादन के पश्चात् उसके मूल्य मे अपराधियो के वेतन को मिलाकर बाजार मे विक्रय कर दिया जाता है। प्रत्येक आदर्श बन्दीगृह मे वेतन-प्रणाली, पचायत-व्यवस्था एव केन्टीन की सुविधा मिलती है। वेतन-प्रणाली हर राज्य की अलग है। यथा अजमेर मे मुफ्त भोजन के अतिरिक्त 25 पैसे प्रतिदिन मिलते है, लखनऊ आदर्श बन्दीगृह मे 1 रुपया 50 पैसे मिलते है जिसमे से अपराधी को अपने भोजन का व्यय स्वय उठाना पडता है और शेष उसके खाते मे जमा कर दिया जाता है। निश्चित कार्य के अलावा अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त वेतन दिया जाता है।

पचायत-व्यवस्था मे अपराधी बन्दियो मे से प्रतिनिधियो का चुनाव कर पचायत बनायी जाती है। यह पचायत बन्दियो पर अनुशासन रखने तथा शिक्षा, सफाई, मनोरजन आदि की व्यवस्था करती है एव अपराधियो के आपस के झगडे निपटाती है। इन पचायतो के कारण कारागृह का सस्थागत जीवन प्रजातन्त्रात्मक *बनता है तथा कठोर नियन्त्रण भी समाप्त हो जाता है। राजस्थान कारागार समिति* द्वारा पचायतो सम्बन्धी सुधार हेतु कुछ प्रमुख सुझाव है[1] (1) पंचायतें केवल सलाहकारी परिषदो के रूप मे कार्य करें, (2) इनका कार्य-काल छह माह का हो,

[1] *Rajasthan Jail Reforms Commission Report, op cit*, 378-83

(3) सदस्यों का चुनाव सीधा व गुप्त मत-पत्र के आधार पर हो, (4) प्रति सौ अपराधियों के लिए एक प्रतिनिधि हो, (5) प्रधान का चुनाव निर्वाचित पंचों में से हो, (6) यद्यपि सदस्य एक से अधिक बार चुनाव लड़ सकते हैं तथापि प्रधान को एक से अधिक बार निर्वाचित चुनाव न लड़ने दिया जाय, (7) पंचायत का कार्य-भारी (incharge) कारागार-कल्याण अधिकारी हो, तथा (8) कारागृह-अधीक्षक को निषेधाधिकार (veto-power) हो।

केन्टीन का प्रबन्ध बन्दियों द्वारा ही किया जाता है तथा 'न लाभ न घाटा' के आधार पर ही वस्तुएँ उपलब्ध की जाती हैं। इन सुविधाओं के अतिरिक्त इन बन्दीगृहों में दण्डावधि में कुछ अधिक छूट भी मिलती है। ये समस्त लक्षण आदर्श बन्दीगृहों को अपराधियों के सुधार में बहुत उपयोगी बनाते है।

खुले कारागार व बन्दी शिविर (Open or Wall-less Prisons)

अर्थ—खुला कारागार क्या है ? 'खुला' का अर्थ : (अ) क्या कारागार में जनसाधारण व बन्दियों के रिश्तेदारों को बन्दियों से मिलने के लिए उनकी इच्छा-नुसार मुक्त प्रवेश देना (open to public) है; (ब) क्या बन्दियों को कारागार से बाहर उनकी इच्छानुसार बाजार आने-जाने की स्वतन्त्रता देना (open to prisoners) है; (स) क्या जेल संगठन को विरल व शिथिल (open in organ-isation) बनाना है जिसमें अपराधी अपने प्रशिक्षण, भोजन व वस्त्र आदि सम्बन्धी नियम बनाकर स्वयं अपनी देखभाल कर सकें; तथा (द) क्या इसकी मोटी सलाखों, दीवारों व ताला कुंजी आदि सुरक्षा सम्बन्धी पूर्वाधानी उपायों (precautions) को समाप्त करना है (open in security) जिससे मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर अपराधियों को उनकी अपराधी प्रवृत्तियों को परिवर्तन करने में सहायता की जा सके। वास्तव में 'खुले कारागार' के अर्थ में उपर्युक्त चारों अर्थ सम्मिलित हैं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि खुला कारागार सुरक्षा, संगठन, रिश्तेदारों को बन्दियों से अपनी इच्छानुसार मिलने तथा बन्दियों द्वारा दिन के समय अपनी इच्छा से बाजार आदि आने-जाने की स्वतन्त्रता की दृष्टि से 'खुला' है।

लक्षण—उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर खुले कारागारों के छह लक्षण दिये जा सकते हैं: (1) कारागार से भागने के विरुद्ध पूर्वाविधान का अभाव; (2) जेल प्रशासन का सारा कार्य बन्दियों को सौंपना; (3) बन्दियों द्वारा स्वयं अपने भोजन व वस्त्रों आदि की व्यवस्था करना; (4) कारागार-व्यवस्था का आत्म-नियन्त्रण, आत्मशासन व आत्म-निर्भरता पर आधारित होना; (5) बन्दियों को अपने साथ परिवार वालों को रखने की सुविधा देना; तथा (6) एक दिन के आवास के लिए एक दिन की विशेष छूट (रेमीशन) प्रदान करना।

स्थापना के उद्देश्य—खुले कारागारों को स्थापित करने के प्रमुख उद्देश्य हैं : (i) साधारण व अधिकतम सुरक्षा वाले कारागारों में अति संकुलता व अतीव-जनाकीर्णता (over crowding) को कम करना, (ii) सद्व्यवहार के लिए पुरस्कृत

करना, (iii) आत्म-सहायता व आत्म-परीक्षण की शिक्षा एव सुसयमित प्रेरणा देना, (iv) शासकीय निर्माण योजनाओ (public projects) के लिए स्थिर श्रम उपलब्ध करना, (v) बन्दी को कारागार से मुक्त करने की युक्तता (suitability) परखना, (vi) लम्बी अवधि के बन्दियो मे कतिपय आशा का सचार करते रहना, तथा (vii) कृषि और उद्योग के क्षेत्रो मे ऐसा प्रशिक्षण प्रदान करना जो साधारण जेलो मे सम्भव नही है।

उत्पत्ति का इतिहास—रूस, इग्लैण्ड व अमरीका मे कैदियो द्वारा जेल के बाहर कार्य करने का सिद्धान्त भारत मे खुली जेलो की स्थापना से 20–25 वर्ष पूर्व ही स्वीकार किया गया था। रूस मे 1925 से ही बहुत से कैदियो से नहरो की खुदाई के लिए कार्य करवाया जाता था। इग्लैण्ड मे 1930 मे 240 कैदियो के लिए एक खुला कारागार स्थापित किया गया जहाँ कृषि व उद्योग मे विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। अमरीका मे 1936 मे ऐरीजोना मे एक खुला बन्दीगृह स्थापित किया गया जिसमे कुल कैदी रखने की धारिता (capacity) 1946 मे 500 कैदियो तक बढ गयी।

भारत मे 1836 से 1919 के मध्य स्थापित की गयी विभिन्न जेल कमेटियो ने कैदियो से जेल के बाहर कार्य करवाने की व्यवस्था का विरोध किया था। फिर भी पजाब मे 1927 मे सरकार ने जेल मे रखे गये कैदियो तथा परिवीक्षा पर छोडे गये अपराधियों के लिए दो सरकारी सुधारात्मक कृषि फार्म खोले थे परन्तु कुछ समय बाद उन्हे बन्द कर दिया गया। वर्तमान रूप मे प्रथम खुला कारागार अक्टूबर 1952 मे वाराणसी जिले की चकिया तहसील मे चन्द्रप्रभा नदी पर बाँध बनाने हेतु स्थापित किया गया था। इस शिविर (camp) की सफलता के पश्चात् दूसरा शिविर अक्तूबर 1953 मे इसी जिले मे करनासा नदी पर बाँध बनाने हेतु स्थापित किया गया। तीसरा शिविर पीलीभीत जिले के शाहबाद गाँव मे साडे तेरह मील लम्बी नहर खोदने के लिए स्थापित किया गया। इस नहर के पूर्ण होने पर यह शिविर नैनीताल जिले मे खातिमा स्थान मे सात मील दूर नानकसागर बाँध के निर्माण हेतु ले जाया गया। एक छोटा शिविर वाराणसी मे भी वरुना के ऊपर पुल बनाने हेतु खोला गया था। इन समस्त शिविरो की सफलता से उत्साहित होकर चुरमा (जिला मिर्जापुर) मे मार्च 1956 मे मिर्जापुर सीमेण्ट फैक्ट्री मे कार्य करने हेतु एक स्थायी शिविर प्रारम्भ किया गया। इस शिविर मे 1980 मे 1700 बन्दी कार्यरत थे। मार्च 1960 से नैनीताल जिले मे सितारगज के निकट एक कृषि शिविर प्रारम्भ किया गया है जहाँ 1000 से अधिक बन्दियो द्वारा 3000 एकड भूमि पर कृषि की जाती है। उत्तर प्रदेश शिविरो की औसत दैनिक सख्या यद्यपि लगभग 24000 है किन्तु 1952 से 1980 तक लगभग 50,000 बन्दी इन विभिन्न शिविरो मे काम कर चुके है।

राजस्थान मे इस समय चार खुले कारागार है (1) जयपुर जिले मे सागानेर सम्पूर्णानन्द औद्योगिक शिविर जो फरवरी 1963 मे स्थापित किया गया था, (2) जयपुर जिले मे ही दुर्गापुरा कृषि शिविर जो सितम्बर 1955 मे आरम्भ

किया गया था; (3) सूरतगढ़ कृषि केन्द्र जो दिसम्बर 1964 में प्रारम्भ किया गया; और (4) मण्डोर कृषि केन्द्र जो मई 1963 में आरम्भ कर अक्टूबर 1968 में बन्द कर पुनः फरवरी 1972 में आरम्भ किया गया। आरम्भ में सांगानेर में 21 अपराधी थे परन्तु 1968 में इनकी संख्या 8, 1970 में 5, 1975 में 17 और 1981 में 39 थी। दुर्गापुरा में भी 7–8 अपराधी ही रहते हैं यद्यपि सूरतगढ़ में लगभग 50–60 अपराधी कृषि कार्य में लगे है।

इस समय (मई 1981 में) भारत के 12 राज्यों में 19 खुले जेल मिलते हैं। ये दक्षिण भारत में तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल व कर्नाटक में, उत्तरी भारत में उत्तर प्रदेश, पंजाब व हिमाचल प्रदेश में; मध्य भारत में राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात व मध्य प्रदेश में; तथा पूर्वी भारत में असम में मिलते हैं। किसी राज्य में केवल एक, तो किसी में दो, तथा किसी में तीन या उससे अधिक खुले जेल मिलते हैं।

संगठन—किसी खुले जेल में केवल कृषि में ही प्रशिक्षण दिया जाता है, किसी में केवल उद्योगों में, तो किसी में कृषि और उद्योग दोनों में। जब उत्तर-प्रदेश में खुले जेलों को 5,800 एकड़ और आन्ध्र प्रदेश में 1,427 एकड़ भूमि खेती के लिए प्राप्त है, अन्य राज्यों में खुले जेलों को केवल 10 से 20 एकड़ भूमि ही इस कार्य के लिए पर्याप्त है। तीन राज्यों के अलावा अन्य सभी राज्यों में खुले जेल निकटतम कस्बे से पाँच-सात किलोमीटर के अन्दर स्थापित किये हुए हैं परन्तु उत्तरप्रदेश, केरल व कर्नाटक में ये निकटतम कस्बे से 15 से 35 किलोमीटर की दूरी पर बसे हुए हैं।

इन जेलों में कैदी रखने की क्षमता 30 से 3,500 है। उत्तरप्रदेश के खुले जेलों में 3,500; महाराष्ट्र में 1,500; आन्ध्र प्रदेश में 500; पंजाब, राजस्थान कर्नाटक व केरल में 200; तथा तमिलनाडु, हिमाचल प्रदेश, असम व गुजरात में 100 से कम कैदी रखने की क्षमता मिलती है। उत्तरप्रदेश में जब कुल कैदी जन-संख्या के 10% कैदी खुले जेलों में रखे जाते हैं, अन्य राज्यों के कुल कैदी जनसंख्या के 0·5% से 5·0% तक ही कैदी खुले जेलों में मिलते हैं। इन जेलों की 60% जनसंख्या दस वर्ष से अधिक कारावास वाले कैदियों की तथा 85% पांच वर्ष से अधिक कारावास वाली मिलती है। एक कैदी औसतन दो से तीन वर्ष तक खुले जेल में रहता है।

खुले कारागार में बन्दियों को स्वयं रुपया अर्जित करके भोजन और वस्त्र में आत्मनिर्भर होना होता है; अतः ऐसे कारागार में उनकी भर्ती हेतु कुछ विशेष नियम बनाये गये हैं। यहाँ उन्हीं अपराधियों को भेजा जाता है जो (i) ऐसे कारागार में रहने के इच्छुक होते हैं, (ii) शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ एवं कार्य करने में सक्षम होते हैं, तथा (iii) अधिकतम सुरक्षा वाले कारागारों में अपनी सम्पूर्ण दण्डावधि का कम से कम तृतीय भाग व्यतीत कर चुके हों। खुले जेल में भेजने के लिए अपराधी की योग्यता निर्धारित करने की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि

पाँच अवस्थाएँ उसकी योग्यता निश्चित करती है · (1) दण्ड की अवधि एक वर्ष से कम न हो, (2) दण्ड-अवधि समाप्त होने मे कुछ समय शेष हो, (3) अपराधी हत्या व अवारागर्दी जैसे अपराधो के लिए दण्डित न हुआ हो, (4) अपराधी 20 वर्ष से कम तथा 50 वर्ष से अधिक आयु का न हो, तथा (5) देखने मे बचकाना (boyish) तथा छोटे लडको की भाँति न हो।

चयन के लिए साधारणत यह नियम होता है कि जेल-अधीक्षक योग्य कैदियो की सूची जेलो के महानिरीक्षक (I G Prisons) को भेजता है जो कुछ जाँच उपरान्त उसका अनुमोदन कर देता है। परन्तु किसी-किसी राज्य मे यह अनुमोदित सूची जेल-महानिरीक्षक जिला-दण्डनायक (District Magistrate) की स्वीकृति के लिए भेजता है जो पुलिस द्वारा पूछताछ करवाकर उसे अनुमति देता है। राजस्थान मे व्यावहारिक रूप मे यह सूची राज्य-मन्त्री द्वारा मजूर की जाती है।

खुले कारागारो के अपराधियो को कार्य करने व न करने की पूर्ण सुविधा व स्वतन्त्रता होती है। किसी धनी अपराधी के कार्य न करने की इच्छा पर उससे बल-पूर्वक कार्य नही कराया जाता। किसी-किसी राज्य मे अपराधी अपने साथ अपने परिवार के सदस्यो को भी रख सकते हैं। उन्हे रहने के लिए झोपडियाँ दी जाती हैं जिन्हे इच्छानुसार वन्दी सजा सकते हैं। मनोरजन के लिए रेडियो या ट्राजिस्टर आदि रख सकते है। कभी-कभी सब बन्दी मिलकर अपना ट्राजिस्टर व ढोलक आदि मोल ले लेते हैं। यहाँ दण्ड-अवधि मे छूट (remission) भी अधिक मिलती है। हर दिन के पीछे एक दिन की छूट मिलती है। दिन को अपराधी निर्विघ्नता से शहर आदि को जा सकता है परन्तु रात्रि को उसे कारागार मे ही रहना होता है।

भूमिकाएं व मूल्य (Role system and value orientation)—साधारण जेलो की तरह खुले जेलो मे कैदियो पर अधिक प्रतिबन्ध न होने के कारण कैदियो के मूल्य असामाजिक व प्रशासन विरोधी (anti-administration) नही होते। इनके पारस्परिक सम्बन्धो मे भी कोई अविश्वास, सन्देह व समूहीकरण (groupism) आदि की भावना नही मिलती। साधारण जेलो की तरह यहाँ की कैदी-व्यवस्था (inmate system) के कार्यक्रम मे भी कोई दृढता व कठोरता नही पायी जाती। *इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यहाँ भूमिकाओ की व्यवस्था व कैदी-मूल्य* साधारण जेलो की भूमिका-व्यवस्था व कैदी-मूल्यो से बिलकुल भिन्न होते है।

पारिश्रमिक—खुले जेलो मे किये गये काम के लिए बंदियो को पारिश्रमिक भी दिया जाता है यद्यपि यह वेतन व्यवस्था अलग-अलग जेलो में अलग-अलग मिलती है। तमिलनाडु खुले जेल मे वेतन व्यवस्था है ही नही। उत्तरप्रदेश मे मिर्जापुर सीमेण्ट कारखाने मे कार्य करने वाले बन्दियो को प्रतिदिन 2 रुपये 25 पैसे दिये जाते हैं तथा सितारगज शिविर मे 50 पैसे प्रतिदिन दिया जाता है। मिर्जापुर शिविर के बन्दियो से 2 रुपया 25 पैसे प्रतिदिन रोटी, कपडे व निर्वहरण के लिए लिया जाता है।[1]

[1] Vidhya Bhushan, *Prison Administration in India*, Delhi, S Chand & Co, 1970, 123–24

सितारगंज शिविर के बन्दियों से कुछ नहीं लिया जाता। राजस्थान में मजदूरी कार्य की प्रकृति के अनुसार दी जाती है। दुर्गापुरा फार्म पर कार्यरत प्रत्येक बन्दी को अब सात रुपये प्रति दिन वेतन दिया जाता है। सांगानेर में वर्तमान में प्रत्येक बन्दी की मासिक आय औसतन 300 रुपये है। कर्नाटक में नहर खुदाई में लगे कैदियों को पाँच रुपया प्रतिदिन दिया जाता है।

आलोचना—जब खुले जेल वास्तव में सुधारात्मक संस्थाओं का कार्य कर रहे हैं तब यह आश्चर्यजनक ही है कि अभी तक सभी राज्यों में ऐसे जेल क्यों नहीं खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि एक कमेटी नियुक्त कर खुले जेलों में प्रशासन, प्रशिक्षण, कार्यक्रम, वेतन-दर, दण्ड-अवधि में छूट, चयन, रहने की अवधि, शिविर स्थापना के लिए स्थान के चुनाव आदि से सम्बन्धित एक भारतीय स्तर की कार्य-नीति (All India Policy) अपनायी जाये। फिर, इनकी सफलता को ध्यान में रखते हुए न्यायालयों को अपराधियों को सीधे न्यायालय से खुले जेलों में भेजने का अधिकार देना भी अनुपयुक्त नहीं होगा। जेल-महानिरीक्षक द्वारा दण्ड-नायक को चयन किये गये कैदियों की सूची अनुमोदन के लिए भेजना अनावश्यक, अयथार्थ व असम्बद्ध ही है क्योंकि जेल का अधिकारी ही प्रतिदिन कैदी के सम्पर्क में रहने के कारण उसके आचरण व मूल्यों में परिवर्तन व अच्छे व्यवहार को निश्चित कर सकता है और न वह पुलिस-अधिकारी जिसे अपराधी के जेल में व्यवहार के प्रति कुछ ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार वेतन-दर की नीति में परिवर्तन भी आवश्यक है। यदि कैदी को आत्म-निर्भर बनाना है तो कैदी को पर्याप्त वेतन देना आवश्यक है जिससे वह अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके। नीतियों में इस प्रकार के परिवर्तन ही खुले जेलों को अधिक प्रकार्यिक (functional) बनाने में सफल होंगे।

कारागार श्रम (Prison Labour)

सामान्य जीवन में व्यक्ति को सांसारिक सफलता के लिए कुछ रुपया अर्जित करना अत्यन्त आवश्यक होता है परन्तु बन्दीगृह में ऐसा नहीं करना पड़ता। यहाँ उस पर कार्य थोपा जाता है; अतः उसे निश्चित लाभ के अतिरिक्त कोई विशेष लाभ नहीं होता। बन्दी के कार्य का दायित्व परम्परा द्वारा ही निर्धारित होता है तथा परम्परा से ही दी हुई क्रिया में कितना कार्य करना है, उसे सीखना पड़ता है। एक ओर उसे निश्चित कार्य से अधिक करने की प्रेरणा नहीं है तो दूसरी ओर अन्य बन्दियों द्वारा उसे डाँटा जाता है कि अधिक कार्य करना उनके लिए नयी विपत्ति व कठिनाई उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, रसोइए से परम्परानुसार एक घण्टे में तीस रोटी बनाने की अपेक्षा होती है। वह तीस से अधिक इसलिए नहीं बनाता क्योंकि उसे न कोई पुरस्कार मिलता है और न बन्दी समाज (inmate social system) से ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार अपराधी कार्य करने की नयी धारणाएँ विकसित करता है। कारागार की श्रम-व्यवस्था में कार्य करने वाले के रूप में उसे अनुत्पादक (non-productive), विवाद-प्रिय व विलम्बकारी बनने का प्रोत्साहन मिलता है। कुछ

आधुनिक सुधारात्मक संस्थाओं में बन्दियों के मधुर पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण वे अधिकारों और शिकायतों की बातें करते हैं। मैकार्किल (McCorkle)[1] का कथन है कि कारागारों में किये गये कार्य तथा तत्सम्बन्धी भौतिक मूल्य-प्राप्ति के मध्य सम्बन्ध टूट गया है। इससे भी अधिक विच्छेद वैयक्तिक स्थिति व व्यक्तिगत उत्पादन में मिलता है। सामाजिक अपराधी की दृष्टि से यह सम्बन्ध नकारात्मक बन गया है। दूसरी ओर बन्दी श्रम के प्रति परिवीक्षकों की धारणाएँ भी बहुत निरुत्साहक रहती हैं। वे बन्दियों को आलसी, अनुद्योगी, अपरिश्रमी, आरामतलब, अयोग्य आदि समझते हैं। वे सोचते हैं कि अपराधी न सीख सकता है और न सीखने की इच्छा रखता है। उन पर बलपूर्वक कार्य थोपने का प्रयास खतरनाक ही रहता है। कारागार में निम्नस्तरीय श्रम या बन्दी से साधारण श्रमिक जितना कार्य न करने की आशा का बन्दियों के काम करने की आदत पर इतना प्रभाव पड़ता है कि कारागार से मुक्ति के उपरान्त बन्दी के कार्य करने की क्षमता एवं पुनर्वास पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

पूर्व विचारधाराओं के अनुसार कारागार एक दण्डनीय संस्था थी किन्तु वर्तमान में इसे सुधारात्मक संस्था माना जाता है। नवीन विचारधारा में भी कारागृह को आत्मपोषणशील बनाने का कोई लक्ष्य नहीं मिलता। कारागारों के प्रशिक्षण कार्यक्रम बन्दियों के आर्थिक व सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार होते हैं। पुराने कारागारों में सश्रम कारावास वाले अपराधियों से पत्थर कूटने आदि कष्टदायक और अत्यधिक परिश्रम के कार्य करवाये जाते थे जिसका उद्देश्य मेहनत करवाकर भविष्य में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करना था। 1920 की कारागार सुधार समिति के सुझावों के उपरान्त और विशेषकर 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद ही हमारे राजनीतिक नेताओं ने कारागारों की उग्र, दूषित व नीति-भ्रष्ट स्थिति को देखा और परिवर्तन पर बल दिया। फलस्वरूप कारागारों में विभिन्न क्रान्तिकारी सुधार लाये गये जिनमें से श्रम-सम्बन्धी सुधार एक था।

बन्दियों से श्रम करवाने के कुछ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक उद्देश्य हैं: (1) इससे अपराधी को दण्ड देकर व भयभीत कर पुन अपराध करने से रोका जाता है, (2) कारागार में निष्क्रियता दूर कर अनुशासन रखा जाता है, (3) कारावास जीवन की नीरसता व एकान्त को समाप्त किया जाता है, (4) निर्मित वस्तुओं को बेचकर जेल के परिचालित (operating) व्यय को कम किया जाता है, (5) अपराधियों को कुछ अर्जित कर अपने परिवार के सदस्यों के अनुपोषण व संचालन

[1] 'In prison, the direct relationship between work done and material value received has largely broken down The relationship between individual productivity and personal status is even more markedly broken down From a sophisticated inmate's point of view this relationship seems to become a negative one' *Lloyd W McCorkle* in 'Resocialisation within walls', *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, May 1954, 293

Also see his article in 'Sociology of Punishment and Correction' edited by Wolfgang, Savitz and Jhonston, *op cit*, 101

सितारगंज शिविर के बन्दियों से कुछ नहीं लिया जाता। राजस्थान में मजदूरी कार्य की प्रकृति के अनुसार दी जाती है। दुर्गापुरा फार्म पर कार्यरत प्रत्येक बन्दी को अब सात रुपये प्रति दिन वेतन दिया जाता है। सांगानेर में वर्तमान में प्रत्येक बन्दी की मासिक आय औसतन 300 रुपये है। कर्नाटक में नहर खुदाई में लगे कैदियों को पाँच रुपया प्रतिदिन दिया जाता है।

आलोचना—जब खुले जेल वास्तव में सुधारात्मक संस्थाओं का कार्य कर रहे हैं तब यह आश्चर्यजनक ही है कि अभी तक सभी राज्यों में ऐसे जेल क्यों नहीं खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि एक कमेटी नियुक्त कर खुले जेलों में प्रशासन, प्रशिक्षण, कार्यक्रम, वेतन-दर, दण्ड-अवधि में छूट, चयन, रहने की अवधि, शिविर स्थापना के लिए स्थान के चुनाव आदि से सम्बन्धित एक भारतीय स्तर की कार्य-नीति (All India Policy) अपनायी जाये। फिर, इनकी सफलता को ध्यान में रखते हुए न्यायालयों को अपराधियों को सीधे न्यायालय से खुले जेलों में भेजने का अधिकार देना भी अनुपयुक्त नहीं होगा। जेल-महानिरीक्षक द्वारा दण्ड-नायक को चयन किये गये कैदियों की सूची अनुमोदन के लिए भेजना अनावश्यक, अयथार्थ व असम्बद्ध ही है क्योंकि जेल का अधिकारी ही प्रतिदिन कैदी के सम्पर्क में रहने के कारण उसके आचरण व मूल्यों में परिवर्तन व अच्छे व्यवहार को निश्चित कर सकता है और न वह पुलिस-अधिकारी जिसे अपराधी के जेल में व्यवहार के प्रति कुछ ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार वेतन-दर की नीति में परिवर्तन भी आवश्यक है। यदि कैदी को आत्म-निर्भर बनाना है तो कैदी को पर्याप्त वेतन देना आवश्यक है जिससे वह अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके। नीतियों में इस प्रकार के परिवर्तन ही खुले जेलों को अधिक प्रकार्यिक (functional) बनाने में सफल होंगे।

कारागार श्रम (Prison Labour)

सामान्य जीवन में व्यक्ति को सांसारिक सफलता के लिए कुछ रुपया अर्जित करना अत्यन्त आवश्यक होता है परन्तु बन्दीगृह में ऐसा नहीं करना पड़ता। यहाँ उस पर कार्य थोपा जाता है; अतः उसे निश्चित लाभ के अतिरिक्त कोई विशेष लाभ नहीं होता। बन्दी के कार्य का दायित्व परम्परा द्वारा ही निर्धारित होता है तथा परम्परा से ही दी हुई क्रिया में कितना कार्य करना है, उसे सीखना पड़ता है। एक ओर उसे निश्चित कार्य से अधिक करने की प्रेरणा नहीं है तो दूसरी ओर अन्य बन्दियों द्वारा उसे डाँटा जाता है कि अधिक कार्य करना उनके लिए नयी विपत्ति व कठिनाई उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, रसोइए से परम्परानुसार एक घण्टे में तीस रोटी बनाने की अपेक्षा होती है। वह तीस से अधिक इसलिए नहीं बनाता क्योंकि उसे न कोई पुरस्कार मिलता है और न बन्दी समाज (inmate social system) से ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार अपराधी कार्य करने की नयी धारणाएँ विकसित करता है। कारागार की श्रम-व्यवस्था में कार्य करने वाले के रूप में उसे अनुत्पादक (non-productive), विवाद-प्रिय व विलम्बकारी बनने का प्रोत्साहन मिलता है। कुछ

आधुनिक सुधारात्मक संस्थाओं में बन्दियों के मधुर पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण वे अधिकारों और शिकायतों की बातें करते हैं। मैकार्किल (McCorkle)[1] का कथन है कि कारागारों में किये गये कार्य तथा तत्सम्बन्धी भौतिक मूल्य-प्राप्ति के मध्य सम्बन्ध टूट गया है। इससे भी अधिक विच्छेद वैयक्तिक स्थिति व व्यक्तिगत उत्पादन में मिलता है। सामारिक अपराधी की दृष्टि से यह सम्बन्ध नकारात्मक बन गया है। दूसरी ओर बन्दी श्रम के प्रति परिवीक्षकों की धारणाएँ भी बहुत निरुत्साहक रहती हैं। वे बन्दियों को आलसी, अनुद्योगी, अपरिश्रमी, आरामतलब, अबोध्य आदि समझते हैं। वे सोचते हैं कि अपराधी न सीख सकता है और न सीखने की इच्छा रखता है। उन पर बलपूर्वक कार्य थोपने का प्रयास खतरनाक ही रहता है। कारागार में निम्नस्तरीय श्रम या बन्दी से साधारण श्रमिक जितना कार्य न करने की आशा का बन्दियों के काम करने की आदत पर इतना प्रभाव पड़ता है कि कारागार से मुक्ति के उपरान्त बन्दी के कार्य करने की क्षमता एवं पुनर्वास पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

पूर्व विचारधाराओं के अनुसार कारागार एक दण्डनीय संस्था थी किन्तु वर्तमान में इसे सुधारात्मक संस्था माना जाता है। नवीन विचारधारा में भी कारागृह को आत्मपोषणशील बनाने का कोई लक्ष्य नहीं मिलता। कारागारों के प्रशिक्षण कार्यक्रम बन्दियों के आर्थिक व सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार होते हैं। पुराने कारागारों में सश्रम कारावास वाले अपराधियों से पत्थर कूटने आदि कष्टदायक और अत्यधिक परिश्रम के कार्य करवाये जाते थे जिनका उद्देश्य मेहनत करवाकर भविष्य में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करना था। 1920 की कारागार सुधार समिति के सुझावों के उपरान्त और विशेषकर 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद ही हमारे राजनीतिक नेताओं ने कारागारों की उग्र, दूषित व नीति-भ्रष्ट स्थिति को देखा और परिवर्तन पर बल दिया। फलस्वरूप कारागारों में विभिन्न क्रान्तिकारी सुधार लाये गये जिनमें से श्रम-सम्बन्धी सुधार एक था।

बन्दियों से श्रम करवाने के कुछ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक उद्देश्य हैं: (1) इससे अपराधी को दण्ड देकर व भयभीत कर पुनः अपराध करने से रोका जाता है, (2) कारागार में निष्क्रियता दूर कर अनुशासन रखा जाता है, (3) कारावास जीवन की नीरसता व एकान्त को समाप्त किया जाता है, (4) निर्मित वस्तुओं को बेचकर जेल के परिचालित (operating) व्यय को कम किया जाता है, (5) अपराधियों को कुछ अर्जित कर अपने परिवार के सदस्यों के अनुपोषण व संचालन

[1] 'In prison, the direct relationship between work done and material value received has largely broken down. The relationship between individual productivity and personal status is even more markedly broken down. From a sophisticated inmate's point of view this relationship seems to become a negative one.' Lloyd W. McCorkle in 'Resocialisation within walls', *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, May 1954, 293.

Also see his article in 'Sociology of Punishment and Correction' edited by Wolfgang, Savitz and Jhonston, *op. cit.*, 101.

का अवसर दिया जाता है, (6) अपने लिए आवश्यक वस्तु क्रय करने का अपराधियों को अवसर मिलता है, तथा (7) उन्हें कुछ उद्योग सिखाकर सामाजिक पुनर्वास के लिए तैयार किया जाता है।

कारागार श्रम की सात प्रणालियाँ[1] मिलती हैं जिनमें से भारत व अमरीका में आजकल चार ही पायी जाती हैं। ये सात प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) अनुबन्धित श्रम प्रणाली (Contract labour system)—इस प्रणाली में वन्दियों को अशासकीय ठेकेदारों को ठेके पर दे दिया जाता है। वन्दियों की रखवाली करने का उत्तरदायित्व तो कारागृह-अधिकारियों पर होता है किन्तु अन्य हर प्रकार से अपराधी ठेकेदारों के नियन्त्रण में रहते हैं। वन्दियों के प्रति दासों जैसा व्यवहार होने के कारण इस प्रणाली को दोषयुक्त मानकर समाप्त कर दिया गया है।

(2) पट्टेदारी प्रणाली (Lease system)—यह प्रणाली अनुवन्ध प्रणाली से कुछ भिन्न किन्तु अधिक दूषित है। इसमें वन्दियों का पोषण व अनुशासन आदि पूर्ण रूप से ठेकेदारों के नियन्त्रण में होता है। ठेकेदार कारागार के वाहर सड़क निर्माण, कृषि, खान खोदना व गन्ना आदि वोने के कार्य में वन्दियों को लगाते हैं। इस प्रणाली में वन्दियों की स्थिति दासों से किसी प्रकार भिन्न नहीं होती। अतः इसे भी समाप्त कर दिया गया है।

(3) पारिश्रमिक प्रणाली (Piece price system)—इस प्रणाली में ठेकेदार कारागारों को कच्चा माल और पारिश्रमिक देकर उनसे वन्दियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ क्रय कर लेते हैं। अतः इस प्रणाली में ठेकेदार वन्दियों का शोषण नहीं कर पाते। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् यह प्रणाली अमरीका में उत्पन्न हुई थी किन्तु अव वहाँ भी इसे समाप्त कर दिया गया है।

(4) राज्य खाता प्रणाली (State account system)—इसमें वन्दियों द्वारा निर्मित वस्तुओं को वाजार में वेचने के उपरान्त प्राप्त रुपया राज्य खाते में जमा कर दिया जाता है। इस प्रणाली के दो लाभ हैं: (i) उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएँ मिलती हैं, तथा (ii) कारागार भी आर्थिक रूप से कुछ आत्म-निर्भर हो जाते हैं।

(5) राज्य उपभोग प्रणाली (State use system)—इस प्रणाली में वन्दियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ खुले वाजार में न वेचते हुए शासकीय या अर्द्ध-शासकीय संस्थाओं को प्रयोग के लिए दी जाती हैं। माँग आने पर इन संस्थाओं के उपभोग की आवश्यक वस्तुएँ कारागारों में निर्मित कर उनकी पूर्ति की जाती है। उदाहरणार्थ, पुलिस की पोशाक, डाकघर के थैले और गमले आदि।

(6) सरकारी निर्माण योजना प्रणाली (Public works and ways system)—इस प्रणाली में सरकारी निर्माण योजनाओं में काम कराकर वन्दियों को सामान्य श्रमिकों की तरह पारिश्रमिक दिया जाता है, जैसे वाँध वनाने का कार्य, नहर खुदाई का कार्य, आदि।

[1] Robert G. Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Co., New York, 1956, 598-99.

(7) कृषि प्रणाली (Farming system)—इसके अन्तर्गत कृषि, उद्यान व पशुपालन का कार्य बन्दियों से कराया जाता है। इस प्रकार कारागार बन्दियों के लिए सस्ते मूल्य पर सन्तुलित खाद्य सामग्री और तरकारियाँ आदि उपलब्ध करने के साथ-साथ कृषि-उत्पादन द्वारा देश को खाद्य-सामग्री में भी आत्मनिर्भर बनाने में सहयोग करते हैं। इसके अलावा बन्दियों के खुले स्थानों में काम करने के कारण उन्हें स्वास्थ्य सुधारने का भी अवसर मिलता है।

उपर्युक्त सात प्रणालियों में से प्रथम तीन सर्वथा समाप्त कर दी गयी है, केवल अन्तिम चार ही वर्तमान में पायी जाती है।

भारत में जेल श्रम

मकौले कमेटी ने 1838 में बन्दियों को कष्टप्रद, नीरस व अरुचिकर कार्य देने का सुझाव दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) में अत्यन्त कठोर परिश्रम, जैसे गड्ढे खोदना, पत्थर कूटना, चक्की पीसना, तथा कुंओं से पानी खींचना आदि के कार्यों पर बल दिया गया था। दण्डनीय श्रम का यह रूप तथा जेल-उद्योगों का प्रशासनिक कार्य-साधकता (administrative expediency) पर आधारित संगठन दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक चलता रहा। स्वतन्त्रता के पश्चात् कारागार श्रम संगठन को एक नयी दिशा दी गयी तथा अपराधी के सामाजिक पुनर्वास के उद्देश्य से कारागृह-श्रम पुनर्गठित किया गया। इस समय कारागार नियमावली के नियमों के अनुसार भारत में तीन प्रकार का श्रम मिलता है. कठोर, मध्यम तथा हल्का। चक्की पीसना, पानी खींचना, धान कुटाई, दुसूती बुनना आदि कठोर श्रम में आते हैं; दरी व गलीचा बुनना, मूंज बनाना, दर्जी, रंगाई व चमड़े का काम करना, पुस्तकों की जिल्दसाजी तथा उद्यान-कला मध्यम श्रम में आते हैं; हल्के श्रम में रस्सी बनाना, चरखा कातना, लिफाफे बनाना, सब्जी काटना आदि सम्मिलित हैं। किन्तु विचाराधीन प्रकरण वाले अभियुक्तों (undertrials) और उपजेलों में रहने वाले बन्दियों से कोई कार्य नहीं करवाया जाता। केन्द्रीय और जिला कारागारों में सफाई तथा भोजन बनाने आदि जैसे निर्वहण कार्यों के लिए जहाँ एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है वहाँ दो-तीन बन्दियों की नियुक्ति मिलती है। हमारे कारागारों में बीमारों की संख्या भी अधिक मिलती है। सरकारी निर्माण योजनाओं में उन्हीं बन्दियों से कार्य कराया जाता है जो खुले कारागारों (wall-less prisons) के बन्दी होते हैं। फलस्वरूप हमारे देश में जेल श्रम की स्थिति गम्भीर व चिन्ताजनक ही कही जा सकती है। अधिक से अधिक 30-35% बन्दी ही उत्पादक कार्यों में लगे हुए मिलते हैं। विभिन्न कारागारों में आजकल बन्दियों को दिये जाने वाले प्रशिक्षण का नीचे उल्लेख किया गया है।

जेल उद्योग (*Jail Industries*)

भारतीय कारागार कुटीर-उद्योगों को पाँच भागों में विभाजित किया जा

सकता है : (अ) वस्त्र एवं उपसंगी (subsidiary) उद्योग—इसके अन्तर्गत हस्त-करघा (handloom) और उसकी शाखाओं में प्रशिक्षण आता है, जैसे अपराधियों के सूती वस्त्र बनाना, पुलिस, वन व आबकारी विभाग की वर्दियां बनाना, कोपागारों के लिए धागों के बस्ते बनाना तथा पट्टियां, ऊनी कम्बल, छोलदारी, दरियां, गलीचे, निवाड़, दुसूती बनाने एवं रंगाई व अम्बर चर्खा आदि में प्रशिक्षण आदि। (ब) जूते और अन्य चमड़े की वस्तुएँ। (स) लोहारी और टीन की वस्तुएँ। (द) बढ़ईगिरी तथा कुर्सी, मेज आलमारी, चौकियां, व पट्टे आदि फर्नीचर बनाना। (य) साबुन, फिनाइल, तेल, गुड़, विरेजक चूर्ण (bleaching powder), रस्सियां व बेंत का कार्य, आदि।

वर्तमान कारागार श्रम सम्बन्धी तीन प्रमुख समस्याएँ हैं : (अ) पारिश्रमिक समस्या; (ब) विचाराधीन वादों वाले अभियुक्तों (undertrials) को काम देने की समस्या; तथा (स) उपयुक्त कार्य की प्रकृति की समस्या। इन तीनों का हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे :

(अ) पारिश्रमिक समस्या (Wage Problem)—कानूनी दण्ड-व्यवस्था का एक मुख्य अंग कारागार-श्रम माना जाता है तथा बेगार के रूप में यह बन्दियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक ग्रहण नहीं किया जाता वरन् उन्हें सौंपा जाता है। इसमें निहित धारणा यह है कि बन्दियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ पूर्णरूपेण राज्य की सम्पत्ति होती हैं। इस विचारधारा का बहुत से विद्वान् इस युग में विरोध करते हैं। उनके मत में दण्डात्मक विचारधारा में परिवर्तन के साथ, जेल-श्रम सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन भी आवश्यक है। हम बन्दियों से जब अधिक कार्य करने, कार्य में रुचि तथा निपुणता बढ़ाने की अपेक्षा करते हैं तथा उनको अपने परिवार के सम्पालन व अनुपोषण करने का प्रोत्साहन देते हैं, यदा-कदा उन्हें क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) को हरजाना (compensation) देने को बाध्य करते हैं, उनमें उपयोगी श्रमिकों के प्रति मैत्री भावनाएँ पैदा करना चाहते हैं, तब उन्हें उनके श्रम के लिए पर्याप्त वेतन देना आवश्यक है। ग्रनहट (Grunhut)[1] का भी कहना है कि आज के वैतनिक श्रम (paid labour) के युग में बन्दियों से अवैतनिक बेगार के प्रति निःस्वार्थ निष्ठा रखने की अपेक्षा करना आश्चर्यजनक है। अतः इस साधारण अनुभव को, कि पर्याप्त आय कार्य करने को प्रेरणा देती है तथा उसे सफलतापूर्वक करने को उत्साहित करती है, व्यर्थ भौतिकवाद बताकर निकम्मा ठहराना पाखण्ड व मिथ्याचार होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि पारिश्रमिक उत्पादन कार्यरत बन्दी को दिया जाय अथवा भोजन बनाने, सफाई करने व पत्र-व्यवहार आदि जैसे कार्यरतों को भी पारिश्रमिक दिया जाय? इस सम्बन्ध में 1939 की उत्तरप्रदेश कारागार विभागीय समिति[2] का विचार था कि उन्हीं बन्दियों को पारिश्रमिक दिया जाये जो बाजार में विक्रय की जाने वाली वस्तुओं को निर्मित करते हैं तथा सहायक के रूप में कार्य

[1] Max Grunhut, *Penal Reform*, Oxford, 1948, 211, quoted by Vidya Bhushan, *op. cit.*, 215.

[2] Quoted in the *Report of the U.P. Jail Reforms Committee*, 1946, 32.

करने वाले बन्दियों को कुछ नहीं देना चाहिए। समिति ने रसोइयों और बन्दी-शिक्षकों को भी मासिक वेतन देना आवश्यक बताया। परन्तु 1956 के उत्तर प्रदेश कारागार उद्योग जाँच समिति[1] के मत में शासन द्वारा बन्दियों को भोजन, वस्त्र एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं के लिए निर्वहण पारिश्रमिक (maintenance wages) दिये जाने के कारण अतिरिक्त पारिश्रमिक केवल अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार व बोनस के रूप में ही देना चाहिए। उत्तर प्रदेश सरकार ने यद्यपि 1939 की समिति का सुझाव अस्वीकार कर दिया किन्तु हमारे विचार से कारागारों की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह सुझाव बहुत उपयुक्त है। किन्तु यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि स्वयं की व उसके परिवार के सदस्यों की यथासम्भव आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए आदर्शस्वरूप बन्दी को उसके श्रम के लिए एक साधारण श्रमिक के समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए।

वर्तमान में भारतीय कारागारों की वेतन-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है। कतिपय अधिकतम सुरक्षा वाले कारागारों में दैनिक कार्य के लिए नाममात्र का ही पारिश्रमिक दिया जाता है अन्यथा अधिकांश अधिकतम सुरक्षा वाले कारागारों में कुछ नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन निश्चित कार्य से 25% अधिक कार्य के लिए 50 पैसे, 50% अधिक कार्य के लिए एक रुपया तथा 100% अतिरिक्त कार्य के लिए दो रुपये दिये जाते हैं। आदर्श कारागार में वेतन-प्रणाली अलग मिलती है। बन्दियों को औसत श्रमिक के समान दो रुपया पचास पैसे प्रतिदिन दिया जाता है जिसमें से उसे स्वयं के भोजन, वस्त्र के लिए भुगतान करना पड़ता है। उन्मुक्त व खुले कारागारों में पारिश्रमिक कार्य के अनुपात में मिलता है; जैसे दस किलो सूत रंगाई के लिए पन्द्रह रुपये, एक वर्ग फुट दरी बनाने के लिए पचास पैसे, तथा 1000 घनफुट मिट्टी खोदने के लिए 20 रु०। शासकीय निर्माण योजनाओं में कार्य करने वाले बन्दियों को सामान्य श्रमिक के समान पारिश्रमिक दिया जाता है।

इस प्रकार भारतीय जेलों में हमें पारिश्रमिक की दो प्रमुख प्रणालियाँ मिलती हैं (क) सर्व समान दर (flat rate) प्रणाली जो घटती-बढ़ती नहीं, सदैव एक रहती है, तथा (ख) कार्य व उत्पादन दर (piece-rate) प्रणाली जो उत्पादित वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करती है। अधिकांश बन्दियों को उत्पादन-दर प्रणाली के आधार पर ही पारिश्रमिक दिया जाता है। क्या यह वेतन-दर पर्याप्त है? हमारे विचार में इसका उत्तर कदापि न है। पच्चीस या पचास पैसे प्रतिदिन कमाकर कोई व्यक्ति अपने परिवार का सम्पालन कदापि नहीं कर सकता। इस युग में बन्दियों को भी साधारण श्रमिकों की तरह पारिश्रमिक क्यों नहीं दिया जाता?

(ब) विचाराधीन वादों वाले अभियुक्तों (undertrials) के लिए श्रम—किसी भी राज्य में अन्तर्मुकदमों वाले अपराधियों की संख्या कम नहीं होती। प्रत्येक वर्ष भारत में भर्ती किये जाने वाले 13–14 लाख अपराधियों में से लगभग 8 लाख अन्तर्मुकदमों वाले अपराधी होते हैं। इनमें से बारह से सत्ताईस प्रतिशत को अन्तत

[1] *Report of U P Jails Industries Enquiry Committee*, 1956 14

दण्डित भी किया जाता है।

इतने व्यक्तियों से कुछ कार्य न लेकर उन्हें निःशुल्क व अवन्ध रूप से खिलाना सरकार के लिए बहुत बोझ है। अतः यह आवश्यक है कि अन्तर्मुकदमों वाले अपराधियों से भी कार्य कराया जाय और अन्य वन्दियों की तरह उन्हें भी पारिश्रमिक दिया जाये। हमारा विचार है कि जिस प्रकार अन्तर्मुकदमों वाले बाल-अपराधियों के लिए 'रिमाण्ड होम' स्थापित किये गये हैं जहां उनसे कुछ कार्य भी करवाया जाता है, इसी प्रकार बड़े-बड़े शहरों में सम्परीक्षात्मक (experimental) आधार पर वयस्क अन्तर्मुकदमों वाले अपराधियों के लिए भी विशेप 'अन्तर्मुकदमें गृह' (Undertrial Homes) स्थापित कर उनसे कुछ न कुछ उत्पादन सम्बन्धी कार्य करवाया जा सकता है क्योंकि बहुत से अन्तर्मुकदमों वाले अपराधी कुछ महीनों के लिए नहीं अपितु कुछ वर्षों के लिए अन्तर्मुकदमे वाले अपराधी के रूप में जेल में रहते हैं।

(स) कार्य की प्रकृति (Nature of Work)—तीसरा प्रश्न है कि वन्दियों से किस प्रकार का कार्य करवाया जाये? भारत में अधिकांश वन्दी छोटी दण्ड अवधि वाले (short-termers) हैं। लगभग 30% को एक माह से कम का कारावास मिलता है, 55% को एक माह से अधिक परन्तु एक वर्ष से कम तथा 15% को एक वर्ष से अधिक का कारावास मिलता है।[1] अतः छोटी अवधि वाले 85% वन्दियों के लिए उपयुक्त, कल्याणकारक व लाभदायक प्रशिक्षण कार्यक्रम ढूंढ़ना आसान नहीं है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य कठिनाइयां भी हैं: (1) अपर्याप्त व अननुरूप आर्थिक व्यवस्था; (2) पुराने उपकरण व औजार; (3) आधुनिक यन्त्रावली व मशीनरी की कमी; (4) कच्चे माल की सीमित उपलब्धि; (5) योग्य व्यक्तियों की शिक्षण के लिए कमी; तथा (6) सीमित फैक्ट्री स्थान। इस सम्बन्ध में काल्डवेल (Caldwell) का मत है कि वन्दी को कोई कार्य देने से पूर्व निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—(i) उस कार्य से वन्दी के स्वास्थ्य व कल्याण पर क्या प्रभाव होगा? (ii) उस कार्य का वन्दी के प्रशिक्षण व सुधार पर क्या प्रभाव होगा? (iii) उस कार्य से राज्य को आर्थिक लाभ क्या होगा? (iv) उसका प्रशासन कार्य-कुशलता सम्बन्धी परिणाम क्या होगा? (v) उससे स्वतन्त्र व्यक्तियों के श्रम से प्रतिस्पर्धा पर क्या प्रभाव होगा?

व्यावहारिक रूप में वन्दियों को काम सौंपने से पहले निम्न बातें देखी जाती हैं: (i) किसी कार्य के लिए वन्दी की शारीरिक व मानसिक क्षमता; (ii) कारागार में आने के पूर्व का उसका अनुभव व प्रशिक्षण; (iii) वन्दी की उस कार्य के लिए योग्यता व कुशलता; (iv) कार्य की पुनः स्थापना सम्बन्धी आशा।

काल्डवेल ने उपयोगिता की दृष्टि से जेल-श्रम सम्बन्धी निम्न सुझाव दिये हैं:[2]

(1) विभेद (Diversification)—कारागार-श्रम विशिष्ट न होकर भिन्न-

[1] *Crime in India, 1971* published by Government of India, Bureau of Police Research and Development, New Delhi.

[2] Caldwell, *op. cit.*, 606.

भिन्न कार्यक्रम वाला होना चाहिए तथा कार्यक्रम जलवायु, क्षेत्र मे उपलब्ध कच्चे माल, उत्पादित वस्तुओ को बाजार मे बेचे जाने की सम्भावना आदि पर निर्भर करना चाहिए।

(2) **कार्य प्रणाली** (*System of Employment*)—विभिन्न श्रमिक प्रणालियो मे राज्य-उपयोग प्रणाली (State-use system) सर्वोत्तम है। अत. कारागार द्वारा उत्पादित वस्तुओ के प्रयोग के लिए सरकारी और अर्ध-सरकारी सस्थाओ को बाध्य करना चाहिए।

(3) **कार्य समनुदेशन व प्रशिक्षण** (Employment Assignment)—दण्डावधि, शिक्षा, योग्यता, बुद्धि, ज्ञान, निपुणता व प्रवणता के आधार पर बन्दी को काम देना चाहिए।

(4) **पारिश्रमिक** (Wages)—कार्य के लिए पर्याप्त व यथेष्ठ पारिश्रमिक दिया जाय तथा यह स्वतन्त्र श्रम से तुलनीय हो।

फ्रैंक फ्लाइन (Frank Flynn) ने कारागृहो मे कार्य-योजना (employment plan) के आठ लक्षण दिये हैं . (1) बंदियो की आयु, दण्डावधि व कार्य-क्षमता (work-skills) आदि का सतर्क अध्ययन, (2) सम्भाव्य मार्केट का मूल्याकन (evaluation of potential market), (3) उपयुक्त और विविध कार्यो का चुनाव (selection of suitable and diversified activities), (4) कार्य सौपने के उपयुक्त उपाय (assignment of adequate methods), (5) स्वीकृत व्यापार प्रबन्धन सम्बन्धी कार्य-प्रणाली (business management practices), (6) उपयोगी कार्य की प्रथा (realistic employment practices), (7) अच्छी कोटि के उत्पादन का विकास (development of quality production), (8) कार्य-योजनाओ का सुधार योजनाओ के प्रावस्थाओ (phases) मे सकलन (employment plans integrated with other phases of the correctional programme)।[1]

हमारे विचार से कारागृह-श्रम की प्रकृति के निर्धारण हेतु निम्नलिखित सुझावो का ध्यान और होना चाहिए (1) अधिकाश बन्दी गाँवो के रहने वाले (80% से ऊपर) व अशिक्षित (67%) होते हैं, (2) अधिकांशत (57%) अल्प आयु (16–30 वर्ष) के होते हैं, (3) तीन-चौथाई विवाहित होते हैं, (4) कारागार मे आने से पूर्व तीन-चौथाई बन्दी अपने परिवार मे रुपया कमाने की प्रमुख भूमिका मे लगे होते हैं, तथा (5) दो-तिहाई बन्दियो की 16 वर्ष से कम आयु की आश्रित (dependent) सन्तान होती है। अत कारागार सम्बन्धी श्रम के बारे मे यही कहा जा सकता है कि बन्दियो का श्रम अर्थपूर्ण व उपयोगी हो जिसमे वह कारागार से मुक्त होने के पश्चात् उन्हे पुनर्वास मे सहायता करे। इस सम्बन्ध मे राजस्थान कारागार सुधार आयोग[2] के दो सुझाव भी प्रमुख हैं . (क) बन्दियो को कार्य व प्रशिक्षण देने के

[1] 'Frank Flynn T., Employment and Labour in Prisons', *Contemporary Correction*, ed by Paul W Tappan, McGraw Hill Co., New York, 1951, 238

[2] Rajasthan Jail Reforms Commission Report, *op cit* 242 43

लिए तैयार औद्योगिक संस्थानों की कुछ कारागारों को सहायता लेनी चाहिए; (ख) कुछ कारागार-उद्योग उद्योगपतियों के सहयोग से भी स्थापित किये जाने चाहिए।

कारागार-समायोजन (Prison Adjustment)

अपराधशास्त्र में कैदी के कारागार संस्कृति में समायोजन का दो दृष्टिकोणों से अध्ययन किया गया है—एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से। लेबो (Lebo), डेविस (Davis), बारबश (Barbash) आदि ने वन्दियों की बुद्धि और व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों के आधार पर समायोजन प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है।[1] क्लेमर (Clemmer), साइकिस (Sykes), काल्डवेल (Caldwell), वुल्फगैंग (Wolfgang), शिराग (Schrag) व मैकारकिल (McCorkle) आदि ने वन्दियों के विभिन्न सामाजिक विभेदों (social variables)—वैवाहिक स्थिति, कारागार मे आने से पूर्व कार्य की प्रकृति, कारागार के अन्दर अपराधियों के पारस्परिक सम्बन्धों की अनौपचारिक संरचना, आदि—के आधार पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से समायोजन प्रक्रिया का अध्ययन किया है।

क्लेमर[2] (Clemmer) ने कारागृह में पाये जाने वाले कैदी-संगठन (inmate systems) के कारणों व कारागृह समुदाय में समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन किया; ग्रेशाम साईकिस[3] (Gresham Sykes) ने वन्दियों द्वारा अनुभव किये जाने वाले प्रमुख वंचताओं (deprivations) का विश्लेषण किया; स्टैंटन व्हीलर[4] (Stanton Wheeler) ने सुधारात्मक संस्थाओं में समाजीकरण की प्रक्रिया, भूमिका संघर्ष व कारागृह संस्कृति को समझाने का प्रयास किया, क्लारेंस शिराग[5] (Clarence Schrag) ने कैदियों में नेतृत्व का परीक्षण किया; तथा पीटर गैराबीडियन[6] (Peter Garabedian) ने जेल समुदाय में सामाजिक भूमिकाओं व जेल के औपचारिक और अनौपचारिक मूल्यों में व्यक्ति के अन्तर्ग्रस्तता (involvement) के प्रतिरूपों (patterns) का अध्ययन किया :

[1] Lebo and Hand, 'Predicting the Institutional Adjustment of Delinquent Boys,' 1955. Barbash and Shearer, *Occupational Adjustment & Crime*, 1950.

[2] Donald Clemmer, *The Prison Community*, Christophen Publishing House, Boston, 1940.

[3] Gresham Sykes, *The Society of Captives : A Study of Maximum Security Prison*, Princeton University Press, Princeton, 1958.

[4] Stanton Wheeler, 'Socialisation in Correctional Institutions' in David A. Goslin (ed.), *Handbook of Socialisation Theory and Research*, Rand McNally & Co., N. York, 1969.

[5] Clarence Schrag, 'Leadership Among Prison Inmates', *American Sociological Review*, 1954, 37-42.

[6] 'Peter Garabedian, 'Social Roles and Process of Socialisation in the Prison Community' —*Social Problems*, 1963, 139-152.

(a) समायोजन पैमाना (Adjustment Scale)

ड्रिस्काल (Driscoll) और उसके बाद वुल्फगांग (Wolfgang) ने पुन इस समस्या का अध्ययन मूल्यांकन पैमाने (adjustment rating scale) को लेकर किया। इसमें उन्होंने सामान्य लक्षणों के स्थान पर बन्दियों के ठोस व्यवहार का वर्णन किया है। इस पैमाने के बनाने में ड्रिस्काल ने इस कल्पना को आधार बनाया कि मुख्यत चार तत्त्व बन्दियों के समायोजन को निर्धारित करते हैं सामाजिक तत्त्व, व्यावसायिक तत्त्व, व्यक्तिगत तत्त्व एवं व्यावहारिक तत्त्व।

वुल्फगांग ने पुन इस मापक द्वारा 44 हत्यारों के समायोजन-सम्बन्धी अध्ययन में तीन तत्त्वों को लिया.[1] (1) कार्य का स्थायित्व (job stability) तथा कारागारों में बन्दियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रकार और हर कार्य की अवधि, (2) कार्य उन्मुक्ति (job dismissals) तथा अनाचरण व दुर्व्यवहार के कारण कितनी बार बन्दी कार्य से हटाया गया, तथा (3) अधिकारियों की रिपोर्ट (guard reports) तथा कितनी बार बन्दी के विरुद्ध शिकायतें दर्ज की गयी। वुल्फगांग ने कार्य-परिवर्तन में केवल दो पहलुओं को लिया था कि बन्दी ने स्वयं कार्य-परिवर्तन के लिए कितनी बार प्रार्थना की तथा अनाचरण के कारण कितनी बार उसका कार्य बदलना पड़ा। ये दोनों तत्त्व बन्दियों का पुनसमायोजन बताते हैं। वुल्फगांग ने इन तीनों तत्त्वों में हरेक का माध्य (mean) निकालकर बन्दियों के 'धन अथवा सकारात्मक' (positive) और 'ऋण अथवा नकारात्मक' (negative) अकों (scores) के आधार पर समायोजन का विश्लेषण किया। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि पहले तत्त्व 'कार्य-अवधि' में सभी बन्दियों को मिलाकर एक कार्य में स्थायित्व 29 09 महीने है। अब जिस कैदी के मामले में कार्य-अवधि 29 09 महीने से अधिक है उसे धन-अक (plus-score) दिया गया तथा जिसमें 29·9 महीने से कम है उसे ऋण-अक (minus-score) दिया गया। जैसे किसी की कार्य-अवधि 29 09 से 33 12 महीने थी उसे '+1' अक दिया गया तथा जिसकी 24 26 से 29 9 महीने थी उसे '—1' अक दिया गया। इसको निम्न चित्र में दिखाया गया है[2]—

	−3		−2		−1		+1		+2		+3		
14 60		19 43		21 26		29 09		33 92		38 75		43 58	

इस प्रकार तीनों तत्त्वों (कार्य-स्थायित्व, कार्य-उन्मुक्ति व अधिकारी-रिपोर्ट) को अलग-अलग लेकर तीन पृथक्-पृथक् अक मापदण्ड (score tests) बनाये गये और फिर तीनों अकों को जोड़कर संयुक्त पद अक (composite score item) बनाया गया जो कारागृह समायोजन सूचक (prison adjustment index) का प्रतीक था।

[1] Marvine E Wolfgang, 'Quantitative Analysis of Adjustment to the Prison Community', *Journal of Criminal Law, Criminology and Police Science*, March-April 1961, 607-19

[2] *Ibid*, 612 Also see his article in *Sociology of Punishment and Correction*, edited by Johnston and others, *op cit*, 170

वुल्फगैंग ने इन अंकों के आधार पर समायोजन का आयु, वैवाहिक स्थिति और अपराध की प्रकृति से सम्बन्ध बताते हुए तीन निष्कर्ष दिये हैं :[1] (1) 35 वर्ष से ऊपर आयु वाले बन्दियों का 35 वर्ष से कम आयु वाले बन्दियों की तुलना में समायोजन अधिक होता है, (2) बन्दी के कारावास की अवधि और उसकी वैवाहिक स्थिति का उसकी समायोजन प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा (3) जघन्य अपराध करने वाले साधारण अपराध करने वालों की तुलना में विधि-सम्बन्धी मूल्यों को कम स्वीकार करते हैं।

(b) वन्दीकरण प्रक्रिया (Prisonisation Process)

बन्दी का कारागार में समायोजन इस पर भी निर्भर करता है कि उसने कारागार के मूल्यों को कहाँ तक स्वीकार किया है। क्लेमर ने इस प्रक्रिया को 'वन्दीकरण' बताया है। इस प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए क्लेमर ने कहा है कि बन्दी द्वारा कारागार की उप-संस्कृति के आत्मसातन व स्वांगीकरण (assimilation) को तथा कारागार की जन-रीतियों, रूढ़ियों व प्रथाओं के अपनाने की धीमी व अचेतन प्रक्रिया को 'वन्दीकरण' कहा जा सकता है।[2] अतः वन्दीकरण बन्दियों में 'हम भावना' न होकर जेल-संस्कृति के प्रति निष्ठा (loyalty) है। इस संकलनात्मक (integrative) प्रक्रिया में सर्वप्रथम बन्दी को अलग कपड़े देकर उसे उसकी बाहर की स्थिति से वंचित किया जाता है। धीरे-धीरे उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वार्डर और कारागार सर्वशक्तिशाली हैं। विभिन्न अधिकारियों के पदों व भूमिकाओं का भी उसे पता लग जाता है और धीरे-धीरे कारागार की उपविष्ट भाषा (prison slangs) भी सीख लेता है और दूसरों की तरह व्यवहार के ढंग अपना लेता है। क्लेमर ने वन्दीकरण प्रक्रिया के छह स्तर (phases) बताये हैं[3] : (1) बन्दी निम्न (inferior) स्थिति व भूमिका स्वीकार करता है; (2) वह कारागार-संगठन-सम्बन्धी तथ्यों को एकत्रित करता है; (3) वह भोजन, वस्त्र, सोने व कार्य करने की नयी आदतें विकसित करता है; (4) कारागार में प्रचलित भाषा को अपनाता है; (5) कारागार समुदाय के प्रति अनुत्तरदायित्व की धारणा बना लेता है; तथा (6) कारागार में स्वेच्छानुसार आरामदेह कार्य माँगता है। आरामदेह कार्य से तात्पर्य उस कार्य से है जो विलग व पृथक्कृत होता है एवं जिसमें दूसरों से संघर्ष की सम्भावनाएँ कम होती हैं।

क्लेमर के मत में प्रत्येक बन्दी का वन्दीकरण एक ही प्रकार से न होकर निम्न निर्धारक तत्वों (determinants) पर निर्भर है[4] : (1) कारावास के पूर्व उसके सामाजिक सम्बन्ध किस प्रकार के थे, (2) जेल में आने के उपरान्त तत्काल वह किस प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आ जाता है, (3) किस कोठरी (cell) या कार्यकारी समूह (working group) में उसे रखा जाता है, (4) उसकी आयु व

[1] Marvin E. Wolfgang, *op. cit.*, 172.

[2] Donald Clemmer, *The Prison Community*, *op. cit.*, 299.

[3] *Ibid.*, 300.

[4] *Ibid.*, 301.

अपराध की प्रकृति, (5) उसकी कारागार मे रहने की अवधि, तथा (6) उसके बाहरी ससार से सम्पर्क ।

इस प्रकार बन्दीकरण की निम्न मात्रा उनमे मिलेगी (1) जिनकी दण्डावधि छोटी है, (2) जो बाहरी ससार के साथ सम्बन्ध स्थापित किये रहते हैं, (3) जिनमे कठोर कार्य करने की इच्छा होती है, (4) जो कारागार-नियमो के अन्धानुयायी नही होते, (5) जो सदैव अधिकारियो की सहायता करने के लिए तैयार रहते है, तथा (6) जो बन्दीगृह मे ऐसे बन्दियो के ही सम्पर्क मे रहते है जिनमे न तो नेतृत्व के गुण होते हैं और न जेल-सस्कृति में पूर्णरूपेण समाकलित (integrated) होते है ।

इसके विपरीत बन्दीकरण की उच्च मात्रा उनमे मिलेगी (1) जिनकी दण्ड-अवधि लम्बी होती है, (2) जिनके बाहरी व्यक्तियो के साथ प्रभावयुक्त व सकारात्मक सम्बन्ध नही होते, (3) जो कारागार के नियमो का परिपक्व रूप से पालन नही करते; तथा (4) जो अप्राकृतिक लिगीय व्यवहार आदि मे अधिक भाग लेते हैं ।[1]

क्लेमर का विचार है कि एक कैदी का जब बन्दीकरण हो जाता है तो आवश्यक नही कि यह बन्दीकरण सदा ही बना रहे । कुछ समय उपरान्त उसका 'अबन्दीकरण' (deprisonisation) भी हो सकता है तथा फिर कुछ काल बाद उसके अबन्दीकरण से बन्दीकरण का चक्र (cycle) चलता रहता है ।

कुछ आलोचको की बन्दीकरण अवधारणा के विरुद्ध यह आलोचना है कि क्लेमर ने अपराधियो की बन्दीकरण प्रक्रिया मे विभिन्न सामयिक (temporal) तत्त्वो की ओर ध्यान नही दिया था । 1940 में बन्दीकरण की अवधारणा जब विकसित की गयी तो उस समय समस्त कारावासो की सरचना लगभग एक समान थी । आज की तरह अधिक सुरक्षा, मध्यम सुरक्षा एव कम सुरक्षा वाले कारागार के आधार पर सरचनात्मक अन्तर नही थे । परन्तु इस युग मे बन्दीकरण प्रक्रिया के विश्लेषण मे इन विभेदो को उपेक्षित नही समझा जा सकता । इस (बन्दीकरण) धारणा को स्वीकार करने के लिए पाँच प्रश्नो को समझना आवश्यक है (1) क्या साधारण, आदर्श एव खुले कारागारो मे बन्दीकरण प्रक्रिया एक ही है ? (2) क्या वयस्क व बाल-कारागारो मे वयस्क व बाल-अपराधियो की जेल-सस्कृति के अभ्यान्तरीकरण (internalisation) प्रक्रिया मे अन्तर है ? (3) क्या पुरुष व महिला कारागारो मे बन्दीकरण प्रक्रिया मे कोई भिन्नता मिलती है ? (4) क्या कारागार सस्कृति के अभ्यान्तरीकरण का सम्बन्ध किसी प्रकार बन्दी द्वारा दण्ड की अवधि पूरी करने से भी है अथवा क्या कारागार मे काटी गयी दण्ड-अवधि (served sentence) से बन्दियो के व्यवहार-सम्बन्धी नियमो के पालन मे उच्च, मध्य व निम्न मात्रा जैसी भिन्नता पायी जाती है ? (5) अपराधियो के सस्थात्मक जीवन की विभिन्न प्रावस्थाओ (phases) का बन्दीकरण प्रक्रिया पर भी प्रभाव पडता है तथा क्या कारागार अवधि के आरम्भिक (छह महीने से कम काटा गया दण्ड), मध्य-स्थिति एवं अन्तिम-काल (जब छह महीने से कम अवधि शेष रह गयी हो) की प्रावस्थाओ मे

[1] *Ibid*, 302.

अधिकारियों की आशा के अनुकूल बन्दियों के व्यवहार में भिन्नता मिलती है ? किसी समाजशास्त्री या अपराधशास्त्री ने इन प्रश्नों के अध्ययन के लिए अभी तक कोई प्रयास नहीं किया है। अमरीका में अन्तिम दो प्रश्नों का ह्वीलर (Wheeler)[1] आदि ने विश्लेषणात्मक अध्ययन अवश्य किया है। हमारे मत में कारागार-संरचना तथा बन्दी की आयु, लिंग व दण्डावधि का बन्दीकरण प्रक्रिया पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। आदर्श और खुले कारागारों में कार्य-स्थिति व पर्यावरण के अन्तर के कारण बन्दियों के पारस्परिक सम्बन्धों की सामाजिक व्यवस्थाएँ (inmate social systems) भी अलग-अलग मिलती है जिनका उनके विचारों और मूल्यों आदि पर अवश्य प्रभाव पड़ना चाहिए। खुले कारागारों के बन्दियों में पूर्ण बन्द व अर्ध-बन्द कारागारों के कैदियों की तुलना में वैध मूल्यों के प्रति अधिक समर्थन मिलना चाहिए। महिला-सुधारगृहों में भी इसी प्रकार पुरुष कारागारों से भिन्न पर्यावरण मिलता है; इस भिन्नता के अलावा महिलाओं का कम साहसी व बलशाली होना भी उनके जेलों के नियमों व भूमिकाओं के स्वीकार करने पर प्रभाव डालता है। परन्तु ऐसे तर्क वयस्क व बाल-अपराधियों में जेल-नियमों के अभ्यान्तरीकरण प्रक्रिया के अन्तर समझाने में तथा उनके व्यवहार का जेल-अधिकारियों की आशाओं के अनुकूल होने से सम्बन्धित अन्तर पाये जाने के प्रति नहीं दिये जा सकते। कारण कि बाल अपराधियों के विचार ठोस व सान्द्रित नहीं होते तथा वे मित्र-समूह (peer-group) के प्रभाव के प्रति अधिक प्रभाववश व ग्रहणशील (susceptible) होते हैं।

बन्दीकरण प्रक्रिया पर भुगती हुई दण्डविधि (served sentence) के प्रभाव के अध्ययन हेतु ह्वीलर के शोध-कार्य का विश्लेषण यहाँ उचित एवं प्रासंगिक होगा। 1961 में 16 से 30 वर्षों के आयु-समूह के 750 में से संस्तरित निदर्शन (stratified sampling) प्रणाली के आधार पर चुने गये 214 बन्दियों के अध्ययन में उसने भुगती गयी दण्डावधि व बन्दीकरण प्रक्रिया में आवश्यक रूप से पारस्परिक सम्बन्ध पाया। उसके अनुसार छह माह से कम दण्डावधि भुगतने वाले बन्दियों में छह मास से दो वर्ष तक तथा दो वर्ष से अधिक अवधि वाले कैदियों की तुलना में कारागार-नियमों को स्वीकार करने की मात्रा बहुत अधिक है। विस्तृत विवरण इस प्रकार था[2] :

(प्रतिशत में)

काटी गई अवधि	ऊँची अनुरूपता	मध्यम अनुरूपता	निम्न अनुरूपता	योग	
				प्रतिशत	संख्या
6 माह से कम	47	44	9	100·0	77
6 माह से 2 वर्ष	32	54	14	100·0	99
2 वर्ष से अधिक	15	61	24	100·0	38

[1] Stanton Wheeler, 'Socialisation in Correctional Communities', *American Sociological Review*, October 1961, 699–712.

[2] Stanton Wheeler, 'A study of prisonisation' in *Sociology of Punishment and Correction*, edited by Savitz, Johnston and Wolfgang, *op. cit.*, 155.

इसी प्रकार व्हीलर ने एक वर्ष से कम दण्डावधि प्राप्त प्रथम बार अपराध करने वाले अपराधियों में भी कारागार-नियमों के स्वीकार किये जाने [अथवा जेल-नियम अनुरूपता (conformity)] सम्बन्धी अध्ययन में पाया कि जेल में रहने की अवधि जितनी कम है उतनी ही अनुरूपता की मात्रा अधिक है। उसने 76 कैदियों में अनुरूपता निम्न प्रकार पायी[1] .

(प्रतिशत में)

काटी गई दण्ड अवधि	ऊँची अनुरूपता	कैदी महत्ता
3 सप्ताह से कम	56	18
3 से 6 सप्ताह	48	21
6 सप्ताह से 6 माह	42	12
6 माह से 1 वर्ष	28	25

अत काटी गयी दण्डावधि के आधार पर व्हीलर ने क्लेमर के बन्दीकरण अवधारणा के इस पहलू को सत्य पाया कि बन्दीकरण की मात्रा काटी गयी दण्डावधि पर निर्भर करती है।

अनुरूपता की मात्रा के पहलू को व्हीलर (Wheeler) ने एक बन्दी के अन्य बन्दियों के साथ सम्बन्धों तथा एक बन्दी की अन्य बन्दियों के साथ भिन्नता व उसके अकेले रहने के पहलू को लेकर अध्ययन किया और पाया कि निम्न सम्बन्ध में कारागार के नियमों के प्रति अनुरूपता की मात्रा ऊँची है और बन्दीकरण की मात्रा निम्न है तथा अधिक सम्बन्ध में बन्दीकरण की मात्रा भी अधिक है। इस निष्कर्ष से व्हीलर ने क्लेमर की अवधारणा के इस पहलू को भी कि बन्दी की बन्दीकरण की मात्रा उसकी *बन्दी-समुदाय में अनौपचारिक अन्तर्ग्रस्तता (involvements) की मात्रा पर* निर्भर है, सत्य पाया।[2] उसे यह भी पता लगा कि कारागार-समाजीकरण-प्रक्रिया में प्रथम के कुछ मास अधिक महत्त्वपूर्ण होते है।

परन्तु व्हीलर ने संस्थागत अवस्थाओं (phases) के प्रभाव को लेकर क्लेमर के सिद्धान्त को प्रतिकूल व अपर्याप्त पाया। *कारावास की प्रथम अवस्था* में, जबकि अपराधी का कारागार में प्रथम पदार्पण होता है, उसको अन्य बन्दियों से मित्रता बढ़ाने की समस्या नहीं होती अत वह कारागार के नियमों को अधिक स्वीकार करता है, परन्तु *बाद की अवस्थाओं में उसे मित्र-समूह के साथ सम्बन्ध स्थापित करने एव* कारागार के नियमों का पालन करने की इच्छा में संघर्ष करना पड़ता है। इस तनाव को, बन्दी प्राथमिक सम्बन्धों को सर्वथा त्यागकर या अपने विचारों व मूल्यों में परिवर्तन कर दूर करता है। दोनों रूप से हमें दो प्रकार के बन्दी कारागारों में मिलते है : (1) *अ-अन्तर्ग्रस्त अनुयायी बन्दी (non-involved conformists)*; तथा

[1] *Ibid*

[2] 'Degree of prisonisation will vary according to the degree of involvement in the informal life of the inmate Community ' S. Wheeler, *op cit*, 156.

(2) अन्तर्ग्रस्त व सन्निहित विचलक वन्दी (involved non-conformists)। प्रथम वन्दी-समूह अधिकाधिक पृथक्कृत (isolated) हो जाता है तथा द्वितीय अधिकाधिक वन्दीकृत (prisonised)। ये अन्तर वन्दियों की आवश्यकताओं, लक्षणों व परिवार के साथ संयोजन आदि पर निर्भर है। किन्तु प्रबल प्रवृत्ति पृथक्करण की न होकर विचलन की अधिक होती है। यह प्रवृत्ति क्लेमर के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। अतः क्लेमर की वन्दीकरण अवधारणा में कुछ रिक्तता मिलती है। इसलिए इन त्रुटियों को जानने के पश्चात् वन्दीकरण की धारणा को अपराधियों के सुधार में अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए।

मैंने स्वयं 1980 में कारागृहों में समायोजन प्रक्रिया (adjustment process) अध्ययन करने तथा डोनाल्ड क्लेमर के 'वन्दीकरण' की अवधारणा के प्रामाण्य (validity) का परीक्षण करने के लिए राजस्थान के तीन केन्द्रीय कारागृहों (जयपुर, उदयपुर व जोधपुर) में 252 कैदियों का अध्ययन किया।[1] इस अध्ययन में जेल-नियमों (prison norms) व वन्दी-संहिता (inmate codes) को स्वीकार व अस्वीकार करके वन्दियों की समायोजन प्रक्रिया को अध्ययन करने के लिए उनके (कैदियों के) जेल के अन्दर व्यवहार सम्बन्धी दस काल्पनिक परिस्थितियों (hypothetical situations) तथा जेल में आने से पूर्व जेल के बाहर व्यवहार सम्बन्धी पाँच काल्पनिक परिस्थितियों सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये। इन दो प्रकार की परिस्थितियों की तुलना इस धारणा (assumption) पर आधारित थी कि जो व्यक्ति कारावास के पूर्व कानून पालन करने सम्बन्धी मूल्यों (law-abiding values) का समर्थन करते हैं वे कारावास के बाद औपचारिक जेल-नियमों का भी समर्थन करेंगे। हर सूचनादाता को हर प्रश्न के लिए दिये गये पाँच-श्रेणी उत्तरों (Five-category answers)—दृढ़ रूप से उचित, उचित, दृढ़ रूप से अनुचित, अनुचित, कह नहीं सकते—में से किसी एक को टिक करना था। फिर, हर उत्तर को अंक (scores) दिये गये। दृढ़ रूप से उचित के लिए +2 अंक, उचित के लिए +1 अंक, कह नहीं सकते (तटस्थ) के लिए शून्य (zero) अंक, अनुचित के लिए —1 अंक और दृढ़ रूप से अनुचित के लिए —2 अंक दिये गये। धनात्मक संख्या (positive score) वन्दी-संहिता के पालन द्वारा समायोजन और नकारात्मक संख्या (negative score) जेल-नियमों के पालन द्वारा समायोजन निर्दशित (indicate) करते थे—

समायोजन सूचक (Adjustment Index)

[1] Ram Ahuja, *The Prison System*, Sahitya Bhawan, Agra, 1981.

जेल के अन्दर व्यवहार सम्बन्धी सभी 10 प्रश्न क्योंकि बन्दी-सगठन (inmate system) के पक्ष मे नियम निर्दशित करते थे, इस कारण यह आशा की जाती थी कि सूचनादाता एक प्रश्न के लिए जो उत्तर देगा (उचित, अनुचित, आदि) वैसा ही उत्तर अन्य नौ प्रश्नो के लिए भी देगा। ऐसे ही प्रतिरूप (pattern) की जेल के बाहर व्यवहार सम्बन्धी पाँच प्रश्नो के लिए भी अपेक्षा की गयी थी । वास्तव मे एक-दो प्रश्नो को छोडकर ऐसा ही पाया गया अर्थात् सभी प्रश्नो मे उत्तर लगभग समान मिले।

जेल के अन्दर व्यवहार सम्बन्धी 10 प्रश्नो के अको के विश्लेषण मे पाया गया कि 48 0% सूचनादाताओ ने धनात्मक अक (plus scores) अथवा बन्दी-संहिता का पालन, 45 0% ने नकारात्मक अक (*minus scores*) अथवा जेल-नियमो का पालन और 7 0% ने शून्य अक अथवा तटस्थता प्राप्त किये।

जेल के बाहर व्यवहार सम्बन्धी 5 प्रश्नो के अको मे 40 5% ने धनात्मक अक (नागरिक भूमिकाओ का पालन), 57·5% ने नकारात्मक अक (नागरिक भूमिकाओ से विचलन) और 2 0% ने शून्य अक (तटस्थता) प्राप्त किये।

इससे स्पष्ट है कि डोनाल्ड क्लेमर की यह मान्यता कि जेल मे आने वाले हर व्यक्ति का 'बन्दीकरण' होता है[1] सही नही है।

फिर, 252 सूचनादाताओ मे से हर एक द्वारा प्राप्त किये गये अको की गणना की गयी और यह माना गया कि 6 से कम प्राप्त किये गये अक निम्न मात्रा मे पालन (low conformity), 7 और 13 के मध्य प्राप्त किये गये अक मध्य मात्रा मे पालन (medium conformity) और 14 या उससे ऊपर प्राप्त किये गये अक उच्च मात्रा मे पालन (high conformity) निर्दशित है।

+6	अक=बन्दी-सहिता का निम्न मात्रा में पालन
+7 से +13	अक=बन्दी-सहिता का मध्य मात्रा में पालन
+14 या अधिक	अक=बन्दी-सहिता का उच्च मात्रा मे पालन
—6	अक=जेल-नियमो का निम्न मात्रा में पालन
—7 से —13	अक=जेल-नियमो का मध्य मात्रा मे पालन
—14 या अधिक	अक=जेल-नियमो का उच्च मात्रा मे पालन

इस आधार पर धनात्मक अक (plus scores) प्राप्त करने वाले 121 सूचनादाताओ मे से 52 0% मे बन्दी-सहिता का निम्न मात्रा मे पालन, 44 6% मे मध्य मात्रा मे पालन और 3 4% मे उच्च मात्रा मे पालन पाया गया। दूसरी ओर ऋण अक (minus scores) प्राप्त करने वाले 113 सूचनादाताओ मे से 44 2% मे जेल-नियमो का निम्न मात्रा मे पालन, 40 8% मे मध्य मात्रा मे और 15 0% मे उच्च मात्रा मे पालन पाया गया। इन आँकडो के आधार पर चार

[1] 'Every man who *enters the penitentiary undergoes prisonisation to* some extent'—Donald Clammer, *Prison Community, op cit*

निष्कर्ष दिये जा सकते हैं :

1. वन्दी-संहिता और जेल-नियमों के पालन का दर (rate) लगभग समान है (क्रमश: 48% और 45%)।

2. जो व्यक्ति जेल में आने से पूर्व कानून पालन करने सम्बन्धी मूल्यों (law-abiding values) को स्वीकार करता है वह औपचारिक जेल-नियमों को भी स्वीकार करता है।

3. वन्दी-संहिता का पालन क्योंकि 52·0% मामलों में निम्न मात्रा मे और केवल 3·4% मामलों में उच्च मात्रा में था और इसी प्रकार जेल-नियमों का पालन क्योंकि 44·2% मामलो मे निम्न मात्रा में और केवल 15·0% मामलों में उच्च मात्रा में था, इससे स्पष्ट है कि अधिकांश कैदी जेल-नियमों व वन्दी-संहिता को स्वीकार व अस्वीकार करने के लिए संदिग्ध (ambiguous) स्थिति मे रहते है।

4. कैदियों के समाजीकरण के वारे में क्लेमर का यह मत है कि जेल में आने वाले नये कैदी पुराने कैदियों के सम्पर्क मे आने पर उनके मनोभावों (sentiments) और प्रथाओं (traditions) को धीरे-धीरे और अचेतन रूप में (unconsciously) ग्रहण करते जाते है और इस प्रकार उनका कैदी संगठन (inmate system) मे समाकलन (integration) हो जाता है, सही प्रतीत नहीं होता।

अन्य निष्कर्ष

कारावास-अवधि और वन्दी-संहिता का ग्रहण

(Length of time served and absorption of inmate code)

वन्दी-संहिता के ग्रहण और कारावास अवधि के मध्य के सम्बन्ध के विश्लेषण में 252 सूचनादाताओं के अध्ययन में निम्न आँकड़े पाये गये।

कारावास अवधि और वन्दी-संहिता व जेल-नियमों के पालन की तुलना

(प्रतिशत में)

कारावास अवधि	वन्दी संहिता का पालन (N=125)	जेल-नियमों का पालन (N=110)
1. 6 माह से कम	23·2	21·8
2. 6 माह से 2 वर्ष	30·4	22·7
3. 2 वर्ष से 5 वर्ष	35·2	34·6
4. 5 वर्ष से 10 वर्ष	8·8	17·3
5. 10 से अधिक वर्ष	2·4	3·6
योग	100·0	100 0

इन आँकड़ों के आधार पर निम्न पाँच निष्कर्ष दिये जा सकते है

1 कारावास जीवन के पहले पाँच वर्षों मे कैदी का जैसे-जैसे कैदी समाज से सम्पर्क बढ़ता है वैसे-वैसे उसके द्वारा बन्दी-संहिता का पालन भी बढ़ता है।

2. कारावास जीवन के पहले पाँच वर्षों मे कैदी-संहिता और जेल-नियमो का पालन लगभग समान रहता है।

3 कारावास मे पाँच वर्ष बिताने के पश्चात् बन्दी-संहिता का पालन कम होता जाता है। इसका कारण यह है कि बन्दी-आफिसर (C O) मे पदोन्नति के पश्चात् बन्दी जेल अधिकारियो की कृपा (goodwill) प्राप्त करने के लिए जेल-नियमो का अधिक पालन करने लगते है।

4. क्लेमर की उपकल्पना कि कारावास-अवधि बढ़ने के साथ कैदी का 'बन्दीकरण' भी बढ़ता जाता है, सही नही है।

5 क्लेमर की कारावास संस्कृति मे बन्दी के समाजीकरण सम्बन्धी व्याख्या केवल कारावास की आरम्भिक अवस्था (early stages) के लिए सही है।

जेल जीवन की क्रमावस्था और बन्दी-संहिता का ग्रहण
(Prison career phase and absorption of inmate code)

कारावास अवधि के आधार पर बन्दियो को तीन क्रमावस्थाओ मे विभाजित किया गया आरम्भिक क्रमावस्था (early phase)—कारावास के पहले छह माह, मध्यस्थल क्रमावस्था (middle phase)—कारावास मे पहले छ माह और अन्तिम छह माह के बीच की अवधि और पिछली क्रमावस्था (late phase)—कारावास के अन्तिम छ माह। अलग-अलग क्रमावस्थाओ मे बन्दी-संहिता के पालन सम्बन्धी निम्न आँकड़े पाये गये

जेल-जीवन के विभिन्न क्रमावस्थाओ मे बन्दी-संहिता का पालन

क्रमावस्था	बन्दी-संहिता का पालन (अनुयायी) (*Conformists*)	जेल-नियमो का पालन (अननुयायी) (*Non-conformists*)	किन्ही नियमों का पालन नही (पृथकत्ववादी) (*Isolationists*)	योग संख्या
आरम्भिक	23 2	21 8	64 7	164
मध्य स्थल	70 4	70 0	29 4	70
पिछली	6 4	8 2	5 9	18
	100 0	100 0	100 0	252

इन आँकड़ो से तीन निष्कर्ष निकलते है·

1. कारावास के मध्यस्थल क्रमावस्था मे कैदियो की संख्या आरम्भिक और पिछली क्रमावस्थाओ मे पाये जाने वाले कैदियो की तुलना से लगभग तीन गुणा

अधिक है जिससे स्पष्ट है कि कारावास जीवन के मध्यस्थल क्रमावस्था में कैदियों में जेल-नियमों का पालन बहुत कम पाया जाता है।

2. कारावास जीवन के पिछेती क्रमावस्था में (जब बन्दियों के छूटने में कम समय रहता है) वन्दी-संहिता का पालन बहुत कम रहता है।

3. व्हीलर (Wheeler) का यह निष्कर्ष कि कारावास अवधि के पिछेती क्रमावस्था में बहुत अधिक वन्दी जेल-नियमों का दृढ़ रूप से विरोध करते है, सही नहीं है।

आयु और वन्दी-संहिता का ग्रहण (Age and absorption of inmate code)

क्लेमर, वूल्फगैंग, व्हीलर और शेलडन-ग्लूक ने कारागृह में समायोजन की प्रक्रिया का आयु से गहरा सम्बन्ध बताया है। हमारे 252 वन्दियों के अध्ययन में इन दो तत्वों के मध्य सम्बन्ध निम्न आँकड़े प्रस्तुत करते हैं :

आयु और वन्दी-संहिता के ग्रहण के मध्य सम्बन्ध

(प्रतिशत में)

आयु	वन्दी-संहिता का पालन (अनुयायी)	जेल-नियमों का पालन (अ-अनुयायी)	किन्ही नियमों का पालन नहीं (पृथकत्ववादी)	योग
1. 20 से कम	11·2	12·7	29·4	13·2
2. 21–30	52·0	47·3	53·0	50·0
3. 31–40	23·2	19·1	17·6	21·0
4. 41–50	9·6	8·2	—	8·3
5. 50 से ऊपर	4·0	12·7	—	7·5
	100·0 (*N*=125)	100·0 (*N*=110)	100·0 (*N*=17)	100·0 (*N*=252)

इससे दो निष्कर्ष दिये जा सकते हैं :

1. युवा (young) और अधेड़ (middle-aged) कैदी जेल-नियमों की तुलना में वन्दी-संहिता को अधिक स्वीकार करते हैं परन्तु वृद्ध (old) कैदी जेल-नियमों को अधिक स्वीकार करते हैं।

2. क्योंकि वन्दी-संहिता को स्वीकार करने वाले युवा कैदियों (58·1%) और अधेड़ कैदियों (59·1%) की संख्या लगभग बराबर है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि अधेड़ कैदियों की तुलना में युवा कैदियों में असमायोजन (maladjustment) अधिक मिलता है।

अपराध की प्रकृति और वन्दी-संहिता का ग्रहण (Nature of crime and absorption of inmate code)—क्लेमर ने अपराध की प्रकृति और वन्दी-संहिता

के ग्रहण के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण नही किया था। हमारे अध्ययन मे इनके मध्य *निम्न सम्बन्ध पाया गया :*

अपराध की प्रकृति और बन्दी-संहिता ग्रहण के मध्य सम्बन्ध

(प्रतिशत मे)

अपराध	बन्दी-संहिता का पालन (अनुयायी)	जेल-नियमो का पालन (अ-अनुयायी)	किन्ही नियमो का पालन नही (पृथकत्ववादी)	योग
1 हत्या	54 1	40 4	5 5	100 0(*N*=146)
2 चोरी	39 1	51 6	9 3	100 0(*N*= 64)
3 अपहरण	36 4	54 5	9 1	100 0(*N*= 11)
4 डकैती	80 0	—	20 0	100 0(*N*= 5)
5. अन्य	50 0	46 2	3 8	100 0(*N*= 26)

इन आँकडो से स्पष्ट है कि हत्यारो मे ½ कैदी बन्दी-संहिता का पालन करते हैं तथा अपहरणकर्ताओ और चोरी करने वालो मे लगभग आधे इनका पालन करते है। *इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जघन्य अपराध करने वाले अनिवार्यत* सामाजिक नियमो को अस्वीकार नही करते हैं।

बन्दी-समाज की सरचना, सगठन एव बन्दियो के पारस्परिक सम्बन्ध (Structure of Inmate Society or Inmate Social System)

समाज से पृथक् करके अपराधी को कारागार मे रखने का अर्थ है कि उसे समाज द्वारा अस्वीकृत व्यक्ति माना गया है। एक-दो दशक पूर्व यह अस्वीकरण (rejection) कारागारो मे विशेष प्रकार के वस्त्रो, नम्बर व कही सिर-मुण्डन द्वारा *प्रदर्शित किया जाता था। वर्तमान मे भी अपराधी के प्रति इस प्रकार घृणा प्रकट की* जाती है कि उसे बहिष्कृत (outcaste), पतित, भ्रष्ट व ऐसे खतरनाक व्यक्ति की तरह माना जाता है जिसे चहारदीवारी मे बन्द करके दिन-रात उसकी चौकसी की आवश्यकता है। उसे अविश्वसनीय तथा अनैतिक माना जाता है। इन परिस्थितियो मे स्वय के लिए जो उसकी प्रतिमा बनती है वह अन्तर्निदेश (introjection) पर आधारित होती है।

कारागार के बाहर समाज मे अपराधी के अधिकार, धन-दौलत व भौतिक प्राप्तियाँ (material achievements) उसकी अपनी व्यक्तिगत योग्यता की धारणा से सम्बन्धित हैं। परन्तु कारागार मे वह प्रमुख आवश्यकताएँ भी पूरी नही कर पाता। इस वचना (deprivation) से उसे शारीरिक कष्टो व असुविधाओ के अलावा मनोवैज्ञानिक हानि भी अधिक होती है।

समाज द्वारा तिरस्कृत किये जाने व अपनी आवश्यकताओ को पूरा न कर

पाने के अतिरिक्त वन्दी को कारागार अधिकारियों के कठोर नियन्त्रण का भी सामना करना पड़ता है । दैनिक जीवन में भोजन, सोने, कार्य करने आदि के समय को नियन्त्रित कर उसको स्वतन्त्रता व स्वायत्तता से वंचित किया जाता है । इससे कारावास के कष्टों के अतिरिक्त उसे स्वयं को निःसहाय, विवश, अशक्त, आश्रित व अधीन समझने का दुःख भी भुगतना पड़ता है ।

कारागार के वातावरण की यह विशिष्टता भी है कि अपराधी को सदैव हत्यारों, चोरों, डकैतों आदि जैसे अपराधियों के संसर्ग में रहना पड़ता है । इससे वन्दी उस सुरक्षा की भावना से वंचित रहता है जो समाज में उसे स्वयं मिल जाती है । यद्यपि इन परिस्थिति से उत्पन्न उद्वेग व चिन्ताएँ व्यक्ति की स्वयं के बारे में व्यक्तिगत योग्यता की भावना को समाप्त नहीं करतीं तथापि इससे कुछ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक समस्याएँ तो उत्पन्न होती ही हैं ।

इसके अतिरिक्त विलिंगकामी (heterosexual) सम्बन्धों से भी वन्दी वंचित रहता है; फलस्वरूप उसमें यौन निराशाएँ व समलिंगता (homosexuality) की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । समाज द्वारा थोपे गये ब्रह्मचर्य से वह न केवल शारीरिक विवशता अपितु अपना पुरुषत्व (masculinity) सन्तार्जित (threaten) किये जाने पर सामाजिक व मनोवैज्ञानिक विफलता का भी सामना करता है ।

उपर्युक्त से सिद्ध है कि कारावास अपराधी को एक से अधिक रूप में दण्डित करता है । दण्ड, नैराश्य व वंचना ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं कि उसे अपना समायोजन करना पड़ता है । इस समायोजन तथा आत्माभिमान की समाप्ति से बचने हेतु वह वन्दी-संहिता (inmate code) का पालन करता है जो फिर वन्दी-संगठन को आवश्यक शक्ति प्रदान करता है ।

वन्दी-संहिता का प्रमुख उद्देश्य सामूहिक संसजन (cohesion) बनाये रखना है जो अधिकारियों के विरुद्ध यथापेक्षित पारस्परिक सहयोग व विश्वास के लिए आवश्यक है । वन्दियों की एक-दूसरे के प्रति घृणा, विद्वेष, व उदासीनता उनके संवेगात्मक संघर्षों को बढ़ाती है तथा अपने साथियों से भी तिरस्कृत होने पर वे और अधिक सामाजिक व मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सामना करते हैं । पुनश्च वन्दी-संहिता के आचरण से वन्दियों में जितनी एकता मिलेगी उतने ही कारावास के कष्ट कम होंगे । यह सत्य है कि इन कष्टों को पूर्ण रूप से निरस्त नहीं किया जा सकता परन्तु उनके परिणामों को अवश्य प्रभावहीन (neutralise) किया जा सकता है । वन्दी-संहिता के पालन से गौरव (dignity) जैसे मूल्यों को भी संस्थात्मक बनाया जाता है तथा वन्दी व्यक्तिगत संकलन (personal integration) की कुछ मात्रा भी बनाये रख सकता है । वन्दी-संहिता (inmate code) के कुछ उदाहरण हैं : अन्य वन्दियों के हितों में हस्तक्षेप न करना, अपने साथियों से संघर्ष व विवाद न करना, तथा उनका शोषण (exploitation) न करना, अपने को दुर्बल बनाये बिना कष्ट सहना एवं किसी शिकायत बिना हर परिस्थिति का सामना करना, अधिकारियों को अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखना तथा अधिक परिश्रम न करने जैसे मूल्यों

को न अपनाना।

समस्त सामाजिक सगठनो मे जिस प्रकार सदस्यो मे कुछ असहमति पायी जाती है उसी प्रकार बन्दी-सगठन मे भी बन्दी संहिता का सभी बन्दियो द्वारा समान रूप से पालन नही किया जाता। तदुपरान्त अधिकाश बन्दियो की इनके प्रति निष्ठा पायी जाती है। स्ट्राग (Strong),[1] शिराग (Schrag),[2] साइक्स (Sykes)[3] आदि के बन्दी-सगठन के अध्ययनो के आधार पर हमे दो प्रमुख तथ्य मालूम पडते है . (i) सामूहिक एकता सम्बन्धी मूल्यो को बन्दी प्रबल मौखिक समर्थन देते है तथा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से व बन्दियो की सामाजिक अन्तर्क्रिया के उस आदर्श व्यवस्था को मानते है जिसमे विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे से पारस्परिक सहायता, निष्ठा, आदर व स्नेह-बन्धनो से बँधे होते हैं एव आपस मे शत्रु-समूह (कारागार अधिकारी) के विरोध के रूप मे एकीकृत रहते हैं, (ii) बन्दियो का बन्दी-संहिता के प्रति वास्तविक व्यवहार पूर्ण मान्यता (full adherence) से विचलन के विभिन्न प्रकारो के अलग-अलग रूप मे मिलता है। बन्दियो द्वारा व्यवहार के यह प्रतिमान तीक्ष्ण अशिष्ट भाषा प्रयोग (pungent argot) के रूप मे अंकित किये जाते हैं। अत बन्दी-संहिता उनके सगठन को शक्तिशाली बनाती है। मैकारकिल (McCorkle) के मत मे बन्दी सगठन बन्दियो को वह जीवन स्तर प्रदान करता है जिसके द्वारा वे सामाजिक अस्वीकरण मे उत्पन्न अपने आत्म-अस्वीकरण के विचारो व विनाशकारी मनोवैज्ञानिक प्रभावो से बचने मे समर्थ हो। स्वय की अपेक्षा अस्वीकरण करने वालो को अस्वीकार करने के लिए यह सगठन बल प्रदान करता है। अत यह सगठन विशेषकर ऐसे अपराधियो के लिए लाभदायक है जो सामाजिक मूल्यो से मुक्त हो गये है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि इस सगठन के बिना ऐसे अपराधियो का, जिनका आत्म-परीक्षण अनपराधी समाज के मूल्यो पर निर्भर रहता है, कारागार की उस सामाजिक व्यवस्था मे समायोजन करना अति कठिन होता है जिनके मूल्य सगठित विधि पालक समाज के अस्वीकरण से ही बनते है।[4]

[1] Samuel M Strong, 'Social types in a Minority Group', *American Journal of Sociology*, March 1943, 563–73

[2] Clarence Schrag, 'Leadership among prison inmates', *American Sociological Review*, February 1954

[3] Gresham Sykes, *The Society of Captives*, Princeton University Press, 1958

[4] 'Inmate social system is a system which provides a way of life which enables the inmate to avoid the devastating psychological effects of internalising and converting social rejection into self-rejection It permits the inmate to reject the rejectors rather than himself Since the inmate social system is *to protect its members from the effects of internalising social rejection, it* follows that the ways of this system are most beneficial, particularly for those criminals who have become independent of the values of the larger society In other words, it may be said that those individuals whose self evaluations are still relatively dependent on the values of the larger non-criminal society and whose supportive human relationships are still largely with its members would *have the most difficulty in adjusting to a social system whose major values are* based on the rejection of that larger society' Lloyd W McCorkle, *op cit*, 99.

कैदी-संगठन के लक्षण (Characteristics of Inmate System)

मैकारकिल ने वन्दी-संगठन के निम्न लक्षण दिये हैं :[1]

(1) वन्दी-संगठन से वचाव का अभाव (Absence of escape routes)—अपराधियों के लिए वन्दी-संगठन से पलायन व वचाव का एकमात्र उपाय वन्दियों के सम्पर्क में न आकर संगठन से दूर रहना है। किन्तु सभी वन्दियों के लिए अकेला रहना सम्भव न होने से संगठन के कुछ नियमों का पालन उनके लिए आवश्यक ही होता है।

(2) कठोर श्रेणीवद्ध नियन्त्रण (Rigid hierarchical character)—संगठन के श्रेणी स्तर में ऊपरी स्तर में ऊँची स्थिति वाले उपद्रवी गुण्डे वन्दी (hoodlums) होते हैं तथा निम्न स्तर पर छोटी स्थिति वाले साधारण अपराधी। यद्यपि इस श्रेणी क्रम में विपम स्तरीय गतिशीलता (vertical mobility) असम्भव नहीं होती तथापि वहुत कठिन अवश्य होती है क्योंकि व्यक्ति द्वारा अदा की जाने वाली विभिन्न भूमिकाएँ वहुत सीमित होती हैं। एक माना हुआ वदमाश जव कारागार में प्रथम वार आता है तो उसकी ऊँची स्थिति को निम्न स्थिति वाले आरम्भ से ही स्वीकार कर लेते हैं।

(3) कठोर शासन (Extreme authoritarianism)—वन्दी संगठन में प्रभुत्व (superordination) व अधीनता (subordination) का कठोर सम्वन्ध पाया जाता है। इसमें ऊँची स्थिति वाले वन्दियों का प्रभुत्व नीची स्थिति वाले वन्दियों को मानना ही पड़ता है।

(4) प्राधिकारी सत्ता (Possession and Exercise of Coercive Power)—कारागार में सत्ता प्राप्त करने के लिए एक वन्दी जो एक विधि अपनाता है, वह दूसरे वन्दियों को किसी प्रकार की सहायता देना है। वस्तुपरक (material) सहायता प्राप्त करने के पश्चात् लेने वाला सदैव देने वाले के प्रति आभारी रहता है और उसकी प्रत्येक वात को मानने के लिए नैतिक रूप से वाध्य होता है। अतः अपने प्रभुत्व को जमाये रखने के लिए आक्रमणकारी कैदी वलपूर्वक दूसरों को उनसे उपहार व भेंट तथा अन्य सहायता की वस्तुएँ लेने के लिए वाध्य करते रहते हैं।

(5) असन्तुष्ट तत्त्व—प्रत्येक सामाजिक संगठन की तरह वन्दी-संगठन भी न केवल नियम और नीतियाँ प्रस्तुत करता है वरन् उनसे वचने के तरीके भी उपलव्ध करता है। वन्दी-श्रेणीक्रम के सभी स्तरों पर कुछ असन्तुष्ट व्यक्ति अवश्य पाये जाते हैं। ये अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अन्य वन्दियों के समाचार उन तक पहुँचाते हैं। वास्तव में कारागार-अधिकारियों के लिए प्रशासन सम्वन्धी समस्या इन समाचारों को प्राप्त करना न होकर इनको लाने वाले से स्वयं को वचाने की होती है।

विचारणीय है कि इन दुर्वलताओं और परस्पर-विरोधी लक्षणों के होते हुए

[1] *Ibid.*, 100.

भी बन्दी-सगठन समाप्त क्यो नही होता तथा कारागार-अधिकारी सगठन के दोषों व दुर्बलताओ का लाभ क्यो नही उठाते ? इसका सम्भावित कारण शायद अधिकारियो द्वारा बन्दी सत्ता संरचना (inmate power structure) को कारागार प्रशासन व व्यवस्था हेतु प्रयोग करना है। वे यह अनुभव नही करते कि इससे वे बन्दी-सगठन का इतना प्रयोग नही करते जितना बन्दी उसका प्रयोग करते हैं। अत कारागार बन्दी श्रेणीक्रम को समाप्त करने के स्थान पर उसे एक रूप मे अप्रत्यक्ष समर्थन देता है तथा हर स्तर के कुछ ऊँची स्थिति वाले अपराधियो को मनपसन्द कार्य देकर उसे मान्यता देता है।

मैंने ऊपर बताये गये अपने राजस्थान के तीन केन्द्रीय कारागृहो के अध्ययन मे कुछ चुने हुए प्रश्नों के आधार पर कैंदियो के कैंदी-सगठन व जेल-नियमों के प्रति लगाव (attachment) का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन मे कैंदियो की जेल-नियमो व वन्दी-महिता के प्रति निष्ठा, कैंदियो की जेल-अधिकारियो व अन्य कैंदियो के प्रति निष्ठा तथा कैंदियो के अधिकारियो व अन्य कैंदियो के साथ सम्पर्कों का विश्लेपण किया गया। जेल-नियमो व वन्दी-सहिता के प्रति निष्ठा सम्बन्धी विश्लेपण मे पाया गया कि 36 8% कैंदी जेल-नियमों के साथ, 30 7% का बन्दी-महिता के साथ तथा 32 5% दोनो (जेल-नियमो व बन्दी-सहिता) के साथ अपने को एकसम (identified) समझते थे। अपराधियो और कैंदियो के प्रति-निष्ठा सम्बन्धी विश्लेपण मे पाया गया कि 23 8% कैंदी अधिकारियो के प्रति, 46 3% कैंदियो के प्रति तथा 29 9% कभी अधिकारियो और कभी कैंदियो के प्रति निष्ठावान थे। अधिकारियो और कैंदियो के साथ सम्पर्क सम्बन्धी विश्लेपण मे पाया गया कि 18 3% कैंदियो के सम्पर्क अधिकाशत अधिकारियो से, 45·2% के कैंदियो से तथा 36 5% के दोनो से थे। तीनो पहलुओ को इकट्ठा लेकर सूचनादाताओ का जेल-नियमो व वन्दी-सहिता से लगाव निम्न रूप से बताया जा सकता है :

कैंदियों का जेल-नियमों व वन्दी-सहिता से लगाव

(प्रतिशत मे)

लगाव	जेल-नियमो/ बन्दी-सहिता से एकसम समझना	अधिकारियो/ कैंदियों के प्रति निष्ठा	अधिकारियो/ कैंदियों मे सम्पर्क	कुल सूचना-दाताओ का प्रतिशत
1 बन्दी-सहिता से	30 7	46 3	45 2	41 8
2 जेल नियमों से	36 8	19 6	18 3	24 1
3 दोनों से	32 5	34 1	36 5	34 1
योग	100 0	100 0	100 0	100 0

उपर्युक्त सारणी के आधार पर कहा जा सकता है कि 24·1% कैदी 'अनुयायी' (जो जेल-नियमों को स्वीकार करते हैं, जो अधिकारियों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, और जिनके अधिकांश सम्पर्क अधिकारियों से रहते हैं), 41·8% 'अननुयायी' (जो वन्दी-संहिता को स्वीकार करते हैं, जो कैदियों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, और जिनके अधिकांश सम्पर्क कैदियों से रहते हैं), 27·3% 'आंशिक अनुयायी' (जो आंशिक रूप से जेल-नियमों व आंशिक रूप से वन्दी-संहिता को स्वीकार करते हैं, जो कभी अधिकारियों के प्रति और कभी कैदियों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, और जिनके सम्पर्क अधिकारियों और कैदियों दोनों से रहते हैं) तथा 6·8% 'पृथक्कत्ववादी' (जो दोनों जेल-नियमों और वन्दी-संहिता को अस्वीकार करते हैं, जो न अधिकारियों और न कैदियों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, और जो दोनों अधिकारियों और कैदियों से सम्पर्क नहीं रखते)। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कारागृह केवल एक-चौथाई वन्दियों का ही सुधार (decriminalise) कर पाते हैं।

कैदी-संरक्षक सम्बन्ध (Inmate-Custodian Relations)

अपराधियों के मूल्यों व विचारों के निर्माण में वन्दी संगठन के अन्तर्गत वार्डर, कारागृह अधिकारी एवं प्रशिक्षकों का बहुत योगदान रहता है। प्रतिदिन का वन्दियों से इनका प्रत्यक्ष (आमने-सामने का) सम्बन्ध रहता है। अतः वन्दियों और संरक्षकों के सम्बन्धों से रहित वन्दी संगठन का विश्लेषण पूरा नहीं होगा।

अपने दस-पन्द्रह वर्ष के सेवा-काल में ये संरक्षक सहस्रों वन्दियों के अनुशासन व संरक्षण के लिए उत्तरदायी रहते हैं। इन्हें कभी-कभी ऐसे वन्दियों से साक्षात्कार करना पड़ता है जो इनसे विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने पर ही इनके प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं। उनकी स्थिति पर संरक्षकों की सत्ता निर्भर होती है जो उनकी सत्ता की प्रतीक (symbol) होती है। अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए वे अपने और वन्दियों के मध्य कुछ सामाजिक अन्तर (social distance) रखते हैं ताकि अपने दोषों व निर्बलताओं को उनसे छिपा सकें। इतने पर भी यदा-कदा प्रतिकूल परिस्थिति एवं अपनी मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं के कारण उन्हें कुछ वन्दियों के साथ मनुष्य-मनुष्य स्तर पर कार्य करना पड़ता है और अवैध सुविधाएँ देनी पड़ती हैं। एक वार पक्षपात मिलने पर वे वन्दी सदैव ऐसे पक्षपात की आशा करते रहते हैं और पक्ष न मिलने पर वे संरक्षकों को शत्रु व विद्वेषी मानते हैं तथा उनकी 'कृतघ्नता' (ingratitude) के विरुद्ध प्रतिरोधी उपाय अपनाते हैं। इस प्रकार वन्दियों और संरक्षकों की एक-दूसरे के प्रति निष्ठा सिद्धान्तों के उल्लंघन पर आधारित होकर पारस्परिक समायोजन की सीमाओं को निर्धारित करती है। दोनों में से किसी के द्वारा इन सीमाओं का उल्लंघन (अधिकांशतः उल्लंघनकर्त्ता वन्दी ही होता है) 'विश्वासघात' माना जाता है जो दोनों के मैत्री-सम्बन्धों को शत्रु-सम्बन्धों में परिवर्तित कर देता है। इस प्रक्रिया में दोनों की उनके सम्बन्धित समूहों द्वारा आलोचना की जाती है और उनकी अपकीर्ति होती है।

वन्दियों की पारस्परिक निर्भरता व एकता (*Inmate Solidarity*)

सर्वप्रथम क्लेमर ने यह कल्पना की कि बन्दियो के कारागार से पूर्व के सामाजिक अनुभव उनके कारागार के सम्बन्धो का एक प्रमुख निर्धारक (determinant) होता है। बन्दी कारागार के वातावरण से धीरे-धीरे अपने मूल्यो और धारणाओ का त्याग कर देते हैं। सहजीवी सन्तुलन के प्रकट होने से कारागार समुदाय का एक विशिष्ट पर्यावरण सम्बन्धी रूप होता है। क्लेमर के मत से यद्यपि कारागार की जनसख्या प्राय बदलती रहती है तथा अपराध में वृद्ध, युवा, अनुभवी व अनुभवहीन का सन्तुलन भी निरन्तर परिवर्तित होता रहता है तथापि कारागार के जीवन का ढाँचा तुलनात्मक रूप से स्थिर रहता है। उसकी यह धारणा शॉ और मॅके (Shaw and McKay) आदि शिकागो-निवासी परिस्थितिशास्त्रियो (ecologists) के इस विचार पर आधारित है कि शहर के एक क्षेत्र की जनसख्या मे परिवर्तन होते रहने पर भी वह क्षेत्र वैसे ही विकृत सामाजिक सूचक (indices) प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार क्लेमर का मत है कि कारागार समुदाय मे व्यक्ति की अवैयक्तिकता (impersonalisation) समाज मे पायी जाने वाली अवैयक्तिकता से मिलती है। उदाहरणार्थ, नगरीकरण के कारण व्यक्ति का प्राथमिक समूहो से सम्बन्ध कम होने से उसका जीवन अवैयक्तिक (impersonalise) हो जाता है, उसी प्रकार कारागार समुदाय भी कणित (atomised) व विषम (heterogeneous) होता है। कारागार सकलित समुदाय (integrated collectivity) न होकर एक विसारित समूह (diffused aggregation) होता है जिसमे अवैयक्तिक (impersonal) सम्बन्ध प्रभावी (predominating) रहते हैं। अधिकाश बन्दियो द्वारा अपने को किसी समूह से सम्बन्धित न करने के कारण उनमे प्राथमिक सम्बन्ध बहुत कम मिलते है।

सम्बन्धो की सघनता (intensity) के आधार पर क्लेमर ने वन्दियो के चार प्रकार वतलाये हैं[1]

(1) गुट वाला बन्दी (Complete 'Clique man')—यह वन्दी तीन या अधिक व्यक्तियो के छोटे मैत्रीय-समूह का सदस्य बनकर रहता है, दूसरो की कठिनाइयो, रहस्यो व सुखो का सहभागी होता है, हर कार्य 'मैं' की दृष्टि से न कर 'हम' की दृष्टि से करता है, तथा दूसरे के लिए दण्ड भुगतने के लिए भी तैयार रहता है। बन्दियो के इस मैत्रीय गुट मे कुछ स्थिरता होती है।

(2) सामूहिक बन्दी (Group man)—यह बन्दी छोटे समूह से मित्रतापूर्ण रहता है तथा इस समूह के सदस्यो के साथ कुछ सुखो व रहस्यो मे सहभागिक होता है परन्तु हर बात मे अपना हित त्यागकर उनका साथ नही देता। विशेष रूप से एक समूह के साथ मित्रतापूर्ण रहने पर भी अन्य समूहो मे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलता-जुलता है।

(3) *अर्द्ध-एकान्तवासी बन्दी (Semi-Solitary man)*—यह वह बन्दी है जो

[1] Donald Clemmer, *op cit*, 118

अधिकांशतः अकेला रहता है, यद्यपि अन्य कैदियों के साथ शिष्टाचार से बातचीत करता है तथा कभी-कभी उनके विचारों व क्रियाओं का भी अनुमोदन करता है।

(4) **पूर्ण मित्रहीन व एकान्तवासी बन्दी** (Complete Solitary man)—यह बन्दी यदा-कदा औपचारिक बातचीत के सिवाय किसी के साथ कुछ नहीं बोलता व सदा अपने में खोया रहता है। न तो अपनी बात किसी को बताता है और न दूसरों की बातें जानने का इच्छुक होता है।

क्लेमर ने 177 बन्दियों के अध्ययन में पाया कि 17·9% पहले प्रकार के, 35·0% दूसरे प्रकार के, 33·9% तीसरे प्रकार के, तथा 3·5% चौथे प्रकार के बन्दी थे। 9·7% के उत्तर असन्तोषजनक पाये गये।[1] पहली श्रेणी वाला समूह सम्बन्धन (group affiliation) का सन्निकट प्रकार गम्भीर अपराधी अभिलेख (Record) वाले बन्दियों में पाया गया तथा एकान्तवास उनमें पाया गया जिनका बाहर से कोई सामाजिक सम्बन्ध नहीं था तथा व्यक्तित्व में कोई मूलभूत अभाव था।

नेतृत्व के अध्ययन में क्लेमर ने पाया कि नेता का प्रमुख कार्य बन्दी असन्तोष को स्फुटित (crystallise) करना है। नेता अधिकांशतः वह युवा होता है जो हत्या, डकैती, लूट आदि जैसे गम्भीर अपराधों के लिए दण्डित होता है तथा कारागार में आने से पूर्व जिसकी धारणाएँ प्रशासन-विरोधी होती हैं। कारागार में आने से पूर्व ये लोग किसी समूह के नेता नहीं होते।[2] क्लारेन्स शिराग (Clarence Schrag) ने भी बन्दियों के नेतृत्व अध्ययन में पाया कि नेता हिंसात्मक अपराध में लम्बी दण्डावधि वाला एवं अपराधी मनोवृत्ति वाला परिपक्व व्यक्ति होता है। नेता के व्यवहार का समर्थकों की आशाओं से विचलन होने पर उसकी (नेता की) प्रतिष्ठा कम हो जाती है तथा उसका प्रभुत्व समाप्त हो जाता है।[3]

डोनाल्ड क्लेमर ने कारागार के पारिस्थितिक (ecological) सन्दर्भ के अध्ययन में बन्दियों के व्यक्तिगत एवं पारस्परिक सम्बन्धों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसके विचार में कारागार एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें अधिकारियों और बन्दियों के दो समरूप (homogeneous) समूह निरन्तर रूप से पारस्परिक विरोधी दिशाओं (dialectical opposition) में समवस्थित (coexist) होते हैं। यद्यपि उसने बन्दियों के तीन वर्ग—विशिष्ट (elite) वर्ग, मध्य वर्ग, व हूजीअर (hoosier) वर्ग—बताकर उनकी भिन्नता प्रदर्शित की है तथापि उसने बन्दियों के स्तरीकरण (stratification) पर कम बल दिया है। इसके विपरीत क्लारेन्स शिराग ने 1944 के वाशिंगटन के अध्ययन में कार्मिकों (personnel) पर अधिक बल दिया है। बन्दियों की विभिन्न भूमिकाओं के आधार पर उसने पाँच प्रकार बताये हैं :[4]

[1] *Ibid.*, 119.
[2] *Ibid.*, 134-48.
[3] Clarence Schrag, *op. cit.*, 37-42.
[4] Clarence Schrag, quoted by T. P. Morris in *Criminology in Trasition*, edited by Jones Grygier and Spencer, Tavistock Publications, London, 1965, 74.

(1) यथायोग्य बन्दी (Right-guy)—अन्य बन्दियो मे मिलकर व उनके हितो को ध्यान मे रखकर कार्य करने वाला यह असामाजिक मनोविकृति बन्दी होता है।

(2) न्याय बाह्य बन्दी (Out law)—इसकी बन्दियो एव अधिकारियो के प्रति कोई निष्ठा नही होती।

(3) राजनीतिज्ञ बन्दी (Politician)—यह एक व्यवहार-कुशल अवास्तविक (pseudo) बन्दी है जो बन्दियो और अधिकारियो को अपने लाभ के लिए हस्तोपचार (manipulate) करता है।

(4) स्क्वेअर जान (Square John)—यह सामाजिक नियमो को मानने वाला वह बन्दी है जो अपने को *अपराधी नही समझता तथा प्रशासन* के मूल्यो व नियमो को मानता है।

(5) डिंग (Ding)—इस बन्दी को कारागार समुदाय बहिष्कृत (outcast) मानता है, जैसे मदबुद्धि बन्दी, पागल व अहिंसात्मक कामातुर अपराधी।

उपर्युक्त पाँच प्रकार इगित करते हैं कि कारागार सगठन किस प्रकार का होगा। शिराग के अनुसार, बन्दियो मे प्रशासको के प्रति विरोध अवश्य रहता है किन्तु बन्दी सगठन एक मिथ्या (myth) है अत अधिकारियो का यदा-कदा बन्दियो के साथ खुला सघर्ष मिलता है।[1]

साइकिस (Sykes) ने 1958 मे कारागार समुदाय मे अशिष्ट-भाषा प्रयोग पर आधारित भूमिकाओ (argot roles) पर बल दिया है। इसके अनुसार बन्दियो द्वारा अपराधियो को उनके विशिष्ट व्यवहार के आधार पर दिये गये विशिष्ट नाम बताते हैं कि किस प्रकार बन्दी समुदाय अपराधियो के विभिन्न प्रकार के व्यवहारो का मूल्याकन करता है। साइकिस के अनुसार यह अनर्गल वाक्यो वाली भूमिकाएँ ही बन्दी सगठन का सही रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इन भूमिकाओ के आधार पर उसने पाँच प्रकार के बन्दी बताये हैं[2] *(1) मध्यम एव दलाली करने वाले* बन्दी (Rats and Centremen), (2) गोरिल्ला एव सौदागार (Gorillas and Marchants), (3) भेडिये एव लोभी व जालिम बन्दी (Wolves, punks and fags), (4) बॉलबस्टर्स व *असली अपराधी (Ballbusters and realmen)*, (5) दुष्ट व उपद्रवकारी गुण्डे (Tough and hipsters)।

साइकिस के मत मे इन भूमिकाओ का महत्त्व बन्दियो के प्रकार्यकारी अनुकूलन (functional adaptation) के माध्यमो (modes) के लिए बहुत है। इन माध्यमो के भी उसने पाँच प्रकार बताये हैं (i) सामाजिक अस्वीकरण (social rejection), (ii) धन-दौलत की हानि (The deprivation of material possession), (iii) विलिंगकामी सम्बन्धो से वचना (The deprivation of heterosexual relationship), (iv) स्वाधीनता से वचना (The deprivation

[1] Clarence Schrag, quoted by T P Morris, *op cit*, 75

[2] Gresham Sykes *op cit*, 95–99

of autonomy), और (v) व्यक्तिगत सुरक्षा सम्बन्धी क्षति (Loss of personal security)।

साइकिस ने इसके अतिरिक्त कैदियों की दो मूल भूमिकाओं—संसंजक (cohesive) और पृथक्कारी (alienative)—में भी अन्तर बताया है। बन्दियों द्वारा सम्पन्न की गयी वे भूमिकाएँ जिनके द्वारा वे अपने कारागार के कष्टों को दूसरों का तिरस्कार करके कम करने का प्रयत्न करते हैं पृथक्कारी कहलाती हैं। ऐसी भूमिकाएँ कारागार के सन्तुलन (equilibrium) को नष्ट करती हैं। संसंजक भूमिकाएँ बन्दियों के पारस्परिक संघर्ष एवं पूरे बन्दी समुदाय के बन्दीकरण-पीड़ा को कम करती हैं।

साइकिस का प्रमुख योगदान कारागार की एक सत्ता व्यवस्था (system of power) के रूप में समझना है। क्लेमर के अध्ययन में कारागार का अभिव्यक्त (manifest) प्रकार्य प्रस्तावानुरूप (relevant) नहीं था। उसके लिए 'कारागार क्यों बनाया गया है?' जैसे प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इसके विपरीत उसने कारागार के औपचारिक उद्देश्यों को आरम्भ-बिन्दु बनाया था। हिरासत की परिस्थिति (custodial situation) के आधार पर उसने कारागार को मुख्य रूप से बलात्कारी व दमनक्षम (coercive) बताया है। इसी सम्बन्ध में उसने अधिकारी-बन्दी सम्बन्धों का भी अध्ययन किया है। अधिक-सुरक्षा वाले कारागारों को वह ऐसी परिस्थिति बताता है जिसमें समाज की बलात्कारी शक्ति विधि (law) का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों पर लागू की जाती है।[1] यहाँ की परिस्थिति न केवल बन्दियों की स्वतन्त्रता छीनती है वरन् उनसे प्रतिदिन की क्रियाओं को पूर्ण करने को भी बाध्य करती है। कारागारों को बल-प्रयोग के साधनों का एकाधिपत्य होने से वे बन्दियों को नियम-उल्लंघन पर दण्डित करते हैं। किन्तु बन्दी इन नियमों के पालन के लिए स्वयं को उत्तरदायी नहीं समझता। अतः साइकिस के अनुसार, कारागार की प्राप्ति शक्ति में कुछ दोष मिलता है। इस दरार को भरने हेतु अधिकारी कुछ अनौपचारिक पुरस्कारों का प्रयोग करते हैं। इस प्रक्रिया को साइकिस 'रक्षकों व सन्तरियों में भ्रष्टाचार' (corruption of the guard) मानता है।[2] सन्तरी बन्दियों की उन अधिकांश क्रियाओं पर ध्यान नहीं देते जिन्हें वे अपने बन्दीकरण के कष्टों को कम करने का प्रयास करते हैं। जब सन्तरी ऐसा नहीं करते तो कभी-कभी कारागारों में झगड़े व दंगे उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, 'नियन्त्रण में ढील' को बन्दियों द्वारा उत्पन्न परेशानियों का मुख्य कारण बताया जा सकता है। सदैव ही ऐसे झंझट क्यों नहीं दृष्टिगोचर होते इसके बारे में साइकिस का मत है कि बहुत से बन्दियों में स्थिरता और व्यवस्था बनाये रखने की स्वार्थी इच्छा होती है। ये वे बन्दी हैं जिन्हें अच्छे व्यवहार के लिए अनौपचारिक पुरस्कार की आशा होती है। झंझटों से सन्तुलन का नाश उन्हें हानि पहुँचाता है।

[1] *Ibid.*, 96.
[2] *Ibid.*, 97.

कारागार में सुधारात्मक साधनों में प्रभावशीलता
(Effectiveness of Prison Treatment)

भारत मे कारागार व्यवस्था पर कोई अच्छा वैज्ञानिक अध्ययन नही हुआ है। क्लेमर, साइक्स, ग्लेज, गाफमैन (Gaffman) आदि द्वारा अमरीका और इग्लैण्ड के अध्ययनो को वास्तव मे एक-पक्षीय अध्ययन माना जा सकता है जिनका विद्योपार्जन सम्बन्धी (academic) मूल्य अधिक है किन्तु कारागार अधिकारियो की दृष्टि से व्यावहारिक (practical) मूल्य कोई नही है। भारत मे वर्तमान कारागार-व्यवस्था मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित सात दोष मिलते हैं

(1) अभी तक अपराध के कारणो को सही रूप मे न जान सकने के कारण कारागारो को पुनर्वास का माध्यम नही बनाया गया है। कारागार मे मुक्त होने के पश्चात् व्यक्ति द्वारा अपराध करने या न करने का सम्बन्ध कारागार मे अपनाये गये सुधारात्मक साधनो से न होकर उसके व्यक्तित्व से ही होता है क्योकि कारागारो मे अपराधियो द्वारा भूमिकाओ का चुनाव उनके व्यक्तित्व और कारागार मे आने से पूर्व उनके अपराधी प्रभावो पर आधारित है। अत 'बन्दीकरण' न तो अपराधिता के विकास को रोकता है और न बढाता है। इसलिए कारागार को यदि पुनर्वास का माध्यम बनाना है तो बन्दीकरण मे और अनुसन्धान की आवश्यकता है।

(2) कारागार मे अपराधियो की सख्या अत्यधिक होने से अधिकारियो के अभिव्यक्त उद्देश्यो (manifest objectives) और उनके व्यक्तिनिष्ठ व्यवहार (subjective behaviour) मे अन्तर मिलता है। अत्यधिक सख्या से प्रशासको का कार्य केवल अपराधियो को अपने अधिकार मे लेकर कारागार मे प्रवेश देने, दण्ड समाप्ति पश्चात् कारागार से मुक्त करने व कारावास अवधि मे उनके भोजन व कार्य के लिए व्यवस्था करने तक ही सीमित रहता है। नये सुधारात्मक उपाय तो वे लागू ही नही कर सकते। सुधार वास्तव मे उन्ही कारागार-प्रशासको द्वारा सोचा जाता है जो सस्थापक क्षेत्र (institutional field) से दूर रहते हैं। कारागार व्यवस्था मे ऊँचे और निम्न स्थिति के अधिकारियो के सम्पर्क कम होने अथवा अधिकारी-नौकरशाही मे एकपक्षीय सचारण (communication) का भी नये सुधारात्मक उपायो पर अधिक प्रभाव पडता है।

(3) कारागारो की आर्थिक व्यवस्था भी एक प्रकार से सुधार कार्यक्रम पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। ऐसी आर्थिक व्यवस्था मे बन्दियो की कुछ आवश्यकताएँ अवैध रीति से ही पूरी होती हैं। ऐसे बन्दी जो अन्य बन्दियो की इन आवश्यकताओ को पूरा करते है उन्हे साइक्स 'सौदागर' कहता है। ये ससजक (cohesive) भूमिका न निभाते हुए पृथक्कारी (alienative) भूमिका अदा करते हैं तथा सहयोगियो का शोषण करते हैं। क्योकि इन सेवाओ को उपलब्ध करने वाले बन्दियो की 'सत्ता' होती है अत अधिकारी भी इनको सहन करते है।

(4) अधिकारी कारागारो मे पायी जाने वाली सघर्ष परिस्थितियो को बहुत

कम स्वीकार करते है। बन्दियों के पारस्परिक कलह के सही उद्देश्य को मालूम करने का कभी भी प्रयास नही करते। इसके लिए बन्दियों को दिया जाने वाला दण्ड भी उनके द्वारा उत्पन्न परेशानियों के मूल कारणों को दूर नहीं करता। इन सबका बन्दियों के विचार परिवर्तन पर प्रभाव होता ही है।

(5) वर्तमान वर्गीकरण और पृथक्करण व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। अपराधियों का वर्गीकरण सुधार की दृष्टि से नहीं अपितु दण्ड के लिए व्यक्तिगत देखभाल करने की दृष्टि से होता है। वर्तमान वर्गीकरण—राजनीतिक व अराजनीतिक, पेशेवर व अपेशेवर, अभ्यस्त व आकस्मिक, स्टार व असाधारण—के यद्यपि लाभ हैं, किन्तु यह वर्गीकरण कारागारों द्वारा न किया जाकर न्यायालयों द्वारा किया जाता है। न्यायालयों मे भी यह नित्यक्रम (routine) के रूप में लिपिकों द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार न्यायालय भी वर्गीकरण को अपना एक प्रमुख कार्य नहीं समझते। अत: यह आवश्यक है कि सही शिक्षण की दृष्टि से कारागार अधिकारी ही यह कार्य करें। इसमें अपराधी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि व वर्तमान अपराध के अतिरिक्त उसके ग्रामीण व नगरीय पृष्ठभूमि, शिक्षित व अशिक्षित होने, तथा कार्य करने की क्षमता आदि तत्वों को ध्यान में रखना भी आवश्यक है। ऐसे वर्गीकरण न केवल शिक्षण की सरलता की दृष्टि से अपितु अपराधी मनोवृत्ति फैलाने के भय को कम करने की दृष्टि से भी लाभदायक होगा। इसके लिए अपराधियों के कारागार में आने के एक माह पश्चात् तक अलग ब्लाक (Quarantive block) में रखकर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। यह वर्गीकरण कारागार-अधीक्षक जैसे एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने के स्थान पर एक वर्गीकरण-समिति द्वारा किया जाना चाहिए। इस समिति में कारागार के प्रशिक्षक, चिकित्सक, कल्याण-अधिकारी तथा अधीक्षक हो सकते हैं। परन्तु एक बार वर्गीकरण हो जाने पर अपराधी को सदा के लिए उस वर्गीकरण समूह में न रखकर उसका समय-समय पर पुन: वर्गीकरण आवश्यक है जिससे बन्दी के भविष्य के कार्यक्रम को निर्धारित किया जा सके। यह समिति ही अपराधी को पैरोल (parole) पर मुक्त करने का निर्णय कर सकती है।

(6) वर्तमान प्रशिक्षण कार्यक्रम अत्यन्त अपर्याप्त है क्योंकि कारागार से मुक्त होने के पश्चात् यह व्यक्ति को समाज में पुनर्वास हेतु कोई सहायता नहीं करता।

(7) वर्तमान पारिश्रमिक प्रणाली अपूर्ण है क्योंकि बन्दियों को उनके श्रम के लिए पर्याप्त वेतन नहीं मिलता।

अत: कहा जा सकता है कि हम यदि कारागारों द्वारा अपनाये गये कार्यक्रमों को न सुधारात्मक और न प्रतिरोधात्मक मानें तो भी ये कारागार कम से कम समाज की अपराध के प्रति तिरस्कार व घृणा की अभिव्यक्ति तो करते ही हैं। उच्च मनोबलयुक्त अधिकारियों तथा अल्पतम बन्दी अधिकारी संघर्ष वाले कारागार ही निपुणतापूर्वक कार्य कर सकते हैं तथा अपराधियों को पुन: अपराध करने से रोक सकते हैं।

कारागारों में सुधारात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि हमें तीन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए (i) अपराधी में यह चेतना उत्पन्न करनी होगी कि उसकी कठिनाइयाँ उसी के व्यवहार सम्बन्धी उद्देश्यों से तथा अपने ही प्रत्यक्ष ज्ञान (perception) सम्बन्धी स्वरूपों (pattern) से सम्बन्धित है, (ii) अपराधी को उसकी कठिनाइयों के लिए विरोधी और प्रतिकूल मानवीय पर्यावरण को दोष देने के स्थान पर उसकी अपराधिता और आत्म-अस्वीकरण को अस्वीकार करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के सन्दर्भ में देखना होगा। कारागार अधिकारियों को इसी सन्दर्भ में उसे स्वयं को परिवर्तित करने तथा अपने उत्तरदायित्व को टालने के व्यर्थ प्रयास में सहायता करनी होगी, (iii) मानवीय पर्यावरण को सही समझने के लिए अपराधी को अधिक से अधिक अवसर उपलब्ध करने होंगे जिससे नये प्रकट होने वाले ढाँचे उसके समायोजन के सम्पूर्ण ढाँचे में सहायता कर सके।

राजस्थान कारागार सुधार आयोग ने भी इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिये हैं जिनका विवरण यहाँ अनुचित नहीं होगा।

राजस्थान कारागार सुधार आयोग
(Rajasthan Jail Reforms Commission)

यह आयोग अगस्त 1962 में नियुक्त हुआ तथा इसने 1964 में अपने सुझाव दिये। इसके अध्यक्ष परिपूर्णानन्द वर्मा थे तथा इसके सदस्य डॉ० आर० एन० सक्सेना, डॉ० हिरण्याल, डॉ० कमलेश व डॉ० सुनीथान आदि समाजशास्त्री थे। इस आयोग के मुख्य निर्धारित ध्येय थे: राजस्थान कारागारों के वर्तमान प्रशासन तथा सुधारात्मक कार्यक्रमों की जाँच कर उनमें परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव देना, एवं परिवीक्षा, कारागार श्रम, पारिश्रमिक समस्या, उत्तर-संरक्षण सेवाओं आदि का अध्ययन कर उनके आधुनिकीकरण की समस्या पर विचार करना। आयोग के प्रमुख सुझाव निम्न थे :[1] (1) ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले बन्दियों को कृषि-सम्बन्धी व कुटीर उद्योग और नगरीय पृष्ठभूमि वाले बन्दियों को औद्योगिक प्रशिक्षण देना चाहिए, (2) विचाराधीनवादों वाले (undertrials) अपराधियों से भी दण्डित अपराधियों की तरह काम करवाना चाहिए, (3) समस्त बन्दियों के लिए शनैः-शनैः पारिश्रमिक व्यवस्था आरम्भ करनी चाहिए, (4) महिला तथा बाल अपराधी सुधार-गृह पहले से ही स्थापित कारागारों से न मिलाकर पृथक् से स्थापित किये जाने चाहिए (5) कारागार को 'सुधार-गृह' तथा बन्दियों को 'साथी' शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए, (6) खुले कारागारों की स्थापना से आदर्श बन्दी-गृहों का अब कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा तथापि इन्हें आदर्श प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में जारी रखना चाहिए तथा इनमें प्रवेश हेतु अपराध की प्रकृति व दण्डावधि किसी प्रकार बाधित नहीं होनी चाहिए, (7) अपराधियों के वर्गीकरण के लिए वर्तमान ए, बी, सी, वर्ग समाप्त कर नये उपाय अपनाने चाहिए तथा इसके लिए एक वर्गीकरण-मण्डल (board) बनाया

[1] Rajasthan Jail Reforms Commission Report, 1964, *op cit*, 394-430

जाना चाहिए जिसमें कारागार अधिकारियों के अतिरिक्त मनोरोग-चिकित्सक (Psychiatrist), मनोवैज्ञानिक (Psychologist) व अपराधी-कल्याण-अधिकारी भी होने चाहिए, (8) अल्पावधि दण्ड का कोई सुधारात्मक मूल्य न होने से परिवीक्षा सेवाओं को अधिक प्रयोग करना चाहिए, (9) पैरोल (parole) और अवकाश (leave) व्यवस्थाएँ अधिक प्रयोग करनी चाहिए। सम्पूर्ण दण्डावधि के तिहाई भाग की समाप्ति के पश्चात् एक वर्ष में एक माह के हिसाब से अपराधी को अवकाश देना चाहिए। अवकाश देने व पैरोल पर छोड़ने के लिए एक कारागार-सलाहकार-परिषद् (Jail Advisory Council) बनानी चाहिए जिसका अध्यक्ष राज्य का गृह-मन्त्री हो, (10) कारागार पंचायतें स्थापित करनी चाहिए तथा इन्हें 'परामर्श-समितियों' का नाम दिया जाय जो अपराधियों के प्रशिक्षण, कल्याण, व अनुशासन आदि की देखभाल करेंगी, (11) अपने परिवार व मित्रों से अधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वन्दियों को प्रति सप्ताह दो पत्र लिखने एवं एक-आध घण्टे के साक्षात्कार की अनुमति दी जानी चाहिए, (12) वन्दियों के कल्याण हेतु एक वन्दी-कल्याण-कोष (Prisoners' Walfare Fund) स्थापित करना चाहिए जिसमें से वन्दियों के परिवारों को भी संकट के समय आवश्यक सहायता दी जानी चाहिए, (13) समाज-कल्याण-विभाग एवं कुछ अन्य अशासकीय संस्थाओं द्वारा कारागार से छूटे हुए वन्दियों की सहायता हेतु उत्तर-संरक्षण-गृह चलाने चाहिए।

आयोग के उक्त सुझावों में कोई मौलिक व उग्र-परिवर्तनवादी सुझाव नहीं है। इनसे यह भी ज्ञात नहीं होता कि इनका विश्लेषण कुछ उपार्पित (committed) समाजशास्त्रियों एवं अपराधशास्त्रियों द्वारा किया गया है। यद्यपि आयोग ने कारागार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वन्दी संगठन एवं अपराधियों के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या को नितान्त निराधार माना प्रतीत होता है तथापि उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करने से वन्दीगृह समुदाय को अपराधियों के सुधार हेतु कुछ सीमा तक प्रकार्यवादी (functional) वनाया ही जा सकता है।

छठा अध्याय

परिवीक्षा सेवाएँ व पैरोल व्यवस्था
(PROBATION AND PAROLE)

अपराधियो के प्रति दण्ड सम्बन्धी नीति मे पिछली कुछ दशाब्दियो मे कुछ परिवर्तन मिलता है। दृष्टिकोण मे इस परिवर्तन के कारण कुछ नवीन प्रयोग भी किये गये है। परिवीक्षा प्रणाली इनमे से एक है।

परिवीक्षा की अवधारणा

परिवीक्षा को साधारणत 'दण्ड का निलम्बन' (suspension of sentence) एवं 'प्रतिबन्धिक रिहाई' (conditional release) माना जाता है। जब कानून के उल्लघन के लिए किसी व्यक्ति को न्यायालय मे मुकदमा चलाकर उसे दोषी पाया जाता है तब न्यायालय उस अपराधी को कारावास या जुर्माने आदि का दण्ड देता है। परन्तु जब न्यायालय द्वारा निर्णय का अधिघोषण (pronouncement) स्थगित किया जाता है तब इसे *'दण्ड के आरोपण (imposition) का निलम्बन'* कहा जाता है। कभी-कभी निर्णय तो सुनाया जाता है परन्तु उसकी कार्यान्विति स्थगित की जाती है; इसे 'दण्ड के परिपालन (execution) का निलम्बन' कहा जाता है। परिवीक्षा पहले प्रकार (अथवा दण्ड-आरोपण) का निलम्बन है।

किन्तु परिवीक्षा मे दण्ड-स्थगन के अलावा अपराधी की प्रतिबन्धिक रिहाई भी मिलती है तथा अपराधी को कुछ शर्तों के साथ मुक्त कर उसे अपने परिवार मे रहने की अनुमति दी जाती है। जिस अपराधी के परिवार का पर्यावरण उसके सुधार के लिए अनुकूल नही समझा जाता उसे किसी परिवीक्षा होस्टल मे या किसी सुधारात्मक सस्था मे प्रतिपालित माता-पिता (foster-parents) के निरीक्षण मे रखा जाता है। प्रतिबन्धिक रिहाई की अवधि मे प्रोबेशनर पर एक विशेष अधिकारी (परिवीक्षा आफिसर) का निरीक्षण भी रहता है जो एक ओर तो उसके न्यायालय द्वारा निर्धारित शर्तों के उल्लघन पर नियन्त्रण रखता है तो दूसरी ओर उसके विचारो व व्यवहार को बदलने का तथा उसे समाज मे पुन प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार परिवीक्षा मे हमे चार तत्त्व मिलते हैं . (*i*) दण्ड का निलम्बन, (ii) कुछ प्रतिबन्धो का निर्धारण, (iii) अपराधी को समुदाय मे रहने की अनुमति,

(iv) विशेष अधिकारी द्वारा निरीक्षण। इन तत्त्वों के आधार पर काल्डवेल[1] ने परिवीक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है : 'परिवीक्षा वह प्रणाली है जिसके द्वारा अपराधी का दण्ड स्थगित करके उसे न्यायालय के नियन्त्रण में परिवीक्षा-अधिकारी के निरीक्षण और मार्गदर्शन में समुदाय में रहने की अनुमति दी जाती है।' सदरलैण्ड[2] के अनुसार परिवीक्षा दण्ड के स्थगन-अवधि में दण्डित अपराधी की वह स्थिति है जिसमें उसे अच्छे व्यवहार की शर्त पर मुक्ति दी जाती है और जिसमें राज्य व्यक्तिगत निरीक्षण द्वारा उसे अच्छा व्यवहार रखने में सहायता करता है।

वर्तमान में कुछ विचारक परिवीक्षा को चार अलग-अलग दृष्टियों से देखते हैं . (i) वैधानिक निर्णय (legal disposition) की दृष्टि से; (ii) दण्डात्मक उपाय (punitive measure) की दृष्टि से; (iii) उदारता (leniency) की दृष्टि से; और (iv) सुधारात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से। पहला दृष्टिकोण (जो अधिकतर न्यायिक अधिकारियों में पाया जाता है) परिवीक्षा को न्यायालय द्वारा दण्ड का निलम्बन अथवा सरल आरक्षण प्रक्रिया (policing procedure) मानता है। इस दृष्टिकोण में यह मान्यता मिलती है कि परिवीक्षा-अधिकारी का कार्य केवल अपराधी द्वारा निर्धारित शर्तों के उल्लंघन की न्यायालय को रिपोर्ट करना है जिससे स्थगित दण्ड को अपराधी पर पुनः लागू किया जा सके। यह दृष्टिकोण इस कारण अमान्य है क्योंकि परिवीक्षा में दण्ड के स्थगन के अतिरिक्त अपराधी के विचारों व व्यवहार में परिवर्तन कर उसे समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी मिलता है।

दूसरे दृष्टिकोण में परिवीक्षा को अपराधी को बिना कारागृह में रखे, उसे बन्दी बनने के कलंक से बचाकर केवल उसके स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा करके एक दण्डात्मक उपाय के रूप में देखा जाता है। यह दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि दण्ड की निश्चितता ही, चाहे वह स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध के रूप में ही हो, व्यक्ति को अपराध करने से रोकती है। यह दृष्टिकोण भी इस कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि परिवीक्षा 'दण्ड' नहीं परन्तु 'सुधार' का एक उपकरण है।

तीसरा दृष्टिकोण, जो परिवीक्षा को उदारता का एक रूप मानता है, इस विचार पर आधारित है कि अपराध मनुष्य के जीवन में एक मन्दभाग्य फिसलन (unfortunate slip) है तथा ऐसी फिसलन हर व्यक्ति के जीवन में मिलती है। इस कारण अपराधी को एक रोगी व्यक्ति एवं अवांछनीय पर्यावरण की उपज नहीं मानना चाहिए परन्तु एक साधारण व्यक्ति के रूप में देखना चाहिए जिसे मन्दभाग्य फिसलन के लिए किसी उपचार की आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टिकोण भी इस

[1] 'Probation may be defined as a procedure whereby the sentence of an offender is suspended while he is permitted to remain in the community subject to the control of the court and under the supervision and guidance of a probation officer.' Robert G. Caldwell, *Criminology*, The Ronald Press Co., New York, 1956, 431.

[2] E.H. Sutherland and Donald R. Cressy, *Principles of Criminology*, The Times of India Press, Bombay, 1965, 422.

कारण सही नहीं है क्योंकि अपराधी के 'सुधार' की आवश्यकता की बिल्कुल अवहेलना नहीं की जा सकती।

चौथा दृष्टिकोण (कि परिवीक्षा एक सुधारात्मक प्रक्रिया है) अपराधी के उपचार (treatment) की आवश्यकता पर बल देता है तथा यह मानता है कि उपचार अपराधी पर थोपा नहीं जा सकता परन्तु यह उसके 'स्व' (self) से ही उत्पन्न हो सकता है। परिवीक्षा-अधिकारी का कार्य केवल प्रोबेशनर को उसकी क्षमताओं का आभास कराकर उसे 'स्वयं की सहायता' करना सिखलाना है।

मेरे विचार में यद्यपि यह चौथा दृष्टिकोण अस्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु परिवीक्षा को हमें एक सुधारात्मक प्रक्रिया के अतिरिक्त एक व्यक्ति विषयक कार्य (case work) के रूप में भी देखना होगा। व्यक्ति विषयक कार्य में तीन अवस्थाएँ (phases) मिलती हैं: (i) सामाजिक छान-बीन (social inquiry)—जिससे अभियोगार्थी (अपराधी) के सम्पूर्ण परिस्थिति व व्यक्तित्व के लक्षणों का विश्लेषण किया जा सके; (ii) सामाजिक निदान (social diagnosis)—जिससे उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उसके अपराध के सही कारणों को जाना जा सके, और (iii) उपचार प्रक्रिया (treatment)—जिससे (क) व्यक्ति में व्यवहार के सही विचार व मनोभाव उत्पन्न किये जा सकें, (ख) उसके सामाजिक नियमों के प्रति निष्ठा को पक्का किया जा सके, तथा (ग) उसमें निहित क्षमताओं को विकसित किया जा सके। इस प्रकार हम (i) सामाजिक छानबीन, और (ii) निरीक्षण को परिवीक्षा के अभिन्न अंग मानते हैं। वर्तमान परिवीक्षा अधिनियमों में जो बिना निरीक्षण के अपराधी को प्रोबेशन पर मुक्त करने की व्यवस्था मिलती है उसे तथा न्यायाधीश को किसी केस की छानबीन करवाने व न करवाने की स्वतन्त्रता देने को हम सही प्रोवेशन नहीं मानते।

इस विवरण के आधार पर परिवीक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है: 'परिवीक्षा एक वह प्रणाली है जिससे अपराध करने के कारण मिलने वाले दण्ड को अपराधी के व्यक्तित्व, पर्यावरण व पिछले रिकार्ड के छानबीन के आधार पर स्थगित किया जाता है तथा अपराधी को न्यायालय द्वारा कुछ निर्धारित शर्तों पर एक विशेष अधिकारी के सक्रिय निरीक्षण में स्वाधीन समुदाय में रहने की अनुमति दी जाती है जिससे उसके व्यवहार व भूमिकाओं को नियन्त्रित किया जा सके।'[1]

उत्पत्ति (*Origin*)

परिवीक्षा सेवाएँ सर्वप्रथम अमरीका में अनौपचारिक रूप में 1841 से और विधिपूर्वक 1869 से आरम्भ हुई थी। 1841 में मैसेच्युसेट्स (Massachucetts)

[1] 'A process which envisages the suspension of sentence, for the offence committed, on the basis of social investigation of offender's personality, environment and previous record and his (offender's) release from the court to reside in the free community on certain conditions under the active supervision of a probation officer to guide and control his roles and behaviour'

राज्यों में परिवीक्षा अधिनियम पास करने का अधिकार दिया जिसके आधार पर पाँच राज्यों—मद्रास, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बंगाल व बिहार ने परिवीक्षा कानून पास किये। किन्तु इन कानूनों का क्षेत्र बहुत सीमित था तथा उनमें केवल 21 वर्ष से कम आयु वाले उन प्रथम अपराध करने वाले अपराधियों को ही परिवीक्षा पर छोड़ने की व्यवस्था थी जिनके अपराध के लिए मृत्युदण्ड व आजीवन कारावास नहीं परन्तु सात वर्ष से कम कारावास ही मिलना था। कुछ राज्यों ने बाल-अधिनियम पास कर बाल-अपराधियों (16 व 18 वर्ष से कम) को परिवीक्षा पर छोड़ने की योजनाएँ आरम्भ की।

1958 के परिवीक्षा अधिनियम (प्रोबेशन ऑफ आफेन्डर्स एक्ट) पास होने के उपरान्त इस समय (मई 1981 में) दो राज्यों (नागालैण्ड, सिक्किम) व सात केन्द्र-शासित क्षेत्रों (अरुणाचल, चण्डीगढ़, दादरा नगरहवेली, मिजोरम, अण्डमान, पाण्डिचेरी और लक्षद्वीप) को छोड़कर अन्य सभी राज्यों ने अपने-अपने क्षेत्रों में परिवीक्षा सेवाएँ आरम्भ की है। अधिकांश राज्यों ने तो 1958 अधिनियम को ही अपने राज्य में लागू किया है परन्तु दो राज्यों—उत्तरप्रदेश (1938) व जम्मू-कश्मीर (1966)—ने इस सम्बन्ध में पृथक् कानून बनाये है। विभिन्न राज्यों में 1958 का केन्द्रीय परिवीक्षा अधिनियम इस प्रकार पास किया गया है आन्ध्रप्रदेश (1964), असम (1963), बिहार (1959), गुजरात (1962), हरियाणा (1966), हिमाचल प्रदेश (1961), कर्नाटक (1960), केरल (1958), मध्य प्रदेश (1962), महाराष्ट्र (1970), मणीपुर (1958), उड़ीसा (1962), पंजाब (1962), राजस्थान (1962), तमिलनाडु (1962), त्रिपुरा (1963), तथा पश्चिमी बंगाल (1974)।[1]

संगठन (Organisation)

विभिन्न राज्यों में परिवीक्षा सेवाएँ या तो समाज कल्याण विभाग से संगठित हैं (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, असम, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली आदि) या जेल विभाग से (बिहार, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, केरल, पंजाब व आन्ध्रप्रदेश) या विधि विभाग से (मध्यप्रदेश)। केवल कर्नाटक में ही परिवीक्षा सेवाओं का पृथक् निदेशालय मिलता है। महाराष्ट्र व गुजरात में परिवीक्षा सेवाएँ अर्द्ध-सरकारी प्रारूप में मिलती हैं जबकि अन्य राज्यों में ये सरकारी सेवाओं के रूप में ही पायी जाती है। राजस्थान में 1970 से परिवीक्षा सेवाओं को समाज-कल्याण सेवाओं से इस रूप में जोड़ दिया गया है कि एक ही अधिकारी परिवीक्षा-आफिसर तथा समाज कल्याण आफिसर एवं परिवीक्षा आफिसर तथा जेल कल्याण आफिसर का कार्य करता है। पूरे राज्य में छह अधिकारी ही ऐसे है जो केवल जिला परिवीक्षा आफिसर के रूप में कार्य करते हैं।

1958 परिवीक्षा अधिनियम के प्रमुख तत्त्व हैं :

(1) ऐसे अपराधी को परिवीक्षा पर छोड़ना जिसके अपराध के लिए मृत्यु-

[1] *Social Defence*, April 1979, 55-56

दण्ड व आजीवन कारावास नहीं दिया जा सकता। ऐसे सभी अपराधियों को जिनके अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक कारावास नहीं दिया जा सकता, परिवीक्षा पर छोड़ना होगा।

(ii) 21 वर्ष से कम आयु वाले सभी अपराधियों को कारावास न देकर परिवीक्षा पर छोड़ना होगा।

(iii) अपराधी को परिवीक्षा पर छोड़ने से पूर्व न्यायाधीश को परिवीक्षा-अधिकारी द्वारा सामाजिक छानबीन पर आधारित प्रस्तुत रिपोर्ट (यदि है तो) को महत्त्व देना होगा। इस प्रकार 'यदि है तो' का प्रावधान सामाजिक छानबीन को प्रत्येक केस के लिए अनिवार्य नहीं मानता।

(iv) परिवीक्षा-काल में प्रोवेशनर परिवीक्षा-अधिकारी के निरीक्षण में रहेगा।

(v) किसी प्रोवेशनर को तीन वर्ष से अधिक समय के लिए परिवीक्षा पर नहीं रखा जायेगा।

यद्यपि परिवीक्षा प्रणाली को सभी राज्यों में आरम्भ किया गया है परन्तु परिवीक्षा पर छोड़े जाने वाले सभी वांछनीय (eligible) अपराधियों को इस कानून का लाभ अब भी नहीं दिया जाता। जब इंग्लैण्ड में परिवीक्षा के लिए योग्य अपराधियों में से 49% को, स्वीडन में 65% को, तथा अमरीका में 60% को परिवीक्षा पर छोड़ा जाता है, भारत में केवल 8% परिवीक्षा-योग्य अपराधियों को ही परिवीक्षा का लाभ मिल रहा है। इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार भारत में परिवीक्षा सेवाएँ सीमित रूप में उपयोग की जा रही है।

1958 के कानून में परिवीक्षा-अवधि कम करने, रद्द करने (revocation) व समयपूर्व समाप्त करने (premature termination) का भी प्रावधान है। परिवीक्षा का प्रतिसंहरण (revocation) निर्धारित शर्तों के उल्लंघन एवं परिवीक्षा-काल में नये अपराध करने के कारण होता है तथा समय-पूर्व समाप्ति अच्छे व्यवहार व न्यायालय द्वारा अपील स्वीकार किये जाने के आधार पर होती है।

प्रशासनिक व्यवस्था (Administrative Organisation)

भारत में परिवीक्षा सेवाओं की प्रशासनिक व्यवस्था अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग रूप में मिलती है। मुख्य रूप से यह अग्रांकित तालिका के अनुरूप पायी जाती है जिसमें वर्णित अधिकारियों में से रीजनल परिवीक्षा-अधिकारी तथा सहायक परिवीक्षा-अधिकारी हर राज्य में नहीं मिलते।

राज्यों में प्रशासनिक व्यवस्थाओं में भिन्नताओं के कारण प्रमुख प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परिवीक्षा सेवाओं को किस विभाग (समाज कल्याण विधि या जेल या अन्य किसी) से संलगित करना चाहिए अथवा क्या उसके लिए अलग निदेशालय स्थापित करना ही उचित होगा? इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि परिवीक्षा सेवाओं को किसी भी विभाग से जोड़ना बिल्कुल अनुचित होगा। समाज

1 न्यायालय द्वारा निर्धारित शर्तों का पालन करना
2 निर्धारित समय पर परिवीक्षा-अधिकारी को रिपोर्ट देना
परिवीक्षाधीन
1 अपराध की छानबीन
2 प्रोबेशनर का निरीक्षण
सहायक परिवीक्षा अधिकारी
स्थानीय क्षेत्र
1 अपराध की छानबीन
2. प्रोबेशनर का निरीक्षण
3. जिले में सहायक परिवीक्षा अधिकारियों का निरीक्षण
जिला परिवीक्षा अधिकारी
जिला स्तर
1. सहायक और जिला परिवीक्षा-अधिकारियों का निरीक्षण
2. मुख्य परिवीक्षा अधिकारी द्वारा निर्धारित नीतियों की कार्यान्विति
रीजनल परिवीक्षा अधिकारी
डिवीजन स्तर
1. राज्य के सभी परिवीक्षा-अधिकारियों का निरीक्षण
2 राज्य के सभी डिवीजन और जिलों में परिवीक्षा सेवाओं में समन्वय
3 नीति-निर्धारण
मुख्य परिवीक्षा अधिकारी
राज्य स्तर
1. राज्य स्तर पर परिवीक्षा सेवाओं-सम्बन्धी नीति-निर्माण
2 परिवीक्षा क्षेत्र में सभी सम्बन्धित अधिकारियों का निरीक्षण
3 स्टाफ की नियुक्ति
4 राज्य में परिवीक्षा सेवाओं सम्बन्धी समय-समय पर आँकड़े उपलब्ध कर प्रकाशित करना
5 अन्तर्राज्य सम्पर्क स्थापित करना
निदेशक (समाज कल्याण विभाग, विधि विभाग तथा जेल महा निरीक्षक)
राज्य स्तर

कल्याण विभाग पहले ही विविध सामाजिक क्रियाओं में लगा रहता है तथा विभाग के अधिकारी परिवीक्षा सेवाओं पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते है। परिवीक्षा को जेल और विधि विभागों से जोड़ने से प्रोबेशनर परिवीक्षा-आफिसर को एक सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में न देखकर उससे एक जेल-अधिकारी या न्यायालय-अधिकारी के रूप में वर्ताव करता है तथा परिवीक्षा को एक दण्डात्मक प्रणाली मानता है। इससे परिवीक्षा अधिकारी उसके विश्वास व निष्ठा को प्राप्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार क्योंकि मुख्य परिवीक्षा-आफिसर को परिवीक्षा सेवाओं की सफलता के लिए विभिन्न नीतियों का निर्माण करना पड़ता है, इस कारण उसके लिए इस क्षेत्र का विशिष्ट ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान समाज-कल्याण विभाग के एक साधारण प्रशासकीय आफिसर को पर्याप्त नहीं होता। अत: परिवीक्षा सेवाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि एक पृथक् निदेशालय ही स्थापित किया जाय जहाँ परिवीक्षा-अधिकारी सारा समय परिवीक्षा सेवाओं को दे सकें तथा अनुभवी, कुशल और प्रशिक्षित परिवीक्षा अधिकारियों में से ही रीजनल परिवीक्षा अधिकारी और मुख्य परिवीक्षा अधिकारी का चुनाव किया जा सके।

फिर, क्योंकि अधिकांश प्रोबेशनर गाँवों के रहने वाले होते हैं और एक जिला परिवीक्षा-अधिकारी के लिए जिले के विभिन्न गाँवों में रहने वाले प्रोबेशनरों का निरीक्षण सरल व सम्भव नहीं है, अत: यथासम्भव गाँवों में रहने वाले पंचायत आदि संस्थाओं के अधिकारियों को ही अंशकालिक (part-time) परिवीक्षा-अधिकारियों के रूप में नियुक्त किया जा सकता है जिससे प्रोबेशनरों के व्यवहार पर पूरा नियन्त्रण रखा जा सके।

परिवीक्षा अधिकारी—परिवीक्षा अधिकारी प्रमुख रूप से दो कार्य करता है (i) सामाजिक छानबीन, तथा (ii) निरीक्षण। वह न्यायालय द्वारा सौंपे गये केसों की छानबीन करके न्यायालय को यह रिपोर्ट देता है कि उसके विचार में किस प्रकार के पर्यावरण, किस प्रकार के व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण तथा किस प्रकार के सामाजिक कारकों ने व्यक्ति को अपराध करने के लिए बाध्य किया था और क्या इन कारकों की पृष्ठभूमि में अपराधी को परिवीक्षा पर छोड़ना उपयुक्त होगा या नहीं। पर्यावरण की छानबीन में परिवीक्षा अधिकारी अपराधी के परिवार के सदस्यों, पड़ोसियों, मित्रों व स्कूल के अध्यापकों आदि से मिलता है। दूसरा, वह अपने निरीक्षण में रहने वाले प्रोबेशनरों के सम्पर्क से रहकर उन्हें (i) निर्धारित शर्तों का उल्लंघन करने से रोकता है, (ii) उन्हें आवश्यक सहायता प्रदान कर उनके आर्थिक व सामाजिक पुनर्स्थापन में सहायता करता है, (iii) उनके विचारों और धारणाओं को परिवर्तित करने का प्रयास करता है।

भारत में इस समय दो प्रकार के परिवीक्षा-अधिकारी पाये जाते हैं: वैतनिक (stipendiary) व अवैतनिक (honorary)। अवैतनिक परिवीक्षा-अधिकारी अंश-कालिक एवं पूर्णकालिक आफिसर होते हैं। जनवरी 1976 के आँकड़ों के अनुसार भारत में कुल 473 (पुरुष 430, महिलाएँ 43) वैतनिक (stipendiary)

परिवीक्षा-अधिकारी तथा 26 अवैतनिक (honorary) परिवीक्षा-अधिकारी (पूर्णकालिक 10, अशकालिक 16) हैं।[1] सबसे अधिक वैतनिक परिवीक्षा अधिकारी तमिलनाडु मे (109) तथा सबसे कम मेघालय मे (2) मिलते हैं। इनकी सख्या गुजरात मे 71, आन्ध्रप्रदेश मे 55, महाराष्ट्र मे 57, राजस्थान मे 31, पश्चिम बगाल मे 30, पंजाब मे 13, असम मे 8, हरियाणा मे 9 तथा कर्नाटक मे 21 है।

पूरे भारत मे 499 परिवीक्षा-अधिकारियो ने एक वर्ष 1975 मे 61,390 केसो की छानबीन की। अत औसतन एक अधिकारी एक माह मे दस केसो की छानबीन करता है। दूसरी ओर इस अवधि मे कुल 19,543 अपराधी प्रोबेशन-आफिसरो के निरीक्षण मे रखे गये थे (1975 से पूर्व 9,528 और 1975 मे 10,015)। इस तरह औसतन एक आफिसर ने एक वर्ष मे 39 2 प्रोबेशनरो का निरीक्षण किया था। यह आँकडे यह सिद्ध करते हैं कि भारत मे परिवीक्षा-अधिकारी सामाजिक छानबीन व निरीक्षण की दृष्टि से अत्यधिक उद्भृत (over-loaded) है।

जिन राज्यो[2] मे वैतनिक महिला परिवीक्षा-अधिकारी मिलती हैं वे है. तमिलनाडु (4), उडीसा (13), गुजरात (4), बगाल (4), आन्ध्रप्रदेश (4), मध्य प्रदेश (2), केरल (2), हरियाणा (2), राजस्थान (1), पजाब (1), कर्नाटक (1), मेघालय (1), तथा दिल्ली (3)। सम्भवत सभी राज्यो मे महिला परिवीक्षा अधिकारी न मिलने का एक कारण यह है कि महिलाएँ गाँवो मे दौरा (tour) करने के अयोग्य मानी जाती हैं। एक परिवीक्षा-अधिकारी के कार्यों को ध्यान मे रखते हुए डेविड ड्रेसलर (David Dressler)[3] का कहना है कि परिवीक्षा अधिकारी तीन प्रविधियो से परिचित होना चाहिए: (क) हस्तकौशलपूर्ण (manipulative) प्रविधि, जिससे वह अपराधी के पर्यावरण को सुधार सके, (ख) प्रबन्धक (executive) प्रविधि, जिससे वह प्रोबेशनर के पुनर्वासन के लिए सामुदायिक साधनो का उपलाभ कर सके; (ग) नेतृत्व प्रविधि जिससे वह प्रोबेशनर के सघर्षो को दूर कर उसके व्यवहार को बदल सके।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवीक्षा अधिकारी के प्रोबेशनर के साथ सम्बन्ध न तो पुलिस अधिकारी जैसे है और न दुलार करने वाले (coddler) व्यक्ति जैसे—*आरक्षण (policing) नकारात्मक और दमनकारी (repressive)* होते हैं तथा दुलार व लाड मे अति प्यार और भावुकता पाये जाते हैं। परिवीक्षा-अधिकारी का प्रोबेशनर पर नियन्त्रण न तो कठोर और सत्तावादी (authoritarian) होता है और न ही बहुत उदार व कोमल। दोनो के मध्य इस प्रकार के सम्बन्ध होते हैं जिससे परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर को स्वय की सहायता करना सिखला सके।

निरीक्षण-अवधि मे परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर से दो स्थानो पर सम्पर्क स्थापित करता है—एक अपने आफिस मे और दूसरा प्रोबेशनर के घर मे। घर मे

[1] *Social Defence*, April 1979, 57

[2] *Ibid*, 58

[3] David Dressler, *Probation and Parole*, 1951, 154-56

भेंट करने से चार लक्ष्यों की प्राप्ति होती है : (1) उससे परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर के पारिवारिक पर्यावरण से परिचित हो जाता है; (2) परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर के उन घनिष्ठ सम्बन्धों का निरीक्षण कर सकता है जो उसके चरित्र-निर्माण में बहुत प्रभावी होते है; (3) आवश्यकता अनुभव करने पर परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर के पूरे परिवार के सुधार के लिए रचनात्मक उपाय अपना सकता है; (4) इससे परिवार के सदस्यों को भी अपराधी को सुधार में भाग लेने का अवसर मिलता है जिससे वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति भी सतर्क रहते हैं।

परिवीक्षा-अधिकारी के प्रोबेशनर के साथ अपने आफिस में सम्पर्क स्थापित करने के निम्न तीन लाभ मिलते है : (1) परिवीक्षा अधिकारी को वह एकान्तता होती है जो उसे प्रोबेशनर के परिवार में नहीं मिलती; (2) प्रोबेशनर पर नियमित अन्तराल (intervals) पर आफिस जाने की बाध्यता से एक प्रकार का नियन्त्रण रहता है; (3) परिवीक्षा अधिकारी को प्रोबेशनर से निकटतम परिचय प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिलता है।

प्रोबेशनर

पूरे भारत को लेकर आंकड़ों[1] के विश्लेषण से यह देखा जा सकता है कि अधिकांशतः किस प्रकार के अपराधियों को प्रोबेशन पर मुक्त किया जाता है। 1975 के आंकड़ों के अनुसार 10,015 प्रोबेशनरों में से (9,303 पुरुष, 712 महिलाएँ) 14·7% 16 वर्ष से कम, 42·9% 16–21 आयु के, 24·7 % 21–30 आयु के, 9·9% 31–40 आयु के, 6·4% 41–60 आयु के तथा 1·4% 60 वर्ष से अधिक आयु के थे। इससे ज्ञात होता है कि युवा अपराधियों (30 वर्ष से कम) को परिवीक्षा का अधिक लाभ (82·3%) दिया जा रहा है।

भारत में एक प्रोबेशनर औसतन एक वर्ष तक प्रोबेशन पर रहता है। 1975 के आंकड़ों के अनुसार 10,015 प्रोबेशनरों में से 73·3 प्रतिशत को एक वर्ष तक, 22·2 प्रतिशत को 1–2 वर्ष तक, तथा 4·5 प्रतिशत को 2–3 वर्ष तक प्रोबेशन पर छोड़ा गया था।

शिक्षा की दृष्टि से 1975 के आंकड़ों के अनुसार 10,015 प्रोबेशनरों में से 56·1 प्रतिशत अशिक्षित, 38·2 प्रतिशत आठवीं कक्षा तक शिक्षित, तथा 5·7 प्रतिशत आठवीं कक्षा से अधिक पास थे। वैवाहिक स्थिति की दृष्टि से 45·5% विवाहित, 52·7% अविवाहित तथा 1·8% पृथक्कृत (separated) थे, और निर्भरता की दृष्टि से 60·9% आत्म-निर्भर (self-supporting) व 39·1% आश्रित (dependent)।

परिवीक्षा के लाभ व हानियाँ

परिवीक्षा प्रणाली से न केवल अपराधी को किन्तु समाज को भी लाभ प्राप्त

[1] *Social Defence*, April 1979, 61–63.

होता है। जेल के वातावरण मे न रहकर समुदाय मे रहने से सामान्य जीवन बिताने के अवसर मिलने के कारण अपराधी मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है। दूसरा, इस प्रणाली मे जो व्यक्तिगत देखभाल की सम्भावना है वह जेल मे सम्भव नही है। तीसरा, अपराधी का सामाजिक व आर्थिक जीवन भी पहले ही की तरह बना रहता है। यदि वह पढ रहा था तो पढाई चलती रहती है और यदि कोई नौकरी कर रहा था तो वह भी चालू रहती है। बिना किसी रुकावट के अपनी आर्थिक क्रियाओ को निभाकर वह अपने परिवार के सदस्यो का भी पालन-पोषण करता रहता है। चौथा, अपराधी को अपनी आदतें बदलने की भी आवश्यकता नही रहती जिससे उसमे किसी प्रकार की कुण्ठा उत्पन्न होने का डर रहे। जेल मे अपराधी को खाने, सोने, कार्य करने तथा दूसरो से बातचीत करने आदि तक की नयी आदतें डालनी पडती हैं जिससे वह अपना समायोजन कठिन पाता है। पाँचवाँ, परिवीक्षा पर मुक्त होने से अपराधी बन्दीकरण के सामाजिक कलंक से बचा रहता है तथा उसे समाज मे भी लज्जित नही होना पडता, यह व्यक्ति के पुन स्थापन पर निश्चित रूप से प्रभाव डालता है। छठा, जेल जाने से व्यक्ति मे बदले की भावना उत्पन्न होती है तथा उसके बच्चो को भी शर्म उठानी पडती है, परिवीक्षा पर मुक्ति इन हानियो को रोकती है।

समाज के लाभ की दृष्टि से परिवीक्षा प्रणाली आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभ दायक है। इसमे प्रत्येक प्रोबेशनर के ऊपर किया जाने वाला व्यय जेल मे रखे गये प्रत्येक कैदी पर किये जाने वाले व्यय से बहुत कम होता है। 1965 के आँकडो के अनुसार जब भारत मे एक कैदी पर औसतन 337 रुपये प्रतिवर्ष व्यय हो रहा था एक प्रोबेशनर पर केवल 117 रुपये ही व्यय होता था। 1980 मे यह व्यय प्रतिवर्ष क्रमश 1585 रुपये व 575 रुपये था। इस प्रकार व्यय का अनुपात 3 1 मिलता है। अमरीका मे 1969 मे यह अनुपात 14 . 1 था। दूसरा, यह प्रणाली अपराध के रोकथाम का भी कार्य करती है। धनोपार्जन का कार्य करने वाले सदस्य के जेल मे रहने से उसका पूरा परिवार कभी-कभी ऐसी कठिनाई का सामना करता है कि या तो उसकी पत्नी अनैतिक जीवन अपनाने पर बाध्य होती है या फिर उसकी सन्तान बाल-अपराधी बन जाती है। फिर, भारत मे अधिकाश अपराधी बहुत कम अवधि के लिए जेल मे रखे जाते हैं। 1976 के आँकडो के अनुसार 90% अपराधियो को छह माह से कम अवधि का कारावास दिया गया था। चार या छह महीने मे जेल अपराधी के मूल्य, विचार व व्यवहार बदल पायेगा यह सोचना भी गलत होगा। इसके अतिरिक्त सभी अपराधियो की प्रवृत्तियाँ भी अपराधात्मक (crimmalistic) नही होती और न सभी अपराधी समाज के लिए कोई खतरा (threat) ही होते हैं; अत. उन्हे जेल मे रखने का लाभ भी क्या है ?

कुछ व्यक्ति परिवीक्षा मे बहुत-सी हानियाँ बताते है। उनका कहना है कि प्रोबेशन पर मुक्त होने पर अपराधी उसी पर्यावरण मे जाता है जिसमे उसने अपराध किया था। अत जो पर्यावरण व्यक्ति को अपराधी बनाता है वह ही उसे सुधारने मे

कैसे सफल होगा ? दूसरा प्रोबेशन पर मुक्त होने से अपराधी किसी पीड़ा या कष्ट का अनुभव नहीं करता तथा क्योंकि कष्ट सहन ही प्रतिरोधन (deterrence) का कार्य करता है, इस कारण दु:खानुभव के अभाव में परिवीक्षा निवारक वस्तु का कार्य नहीं करती जिससे समाज को समभावी अपराधियों से सुरक्षा नहीं मिलती। तीसरा, परिवीक्षा-अधिकारी प्रोबेशनर की वास्तविक रूप से वह व्यक्तिगत देख-भाल नहीं करता जैसी सैद्धान्तिक रूप से बतायी जाती है। अत: प्रोबेशनर पर नाम-मात्र का ही नियन्त्रण रहता है। चौथा, गम्भीर अपराधी भी अपना प्रभाव प्रयोग कर अधिकांशत: स्वयं को परिवीक्षा पर मुक्त करवा लेते हैं।

उपर्युक्त तर्कों में कोई युक्तता नही है। प्रोबेशन पर मुक्त होने पर परिवार और समाज में रहने पर भी परिवीक्षा-अधिकारी के निरीक्षण में रहने तथा शर्तों पर छोड़े जाने के कारण अपराधी का पर्यावरण बदला रहता है । फिर निर्धारित शर्तें क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करती है, अत: यह भी नही कहा जा सकता है कि परिवीक्षा कष्ट और वेदना उत्पन्न नही करती। शर्तों का उल्लंघन अपराधी को निलम्बित दण्ड दिला सकता है, यह तथ्य अपराधी को नियन्त्रण में ही रखता है। इसके अतिरिक्त अपराधी पकड़ायी (apprehension), मुकदमे और दोष-सिद्धि (conviction) सम्बन्धी लज्जा, कलंक, बदनामी और अपमान भी सहता है जो भी उसके लिए एक मानसिक दण्ड ही है। यदि परिवीक्षा-अधिकारी अपने कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक नही निभाते तथा सामाजिक छानबीन व निरीक्षण में रुचि कम लेते हैं तो यह प्रोबेशन प्रणाली में दोष नही किन्तु प्रशासन प्रणाली क्रियान्वित करने का दोष है। फलत: परिवीक्षा सेवाएँ स्वयं में हर प्रकार से अपराधी के सुधार में उपयुक्त हैं।

परिवीक्षा की सफलता

राल्फ, शेल्डन और ग्लूक, कार व हालपर्न (Halpern) आदि ने अमरीका में परिवीक्षा की सफलता का अध्ययन किया है। हालपर्न[1] ने 70 प्रतिशत केसों में और राल्फ[2] ने 75 प्रतिशत केसों में परिवीक्षा को अपराधियों के सुधार में सफल पाया। 1939 में अमरीका के महान्यायवादी (Attorney General) द्वारा अध्ययन किये गये 19,256 प्रोबेशन सम्बन्धी केसों में से 61 प्रतिशत केस सफल पाये गये; शेष 39 प्रतिशत में से 21 प्रतिशत ने निर्धारित शर्तों का उल्लंघन किया तथा 18 प्रतिशत ने पुन: अपराध किया। शेल्डन और ग्लूक[3] ने 1938 में 1802 प्रोबेशनर लड़कों के अध्ययन से 42·1 प्रतिशत केसों में परिवीक्षा को सफल पाया। कार (Carr)[4] ने

[1] Halpern, quoted by Robert G. Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Co., 1956, 453.

[2] Ralph W. England Jr., *Journal of Criminal Law and Criminology*, March-April 1957, 667.

[3] Sheldon and Glueck, *Juvenile Delinquents Grow up*, Commonwealth Fund, 1940, New York, 153-61.

[4] Lowell J. Carr, *Delinquency Control*, Harper and Brothers, New York, 1950, 249.

1943 मे मिशीगन मे 230 प्रोबेशनरो के अध्ययन मे 53·9 प्रतिशत केसो को सफल पाया। काल्डवेल[1] ने 403 प्रोबेशनरो के अध्ययन मे पाया कि 83 5 प्रतिशत प्रोबेशनरो ने परिवीक्षा-अवधि समाप्त होने के उपरान्त भी पुन कोई अपराध नही किया तथा केवल 16·4 प्रतिशत ने पुन अपराध किया। काल्डवेल ने रिहाई के उपरान्त (Post-release) व्यवहार मे 12 वर्ष की अवधि ली थी जिससे परिवीक्षा की सफलता स्पष्ट होती है।

भारत मे 1975 मे प्रोबेशन पर मुक्त किये गये 10,015 प्रोबेशनरो मे से (9,067 प्रोबेशन एक्ट के अन्तर्गत छूटे हुए, 841 बाल-अधिनियमो के अन्तर्गत तथा 107 अन्य अधिनियमो के अन्तर्गत मुक्त हुए) केवल 2 5 प्रतिशत केसो मे (339 केस) ही परिवीक्षा-अवधि समाप्त होने के पूर्व ही प्रोबेशन समाप्त (revoke) किया गया था। 339 केसो मे से 149 केसो मे बॉण्ड की शर्तों के उल्लघन के कारण तथा 190 केसो मे परिवीक्षा-अवधि मे पुन अपराध करने के कारण परिवीक्षा समाप्त की गयी थी। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे देश मे परिवीक्षा 95 प्रतिशत से अधिक केसो मे सफल मानी जा सकती है।

कुछ विचारक यह मानते हैं कि भारत मे प्रोबेशनरो के लिए अनुवर्ती क्रिया-कलाप प्रणाली (follow-up system) के अभाव मे यह कहना गलत है कि परिवीक्षा 95% केसो मे सफल कही जा सकती है। बहुत से उल्लघन-सम्बन्धी केस पुलिस के नोटिस मे ही नही आते। यद्यपि इस आलोचना मे तर्क है परन्तु उपलब्ध सुधारात्मक सेवाओ मे से परिवीक्षा प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली मिलती है जिसमे दोष कम और लाभ अधिक मिलते हैं। इस कारण परिवीक्षा सेवाओ को और प्रभावी बनाकर इसे अपराधियो के सुधार के लिए अधिक उपयुक्त बनाया जा सकता है।

परिवीक्षा की प्रभावशीलता

प्रश्न यह है कि परिवीक्षा को अधिक प्रभावशाली कैसे बनाया जाये ? इस सम्बन्ध मे मेरा यह विचार है कि सर्वप्रथम हमे परिवीक्षा की अवधारणा को ही बदलना होगा। परिवीक्षा को 'दण्ड-निलम्बन' क्यो माना जाये ? जेल मे रहने वाले कैदी द्वारा जेल-नियमो के उल्लघन पर उसे जेल-अधिकारी ही दण्ड देते हैं। अत. परिवीक्षा प्रणाली मे परिवीक्षा-अधिकारी परिवीक्षा शर्तों के उल्लघन की रिपोर्ट न्यायालय को क्यो करे तथा उस पर पुराने अपराध के लिए स्थगित किये दण्ड को थोपने के स्थान पर बॉण्ड की शर्तों की अवहेलना के लिए क्यो न उसे दण्ड दिया जाये ? हमारा विचार है कि परिवीक्षा को बन्दीकरण का प्रतिस्थापक (substitute) समझना चाहिए तथा उसे स्वय मे ही एक सुधार प्रणाली मानकर परिवीक्षा-अधिकारी को शर्त-उल्लघन के लिए दण्ड देने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

अवधारणा मे इस परिवर्तन से परिवीक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था मे भी

[1] Morris G. Caldwell, *Review of New Type of Probation Study made in Alaband*, Federal Probation, June 1951.

परिवर्तन आवश्यक होगा। परिवीक्षा को अन्य किसी विभाग (समाज-कल्याण, जेल विधि आदि) से संलगित करने के स्थान पर उसके लिए पृथक् निदेशालय ही स्थापित करना चाहिए जिससे अधिकारीगण प्रारम्भिक पहल लेकर प्रोबेशनरों के लिए कुछ नये सुधारात्मक उपाय अपना सकें। नई प्रशासनिक व्यवस्था में परिवीक्षा-अधिकारी तथा मुख्य परिवीक्षा-अधिकारी की योग्यताओं व उपाधियों को कुछ महत्त्व देना होगा। हमारा विचार है कि परिवीक्षा-अधिकारी के लिए विधि (law) की डिग्री को एक आवश्यक उपाधि न मानकर अयोग्यता ही माननी चाहिए क्योंकि कानून की डिग्री के कारण विधिमूलक दृष्टिकोण अपनाने से व्यक्ति के विचार अशिथिल (rigid) हो जाते हैं तथा वह हर केस में वैयक्तिक उपाय न अपनाकर वैधानिक पूर्वोदाहरणों (precedents) को महत्त्व देता है। यदि हम परिवीक्षा को व्यक्ति विषयक कार्य (case work) मानते हैं तो नम्यता व लचीलापन (flexibility) इसका आवश्यक अंग है और विधि डिग्री लचीलेपन में निश्चित रूप से बाधक है क्योंकि वैधानिक दृष्टिकोण अपराधी को 'कुसमंजित व्यक्तित्व' (maladjusted personality) न मानकर केवल 'कानून-उल्लंघनकर्ता' ही मानता है। इसी प्रकार जब तक राज्य-स्तर पर मुख्य परिवीक्षा-अधिकारी की स्थिति जेल-महानिरीक्षक की स्थिति के समान नहीं होगी, वह परिवीक्षा की सफलता एवं विकास में कभी रुचि नहीं लेगा।

परिवीक्षा-अधिकारी को अधिक कार्य होने के कारण हम अंशकालिक परिवीक्षा-अधिकारियों की नियुक्ति के भी पक्ष में हैं। परन्तु इनके लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें कुछ प्रशिक्षण देने के उपरान्त ही स्थानीय परिस्थितियों की जानकारी के आधार पर परिवीक्षा-अधिकारी बनाया जाये। सामाजिक छानबीन को भी हम प्रत्येक केस के लिए आवश्यक मानते हैं। इसके अतिरिक्त हम प्रोबेशन-अवधि को निर्धारित करने के पक्ष में भी नहीं हैं। अनिर्धारित अवधि ही प्रोबेशनर के सुधार को अधिक सम्भव बनायेगी। यदि परिवीक्षा-अधिकारी को विश्वास हो जाये कि प्रोबेशनर सुधर चुका है और आगे उसे निरीक्षण की आवश्यकता नहीं है तो क्यों पूर्व-निश्चित अवधि को निरन्तर रखा जाये? इसके विपरीत यदि कोई प्रोबेशनर निश्चित अवधि में भी नहीं सुधरता तो क्यों न उसकी प्रोबेशन-अवधि बढ़ाई जाये?

अन्त में, हम परिवीक्षा निदेशालय में अनुसन्धान कोष्ठ (research-cell) आरम्भ करना भी आवश्यक मानते हैं जिससे समय-समय पर परिवीक्षा सेवाओं की सफलता आँकी जा सके।

पैरोल व्यवस्था

पैरोल वह व्यवस्था है जिसमें कुल दण्ड-अवधि का एक निश्चित भाग (अधिकांशतः एक-तिहाई हिस्सा) जेल अथवा सुधारात्मक संस्था में काटने पर अपराधी को अच्छे व्यवहार संधारण करने सम्बन्धी कुछ शर्तों पर समाज में रहने के लिए मुक्त किया जाता है। रिहाई की शर्तों के उल्लंघन पर प्रारम्भिक दण्ड पुनः प्रत्यावर्तित किया जाता है। कुछ व्यक्ति पैरोल को 'सम्बन्ध क्षमा' (conditional

pardon) भी मानते हैं परन्तु सम्बन्ध क्षमा केवल कारावास मे ही नही अपितु अन्य दण्ड-विधियो मे भी मिलती है। इसके अतिरिक्त सम्बन्ध क्षमा मे दोष-सम्बन्धी 'छूट' (guilt remission) भी पायी जाती है जबकि पैरोल मे ऐसी 'छूट' नही मिलती। दोनो के प्रशासकीय सगठन मे भी अन्तर मिलता है, जैसे निरीक्षण और मार्ग-दर्शन की अवधि पैरोल मे सम्बन्ध क्षमा की तुलना मे अधिक होती है।

पैरोल और परिवीक्षा दो अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं। पैरोल मे जब अपराधी को कुछ समय जेल मे अवश्य काटना पडता है, प्रोबेशन मे उसे जेल जाना ही नही पडता। अत पैरोल प्रोबेशन की तुलना मे उपचार का विशुद्ध साधन नही माना जा सकता। प्रोबेशन पर रिहाई के आदेश न्यायालय द्वारा दिये जाते हैं परन्तु पैरोल पर रिहाई एक विशेष स्थापित बोर्ड के आदेशो द्वारा होती है। प्रोबेशन को दण्ड के प्रतिस्थापक (substitute) के रूप मे प्रयोग किया जाता है जबकि पैरोल मे दण्ड-स्थगन नही मिलता। पैरोल-काल मे पैरोली जेल के सरक्षण व मार्ग-दर्शन मे ही रहता है परन्तु परिवीक्षा प्रणाली मे प्रोबेशनर परिवीक्षा-अधिकारी के निरीक्षण में रहता है। दोनो व्यवस्थाओ मे समानता यह मिलती है कि दोनो मे दण्ड के क्लासिकल (classical) सिद्धान्त से अन्तराल मिलता है तथा अपराधी को स्वतन्त्र समुदाय मे रहकर निर्देशन और सहायता के द्वारा अपने विचारो व व्यवहार को परिवर्तित करने का एक और अवसर मिलता है। इस प्रकार दोनो (व्यवस्थाएँ) अपराधी के सुधार की सम्भावना में विश्वास करती है।

पैरोल पर रिहाई की कुछ शर्तों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है विधि-पालक (law-abiding) जीवन बिताना, मादक द्रव्यो एव उत्तेजित पदार्थों के सेवन से दूर रहना, बिना अनुमति के रोजगार न बदलना, अन्य अपराधियो से दूर रहना, बिना आज्ञा शहर न छोडना, किसी प्रकार का हथियार न रखना, जुआ और अन्य दूषित आदतो से अपने को बचाना, किसी कानून का उल्लघन न करना, आश्रितो का पालन-पोषण करते रहना, समय-समय पर निश्चित अधिकारी को रिपोर्ट करना, आदेश मिलने पर बची हुई दण्ड-अवधि काटने के लिए जेल वापस आना, आदि। इन शर्तों के उल्लघन पर पैरोली को पुन न्यायालय मे न भेजकर सीधे जेल मे ही भेजा जाता है जिससे वह शेष दण्ड-अवधि समाप्त करे। ऐसे अपराधियो को दुबारा पैरोल पर रिहा नही किया जाता। यदि पैरोल-अवधि मे पैरोली नया अपराध करता है तो उस पर इस अपराध के लिए अलग मुकदमा चलता है।

पैरोल के उद्देश्य

पैरोल प्रणाली की उत्पत्ति अनेक उद्देश्यो के आधार पर की गयी है। इनमे से प्रमुख हैं . (1) कैदी की दण्ड-अवधि समाप्त होने के उपरान्त समाज मे स्वय के पुन स्थापन की क्षमता ज्ञात करना। (2) कैदी को समय-समय पर अपने परिवार और समाज के साथ रहकर निरन्तर सम्बन्ध स्थापित करने व अपने उत्तरदायित्व निभाने का अवसर देना। (3) उसकी यौन प्रवृत्तियो को पूरा करने के अवसर देकर

उसे पथभ्रष्ट व्यक्ति बनने से रोकना।

इंग्लैण्ड और अमरीका में अपराधियों को पैरोल पर छोड़ने की व्यवस्था आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व आरम्भ की गयी थी। इंग्लैण्ड में यह व्यवस्था 1820 में 'रिहाई के टिकट' (ticket of leave) के रूप में तथा अमरीका में यह 1865 में आरम्भ कर 1898 तक 25 राज्यों में और 1922 तक 45 राज्यों में लागू की गयी थी। इस समय अमरीका में 75% अपराधियों को पैरोल सुविधाएँ प्राप्त हैं।

भारत में यद्यपि अधिकांश राज्यों में सैद्धान्तिक रूप से अपराधियों को पैरोल पर छोड़ने की व्यवस्था है किन्तु वास्तविकता में बहुत कम अपराधियों को इस प्रणाली का लाभ दिया जाता है। यह पैरोल-नियमों में दोषों के कारण नहीं किन्तु केवल जेल-अधिकारियों की अभिनति (bias) व अदूरदर्शिता के कारण ही है। फिर यह भी देखा गया है कि अपराधी को पैरोल पर मुक्त करने का निर्णय उसकी आवश्यकता के आधार पर नहीं परन्तु राजनीतिक आधार पर किया जाता है।

पैरोल की सफलता

अमरीका में पैरोल की सफलता एवं असफलता पर कुछ अध्ययन किये गये हैं। इन अध्ययनों में 10% से 60% केसों में पैरोल-सम्बन्धी शर्तों का उल्लंघन पाया गया है। ग्लूक (Glueck)[1] ने मैसेच्युसेट्स (Massachusetts) सुधारालय से निर्मुक्त 500 वयस्क पुरुष पैरोलीज के अध्ययन में 55.3% केसों में पैरोल शर्तों का उल्लंघन तथा 5·3% केसों में पैरालीज द्वारा नये अपराध करना पाया। इन्होंने 256 अपराधी महिलाओं के एक और अध्ययन में 55% केसों में पैरोल शर्तों का उल्लंघन पाया। रोनाल्ड बीटी (Ronald Beattie)[2] ने 1946–49 के मध्य कैलीफोर्निया में 8,954 पैरोलीज के अध्ययन में 51% केसों में पैरोल शर्तों का उल्लंघन पाया जिनमें से 20% ने नये अपराध किये थे। इन अध्ययनों से यह भी ज्ञात होता है कि पैरोल अधिक-आयु के अपराधियों में कम-आयु के अपराधियों की तुलना में तथा यौन-अपराधियों और हत्यारों में सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध करने वाले अपराधियों की तुलना में अधिक सफल होता है। ग्लूक ने अपने अध्ययनों के आधार पर पैरोल पूर्वकथन तालिका (parole prediction tables) का निर्माण किया है। इसी प्रकार 1928 में बर्जेस (Burgess)[3] ने भी पूर्वकथन अध्ययनों में पाया कि जिन पैरोलीज में 15 से अधिक 'प्रतिकूल तत्त्व' (unfavourable factors), जैसे मलीन कार्य रिकार्ड, पिछला अपराधी जीवन, संस्था द्वारा दिये गये दण्ड अपकृष्ट (deteriorated) पड़ोस में आवास, आदि मिलते हैं उनमें 98.5% केसों में पैरोल

[1] Sheldon Glueck and Eleanor Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, The Commonwealth Fund, New York, 1950, 169.

[2] H. Ronald Beattie, *California Male Prisoners Released on Parole*, Department of Corrections, Sacramonto, 1953, 19.

[3] E. W. Burgess, A. A. Bruce and A. J. Harno, *The Workings of the Indeterminate Sentence Law and the Parole System in Illinois*, Springfield, 1928.

शर्तों के उल्लघन की सम्भावना मिलती है तथा जिनमे पाँच से कम प्रतिकूल तत्त्व मिलते हैं उनमे केवल 24% केसो मे ही उल्लघन की सम्भावना होती है ।

पैरोल को हम 'उदारता' (leniency) नही मान सकते जो खतरनाक अपराधियो की शीघ्र रिहाई की स्वीकृति देती है जबकि वास्तव मे उन्हे पीडा सहन करते रहना चाहिए। इसी प्रकार पैरोल को अपराधियो का 'परिवीक्षण' (supervision) न मानकर अपराधियो का 'मार्गदर्शन' (guidance) मानना होगा क्योंकि 'परिवीक्षण' मे 'आरक्षण' (policing) की भावना मिलती है तथा पैरोल-आफिसर पैरोली को दण्ड के भय के आधार पर नियम-पालन के लिए बाध्य करता है । दूसरी ओर 'मार्ग-दर्शन' मे 'मैत्री भावना अधिक है तथा पैरोल-आफिसर पैरोली को विचार-परिवर्तन के द्वारा नियम-पालन के लिए प्रोत्साहित करता है । इस 'मार्ग-दर्शन' को यदि हम 'परिवीक्षण' भी कहे तो यह परिवीक्षण आरक्षण व पुलिस-कार्य न होकर 'सतर्क परीक्षा' (watchful waiting) ही कहलायेगा जिसमे पैरोल-आफिसर द्वारा सामाजिक कार्यकर्ता के रूप मे अपराधी को उसकी सामर्थ्य की सीमा के अन्दर व्यक्तिगत समायोजन के लिए सहायता दी जाती है ।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि पैरोल के आर्थिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक लाभो को देखते हुए यदि भारत मे कुछ समय के लिए पैरोल-काल मे पैरोलीज के परिवीक्षण का कार्य परिवीक्षा-अधिकारियो को दे दिया जाये तो अधिक उपयुक्त व प्रयोजनीय होगा क्योकि परिवीक्षा अधिकारी पहले ही से इस कार्य मे लगे हुए होते हैं तथा उन्हे विशेष प्रशिक्षण देने की भी आवश्यकता नही होगी । यह सही है कि इससे परिवीक्षा-अधिकारियो का कार्यभार बढ जायेगा परन्तु परिवीक्षा-अधिकारियो की सख्या बढाने तथा परिवीक्षा सेवाओ के पुन. सगठन की आवश्यकता पर हम पहले ही बल दे चुके हैं ।

सातवाँ अध्याय

उत्तर-रक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम

(AFTER-CARE SERVICES)

उत्तर-संरक्षण सेवाएँ

अपराधियों के लिए उत्तर-संरक्षण सेवाओं (after-care services) का महत्त्व उतना ही माना जाता है जितना बीमार व पागल व्यक्तियों के संरक्षण की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार लम्बी अवधि के उपरान्त एक रोगी के अस्पताल छोड़ने पर डाक्टर उसके चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुधार के लिए विभिन्न औषधियों के प्रयोग के लिए उसे निर्देश देता है तथा बहुत कार्य न करने के लिए उस पर प्रतिबन्ध लगाता है, अथवा जिस प्रकार एक पागल व्यक्ति को बहुत समय तक पागलखाने में रखने के पश्चात् तुरन्त उसे मुक्त न करके शनैः-शनैः समाज में व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने दिया जाता है जिससे वह अपना अच्छी तरह समायोजन कर सके तथा पुरानी बातों को दुहरा कर फिर मानसिक सन्तुलन न खो बैठे, उसी प्रकार जो अपराधी एक लम्बी अवधि तक जेल में रहता है उसे रिहा होने पर बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जेल में रहने से उसके जीवन पर जो कलंक (social stigma) लग जाता है उसके कारण लोग उससे किनारा करते हैं तथा उसे सन्देह व अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। लम्बी अवधि वाले बन्दी के अतिरिक्त, थोड़े समय तक जेल में रहने वाला बन्दी भी इस कारण कुछ समस्याओं का सामना करता है क्योंकि वह अपने विरोधी तथा शत्रु के प्रति अपनी घृणा, द्वेष व शत्रुता भूल नहीं पाता। इन समस्याओं का शीघ्र ही निवारण न कर पाने पर अपराधी निश्चय ही पुनः अपराध करता है। अतः समस्याओं का सामना करने में सहायता करना ही उत्तर-संरक्षण सेवाओं का प्रमुख उद्देश्य होता है; अथवा उत्तर-संरक्षण कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसके द्वारा हम बन्दी को क्रमशः जेल के बन्धनयुक्त वातावरण से स्वस्थ नागरिक जीवन की ओर ले जाते हैं ताकि वह समाज में पुनःस्थापित हो जाये।

मोटे तौर पर उत्तर-संरक्षण सेवाएँ वे सेवाएँ हैं जो मुक्त बन्दियों के पुनर्वास के लिए व्यवस्थित की जाती हैं। परन्तु यह परिभाषा बहुत संकीर्ण है क्योंकि इसके अनुसार उत्तर-संरक्षण का कार्य जेल से छूटने के बाद ही आरम्भ होता है जबकि सही अर्थ के अनुसार यह कार्य अपराधी के जेल में प्रवेश से ही शुरू हो जाना चाहिए। उदाहरणतया, मान लीजिए कोई अपराधी जेल जाने से पहले कुछ रुपयों पर

अपनी जमीन गिरवी रखता है। यदि समय पर यह जमीन न छुड़वाई गई तो उसके परिवार के सदस्यो के लिए आर्थिक हानि उत्पन्न हो सकती है। इस कर्ज को चुकाने मे सहायता करके परिवार के सदस्यो के लिए आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना उत्तर-सरक्षण सेवाओ के अन्तर्गत आना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि उत्तर-सरक्षण हर अपराधी को रक्षा प्रदान करने के लिए है। उत्तर-सरक्षण सेवाएँ मुख्यत. दो प्रकार के अपराधियो के लिए हैं (1) उनके लिए जो किसी सुधारात्मक सस्था मे कुछ समय रह चुके हैं और वहाँ उनकी देखभाल हुई है तथा वे कोई शिक्षा प्राप्त कर चुके है; तथा (2) उनके लिए जिनको वास्तव मे किसी सामाजिक, मानसिक अथवा शारीरिक असुविधा व कमी के कारण सरक्षण की आवश्यकता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर-सरक्षण प्रोग्राम बाधाहित (handicapped) व्यक्ति के उस पुनर्वास के कार्यक्रम की परिसमाप्ति है जो किसी सुधारवादी सस्था मे आरम्भ किया गया है।

उद्देश्य

उत्तर-सरक्षण सेवाओ के मुख्यत दो उद्देश्य हैं (क) अपराधी की सहायता, तथा (ख) परिवार और समुदाय का ऐसा निर्माण जिसमे वे जेल व सुधारवादी सस्था से छूटने के उपरान्त अपराधी के पुनर्वास मे सहायता कर सकें। अपराधी की सहायता तीन प्रकार से दी जा सकती है (i) उसके व्यक्तिगत समायोजन मे, (ii) उसके व्यवसाय सम्बन्धी पुनर्वास मे, तथा (iii) उसको समाज मे फिर से बसाने मे।

व्यक्तिगत समायोजन की आवश्यकता उन अपराधियो को होती है जिनका कोई घर-बार नही होता है अथवा जिनका घर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा जिनका पडोस शत्रु होता है। फिर, व्यक्तिगत समायोजन की आवश्यकता इस कारण भी पडती है कि (1) न्यायालय द्वारा दण्ड मिलने से पूर्व जो स्थान व्यक्ति प्राप्त किये हुए था वह अन्य किसी के द्वारा भर दिया गया हो, (2) लम्बी अवधि तक अनुपस्थिति के कारण उस व्यक्ति की अथवा उसकी सेवाओ की आवश्यकता ही समाप्त हो गई हो, (3) समाज उसके पुनर्वास के लिए तैयार न हो, तथा (4) छूटने के पश्चात् वह इस स्थिति मे न हो कि अपने लिए सुरक्षा प्रदान कर सके।

आर्थिक पुनर्वास मे भी अपराधी को आजीविका के साधन जुटाने के लिए विभिन्न प्रकार की सहायता की जा सकती है। उसे नौकरी दिलवायी जा सकती है, किसी रोजगार के लिए सिफारिश-पत्र दिया जा सकता है, तथा किसी धन्धे के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जा सकता है। सामाजिक पुनर्वास मे पुलिस की परेशानी से उसे बचाया जा सकता है, आवश्यकता पडने पर कानूनी सहायता दी जा सकती है तथा घर-बार न होने पर उसे उत्तर-सरक्षण होस्टल मे रखा जा सकता है। प्रो० काली प्रसाद ने भी उत्तर-सरक्षण के उद्देश्यो पर बल देते हुए कहा है कि मुक्त बन्दी एक घाव (trauma) अथवा व्यक्तित्व की एक मनोवैज्ञानिक हानि से अपना जीवन आरम्भ करता है, वह समाज द्वारा दुत्कारे जाने के प्रति सचेत रहता है।

उत्तर-संरक्षण का कार्य है कि उसके इस घाव को ठीक करे, उसमें विश्वास व साहस उत्पन्न करे और समाज को उसे वापस स्वीकार करने के लिए तैयार करे।[1] इस तरह क्योंकि जेल से छूटने के बाद अपराधी आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करता है अतः हम कह सकते हैं कि उत्तर-संरक्षण कार्यक्रम के मुख्य कार्य हैं : (क) बन्दी की सहायता करना जिससे वह स्वयं अपनी सहायता कर सके; तथा (ख) निरीक्षण व देख-रेख द्वारा अपराधी अपने पुनर्वास सम्बन्धी कार्यक्रम की योजना बनाये, इस योजना को कार्यान्वित करे तथा कार्यान्वित योजना का कुछ समय पश्चात् मूल्यांकन करे।

उत्तर-संरक्षण सेवाओं की उत्पत्ति

भारत में उत्तर-संरक्षण कार्य की आवश्यकता का सर्वप्रथम इण्डियन जेल कान्फ्रेन्स ने 1877 में अध्ययन किया था। यह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि भारत में मुक्त बन्दी सहायता समितियों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जेलों से छूटने के उपरान्त यहाँ अपराधियों को समाज में खोई हुई स्थिति प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु इस विचार के उपरान्त भी 1894 में उत्तर प्रदेश में उस समय के जेलों के इन्सपैक्टर जनरल के व्यक्तिगत प्रयत्नों से एक गैर-सरकारी मुक्त बन्दी सहायता समिति स्थापित की गई। इसके बाद 1907 में बंगाल में और 1914 में बम्बई में भी ऐसी समितियाँ प्रारम्भ की गयीं। परन्तु सरकारी समर्थन और सार्वजनिक सहानुभूति के अभाव में इन तीनों समितियों का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाया जिस कारण 1902 में उत्तरप्रदेश की बन्दी सहायता समिति ने और बाद में अन्य दो समितियों ने भी कार्य करना बन्द कर दिया। इसके उपरान्त 1919 में इण्डियन जेल कमेटी ने इन समितियों की स्थापना पर बल दिया। इस कमेटी की यह मान्यता थी कि अपराधी के जीवन में सबसे कठिन व विकराल घड़ी वह नहीं होती जब उसे जेल में बन्द किया जाता है परन्तु उसकी वास्तविक विकट समस्या तो तब आरम्भ होती है जब वह बहुत वर्षों तक जेल में रहने के बाद वहाँ के फाटक से बाहर निकलता है। उसके सामने वह संसार होता है जिसमें उसे चरित्रहीन व मर्यादा-भ्रष्ट समझा जाता है तथा जीवन के साधारण व्यय के लिए भी उसके पास कोई पैसा नहीं होता। इस कमेटी का यह विचार था कि छूटने के बाद 20% अपराधी पुनः अपराध करते हैं जिसका एक मुख्य कारण उनको किसी प्रकार की सहायता न मिलना होता है। इस कमेटी के सुझाव के बाद कुछ राज्य सरकारों ने अपने-अपने राज्यों में मुक्तबन्दी सहायता समितियाँ स्थापित कीं। सबसे पहली समिति मद्रास में 1921 में प्रारम्भ की गई और उसके उपरान्त 1925 में मध्यप्रदेश

[1] 'The released prisoner starts with a trauma, a psychological damage to his personality; he is conscious of having been rejected. After-care has to heal this rejection-trauma, has to restore confidence in the person and also prepare the society to accept him. This is basically a psychological problem which requires a scientific and human approach.' Kali Prasad, *Probation in India*, U.P. Crime Prevention Society, Lucknow, April 1957, 76.

मे, 1927 मे पजाब मे, तथा 1928 मे उत्तर प्रदेश मे। यह सब समितियाँ गैर-सरकारी आधार पर ही कार्य कर रही थी यद्यपि इनमे से कुछ को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता मिलती थी।

राजस्थान में उत्तर-संरक्षण सेवाएँ

राजस्थान मे कोई मुक्त-बन्दी सहायता समिति नही है। समाज-कल्याण की ओर से 1971 तक उदयपुर मे एक उत्तर-रक्षा गृह चलाया जाता था परन्तु आर्थिक कटौती के कारण इसे अब समाप्त किया गया है। अप्रैल 1961 मे राजस्थान के जेलो के इन्सपक्टर जनरल ने अपराधियो को आर्थिक सहायता पहुँचाने हेतु एक बन्दी-कल्याण कोष स्थापित करने की सरकार को योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार एक सैन्ट्रल जेल के काराधीक्षक को एक वर्ष मे 500 रुपये और एक समय मे 25 रुपये खर्च करने के अधिकार देने का प्रस्ताव रखा गया था, जबकि एक उप-जेल के कार्यवाहक को एक वर्ष मे 100 रुपये और एक समय मे 5 रुपये व्यय करने की स्वीकृति थी। यह कोष चन्दो द्वारा व सास्कृतिक समारोहो द्वारा रुपया एकत्रित करके व राज्य सरकार की सहायता से स्थापित किया जाने वाला था। कोष से मुक्त बन्दियो को कोई व्यापार आरम्भ करने के लिए सहायता व उनके आश्रितो को छात्रवृत्ति आदि देने की योजना थी। परन्तु इसके पहले कि राज्य सरकार इस योजना पर कोई निर्णय ले पाती, 1962 मे राजस्थान जेल सुधार आयोग नियुक्त किया गया। अन्य बातो के साथ उसे इस मुक्त-बन्दी सहायता कोष का भी अध्ययन करना था। कमीशन ने इस कोष को विस्तृत करने का सुझाव दिया। इन सुझावो के अनुसार इस कोष मे से अपराधियो को मुक्ति के समय सहायता देने, जेल के अन्दर वेतन कमाने वाले बन्दियो की मदद करने तथा असहाय व निराश्रय बन्दियो के परिवार को सहायता देने की योजना थी।[1] इस कोष के प्रबन्ध के लिए कमीशन ने यह प्रस्ताव किया कि कोष के काराधीक्षक की देख-रेख मे जेल पचायत द्वारा परिचालन किया जाये। इसके हिसाब-किताब का ऑडिटर द्वारा नियमपूर्वक लेखेक्षण (audit) कराया जाये। आय के साधन के प्रति यह कहा गया कि सर्वसाधारण तथा अपराधियो से मिलने वाले रिश्तेदारो द्वारा दिये चन्दो के अतिरिक्त सास्कृतिक कार्यक्रमो द्वारा रुपया इकट्ठा किया जाये, हर बन्दी के वेतन मे से दो पैसा प्रति रुपया काटा जाये व कुल इकट्ठी की गई रकम का 25 प्रतिशत राज्य सरकार द्वारा अशदान दिया जाये। परन्तु अभी तक इन सुझावो का परिपालन नही किया गया है। राज्य मे केवल दो आश्रम-गृह खोले गये हैं—एक पुरुषो के लिए तथा एक महिलाओ के लिए।

गोरे समिति के प्रस्ताव

दिसम्बर 1954 मे भारत सरकार द्वारा एम० एस० गोरे की अध्यक्षता मे

[1] Rajasthan Jail Reforms Commission Report, 1964, 189.

एक उत्तर-संरक्षण समिति नियुक्त की गई जिसे उत्तर-संरक्षण कार्यक्रम के प्रति सुझाव देने थे। इस कमेटी ने वयस्क और बाल-अपराधियों के अलावा भिखारियों, अनाथ, निराश्रय, उपेक्षित और अपचारी बच्चों, विधवाओं, परित्यक्त महिलाओं तथा मानसिक व शारीरिक रूप से अपाहिज व्यक्तियों के संरक्षण की समस्याओं का भी अध्ययन किया। यहाँ हम केवल अपराधियों से सम्बन्धित सुझावों का उल्लेख करेंगे। समिति ने कुल 693 संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित किया और 355 संस्थाओं से साक्षात्कार किया। इनमें से जिन सुधारात्मक संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित किया गया उनकी संख्या क्रमशः 217 व 103 थी।[1] कमेटी ने अक्टूबर 1955 में अपने प्रस्ताव दिये। अपराधियों के व्यवसाय सम्बन्धी पुनर्वास के लिए सुझाव इस प्रकार थे[2]: (1) नौकरियों के लिए सिफारिश पत्र देना, (2) नौकरियाँ दिलवाना, (3) मुक्त वन्दियों की नियुक्ति पर लगे प्रतिवन्धों को दूर कराने का प्रयत्न करना, (4) छोटे कर्ज देना, (5) उत्पादक सहकारी संस्थाएँ स्थापित करना, तथा (6) छोटे पैमाने के उद्योग शुरू करना।

सामाजिक पुनर्वास से सम्बन्धित सुझाव इस प्रकार थे : (1) उत्तर-संरक्षण होस्टल खोलना; (2) प्रदर्शन, परामर्श व रक्षा की सुविधाएँ पर्याप्त करना; तथा (3) कानूनी सहायता जुटाने का प्रवन्ध करना।

व्यवस्था सम्बन्धी ढाँचे (organisational structure) के प्रति यह कहा गया कि केन्द्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय परामर्श कमेटी स्थापित की जाये जो देश में उत्तर-संरक्षण सेवाओं की योजना बनाये व उनकी व्यवस्था करे तथा विभिन्न राज्यों में संरक्षण सेवाओं में समन्वय स्थापित करे। राज्य स्तर पर भी राज्य परामर्श कमेटी होनी चाहिए जिसका कार्य राज्य में संरक्षण सेवाओं की व्यवस्था करना, केन्द्रीय कमेटी की योजनाओं को अभिपूर्ण करना व राज्य के विभिन्न जिलों में पाई जाने वाली संरक्षण समितियों में समन्वय स्थापित करना होगा। सबसे नीचे स्तर पर प्रोजेक्ट कमेटी होगी जो स्थानीय स्तर पर संरक्षण सेवाओं की व्यवस्था करेगी।

इसके अतिरिक्त गोरे कमेटी ने दो प्रकार की इकाइयों की स्थापना का भी सुझाव दिया, एक 'ए' श्रेणी की इकाई और दूसरी 'बी' श्रेणी की इकाई। 'ए' श्रेणी के कार्य निम्न बताये गये : (1) मुक्ति से पहले व उपरान्त उत्तर-संरक्षण सेवाओं का प्रवन्ध, (2) मुक्त वन्दियों के लिए थोड़े समय के लिए आश्रय का उपाय करना, तथा (3) हर इकाई को 5000 रुपये प्रतिवर्ष व्यय करने का अधिकार देना। 'बी' श्रेणी इकाई के भी यही कार्य बताये गये। केवल इनको 'ए' श्रेणी इकाई की तुलना में स्थायी आधार पर मुक्त वन्दियों के आश्रय का प्रवन्ध करने के लिए होस्टल खोलना था। हर होस्टल में 300 व्यक्तियों तक रखने की सुविधाएँ प्रदान करने का सुझाव था। आरम्भ में तो इन इकाइयों की संख्या सीमित बताई गई थी परन्तु अन्त

[1] M. S. Gore, *Report of the Advisory Committee on After-Care Programmes*, Vol. II, Central Social Welfare Board, Government of India, Delhi, 1955, 7.

[2] *Ibid.*, 236-44.

मे हर जिले मे एक 'ए' श्रेणी की इकाई और एक 'बी' श्रेणी की इकाई का सुझाव था। वित्त व्यवस्था के प्रति गोरे कमेटी ने यह सुझाव दिया कि केन्द्र और राज्य स्तरो पर गृह-मन्त्रालय, शिक्षा-मन्त्रालय तथा वाणिज्य-मन्त्रालय रुपये देंगे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड भी रुपया देगा। गोरे कमेटी के इन सुझावो के आधार पर बहुत कम राज्यो ने सरक्षण की योजनाएँ बनाई है। यद्यपि उत्तर-सरक्षण सेवाओ की आवश्यकता पर सभी बल देते है परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध मे कोई अधिक कार्य नही किया गया है।

उत्तर-सरक्षण सेवाओ को प्रभावशाली बनाने के सुझाव

भारत मे वर्तमान सेवाएँ 'उत्तर-सरक्षण' (after-care) सेवाएँ नही हैं परन्तु वास्तव मे जेल से छूटने पर सहायता सम्बन्धी अथवा 'उन्मुक्ति सेवाएँ' (aid on discharge) हैं। दोनो के उद्देश्यो व सगठनो मे काफी अन्तर है। यद्यपि अपराधियो के लिए जेल से छूटने पर उन्मुक्ति सहायता की भी आवश्यकता है परन्तु उत्तर-सरक्षण प्रोग्राम का सगठन अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध मे हमारे निम्न सुझाव सहायक हो सकते हैं .

(1) ये सेवाएँ मुख्यत' चार वर्ष से अधिक कारावास वाले लम्बी अवधि वाले कैदियो (long-termers) के लिए ही होनी चाहिए।

(2) हर राज्य मे मुक्त बन्दी सहायता समिति (Discharged Prisoners Aid Society) स्थापित करने के साथ केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रीय मुक्त बन्दी सहायता संस्था (National Discharged Prisoners Aid Association or NDPAA) की भी स्थापना करनी चाहिए। यह सस्था समन्वयी (coordinating), नीति-निर्माण (policy-making) और रुपया-वितरण करने वाली परिषद् का कार्य करेगी।

(3) प्रत्येक जेल मे जेल-कल्याण अधिकारी (Prison Welfare Officer) नियुक्त करना होगा जो मुक्त बन्दी सहायता समिति (D P A S) को हर उत्तर-सरक्षण की आवश्यकता वाले कैदी के लिए प्रस्ताव भेजता रहेगा। जेल-कल्याण अधिकारी राष्ट्रीय मुक्त बन्दी सहायता द्वारा ही नियुक्त होने चाहिए तथा उनका उत्तरदायित्व भी इसी सस्था के प्रति होना चाहिए।

(4) ये सेवाएँ ऐच्छिक (voluntary) स्तर पर कम और सरकारी स्तर पर अधिक सगठित की जानी चाहिए क्योंकि ऐच्छिक एजेंसियो को हमारे समाज मे वित्तीय (financial), कार्मिक (personnel) और प्रशासनिक (administrative) समस्याओ का सदा सामना करना पडता है।

(5) इन समितियो मे कार्य करने के लिए पेशेवर सामाजिक कार्यकर्ताओ (professional social workers) के प्रशिक्षण की सख्त आवश्यकता होगी। सरकार को इस प्रशिक्षण के लिए प्रोत्साहन देना होगा।

(6) मुक्त बन्दी होस्टल (hostels) खोलने चाहिए जहाँ चुने हुए व्यक्तियो को ही रखा जाना चाहिए। पुरुषो और महिलाओ के लिए अलग-अलग होस्टल होने

चाहिए। इन होस्टलों में प्रवेश एक विशेष कमेटी द्वारा किया जाना चाहिए।

(7) उत्तर-संरक्षण कार्य समाज कल्याण विभाग के परिवीक्षण (supervision) में रहना चाहिए।

(8) लम्बी अवधि वाले कैदियों को घर जाने की छुट्टी (home-leave) दी जानी चाहिए। यह पैरोल के अतिरिक्त सुविधा होगी। यह छुट्टी कैदियों को खेती की देखभाल करने, सम्भावी नियोक्ता (potential employer) के साथ सम्पर्क रखने तथा घरेलू जीवन के पुनर्गठन की सुविधा देगा। कारावास अवधि के अन्तिम छह महीनों में यह छुट्टी 15 दिन की होनी चाहिए।

(9) समय-समय पर राज्य मुक्त वन्दी सहायता समितियों को व राष्ट्रीय संस्था को अनुसन्धान करके अपनी कार्यप्रणाली में दोष दूर करने चाहिए।

आठवाँ अध्याय

बाल-अपराध
(JUVENILE DELINQUENCY)

बाल-अपराध का अर्थ

बाल-अपराध का अर्थ (क) आयु, तथा (ख) व्यवहार की प्रकृति के आधार पर बताया जा सकता है। आयु की दृष्टि से मुख्यतया 7 और 16 वर्ष के मध्य के अपराध करने वाले व्यक्ति को बाल-अपराधी माना गया है। 7 वर्ष से कम वाले बच्चों को उनके किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता। यदि वे अपराध भी करते हैं तो भी उन्हें कम बुद्धि के कारण सही और अनुचित कार्य में भेद न समझने तथा कार्य के परिणाम को न सोचने की वजह से दण्ड नहीं दिया जाता। यद्यपि निम्नतम आयु सीमा विभिन्न देशों में एवं भारत के विभिन्न राज्यों में एक जैसी ही निश्चित है किन्तु अधिकतम आयु-सीमा इस प्रकार निश्चित नहीं है। जब अमरीका के अधिकतर राज्यों में यह 18 वर्ष है, इंग्लैण्ड में 17 वर्ष है, तो जापान में 20 वर्ष है। भारत में भी यद्यपि लड़कों और लड़कियों दोनों के लिए उत्तरप्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि अधिकतर राज्यों में यह 16 वर्ष है परन्तु बंगाल, बिहार जैसे कुछ राज्यों में यह 18 वर्ष है। राजस्थान, असम, कर्नाटक आदि जैसे कुछ राज्यों में यह लड़कों के लिए 16 वर्ष तथा लड़कियों के लिए 18 वर्ष है। राज्य में पाये जाने वाले बाल-अधिनियम ही इस अधिकतम आयु की सीमा को निर्धारित करते हैं। आयु में इस प्रकार के अन्तर के कारण बाल-अपराधी को वह अपराध करने वाला व्यक्ति बताया जा सकता है जो देश अथवा राज्य के वैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित आयु से नीचे हो।

व्यवहार की दृष्टि से बर्ट (Burt)[1] तथा ग्लूक (Glueck)[2] आदि के अनुसार बाल-अपराधी न केवल उस बालक को माना जाता है जो कानून की अवहेलना करता है परन्तु उसे भी जिसका आचरण समाज अस्वीकार (disapprove) करता है क्योंकि उसका यह दुर्व्यवहार उसे अपराध के लिए प्रेरित कर सकता है अथवा उसके अपराधी बनने के खतरे को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, ऐसे बच्चों को भी बाल-

[1] Cyril Burt, *The Young Delinquent*, University of London, London, 1955 (4th edition), 15

[2] Sheldon and Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, Harper Bros., New York, 1950, 3.

अपराधी माना जाता है जो घर से भागकर आवारागर्दी करते हैं, स्कूल से बिना किसी उचित कारण के अनुपस्थित रहते हैं, माता-पिता अथवा संरक्षकों की आज्ञा का पालन नहीं करते, चरित्रहीन व निन्दनीय व्यक्तियों के सम्पर्क में पाये जाते हैं, गन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं, व जो अनैतिक और अस्वस्थ क्षेत्रों में घूमते मिलते हैं। इसी प्रकार के आधार पर वाल्टर रेकलेस ने बाल-अपराध को इस प्रकार परिभाषित किया है[1] : 'बाल-अपराध शब्द अपराधी विधि के उल्लंघन पर एवं व्यवहार संरूपण के उस अनुसरण पर लागू होता है जिसे बच्चों व किशोरों में समाज द्वारा अच्छा नहीं समझा जाता।' टप्पन[2], न्यूमेयर[3], माउरेर[4] आदि ने भी बाल-अपराध के अर्थ में बच्चों के इस व्यक्तित्व निर्माण सम्बन्धी व्यवहार पर बल दिया है। परन्तु 1960 में अपराध के नियन्त्रण सम्बन्धी द्वितीय संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस ने यह विचार प्रकट किया कि 'बाल-अपराध' शब्द केवल कानून के उल्लंघन एवं दण्ड-विधान की अवज्ञा तक ही सीमित करना चाहिए। इसमें ऐसे व्यवहार को सम्मिलित नहीं करना चाहिए जो यदि एक वयस्क व्यक्ति करे तो उसे अपराध नहीं माना जाये।[5] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि 'दुर्व्यवहारी बालक' और 'बाल-अपराधी' में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से बाल-अपराध को बालक की आयु, उसके व्यवहार की गम्भीरता व उसके कार्य की पुनरावृत्ति के आधार पर इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : 'राज्य के कानून द्वारा निर्धारित आयु से कम वाले बालक द्वारा कानून का उल्लंघन।'

बाल-अपराध की दर और प्रकृति

समाज में बच्चों द्वारा जितने अपराध होते हैं वे सब पुलिस और न्यायालयों तक नहीं पहुँच पाते। यह माना जाता है कि किये गये कुल बाल-अपराधों में से 2% से भी कम अपराध ही पुलिस के सामने आते हैं; इस कारण भारत में बाल-अपराध की सही मात्रा को मालूम करना सम्भव नहीं है। परन्तु जो आँकड़े सामाजिक प्रतिरक्षा राष्ट्रीय संस्था (National Institute of Social Defence) तथा पुलिस अनुसन्धान ब्यूरो द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किये जाते हैं उनके आधार पर यह

[1] 'The term juvenile delinquency applies to the violation of criminal code and/or pursuit of certain patterns of behaviour disapproved of for children and young adolescents.' Walter G. Reckless, *Handbook of Practical Suggestions for the Treatment of Adult and Juvenile Offenders*, Government of India, 1956, 3.

[2] Paul W. Tappan, *Crime, Justice and Correction*, McGraw Hill, New York, 1960.

[3] Neumayer, *Juvenile Delinquency*.

[4] Mowrer, *Disorganisation : Personal and Social*, 102.

[5] Second United Nations Congress, 1960, quoted by Venugopal Roy in a paper on *Juvenile Delinquency : Role of the Police*, presented in a Seminar organised by Central Bureau of Investigation, Government of India, New Delhi, November 1965, 2.

कहा जा सकता है कि प्रति वर्ष भारत में एक लाख और सवा लाख के बीच [क्षेत्रीय विशेष कानूनों (local special laws) के अन्तर्गत 65 और 70 हजार के बीच तथा पैनल कोड (I. P. C) के अन्तर्गत 35 और 40 हजार के बीच] बाल-अपराधियों को पकड़ा जाता है। पिछले कुछ वर्षों के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में प्रति वर्ष बाल-अपराध की दर बढ़ती ही जा रही है।[1]

वर्ष	अनुमानित जनसंख्या (करोड़ों में)	IPC के अन्तर्गत कुल अनुमानित अपराध (हजार)	IPC के अन्तर्गत कुल बाल-अपराध (हजार)	बाल-अपराध का कुल अनुमानित अपराध का प्रतिशत	प्रति एक लाख जनसंख्या के पीछे बाल-अपराध की दर
1966	48 9	794 7	22 0	2 8	4 5
1971	55 1	952 5	26 8	2 8	4 9
1973	57 5	107 7	36 4	3 4	6 3
1975	60 0	116 0	39 8	3 4	6 6
1976	61 3	109 0	37 0	3 4	6 0

बाल-अपराध बढ़ने का यद्यपि प्रमुख कारण बच्चों पर माता-पिता के नियन्त्रण का कम होता जाना तथा बढ़ती हुई महँगाई के कारण निर्धनता का परिवार के सदस्यों के पारस्परिक मधुर सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना है परन्तु पुलिस की बाल-अपराधियों में अधिक रुचि लेकर उन्हें गिरफ्तार करना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

1976 के आँकड़ों के अनुसार न्यायालयों में भेजे गये 1,20,910 बाल-अपराधियों में से 27 8 प्रतिशत को निर्दोष बताकर बरी कर दिया गया, 12 2 प्रतिशत को उनके संरक्षकों को सौंपा गया, 2 3 प्रतिशत को प्रोबेशन पर रखा गया, *3 5 प्रतिशत को बोर्स्टल आदि सुधारवादी संस्थाओं में भेजा गया,* 26 3 प्रतिशत को कारावास दिया गया और शेष 27 9 प्रतिशत केस न्यायालयों में विचाराधीन (pending) थे।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि न्यायालयों द्वारा जो बाल-अपराधियों के लिए दण्ड की विधियाँ अपनायी जाती हैं उनमें दण्ड पर कम और सुधार पर अधिक बल दिया जाता है। 1976 के ही आँकड़ों के अनुसार भारत में बोध किये जाने वाले (cognizable) कुल अपराधों (37,015) में से सबसे अधिक बाल-अपराध महाराष्ट्र (27 1%) व मध्य प्रदेश (20 4%) में और सबसे कम केरल (0 2%) व पंजाब (0 6%) में मिलते हैं।[3] पूरे देश में बाल-अपराधियों द्वारा किये *गये अपराधों में से 57 6% अपराध केवल तीन राज्यों—महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, व*

[1] *Crime in India, 1976*, Bureau of Police Research and Development, New Delhi, 1976, 71

[2] *Ibid*, 80

[3] *Ibid*, 67.

गुजरात—में मिलते हैं। दूसरी ओर दक्षिण भारत के चार राज्यों—केरल, आन्ध्र-प्रदेश, तमिलनाडु व कर्नाटक में 13·5% और बंगाल, बिहार, असम व उड़ीसा के चार राज्यों में 15·9% बाल-अपराध पाये जाते हैं। उत्तरप्रदेश राज्य में, जहाँ भारत में सबसे अधिक जनसंख्या मिलती है, केवल 1·0% अपराध ही मिलते हैं।[1] इन आँकड़ों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की तुलना में बहुत अधिक बाल-अपराध उत्पन्न करते हैं। इसका कारण केवल इन क्षेत्रों में बाल-अपराधियों से निपटने के लिए बाल-अपराध पुलिस केन्द्रों (Police Juvenile Bureaus) का अधिक पाया जाना है।

अपराध की प्रकृति की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अधिकाधिक अपराध चोरी के मिलते हैं और इसके बाद सेंधमारी, झगड़े-फसाद, हत्याएँ व राहजनी आदि के। 1976 के आँकड़ों के अनुसार 37,015 (cognizable under I. P. C.) अपराधों में से 39·4% में चोरी, 15·6% में सेंधमारी, 7·8% में झगड़े-फसाद, 1·6% में हत्याएँ, 1·4% में राहजनी, 1·0% में अपहरण व 0·5% में धोखाधड़ी के अपराध किये थे।[2] क्षेत्रीय विशेष कानूनों के अन्तर्गत 68,262 अपराधों (cognizable under local and social laws) में से 22·4% मद्य-निषेध अधिनियम (prohibition act) के विरुद्ध, 10·4% जुआ अधिनियम के विरुद्ध, 3·2% आबकारी (excise) अधिनियम के विरुद्ध तथा 1·6% रेलवे अधिनियम के विरुद्ध थे।[3] इन आँकड़ों से यह नहीं कहा जा सकता कि बाल-अपराध का मुख्य कारण निर्धनता है। अधिक से अधिक निर्धनता को परिवार के विच्छिन्न सम्बन्धों से सम्बन्धित किया जा सकता है जिनका बच्चे के व्यवहार व व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

बाल-अपराध के लक्षण

भारत में बाल-अपराध के मुख्य लक्षण निम्न मिलते हैं—

(1) लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा अपराध कम मिलता है। कुल बाल-अपराधों में से 5–7% ही अपराध लड़कियों द्वारा किये जाते है। 1966 में जब कुल गिरफ्तार किये गये बाल-अपराधियों में से 6·6% लड़कियाँ थीं, 1971 में यह प्रतिशत 5·3 था, 1974 में 6·1, 1975 में 6·6 तथा 1976 में 7·01 था।[4] सम्भवतः इसका कारण लड़कियों पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। इसके अतिरिक्त लड़कियों के कार्यों का घर में सीमित होना तथा लड़कों में अधिक शारीरिक शक्ति का होना (जो उनके कुछ अपराधों में सहायक सिद्ध होती है) भी इस अन्तर के कारण बताये जा सकते हैं।

[1] *Ibid.*
[2] *Ibid.*, 64.
[3] *Ibid.*, 72.
[4] *Ibid.*, 75.

(2) बाल-अपराध किशोरावस्था मे अधिक मिलता है। यदि हम बाल-अपराधियो को आयु के आधार पर विभाजित करके उनको 7–12, 12–14, 14–16 और 16–18 आयु-समूहो में रखें तो हमें 14–16 वाले आयु-समूह में अधिक अपराध मिलेगा। 1976 के आँकडो के अनुसार कुल 1,33,973 बाल-अपराधियो में से, 14·7% 7–12 आयु-समूह में, 18 0% 12–16 आयु-समूह में, 14 9% 16–18 आयु-समूह में तथा 52·4% 18–21 आयु-समूह मे मिले।[1] 1956 मे बम्बई, पूना और अहमदाबाद में हन्सा सेठ द्वारा अध्ययन किये गये बाल-अपराधियो में से 40·5 प्रतिशत अपराधी 14–16 आयु-समूह के पाये गये जबकि 7–10 और 11–13 आयु-समूह में केवल 16 5 प्रतिशत और 35 8 प्रतिशत ही मिले।[2] लखनऊ और कानपुर मे (1959) वर्मा द्वारा अध्ययन किये गये 200 बाल-अपराधियो में से 38 7 प्रतिशत बाल-अपराधियो को 14–16 आयु-समूह मे पाया गया।[3] गोयल द्वारा उत्तर प्रदेश के पाँच कावल (KAVAL) नगरो मे 500 बाल-अपराधियो मे से बहुत अधिक किशोरावस्था के पाये गये।[4] रटनशा (Ruttonsha) के पूना के अध्ययन में भी यही लक्षण पाया गया।[5] सम्भवतया इसका कारण इस आयु के बच्चो पर कम नियन्त्रण तथा उन्हे कुछ अधिक स्वतन्त्रता का मिलना है।

(3) अपराध की प्रकृति का अपराधी की आयु से गहरा सम्बन्ध है। कुछ अपराधो मे शारीरिक शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है जिस कारण ऐसे अपराध अधिक आयु वाले बच्चो मे ज्यादा ही मिलते हैं।

(4) ग्रामीण क्षेत्रो मे बाल-अपराध की समस्या इतनी भीषण नही है जितनी नगरीय क्षेत्रो में है। फिर, बड़े शहरों (जैसे मद्रास, दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, कलकत्ता, कानपुर आदि) मे बाल-अपराध की सीमा छोटे शहरो की अपेक्षा कही अधिक है।

(5) बाल-अपराध मुख्यत निम्न आर्थिक और सामाजिक वर्गों मे अधिक मिलता है। हन्सा सेठ के अध्ययन मे 66 7 प्रतिशत बाल-अपराधी निर्धन परिवारो के सदस्य पाये गये।[6] वर्मा के अध्ययन मे 81.6 प्रतिशत बाल-अपराधियो की पारिवारिक आय 100 रुपये माह से कम थी।[7] 1976 के भारत के आँकडो के अनुसार 77 1 प्रतिशत बाल-अपराधी 150 रुपये प्रति माह आय वाले परिवारो के

[1] *Ibid*, 76

[2] Hansa Seth, *Juvenile Delinquency in an Indian Setting*, Popular Book Depot, Bombay, 1961, 133

[3] S C Verma, quoted by Sushil Chandra in *Sociology of Deviation in India*, Allied Publishers, Bombay, 1967, 36

[4] See *Social Defence*, April 1968, Vol III, No 12, 18–22 The KAVAL cities are, Kanpur, Allahabad, Varanasi, Agra and Lucknow.

[5] *G. N Ruttonsha, Juvenile Delinquency and Destitution in Poona, Deccan College Series*, 1947, 46

[6] Hansa Seth, *op. cit*, 243

[7] S C. Verma, quoted by Sushil Chandra, *op cit*, 54.

सदस्य थे ।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक वातावरण की वाल-अपराध में मुख्य भूमिका है ।

(6) अधिकतर किशोर-अपराध समूह बनाकर किये जाते हैं । अमरीका में शा और मैक्के ने 90 प्रतिशत अपराधों में और ग्लूक व ग्लूक ने 70 प्रतिशत अपराधों में पाया कि अपराध में कोई न कोई साथी अवश्य होता है । जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों में भी ऐसे ही परिणाम मिलते हैं ।[2] इन सभी अध्ययनों में प्रत्येक अपराधी केस में औसतन दो-तीन युवक फँसे हुए पाये गये हैं । इन अध्ययनों ने यह भी सिद्ध किया है कि यद्यपि 20 वर्ष की आयु तक अपराधी साथियों से मिलकर अपराध करना पसन्द करते है परन्तु जैसे-जैसे वे बड़े होते जाते हैं वे अलग रहकर ही अपराध करना सही समझते हैं । इस आधार पर हम यह ही कहेंगे कि 'सामूहिक स्वरूप' (group structure) वाल-अपराध का एक प्रमुख लक्षण है ।

(7) यद्यपि वाल-अपराधियों द्वारा मित्रों के छोटे-छोटे समूह बनाकर अपराध किया जाता है परन्तु इन छोटे समूहों को बड़े संगठित समूहों का नैतिक समर्थन प्राप्त रहता है । अपराधी उपसंस्कृति का सबसे अधिक संस्थात्मक स्वरूप संगठित 'गिरोह' में मिलता है । इन गिरोहों के संगठित संरचना का विवरण देते हुए थ्रेशर ने अपराधी गिरोह को परम्पराएँ मानने वाला, एक अपनी आन्तरिक संरचना वाला, एकता व सामूहिक चेतना पर आधारित तथा स्थानीय इलाके से संयोजित समूह के रूप में प्रस्तुत किया है । याब्लोन्सकी (Yablonsky)[3] ने भी अपराधी गिरोह को संसंजन, नियम पालन और परिभाषित भूमिकाओं वाला एक संगठित समूह बताया है ।

(8) पारिवारिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से लगभग 90 प्रतिशत वाल-अपराधी गिरफ्तार किये जाते समय अपने माता-पिता के साथ रहते हुए पाये जाते हैं । 1976 के आँकड़ों के अनुसार 1.32 लाख गिरफ्तार किये गये वाल-अपराधियों में से (दिल्ली और त्रिपुरा के अतिरिक्त) 89.8 प्रतिशत अपने माता-पिता व अभिभावकों के साथ रहते हुए तथा 10.2 प्रतिशत विना घर के पाये गये ।[4]

(9) लगभग 90 प्रतिशत वाल-अपराधी प्रथम-वार अपराध करने वाले अपराधी (first offenders) होते हैं । 1976 में 1.32 लाख वाल-अपराधियों में से 89.2 प्रतिशत प्रथम-अपराधी थे ।[5] अतः भारत में वार-वार अपराध करने वाले वाल-अपराधियों (recidivists) की संख्या बहुत कम है ।

(10) शिक्षा की दृष्टि से लगभग आधे वाल-अपराधी अशिक्षित होते हैं ।

[1] *Crime in India, 1976, op. cit.*, 70.

[2] G. Geis, *Juvenile Gangs*, President's Committee on Juvenile Delinquency and Youth Crime, U.S.A., 1965.

[3] Y. Yablonsky, *The Violent Gang*, Macmillan, New York, 1962, 7.

[4] *Crime in India, 1976*, 70.

[5] *Ibid.*, 71.

1976 में 1.32 लाख बाल-अपराधियों में से 50 प्रतिशत अशिक्षित, 35 प्रतिशत पाँचवीं कक्षा से कम शिक्षित, 13 प्रतिशत पाँचवीं से अधिक परन्तु हायर-सैकेन्ड्री से कम तथा 2 प्रतिशत हायर-सैकेन्ड्री व उससे अधिक पास थे।[1]

(11) कुल बाल-अपराधियों में से आधे से कुछ ही कम अनुसूचित जाति व जनजाति के सदस्य हैं। 1976 में 1.32 लाख बाल अपराधियों में से 45.6 प्रतिशत अनुसूचित जाति व जनजाति के सदस्य थे।[2]

(12) कुल बाल-अपराधियों में से लगभग दो-तिहाई हिन्दू व शेष मुस्लिम सिख, आदि हैं। 1976 में पकड़े गये कुल बाल-अपराधियों में से 66.5 प्रतिशत हिन्दू, 17.8 प्रतिशत मुस्लिम, 1.9 प्रतिशत सिख, 4.8 प्रतिशत ईसाई व 9.0 प्रतिशत अन्य धर्मों के सदस्य थे।[3]

बाल-अपराध के कारणों सम्बन्धी सिद्धान्त

बाल-अपराध का कारण आरम्भ से ही एक विवादग्रस्त विषय रहा है। इस सम्बन्ध में तीन व्याख्याएँ प्रमुख हैं :

(क) शारीरिक (physiological) व्याख्या—जिसके अनुसार बाल-अपराध का कारण शारीरिक-विकृति (organic pathology) बताया जाता है,

(ख) मानस-क्रिया सम्बन्धी (psychodynamic) व्याख्या—जिसके अनुसार बाल-अपराध को एक ऐसी 'व्यावहारिक विकृति' (behavioural disorder) माना जाता है जो माँ और बालक के दोषपूर्ण सम्बन्धों के कारण उत्पन्न हुए भावात्मक व्याकुलता (emotional disturbance) से पैदा होती है,

(ग) पर्यावरण व्याख्या—जिसके अनुसार बाल-अपराधकर्ता को सामाजिक पर्यावरण में विच्छेदकारक तत्वों (disruptive forces) की उपज माना जाता है।

इन तीनों व्याख्याओं का हम दूसरे अध्याय में विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम केवल बाल-अपराधियों गिरोहों के व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे। ये सिद्धान्त मुख्यतः निम्नवर्गीय समुदायों में गली (street corner) के किशोर-समूहों के सदस्यों के कानून उल्लंघन सम्बन्धी क्रियाओं को ही स्पष्ट करते हैं।

बाल-अपराधी गिरोह तथा अपराधी उपसंस्कृति सम्बन्धी सिद्धान्त (Subculture Theories)

कुछ समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों द्वारा यह सिद्ध किया है कि जो बच्चे निरन्तर अपराध करते हैं वे केवल अन्य बाल-अपराधियों से ही सम्पर्क रखते हैं और इस सम्पर्क द्वारा वे 'संसार के प्रति कुछ दृष्टिकोण' (certain ways of looking at the world) के सहभागी होते हैं। यह 'संसार के प्रति दृष्टिकोण' समय गुजरते अपराधी

[1] *Ibid.*, 82
[2] *Ibid.*, 71
[3] *Ibid.*, 71

गिरोहों में परम्परागत बन जाता है। समाजशास्त्री इस परम्परागत दृष्टिकोण को 'अपराधी उपसंस्कृति' (delinquent subculture) कहते हैं। इस अपराधी उपसंस्कृति में कुछ विश्वास (beliefs), मूल्य (values), नियम (वे प्रत्याशाएँ जो सदस्य एक-दूसरे के प्रति रखते हैं), तथा वे व्यवहार के रूप (forms of behaviour) आते हैं जिनका या तो अनुमोदन किया जाता है या जिन्हें क्षमा किया जाता है तथा जिनकी सदस्यों से आशा की जाती है। अतः बाल-अपराध को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने के लिए अपराधी उपसंस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति को समझना आवश्यक है। शार्ट (Short) का भी कहना है कि किसी व्यक्ति के व्यवहार पर विशेष उपसंस्कृतियों का प्रभाव काफी सीमा तक उसके उपसंस्कृति के अन्य वाहकों (carriers) से सम्बन्धों की प्रकृति पर निर्भर करता है।[1] इस मत से प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या यह उपसंस्कृति विशेषतः एक निम्न-वर्ग घटना है अथवा इसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध व व्यवहार के स्वरूप मध्य-वर्ग के युवकों में भी पाये जाते हैं ?

इस सम्बन्ध में अपराधी गिरोहों में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों (एवं उपसंस्कृति) को स्पष्ट करने के लिए कुछ अपराधशास्त्रियों ने आनुभाविक (empirical) अध्ययनों के आधार पर अपने-अपने विचार व सिद्धान्त दिये हैं। इनमें से छह व्याख्याओं को अधिक महत्त्व दिया गया है : (1) अल्बर्ट कोहेन की व्याख्या, (2) क्लोवार्ड और ओहलिन की व्याख्या, (3) शिकागो स्कूल की पारिस्थितिक (ecological) व्याख्या, (4) वाल्टर मिलर की व्याख्या, (5) डेविड माटजा (Matza) की व्याख्या, और (6) वाल्टर रेक्लेस की व्याख्या। इनमें से क्लोवार्ड और ओहलिन के सिद्धान्त का हम पहले ही विवरण दे चुके हैं। अतः यहाँ हम शेष सिद्धान्तों व व्याख्याओं का उल्लेख करेंगे।

1. कोहेन का 'मूल्य अनुस्थापन' सिद्धान्त
(Cohen's Theory of 'Value Orientation' or 'Class Conflict' or 'Delinquent Sub-culture')

मैनहाइम (Mannheim)[2] के अनुसार यद्यपि कोहेन अपने विचारों पर मर्टन के एनामी के सिद्धान्त के प्रभाव को स्वीकार नहीं करता और अपनी पुस्तक[3] में दुर्खीम के सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख करता है परन्तु वास्तव में वह इन दोनों विद्वानों के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। मर्टन के पैराडाइम (paradigm) का प्रभाव कोहेन के विश्लेषण में उस अवधारणा में मिलता है जिसे

[1] 'The influence of particular subcultures on an individual's behaviour depends to a considerable extent on the nature of his relations with other carriers of these subcultures' J.F. Short, Jr., *Gang Delinquency and Delinquent Sub-cultures*, Harper and Row, New York, 1968, 12.

[2] Mannheim, *Comparative Criminology*, 507.

[3] Albert K. Cohen, *Delinquent Boys : The Culture of the Gang*, The Free Press, N. York, 1955.

वह मध्य-वर्गीय मापक (middle-class measuring rod) कहता है।

कोहेन का कहना है कि निम्न वर्ग का बालक निरन्तर रूप मे मध्य-वर्गीय मापक के आधार पर आका जाता है।[1] बच्चो की अपने प्रति मन में धारणा बनाना इस बात पर आधारित है कि अन्य लोग उनका किस प्रकार मूल्याकन करते हैं। विभिन्न परिस्थितियो मे, जिनमे उनका मूल्याकन किया जाता है और जिनमे से स्कूल एक प्रमुख परिस्थिति है, मध्य वर्ग के लोग छाये रहते (dominated) है। इस कारण व्यक्ति के व्यवहार का मूल्याकन भी मध्य-वर्ग के स्तर अथवा मूल्यो व आदर्शों के आधार पर किया जाता है। परन्तु इस प्रमाप को एकमात्र (exclusively) मध्य वर्ग का स्तर व मूल्य अथवा आदर्श नही माना जा सकता क्योकि वास्तव मे ये समाज के ही व्याप्त प्रधान व प्रबल आदर्श (dominant values) है। इस व्याप्त स्तर मे सफाई व स्वच्छता (neatness), शुद्धता (cleanliness), व्यवहार सम्बन्धी विनम्रता (polished manners), विद्या सम्बन्धी निष्पत्ति (academic achievement), धारा-प्रवाह से बोलने की शक्ति (verbal fluency), ऊँची व्यक्तिगत अभिलाषाएँ (high level of personal aspirations), तथा वैयक्तिक उत्तरदायित्व (individual responsibility) आदि तत्त्व आते हैं। फिर समाज मे सभी वर्गों के लोगो का इसी प्रबल स्तर के आधार पर मूल्याकन किया जाता है जिस कारण विभिन्न वर्गों के सदस्यो को स्थिति-प्राप्ति के लिए एक-दूसरे का मुकाबला करना पडता है। परन्तु सभी वर्गों के लोग इस स्थिति-प्राप्ति के लिए अपने को अन्य लोगो के बराबर योग्य नही पाते क्योकि अलग-अलग वर्गों मे समाजीकरण की प्रक्रिया अलग-अलग पायी जाती है। इसी समाजीकरण की प्रक्रिया की भिन्नता के कारण निम्न वर्ग के लोग अपने को मध्य वर्ग की अपेक्षा कम योग्य पाते हैं। जब निम्न वर्ग के लोग अपने मे ऊपर की ओर गतिशील होने की प्रवृत्ति के कारण मध्य वर्ग के लोगो के सास्कृतिक आदि विशेषताओ को ग्रहण कर उनके बराबर की स्थिति प्राप्त नही कर पाते तो उनमे पराजय व नैराश्य की भावना (humiliation and frustration) उत्पन्न हो जाती है।

ऐसी परिस्थिति मे अपने समायोजन के लिए, कोहेन के अनुसार, श्रमिक वर्ग के युवक के लिए तीन उपाय है[2] (1) वह एक 'कालेज के विद्यार्थी' की तरह ऊपर की ओर गतिशील होने जैसे उपाय (college boy route of upward mobility) अपनाये। यह (कालेज-विद्यार्थी) शब्द कोहेन ने ह्वाइट (Whyte) के 'Street-Corner Society' पुस्तक से ग्रहण किया है। कालेज-शिक्षा प्राप्त करने के लिए युवक को न केवल मध्य वर्ग के विद्या-सम्बन्धी निष्पत्ति (academic achievement) के मूल्यो का अनुवर्तन (conform) करना पडता है परन्तु अपने शिक्षा सम्बन्धी व्यय निभाने के लिए उसे अल्पव्ययी व किफायती

[1] 'Lower-class child is constantly measured by the middle-class measuring rod'—Cohen

[2] A Cohen, *Delinquent Boys The Culture of The Gang*, The Free Press, Glencoe, 128-30

(thrifty) भी बनाना पड़ता है। यह अल्पव्यय 'कोने के लड़कों' (corner boys) के समूह के मूल्यों के विरुद्ध है क्योंकि यह सदस्य (कोने के लड़के) प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपने रुपयों को अपने मित्रों के साथ सम्मिलित रूप से खर्च करने में विश्वास करते हैं। इस प्रकार 'कालेजी-लड़का' स्वयं को अपने मित्रों से पृथक् करता है। (ii) वह एक स्थिर 'कोने के लड़के' (stable corner-boy) जैसा व्यवहार अपनाये। इस तरीके में यद्यपि वह उपरिमुखी गतिशीलता (upward mobility) की आशा सदा के लिए नहीं छोड़ता किन्तु 'कालेजी लड़के' की तरह श्रमिक वर्ग वयस्कों से भी अपने सम्बन्ध नहीं तोड़ता। तीसरे प्रकार के उस लड़के की तरह, जो विचलित व्यवहार प्रदर्शित करता है, वह मध्य वर्ग के व्यक्तियों के प्रतिरोध से भी बचता रहता है जिससे वह मध्य वर्ग द्वारा नियन्त्रित अवसरों को भी (अपने उपरिमुखी गतिशीलता के लिए) सुरक्षित रखता है। (iii) वह ऐसा विचलित व्यवहार (delinquent response) सम्बन्धी उपाय अपनाये जिसके अनुसार वह मध्य वर्ग के आदर्शों (standards) को अस्वीकार करके उनके विरोधी मूल्यों को अपनाये। इस प्रकार जब दूसरे प्रकार का 'कोने वाला लड़का' मध्य वर्ग की नैतिकता को अस्थायी रूप से अपनाता है, तीसरे प्रकार का लड़का उसको बिल्कुल अस्वीकार करता है। कोहेन के अनुसार, यह तीसरे प्रकार के लड़के मध्य वर्ग के मूल्यों का इतना आन्तरीकरण (internalisation) कर लेते हैं कि मध्य वर्ग की विशेषताओं को ग्रहण करने की प्रतियोगिता में पीछे रहना नहीं चाहते और जब ऊँची स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते तो अपनी समरूपता (equality) स्थापित करने के लिए व्याप्त मूल्यों को अस्वीकार कर ऐसे मूल्यों और व्यवहार को अपनाते हैं जिन्हें समाज बुरा मानता है। उदाहरणतया, पुलिस वाले अधिकतर विकृत चित वाले (crooked) होते हैं, रुपया केवल खर्च करने के लिए होता है, कानून साधारण लोगों के विरुद्ध होता है, नम्रता व शिष्टाचार केवल कन्याओं के लिए होता है, व्यक्ति को कठोर परिश्रम तभी करना चाहिए जब उससे उसे लाभ हो, आदि। इन मूल्यों को (जिन्हें कोहेन 'अपराधी उपसंस्कृति' भी कहता है) कोहेन अनुपयोगी (non-utilitarian), द्वेषपूर्ण (malicious) और निषेधाचारी व नकारात्मक (negativistic) बतलाता है।[1] अनुपयोगी इसलिए क्योंकि इन मूल्यों के आधार पर (चोरी जैसे) अपराध करने से कोई आर्थिक लाभ नहीं होता तथा यह केवल मनोरंजन की दृष्टि से किये जाते हैं। द्वेषपूर्ण (मूल्य) इसलिए क्योंकि ये दूसरों की असफलता व पराजय से आनन्द लेने (enjoying others discomfiture), टैबू (वर्जित व्यवहार) के उल्लंघन द्वारा खुशी प्राप्त करने, अच्छे बच्चों को भयभीत व आतंकित करके तथा शिक्षकों की सत्ता का उपहास करके प्रसन्नता प्राप्त करने पर बल देते हैं। नकारात्मक (मूल्य) इसलिए क्योंकि ये समाज के सांस्कृतिक मूल्यों के विपरीत (inverse) हैं तथा जिन मूल्यों को समाज द्वारा मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में गलत समझा जाता

[1] Albert Cohen, *Deviance and Control*, Foundations of Modern Sociology Series, Prentice Hall, New Jersey, 1966, 65-66.

है उन्ही (मूल्यो) को यह (अपराधी उपसंस्कृति) सही मानती है।

कोहेन ने अपराधी उपसंस्कृति के साराश को स्पष्ट करते हुए इसके चार लक्षण दिये हैं[1]. (i) बहुमुखी प्रतिभा, (ii) विद्वेष, (iii) अल्पकालिक सुखवाद, (iv) सामूहिक स्वायत्तता।

(1) बहुमुखी प्रतिभा (Versatility)—अपराधी गिरोहो के असामाजिक क्रियाओ मे चोरी सबसे बडी क्रिया होती है। गिरोह के सदस्य दूध की बोतलें, पेंसिलें, मिठाइयां, मोटरकार आदि की अधिक चोरियां करते है। ये चोरियां घरो, दुकानो, स्कूलो आदि मे की जाती है। अधिक चोरियां करने के उपरान्त भी कोई बाल-अपराधी गिरोह वयस्क अपराधी गिरोहो की तरह चोरी करने मे विशेषज्ञता प्राप्त नही करता। फिर, बाल-अपराधी गिरोह के सदस्यो मे चोरी के साथ-साथ कलावस्तुओ का विनाश (vandalism), अनुचित मांग करना, दूसरो की बातो मे हस्तक्षेप करना, अनधिकार प्रवेश करना, आवारापन, स्कूल से भागना, विद्वेषपूर्ण दुष्टता (malicious mischief) आदि जैसे अन्य अपराध भी पाये जाते है। बहुमुखी प्रतिभा का यह लक्षण तथा प्रतिभा और विद्वेष का विलयन गिरोह के एक अपराधी के निम्न उत्कथन से भी स्पष्ट है 'दुकान से हम दूध की बोतलें चुराकर लोगो के खिडकियो के शीशो पर या दरवाजो व सीढियो पर मारते है, फिर हम किसी फल की दुकान मे जाते हैं जहां कुछ लडके आस-पास इधर-उधर छिप जाते हैं तथा मैं अंगूर की टोकरी चुरा कर भागता हूँ। जब दुकानदार मेरे पीछे भागता है, अन्य लडके अपने-अपने छिपे हुए स्थानो से निकलकर अंगूर की अन्य टोकरियां लेकर भागते है तथा मैं अपनी टोकरी वही फेंक कर किसी गली मे भागता हूँ।'[2]

(2) विद्वेष (Malice)—गिरोह के सदस्यो के विभिन्न अपराधो मे एक प्रकार की दुर्भावना मिलती है। उनको दूसरो की असफलता, पराजय व कष्ट से आनन्द होता है तथा निषेध और प्रतिबन्धो की उपेक्षा व अवज्ञा से हर्ष व उल्लास मिलता है। यह द्वेष थ्रेसर[3] द्वारा दिये गये गिरोह के एक सदस्य के निम्न उत्कथन से भी ज्ञात होता है : 'हम केवल तमाशे व परिहास के लिए बहुत से छल करते है। जहाँ पर हम यह लिखित चिह्न देखते है कि 'कृपया गली को साफ रखो', वहाँ से उस सकेत पट को हटाकर यह लिख देते है कि 'हम गली को साफ नही रखेंगे'। कभी हम किसी की मोटर कार के इजन मे गोंद का डिब्बा डाल देते है तो कभी कार की गद्दियां ब्लेड से फाड देते है। यह सब करके हम बहुत हँसते हैं और मजा लेते हैं।'

(3) अल्पकालिक सुखवाद (Short-run hedonism)—अपराधी गिरोह के उपसंस्कृति का तीसरा लक्षण अल्पकालिक प्रमोद है। गिरोह के सदस्य

[1] See Cohen's articles in Rose Giallombardo (ed), *Juvenile Delinquency*, John Wiley and Sons, Inc , New York, 1966, 105–07

[2] Shaw and McKay, *Social Factors in Juvenile Delinquency*, 18

[3] M Frederic Thrasher, *The Gang*, Chicago University Press, Chicago, 1936, 94–95

दीर्घकालीन लक्ष्यों में, क्रियाओं के पूर्वायोजन में तथा समय आदि को निश्चित करने में विश्वास नहीं करते। वे बिना किसी पूर्व निश्चित उद्देश्य के एक स्थान पर इकट्ठे होते हैं जहां वे 'कुछ होकर रहेगा' की भावना से कुछ समय तक जमे रहते हैं। फिर किसी एक सदस्य के सुझाव को आवेगशीलतापूर्वक स्वीकार कर किसी ऐसी शरारत में उलझ जाते हैं जो उन्हें उत्तेजना व सनसनी प्रदान करती है। इस प्रकार वे ऐसे संगठित व परिनिरीक्षित मनोरंजन में विश्वास नहीं करते जिसमें उन्हें पूर्व व्यवस्था के अनुसार व अवैयक्तिक नियमों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता हो। वे अधीर, उतावले व उत्सुक होने के कारण दूरवर्ती लाभ में रुचि नहीं लेते। यहाँ हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि यह अल्पकालिक प्रमोद पूर्ण रूप से अपराधी नहीं होता परन्तु तमाशे व परिहास का केवल थोड़ा भाग ही अपराधी होता है।

(4) सामूहिक स्वायत्तता (Group Autonomy)—अपराधी गिरोह के संस्कृति का अन्य लक्षण सामूहिक स्वायत्तता तथा संयम की असहिष्णुता (intolerance of restraint) है। सदस्यों के आपसी सम्बन्ध अधिक एकतापूर्ण, संघटनात्मक और घृष्ट होते हैं परन्तु अन्य समूहों के सदस्यों के साथ उनके सम्बन्ध उदासीन, विरोधी, शत्रुतापूर्ण व विप्लवकारी होते हैं। सदस्य परिवार, स्कूल आदि द्वारा उनके गिरोह की क्रियाओं को नियन्त्रित करने के प्रयास का विशेष रूप से प्रतिरोध करते हैं।

अतः कोहेन के अनुसार अनुपयोगी, द्वेषपूर्ण व नकारात्मक मूल्यों के कारण ही व्यक्ति अपराध करता है। व्यक्ति इन मूल्यों एवं व्यवहार को इस कारण अपनाता है जिससे वह व्याप्त मूल्यों के प्रति अपनी घृणा का प्रदर्शन कर सके। दूसरे शब्दों में निम्न वर्ग के सदस्यों की मध्य वर्ग की स्थिति सम्बन्धी समस्याओं के प्रति प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न हुई समायोजन की समस्या ही कोहेन के अनुसार अपराध का मुख्य कारण है। सामाजिक व्यवस्था में एक ही तरह से स्थापित युवक समायोजन की सामान्य समस्या का सामना करते हैं। विकसित उपसंस्कृति (जो नकारात्मक व द्वेषपूर्ण मूल्यों पर आधारित है) समायोजन की इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्हें एक सामूहिक साधन उपलब्ध करती है।[1]

टैपन[2], जॉन मार्टन[3], फिजपैट्रिक (Fitzpatrick), किट्सयूज और डाइट्रिक (Kitsuse and Dietrick), साइकिस, विलनार्ट आदि ने कोहेन के सिद्धान्त की आलोचना की है। इन लोगों ने मुख्य तर्क निम्न दिये हैं :

(1) जॉन किट्सयूज (John Kitsuse) और डेविड डाइट्रिक (David

[1] 'The common problems of adjustment are faced by boys similarly situated in the social structure. The sub-culture evolves and offers a collective solution.' Cohen, *op. cit.*, 66.

[2] Paul W. Tappan, *op. cit.*, 182.

[3] John Martin, *Delinquent Behaviour*, 65.

Dietrick)[1] कोहेन के इस वक्तव्य को ही चुनौती देते है कि निम्न वर्ग का लडका अपना मूल्यांकन मध्य वर्ग के नियमो के आधार पर करता है। उनका कहना है कि कोहेन स्वयं इस बिन्दु के बारे में द्वैधवृत्तिक (ambivalent) था क्योंकि कोहेन ने एक स्थान पर लिखा है कि 'निम्न वर्ग का लडका इस बात की परवाह नही करता है कि मध्य वर्ग के लोग उसके बारे मे क्या सोचते है।' दोनो विद्वानो का कहना है कि क्योंकि कोहेन स्वय अपने तर्क मे विश्वासप्रद (*convincing*) नही था, हम उसके उपर्युक्त कथन के आधार पर इस धारणा के बजाय कि निम्न वर्ग का लडका मध्य वर्ग के स्तर को स्वीकार करता है, यह क्यो न मान लें कि वह उसे अस्वीकार करता है।

(2) किट्सयूज और डाइट्रिक कोहेन द्वारा अपराधी गिरोह की संस्कृति की व्याख्या करने मे उसकी प्रतिक्रिया निर्माण की मनोवैज्ञानिक अवधारणा को भी चुनौती देते हैं। कोहेन ने इस अवधारणा का विकास इस कल्पना (assumption) पर किया है कि निम्न वर्ग का लडका अपनी स्थिति को मध्य वर्ग के अनुकूल बदलने की इच्छा विकसित करता है। कोहेन ने यह भी सुझाव दिया है कि निम्न वर्ग का लडका मध्य वर्ग के *आदर्शों व स्तर से तथा उस स्तर वाले व्यक्तियो से निरन्तर रूप से सामना* करता रहता है। इन व्यक्तियो की कृपादृष्टि (favour) प्राप्त करने के लिए उसे अपनी आदतें, मूल्य, आकांक्षाएँ, बोलने का तरीका व अपनी मित्र-मण्डली बदलने पडते हैं। परन्तु उनके द्वारा जो उसे मिलता है उससे निराश होकर वह नये मित्र ढूंढता है तथा तहखानो मे क्लबो का सदस्य बनता है जहाँ यद्यपि उसे सुविधाएँ तो बहुत कम मिलती है परन्तु मानवीय सम्बन्धो को वह सन्तोषजनक पाता है।[2] किट्सयूज और डाइट्रिक का कहना है कि कोहेन का यह वक्तव्य उसके प्रतिक्रिया निर्माण (reaction formation) के सिद्धान्त का समर्थन नही करता, उलटा वह इस बात का सुझाव देता है कि निम्न वर्ग का लडका मध्य वर्ग के आदर्शों व स्तर को प्राप्त करने के लिए प्रयास ही नही करता तथा वह इन आदर्शों वाले व्यक्तियो का अपने समुदाय मे अतिक्रमण (intrusion) और इन आदर्शों का उन पर बलपूर्वक लागू करने (*impose*) का प्रयास ही बुरा मानता है।

(3) किट्सयूज और डाइट्रिक का कहना है कि कोहेन ने जो अपराधी उप-संस्कृति का *अनुपयोगी (non-utilitarian)*, द्वेषपूर्ण (*malicious*) व निषेधात्मक (negativistic) विवरण दिया है वह गलत है। इन श्रेणियो के अन्तर्गत सम्मिलित

[1] John Kitsuse I & David C Dietrick, *Delinquent Boys . A Critique* in Harwin L. Voss (ed), *Society, Delinquency and Delinquent Behaviour*, Little Brown, Boston, *1970, 238-45*

[2] "Lower class boy is constantly confronted by middle-class standards and by the people who own it To win favour of these people, he must change his habits, values, ambitions, speech and his associates Having sampled by what they have to offer, he turns to the street or to his *clubhouse in a cellar* where *facilities* are meagre but human relations more satisfying "— Cohen, *Delinquent Boys, op cit*, 117

की गई कुछ क्रियाएँ वास्तव में निम्न वर्ग के गिरोहों की क्रियाएँ नहीं हैं परन्तु वे मध्य वर्गीय अपराधी क्रियाएँ हैं जिनको कोहेन के सिद्धान्त से अलग किया गया है।

(4) किट्सयूज और डाइट्रिक ने कोहेन के सिद्धान्त की सैद्धान्तिक (theoretical) व पद्धति (methodological) की दृष्टि से भी आलोचना की है। उनका कहना है कि कोहेन का सिद्धान्त अनुसन्धान की ऐतिहासिक पद्धति पर निर्भर है क्योंकि यह उपसंस्कृति के विकास को समझाने का प्रयास करता है। इसके लिए उसे पुराने जमाने के लोगों की मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं (motivations) का विश्लेषण करना होगा जो आनुभाविक रूप से (empirically) सम्भव नहीं है।

(5) इस सिद्धान्त की मान्यता का आधार, कि मध्य और निम्न वर्गों के मूल्य व अभिलाषाएँ अलग-अलग होती हैं, गलत है।

(6) पराजय व नैराश्य के कारण यह आवश्यक नहीं कि लोगों की प्रक्रिया इतनी नकारात्मक हो कि वे अपराधी व्यवहार को ही अपनायें। उनका क्षति-पूर्ति करने वाला व्यवहार समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त भी हो सकता है।

(7) कोहेन की यह मान्यता कि निम्न वर्ग के युवक व्याप्त व प्रबल मूल्यों को अस्वीकार तथा नये नकारात्मक मूल्यों को अपनाकर एक उपसंस्कृति समूह बनाते हैं, बिना किसी आधार के है क्योंकि इस प्रकार की फिर अनेक उपसंस्कृतियाँ हो सकती हैं।

(8) साइकिस और माटजा (Sykes & Matza)[1] का कहना है कि गिरोह का सदस्य मध्य वर्ग के आदर्शों को अस्वीकार नहीं करता किन्तु तटस्थीकृत पद्धति (technique of neutralisation) अपनाकर अपने विचलित व्यवहार को तर्कान्वित (rationalise) करता है।

(9) मार्शल क्लिनार्ड[2] का कहना है कि निम्न वर्ग के अपराधी गिरोह न केवल मध्य वर्ग के मूल्यों व आदर्शों का विरोध करते हैं किन्तु सदस्यों के साहस (adventure), उद्दीपन (excitement), पुलिस के प्रति घृणा, अन्य गिरोहों के विरुद्ध सुरक्षा आदि जैसी साधारण आवश्यकताओं को भी पूरा करते हैं।

(10) आल्बर्ट रीज और आल्बर्ट रोड्स[3] (Albert Reiss & Albert Rhodes) का कहना है कि कोहेन के सिद्धान्त को स्वीकार करने से यह उपकल्पना सही होनी चाहिए कि निम्न वर्ग के युवकों में अपराध की दर उन क्षेत्रों में उच्चतर होनी चाहिए जहाँ वे मध्य वर्ग के युवकों से सीधी प्रतिस्पर्धा में रहते हैं तथा उन क्षेत्रों में निम्नतम होनी चाहिए, जहाँ केवल निम्न वर्ग के लोग ही रहते हैं। परन्तु

[1] Gresham Sykes and David Matza, 'Techniques of neutralisation : A theory of delinquency', *American Sociological Review*, Dec. 1957, 664-70.

[2] Marshal Clinard, article on 'Criminological Research' in *Sociology Today*, edited by Merton, Broom and Cottrell, Basic Books, New York, 1959, 515.

[3] Albert J. Reiss and Albert L. Rhodes, *American Sociological Review*, Oct. 1961, 729.

उन्होंने हाईस्कूल के कनिष्ठ (junior) और ज्येष्ठ (senior) विद्यार्थियों के अध्ययन में पाया कि अपने स्कूल और पड़ोस में निम्न वर्ग के युवक जितनी अल्प संख्या में होंगे उतनी उनके अपराधी बनने की सम्भावना कम होगी। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी पाया कि एक सामाजिक स्थिति वाले समूह व वर्ग में सबसे अधिक अपराधी उस क्षेत्र में मिलते हैं जिसमें वह सामाजिक वर्ग उस क्षेत्र के निवासियों में सर्वव्यापक (universal) होता है तथा सभी सामाजिक वर्गों में से सर्वाधिक अपराध की संख्या निम्न वर्ग के आवासी क्षेत्रों में मिलती है।

वाल्टर रेक्लेस ने भी 1961 में कोहेन के सिद्धान्त के आनुभाविक (empirical) परीक्षण में पाया कि उसका सिद्धान्त कुछ अपराधों को तो समझाता है परन्तु सभी को नहीं, अथवा उसका सिद्धान्त कुछ अंश में ही सही है। रेक्लेस का विचार है कि यद्यपि अपराधी व्यवहार और स्थिति सम्बन्धी निराशाओं में पारस्परिक सम्बन्ध है परन्तु इतना गहरा नहीं जितना कोहेन ने अपने सिद्धान्त में संकेत किया है।[1]

साइक्स (Sykes) और माटजा (Matza) की आलोचना का जवाब देते हुए कोहेन ने कहा है कि अपने सिद्धान्त में तटस्थीकरण की प्रक्रियाओं को महत्त्व न देना मेरी एक गम्भीर भूल थी। अतः इसे अपने सिद्धान्त में सम्मिलित करते हुए उसने कहा है कि माटजा का 'प्रतिक्रिया निर्माण' का विवरण वास्तव में तटस्थीकरण की एक प्रक्रिया है तथा उपसंस्कृति भी एक तटस्थीकरण सम्बन्धी तत्त्व है।[2]

2. पारिस्थितिक सिद्धान्त और बाल-गिरोह अपराध
(Ecological Theory and Juvenile Gang Delinquency)

1930 और 1945 के मध्य में शिकागो स्कूल ने अपराधी उपसंस्कृति को सामाजिक विघटन तथा गन्दी बस्तियों (slums) में संसजन (cohesion) के अभाव की उपज बताया। सामाजिक नियन्त्रण के टूट जाने तथा कम सामाजिक बन्धनों वाले व्यक्तियों के स्थान पर संकेन्द्रित होने (जैसे आप्रवासी, मानसिक रूप से बीमार और कंगाल व साधनहीन) और इन व्यक्तियों के अपनी सन्तान पर कम नियन्त्रण होने जैसे कारकों को गली में बच्चों द्वारा स्वतः प्रेरित (autonomous) समाज स्थापित करने का प्रमुख कारण बताया गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पारिस्थितिक सिद्धान्त में विश्वास करने वाले विद्वान् अपराध को एक क्षेत्र में पाये जाने वाले साहचर्य (association) के स्वरूप व प्रकृति के सन्दर्भ में समझाते हैं। ये विद्वान् सामाजिक प्रभावों (social influences) तथा साहचर्य द्वारा सीखने

[1] Walter Reckless *Sociology and Social Research*, July 1963

[2] 'His discussion of *Reaction Formation* is really a technique of neutralisation and *that sub-culture itself is a neutralisation factor*' Cohen in Albert K Cohen and James F Short Jr, 'Research in Delinquent Sub-cultures' in *The Journal of Social Issue*, 1958, 20-37

की प्रक्रिया (learning by association) पर अधिक बल देते हैं।[1] सामाजिक पारिस्थितिकी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य एक आंगिक प्राणी (organic creature) है जिस कारण उसका व्यवहार भी आंगिक संसार के सामान्य नियमों द्वारा निर्धारित होता है। मानव पारिस्थितिकी (human ecology) का सम्बन्ध मनुष्यों के स्थानिक पर्यावरण (spatial environment) से तथा उनके पर्यावरण सम्बन्धी तनाव (environmental stresses and strains) की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से है। पारिस्थितिक सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानों में से फ्रेड्रिक थ्रेशर (Fredrick Thrasher) और क्लिफोर्ड शा (Clifford Shaw) प्रमुख हैं।

(क) थ्रेशर ने अपराधी गिरोह के विवरण में बाल-अपराध को बच्चों द्वारा पराजयकारी, हताशाजनक (frustrating) और सीमान्त पर्यावरण में उत्तेजना (excitement) की खोज का परिणाम बताया। उसने शिकागो में 1313 नगरीय बाल-गिरोहों का अध्ययन किया और जिस क्षेत्र में यह गिरोह रह रहे थे उसको 'निर्धनता की पट्टी' (poverty belt) बताया। इस पट्टी व क्षेत्र के उसने तीन लक्षण दिये हैं: (i) ह्रासशील व बिगड़ा हुआ पड़ोस (deteriorating neighbourhood) (ii) अधिक गतिशीलता; और (iii) स्थानान्तरणशील (shifting) जनसंख्या।[2] उसका कहना है कि अपराध उन समुदायों से उत्पन्न होता है जिनका सामान्य परिस्थितियों में अपूर्ण समायोजन (imperfect adjustment) होता है। गिरोहों के विश्लेषण में थ्रेशर ने 'सामूहिक तत्त्व' (group factor) के महत्त्व पर ध्यान आकर्षित किया है और कहा है कि अपराधी को गिरोह के सदस्य के अलावा परिवार, स्कूल, पड़ोस, चर्च, व्यावसायिक समूह आदि समूहों के सदस्य रूप में भी देखकर उसे सुधारने का प्रयास करना चाहिए। इसे केवल एक जैविकीय प्राणी के रूप में देखने का अर्थ होगा कि हम अपराध (के कारणों) में एक सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा कर रहे हैं।[3] उसका कहना है कि अपराधी गिरोह अपने गम्भीर अपराधों, हिंसा-प्रदर्शन तथा अपराधी मूल्यों के कारण सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा है। 'निर्धनता पट्टी' में बाल-गिरोहों के आकर्षण को थ्रेशर ने उन स्कूल, चर्च व मनोरंजन के संगठित साधनों के अभाव के सन्दर्भ में समझाया है जो युवकों के अवकाश सम्बन्धी व्यवहार को नियन्त्रित कर सकें। उसने यह भी कहा है कि ग्रामीण गिरोह कोई सामाजिक समस्या उत्पन्न नहीं करते तथा सभी नगरीय गिरोह अपराधी नहीं होते यद्यपि अधिकांश नगरीय गिरोह अपराध सिखाने के स्कूलों की तरह कार्य करते हैं।

(ख) थ्रेशर के अलावा शा तथा शेल्टन और ग्लूक आदि ने भी एक बाल-अपराधी के अन्य बाल-अपराधियों से मिलकर अपराध करने तथा उनके साहचर्य

[1] Young V. Pauline, *Urbanisation as a Factor in Juvenile Delinquency*, Pub. of American Sociological Society, 1930, 162-66, quoted by George Vold in *Theoretical Sociology*, Oxford University Press, New York, 1958, 189.

[2] Frederick W. Thrasher, *The Gang*, University of Chicago Press, Chicago, 1960, (2nd edition), 22.

[3] *Ibid.*, 498-500.

(association) पर बल दिया है। 1928 मे एक बाल-न्यायालय द्वारा दण्डित 5480 बाल-अपराधियो के अध्ययन में शा ने पाया कि 80–90 प्रतिशत बाल-अपराधियो ने एक या एक से अधिक साथियो से मिलकर अपराध किया था।[1] 1934 मे ग्लेडन और ग्लूक ने भी 1000 बाल-अपराधियो के अध्ययन मे 70 प्रतिशत अपराधो मे सहचारिता (companionship) पायी।[2] 1950 मे ग्लेडन और ग्लूक ने अपने अध्ययनो को जारी रखते हुए पाया कि लगभग सभी बाल-अपराधी अन्य बच्चो से मिलकर अपराध करते हैं। सहचारिता के बाल-अपराध पर प्रभाव अध्ययन करने की दृष्टि से यहाँ शा और मैंके (Shaw and McKay) के 'अपराधी क्षेत्र' (Delinquency Area) सम्बन्धी सिद्धान्त का विश्लेषण आवश्यक है।

(ग) शा और मैंके ने 1927–33 के मध्य शिकागो मे बाल-न्यायालय द्वारा दण्डित 8,411 नर बाल-अपराधियो का एक अध्ययन किया।[3] उनके निवास स्थान को लेकर उसने एक नक्शा बनाया। इस नक्शे मे प्रत्येक बाल-अपराधी के निवास-स्थान को उसने एक बिन्दु से प्रदर्शित किया। पूरे शिकागो नगर को उसने एक-एक वर्ग मील के 140 भागो मे विभाजित किया। इनमे से तीन क्षेत्रो मे उसने 300 से अधिक बाल-अपराधी पाये, 81 मे 150 से अधिक परन्तु 300 से कम, 25 मे 25 से कम, 15 मे 10 से कम तथा एक क्षेत्र मे केवल तीन ही बाल-अपराधी पाये। अत इन क्षेत्रो के अध्ययन के आधार पर उसने कहा कि कुछ क्षेत्रो मे बाल-अपराधियो का सकेन्द्रण (concentration) अधिक मिलता है। ऐसे उसने सात केन्द्र पाये और इन केन्द्रो को उसने 'अपराधी क्षेत्र' बताया है। ये सात है (1) जो नगरो के केन्द्र हैं, (2) जहाँ मकानो का अभाव है, (3) जहाँ सामाजिक नियन्त्रण के साधन उपलब्ध नही हैं, (4) जहाँ व्यक्तिगत सम्बन्ध नही मिलते, (5) जो भौतिक रूप से अपकृष्ट (physically deteriorated) हैं, (6) जहाँ विदेशी अधिक मिलते हैं, और (7) जहाँ बेरोजगारी, निर्धनता व निर्भरता अधिक पायी जाती है। इन केन्द्रो मे पाये जाने वाले अपराधो के आँकडो के आधार पर शा ने कहा कि अपराधी क्षेत्रो मे अपराध के कारणो मे वैयक्तिक तत्वो की तुलना मे पर्यावरण सम्बन्धी तत्व अधिक प्रबल हैं। उसका यह भी विचार था कि स्थानीय समुदायो मे पायी जाने वाली परिस्थितियो का तथा उन समुदायो मे वयस्क और बाल-अपराधियो की सख्या मे विभिन्नता का पारस्परिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अधिक अपराध वाले समुदायो के आर्थिक व सामाजिक लक्षण कम अपराध वाले समुदायो के लक्षणो से भिन्न होते हैं। बाल-अपराध, विशेष कर सामूहिक बाल-अपराध (जिसकी सख्या सम्प्रमाणित सार्वजनिक रूप से अंकित

[1] Clifford R Shaw and Henry D McKay, 'Social factors in Juvenile Delinquency' in *Report on the Causes of Crime, Vol II, No. 13, Report of the* National Commission on Law Observance and Law Enforcement, Washington, 26 June 1931

[2] Sheldon and Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, Commonwealth Fund, New York, 1950

[3] Clifford R. Shaw and Henry D. McKay, *Juvenile Delinquency and Urban Areas*, University of Chicago Press, Chicago, 1942

युवकों द्वारा किये गये अपराधों में सर्वाधिक मिलती है) की जड़ समुदाय के गतिशील (dynamic) जीवन में पायी जाती है। विभिन्न अपराधी दर पाये जाने के प्रति उसका कहना था कि बाल-अपराध की निम्नतम संख्या उपनगरीय क्षेत्रों में मिलती है तथा उच्चतर संख्या उन घने (congested) और विघटित नगरीय क्षेत्रों में मिलती है जो केन्द्रीय क्षेत्रों के निकट होते हैं।

सदरलैण्ड ने शा और मैक्के के सिद्धान्त की आलोचना की है।[1] अपराधी क्षेत्रों में अधिक बाल-अपराध की दर पायी जाने के उसने दो कारण बताये हैं : (i) इन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्ति पहले ही से पराजयकारी, हताशाजनक व कुण्ठाशील (frustrated) होते हैं जो सम्भवतः अन्य अपराधी क्षेत्रों से प्रव्रजन होकर इन क्षेत्रों में प्रवास करने आये हों; (ii) अपराधी क्षेत्रों में अपराधियों की खोज करना उनकी निर्धनता व सामाजिक स्थिति के कारण अधिक सरल होता है जबकि अन्य क्षेत्रों में धनवान व प्रभावशाली अपराधियों को ढूंढ़ना, गिरफ्तार करना व अभियोजित एवं दण्डित करना कठिन होता है। यह ही कारण है कि अपराधी-क्षेत्रों से सम्बन्धित अपराधी सांख्यिकी (statistics) अभिनत (biased) होती है।

3. वाल्टर मिलर (Walter Miller) की 'निम्न वर्गीय संस्कृति' की व्याख्या

मानवशास्त्री मिलर ने गिरोह-अपराधिता सम्बन्धी अपने सिद्धान्त को अमरीका के एक शहर बास्टन के गन्दी बस्ती क्षेत्र में 21 गली-समूहों (corner groups) के तीन वर्ष के अध्ययन के आधार पर 1958 में प्रकाशित किया था। इन समूहों में उसने नीग्रो और ह्वाइट लड़कों और लड़कियों को, जो आरम्भिक (early), मध्य (middle) और पिछेती (late) किशोरावस्था के थे, अध्ययन किया। उसके सूचना-दाताओं के व्यवहार की सूचना 70 क्षेत्रों में फैली हुई थी, जैसे स्कूल, पुलिस, चोरी, मारपीट, लिंग, सामूहिक क्रीड़ा प्रतियोगिता, आदि।

मिलर ने गिरोह-अपराधिता के कारणों को उन सांस्कृतिक शक्तियों के सन्दर्भ में अध्ययन किया जिनके प्रभाव को कर्त्ता (actor) स्वयं पर अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में मिलर की मान्यता है कि कर्त्ता के व्यवहार को प्रभावित करने वाली शक्ति 'अपराधी उपसंस्कृति' (जो कि मध्य वर्ग संस्कृति से संघर्ष द्वारा उत्पन्न होती है और जो मध्यवर्गीय आदर्शों व नियमों का जानबूझकर उल्लंघन करने में विश्वास करती है) नहीं होती परन्तु स्वयं निम्नवर्गीय समुदाय की दीर्घकालीन और विशिष्ट संरूप वाली (long-established and distinctively patterned) सांस्कृतिक व्यवस्था ही होती है।[2]

इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक व्यवस्था का अपना ही रहन-सहन का तरीका, मूल्य और व्यवहार संरूप होता है तथा इस समूह का, जिसके रहन-सहन के तरीके व

[1] E. H. Sutherland and D. R. Cressey, *Principles of Criminology* (6th edition), The Times of India Press, Bombay, 1965, 158-59.

[2] Walter B. Miller, 'Lower Class Culture as a Generating Milieu of Gang Delinquency' in *Journal of Social Issue*, Vol. 14, No. 3, 1958, 5-19.

परम्पराओ आदि मे सहभागिता पायी जाती है, आकार बढता ही जाता है। मिलर का कहना है कि अमरीका की 40 से 60 प्रतिशत जनसंख्या इस निम्नवर्गीय सस्कृति से प्रभावित हो रही है जिसमे से 15 प्रतिशत (अथवा 2·5 करोड) व्यक्ति इस (निम्नवर्गीय समूह) का 'आन्तरिक भाग' (hard-core) प्रस्तुत करते है। इस 'आन्तरिक भाग समूह' का एक प्रमुख लक्षण बच्चो के पालन-पोषण मे 'नारी अधिरोहित परिवार' (female-based households) का पाया जाना है।

मिलर ने निम्नवर्गीय सस्कृति के विशिष्ट स्वरूप मे छह प्रमुख घात (major dimensions or focal concerns) बताये हैं। प्रत्येक घात मे वैकल्पिक व्यवहार स्वरूप का विविध विस्तार (varied range of alternative behaviour pattern) मिलता है जिनको सरल शब्दो मे निम्न तालिका मे दर्शाया गया है [1]

निम्न वर्गीय सस्कृति के प्रमुख घात

क्षेत्र	विदित रूपान्तरक (Perceived alternatives)	
	विधिपालक व्यवहार	अवैध व्यवहार
1 सकट (Trouble)		
2 कठोरता (Toughness)	शारीरिक वीरता, निर्भयता, साहस	कायरता, भीरुता, साहसहीनता, सावधानी
3 चुस्ती (Smartness)	दूसरों से लाभ उठाने मे होशियारी, चालाकी से रुपया कमाना, चपटपन	अल्हडपन, कठोर परिश्रम द्वारा रुपया कमाना सुस्त नीरस
4 उत्तेजना (Excitement)	रोमाच, जोखिम, खतरा, परिवर्तन, क्रियाशीलता	उकताहट, खिन्नता, सुरक्षितता, अभिन्नता निष्क्रियता
5 भाग्य (Fate)	भाग्यवान	अभाग्यशाली
6 स्वाधीनता (Autonomy)	बाहरी नियत्रण से आजादी, उच्च बौद्धिक सर्वाधिकार से मुक्ति	बाहरी नियत्रण के अन्तर्गत कार्य करना सत्ताधिकार स्वीकार करना, पराधीनता

मिलर का कहना है कि निम्नवर्गीय समुदायो मे पायी जाने वाली सामाजिक सम्बन्धो की सरचना का प्रमुख लक्षण समान लिंग वाला समान श्रेणी का समूह (one-sex peer group) है। इस सरचना का सम्बन्ध नारी-अधिरोहित पालन-पोषण वाले परिवार से होता है। इस परिवार मे या तो पिता अनुपस्थित होता है या यदाकदा उपस्थित रहता है या यदि उपस्थित भी होता है तो बच्चो के पालन-पोषण मे कम से कम रुचि लेता है। ऐसे नारी-अधिरोहित परिवार मे एक या एक से अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली आयु की स्त्रियाँ व उनके बच्चे होते हैं। लडके का पालन पोषण जब नारी-अधिरोहित (female dominated) परिवार मे होता है तब किशोरावस्था मे अपनी गली मे पाया जाने वाला बाल समूह (street corner

[1] Miller's article in Giallombardo *Juvenile Delinquency*, John Wiley and Sons, New York, 1966 39

group) उसके लिए 'पुरुष की भूमिका' (male role) के आवश्यक पहलू सीखने के लिए वास्तविक अवसर उपलब्ध करता है क्योंकि इस पीअर समूह—समान लोगों के समूह (peer group)—के सभी सदस्य लिंग सम्बन्धी भूमिका निभाने के लिए एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना करते हैं। इस प्रकार यह पीअर समूह बालक के लिए एक स्थिर और एकतापूर्ण प्राथमिक समूह का कार्य करता है। मिलर का कहना है कि किसी भी क्रिया संरूप (activity pattern) में सदस्यों के पारस्परिक एकता का उच्च स्तर आवश्यक होता है। समूह के प्रत्येक सदस्य को सामूहिक हितों की दृष्टि से अपनी स्वयं की इच्छाएँ अधीनस्थ (subordinate) करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त उसके लिए अन्य सदस्यों से घनिष्ठ और आग्रही अन्तःक्रिया की क्षमता भी आवश्यक है। अतः ऐसे सदस्यों को, जो गिरोह द्वारा अपराधी व्यवहार सम्बन्धी अनुशास्ति (sanctions) सहन नहीं कर सकते, गिरोह के स्वीकृत सदस्य नहीं माना जाता। यह चयन-प्रक्रिया एक ऐसे गिरोह का निर्माण करती है जिसके सदस्यों में (गिरोह के) 'उपसंस्कृति' नियमों के पालन की क्षमता (capacity) और प्रेरणा (motivation) की उच्च मात्रा मिलती है। इस प्रकार मिलर पीअर समूह के नियमों और मूल्यों के पालन को अपराधी-गिरोह के सदस्यों में प्रमुख चिन्ता का विषय मानता है। मिलर इसे 'सदस्यता प्राप्त करना' (sense of belonging) और 'स्थिति का प्रसंग' (status concern) भी मानता है। सदस्यता (एवं सम्बन्धित होने का भावना) कठोरता, चुस्ती, उत्तेजना, स्वाधीनता आदि लक्षणों के पालन द्वारा प्राप्त की जाती है। यही लक्षण सदस्यों को समूह में स्थिति प्राप्त करने व उसे बनाये रखने मे सहायक होते हैं। फलतः सदस्यों की क्रियाओं का प्रमुख आधार कष्टों को मोल लेना, कठोरता, उत्तेजना, रोमांच व भाग्य में विश्वास आदि होता है।

4. डेविड माटजा का 'अपराध की ओर बहाव' तथा 'तटस्थीकरण की प्रक्रिया' का सिद्धान्त (David Matza's 'Delinquency Drift' or 'Techniques of Neutralisation' Theory)

डेविड माटजा ने बाल-अपराध के अध्ययन में 1964 में एक नया उपागम प्रयोग किया जिसे वह 'लचीला निश्चयवाद' (soft determinism) का उपागम कहता है। यह उपागम 'स्वतन्त्र-इच्छा' (free-will) और 'निश्चयवाद' (determinism) उपागमों के बीच का उपागम है। जब स्वतन्त्र-इच्छा को मानने वालों का विचार है कि अपराध स्वतन्त्र इच्छा की उपज है और प्रमाणवादियों (positivists) का, जो निश्चयवाद को मानते हैं, विचार है कि अपराध उन शक्तियों की उपज है जिन पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं है, माटजा का कहना है कि व्यक्ति का अपराध की ओर 'बहाव' (drift) मिलता है। उसके अनुसार अपराधी परम्परागत तथा अपराधी व्यवहार के बीच खिसकता व बहता रहता है। वह दोनों की माँगों के प्रति बारी-बारी प्रतिक्रिया दिखाता रहता है तथा दोनों के प्रति झूठा झुकाव दिखाता रहता है। वह निर्णय टालते हुए किसी एक प्रकार के व्यवहार के साथ समझौता नहीं

करता।[1] अपराधी को माटजा एक ऐसा व्यक्ति मानता है जो न तो कृतियों (deeds) के प्रति प्रक्षिप्त (committed) रहता है और न अप्रक्षिप्त, जो किसी मौलिक रूप में न तो विधिपालक (law-abiding) व्यक्ति से भिन्न है और न ही उससे मिलता है, जो सामाजिक जीवन की कुछ परम्पराओं का पालन करता है तो कुछ को अस्वीकार करता है।[2]

माटजा अपराधी उपसंस्कृति को विशेषतः निम्नवर्गीय संघर्ष अभियुक्त (conflict oriented) प्रघटना न मानने के निम्न कारण देता है[3] (i) यदि कोई ऐसी अपराधी उपसंस्कृति पायी जाती है जिसमें अपराधी अपने अवैध व्यवहार को नैतिक रूप से उचित मानता है, तब उसमें पकड़े जाते समय एवं कारावास बन्धन के समय दोष, लज्जा और झिझक की भावनाएँ नहीं मिलनी चाहिए। उल्टा उसके स्थान पर बलिदान व शहादत (martyrdom) की भावना होनी चाहिए। यद्यपि यह सही है कि कुछ अपराधियों में यह 'शहीद होने' की भावना मिलती है परन्तु अधिकांश अपराधी पकड़े जाने पर झेंप और शर्म का अनुभव करते हैं; (ii) बाल-अपराधी सामाजिक और वैधानिक नियम पालन करने वाले व्यक्तियों को अनैतिक व्यक्ति नहीं समझते परन्तु उनका सम्मान व आदर करते हैं, (iii) इस बात के काफी प्रमाण मिलते हैं कि बाल-अपराधी अपने शिकार (victim) के चुनाव में कुछ मूल्य ध्यान में रखते हैं। शिकार के चुनाव में रक्त-सम्बन्ध, मित्रता, वर्ग भावना आदि को महत्त्व देना यह सिद्ध करता है कि अपराधियों के सभी मूल्य 'अपराधी मूल्य' नहीं होते जैसे कि कोहेन, क्लोवर्ड आदि मानते हैं, (iv) अपराध एक ऐसी क्रिया है जिसे आसानी से छोड़ा जा सकता है किन्तु 'उपसंस्कृति का सिद्धान्त' इस छुटकारे की सम्भावना तथा 'सुधार' को स्वीकार नहीं करता[4]; (v) ऐसी पूर्ण विकसित (full-fledged) उपसंस्कृति में, जिसमें प्रत्येक सदस्य से अपराध करने की आशा की जाती है, 'अपराधिता' की भावना का निहित होना निश्चित ही है। परन्तु गिरोह के लड़कों में रूढ़िगत (conventional) समाज के प्रति पूर्णकालिक (full time) संघर्ष नहीं होता। उनके अपराध उपाख्यान सम्बन्धी (episodic) होते हैं तथा वे कभी-कभी अनियमित रूप से ही अपराध करते हैं।

[1] "Delinquent drifts between conventional and criminal behaviour, responding in turn to the demands of each, flirting now with one now with the other but postponing commitment, evading decision" —David Matza in *Delinquency and Drift*, Wiley, N York, 1914, 28

[2] He considers deviant as one who is neither commilled to deeds nor uncommitted to them, neither different in any simple or fundamental sense from the law-abiding, nor the same, conforming to certain traditions in social life while partially unreceptive to other more conventional traditions

[3] G M Sykes and David Matza, article on 'Techniques of Neutralisation A Theory of Delinquency' in Giallombardo, *op cit*, 130–31

[4] Radzinowicz and Marvine E Wolfgang (eds), *Crime and Justice*, Vol I (The Criminal in Society). Basic Books Inc New York, 1971, 481

माटजा की मान्यता है कि गिरोह के सदस्य अपराध इस कारण करते हैं क्योंकि (i) किशोर होने के कारण वे बाल्यावस्था और वयस्कता के मध्य निलम्बन की स्थिति (state of suspension) में होते हैं; (ii) वे अपना अधिक समय 'पीयर्स' (समान व्यक्तियों) के साथ व्यतीत करते हैं; (iii) अपने को पुरुष समझे जाने तथा समान व्यक्तियों के समूह द्वारा स्वीकार किये जाने की आशा के लिए उत्सुक रहते हैं; और (iv) समूह के नियमों को इस कारण स्वीकार करते हैं क्योंकि उन्हें स्वीकार न करने से समूह में उनकी स्थिति निम्न हो जाने का भय रहता है।

डेविड माटजा ने ग्रेशम साइकिस (Gresham Sykes) से मिलकर 'तटस्थीकरण की प्रक्रियाओं' (techniques of neutralisation) का सिद्धान्त भी दिया है। उनका विचार है कि अधिकांश बाल-अपराधी यह स्वीकार करते हैं कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह अनुचित है तथा उसके लिए वे स्वयं को दोषी भी मानते हैं। इन दोषी विचारों को दूर करने के लिए वे अपने (अपराधी) व्यवहार की ऐसे तर्कों से सफाई देते हैं या उसे ऐसे तर्कान्वित (rationalise) करते हैं जो उनके विचार में तो मान्य होते हैं परन्तु समाज व वैधानिक व्यवस्था के अनुसार अमान्य होते हैं। ऐसे विचार उनको आत्माभियोग से संरक्षण देते हैं। अपराधी व्यवहार के इस औचित्य को माटजा 'तटस्थीकरण की प्रक्रियाएँ' (techniques of neutralisation) कहता है।[1] इस प्रक्रिया से अपराधी न केवल प्रबल आदर्शमूलक व्यवस्था (dominant normative system) के प्रति कार्यबद्ध (committed) रहता है परन्तु उसके आदेशकों का भी इस प्रकार वर्णन करता है कि नियमों के उल्लंघन को यदि वह 'उचित' नहीं समझता किन्तु 'स्वीकार' अवश्य करता है।

माटजा का सिद्धान्त सदरलैण्ड के सिद्धान्त से इस प्रकार भिन्न है कि जब सदरलैण्ड के अनुसार व्यक्ति 'कानून के उल्लंघन सम्बन्धी अनुकूल परिभाषाएँ' सीख कर अपराध करता है, माटजा के अनुसार 'तटस्थीकरण की प्रक्रियाएँ' सीखकर व्यक्ति अपराधी बनता है।[2]

माटजा और साइकिस तटस्थीकरण की पाँच प्रक्रियाएँ बताते हैं[3] : (i) उत्तरदायित्व की अस्वीकृति, (ii) हानि की अस्वीकृति, (iii) क्षतिग्रस्त व्यक्ति की अस्वीकृति, (iv) तिरस्कृत करने वालों की निन्दा करना, और (v) उच्चतर निष्ठा के प्रति अपील।

[1] G. M. Sykes and David Matza, 'Techniques of Neutralization : A theory of delinquency', *American Sociological Review*, Vol. 22, December 1957, 664–70.

[2] 'It is by learning techniques of neutralisation that the juvenile becomes delinquent rather than by learning 'definitions favourable to the violation of law' or learning moral imperatives, values or attitudes standing in direct contradiction to those of the dominant society.' Sykes and Matza, see article in Giallombardo, *op. cit.*, 133.

[3] *Ibid.*, 136.

(1) **उत्तरदायित्व की अस्वीकृति** (Denial of responsibility)—अपराधी अपनी अपराधी क्रियाओ के उत्तरदायित्व को या तो 'दुर्घटना' कहकर या उन्हे 'अपने नियन्त्रण से बाहर' बताकर अस्वीकार करता है। वह अपनी अवैध क्रियाओ को यह कहकर उचित बताता है कि ये उसके अस्नेही माता-पिता, खराब मित्रो, तथा गन्दे पडोस के कारण हैं। अपने व्यवहारो को 'परिस्थितियो द्वारा प्रेरित मानना' सीखकर वह बिना सामाजिक नियमो की आलोचना किये प्रबल आदर्शमूलक व्यवस्था से विचलित होने का 'कारण' ढूंढ लेता है।[1]

(2) **हानि की अस्वीकृति** (Denial of injury)—तटस्थीकरण की दूसरी प्रक्रिया अपराधी क्रिया मे पायी जाने वाली हानि को अस्वीकार करने के रूप मे पायी जाती है। अपराधी कानून मे 'अनैतिक अवैध कार्यों' तथा 'अवैध परन्तु अनैतिक न होने वाले कार्यों' मे अन्तर पाया जाता है। बाल-अपराधी इसी अन्तर का लाभ उठाकर अपने अपराधी व्यवहार को 'अवैध परन्तु अनैतिक न होना' बताकर उसे औचित्य दिखाता है। उदाहरण के लिए, वह अशिष्टता व वस्तुओ के विनाश (vandalism) को केवल 'अमीरो के विरुद्ध थोडी शरारत' बताता है क्योंकि इस शरारत से उन्हे कोई 'हानि' नही होती। इसी प्रकार मोटर कार की चोरी को 'उधार' तथा गिरोहो की लडाई को ऐसी वैयक्तिक लडाई बताता है जिससे समुदाय का कोई वास्ता नही है।

(3) **क्षतिग्रस्त व्यक्ति की अस्वीकृति** (Denial of the victim)—यदि बाल-अपराधी अपनी अपराधी क्रियाओ के लिए उत्तरदायित्व भी स्वीकार करता है तथा यह भी मानता है कि उसकी क्रिया ने कोई हानि पहुँचाई है, वह उस हानि की यह कहकर सफाई देता है कि उसका शिकार उस क्षति के लिए उन परिस्थितियो मे योग्य था। वह हानि को न्यायपूर्ण प्रतिशोध व दण्ड मानता है। अपने को 'बदला लेने वाला' और क्षतिग्रस्त व्यक्ति को दोषी व गुनाहगार बनाता है। समलिंगता (homosexuality) अनुसरण करने वाले व्यक्ति की मारपीट, बेईमान व धूर्त दुकानदार के दूकान से चोरी, अन्यायी शिक्षक के प्रति असभ्यता आदि वह 'असामाजिक क्रियाएँ' नही परन्तु 'दोषी व्यक्ति को दण्ड देना' समझता है। इस प्रकार बाल-अपराधी अपने को राबिनहुड तथा कानून के बाहर न्याय ढूंढने वाला व्यक्ति मानता है।

(4) **तिरस्कृत करने वालो की निन्दा** (Condemnation of the condemners)—तटस्थीकरण की चौथी प्रक्रिया लाछित करने वालो की निन्दा करना है। मैकारकिल और कार्न इसे 'अस्वीकर्ताओ को अस्वीकार करना' (rejection of rejectors) कहते है।[2]

[1] 'By learning to view himself as more acted upon than acting, the delinquent prepares the way for deviance from the dominant normative system without the necessity of a frontal assult on the norms themselves' *Ibid*, 133

[2] L. W. McCorkle and Richard Korn, 'Resocialisation within walls' in *The Annuals of the American Academy of Political and Social Science*, May 1954, 88-98

अवकाश (leisure) होता है तथा अवकाश सम्बन्धी उद्यम कठोरता और पुरुषत्व (masculinity) के महत्त्व पर जोर देते हैं।[1]

अपराधियो और अनपराधियो मे अवकाश से सम्बन्धित मूल्यो मे समानता होती है। ये मूल्य हैं . साहसी कार्य करने और सकट मोल लेने की इच्छाएँ, नैयमिक कठिन कार्य करने की अवहेलना, तुरन्त वित्तीय सफलता की अभिलाषा, पुरुषत्व जताने वाली मौखिक और शारीरिक छेड़छाड़, इत्यादि। परन्तु दोनो (अपराधियो और अनपराधियो) के अवकाश-क्रियाओं के लक्षणो मे अन्तर उनके स्वरूप के कारण अस्पष्ट बन जाता है। मध्य वर्ग के युवक इन मूल्यो को विशिष्ट समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यो के सन्दर्भ मे लेते है जबकि निम्न वर्ग के अपराधी युवक इन्हे अपने को समय पर लाभ पहुँचाने वाले मूल्यो के सन्दर्भ मे ही देखते हैं। अत इन अवकाश-क्रियाओ मे जो अपराधिता मिलती है वह 'गलत समय' (bad timing) से सम्बन्धित है। इस कारण बाल-अपराध को 'बाधक-प्रतिछाया' (disturbing reflection) *अथवा 'समाज का विकृत चित्र' (caricature of society)* माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि माटजा का सिद्धान्त कोहेन और क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्तो के बिल्कुल विरुद्ध है। जब कोहेन और क्लोवार्ड-ओहलिन अपराधी-उपसस्कृति को नियमो की पुष्टि करने वाला एक सम्बन्धों का ससजक सग्रह (cohesive set of relationships demanding conformity) मानते हैं, माटजा इस मत को अस्वीकार करता है। उसके विचार मे निम्न वर्ग सम्बन्धी पृष्ठभूमि, खराब स्कूल, और घटिया कार्य-कौशलता का बाल-अपराध व अपराधी उप-सस्कृति से कोई सम्बन्ध नही है। अत. हम यह ही कहेगे कि किसी एक विद्वान् के विचार को स्वीकार करने से पूर्व अधिक गहन अनुसन्धान की आवश्यकता है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि 'पीयर-समूह' का स्वरूप क्या है, इनमे कौनसे सामाजिक बन्धन पाये जाते है तथा किन-किन मूल्यो, विश्वासो और नियमो मे सदस्य आपस मे सहभागी रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमे इस तथ्य की खोज की भी आवश्यकता है कि स्कूल और कार्यक्षमता मे निम्नवर्गीय युवको की अयोग्यताएँ क्या है तथा ये अयोग्यताएँ उनके व्यवहार को कैसे प्रभावित करती हैं। इन तथ्यो के अभाव मे अपराधी-उपसस्कृति का वैज्ञानिक विवरण कभी सम्भव नही होगा।

5. वाल्टर रेक्लेस का 'आत्म-धारणा' अथवा 'दमनीय' (Self-concept or Containment) सिद्धान्त

रेक्लेस ने जैविकीय व शरीर-रचना सम्बन्धी सिद्धान्त *(जो अपराधी व्यवहार को व्यक्ति के वशागत शारीरिक और मानसिक बनावट के सन्दर्भ मे समझाता है)*, मानसिक (psychogenic) सिद्धान्त (जो अपराध को परिवार के अन्दर जीवन के

[1] *Matza and Sykes. 'Juvenile Delinquency* and subterranean values', *American Sociological Review*, No 26, 1961, 712-19

पहले कुछ वर्षों में दोषपूर्ण सम्बन्धों के सन्दर्भ में समझाता है) तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (जो अपराध को सामाजिक पर्यावरण के दबाव के सन्दर्भ में समझाता है) की आलोचना करके 'दमनीय' मध्य-मार्गी सिद्धान्त (middle-range theory) दिया है।[1] यह सिद्धान्त न केवल अपराधी व्यवहार को परन्तु आदर्शी (normative) व्यवहार को भी समझाता है।

यह सिद्धान्त आदर्शी व्यवहार पर नियन्त्रण से सम्बन्धित दो पहलुओं पर बल देता है : (क) आन्तरिक नियन्त्रण व्यवस्था (inner control system), तथा (ख) बाह्य नियन्त्रण व्यवस्था (outer control system)। पहले (नियन्त्रण) में वे तत्त्व आते हैं जो स्वयं के अन्दर मिलते है, जैसे आत्म-नियन्त्रण, विकसित पराहम (well developed super ego), अहं शक्ति (ego strength), उच्च कुंठा सहनशीलता (high frustration tolerance), बहकाव, भटकान व ध्यान विकर्षण की प्रतिरोध शक्ति (resistance to diversions), लक्ष्य अनुस्थापन (goal orientation), प्रतिस्थापक सन्तुष्टि ढूंढने की क्षमता (ability to find substitute satisfactions), तनाव को कम करने वाला युक्तिकरण (tension-reducing rationalisations), आदि। दूसरे (यानी बाह्य नियन्त्रण व्यवस्था या बाहरी दमन व रोकथाम—outer containment) में वे सब तत्त्व आते हैं जो व्यक्ति के निकटतम सामाजिक पर्यावरण में पाये जाते हैं तथा उसे नियन्त्रण में रखते है, जैसे नैतिकता की भावना, प्रतिमानों, लक्ष्यों व प्रत्याशाओं का संस्थापक पुष्टिकरण (institutional reinforcement of his norms, goals and expectations), प्रभावशाली अनुशासन व परिवीक्षण (effective supervision and discipline), कार्य करने का उचित अवसर (provision for reasonable scope of activity) तथा मान्यता प्राप्त करने का अवसर (opportunity for acceptance and identity)।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रबल आन्तरिक और बाहरी दमन (containment) सामाजिक और वैध व्यावहारिक नियमों के उल्लंघन के विरुद्ध परिरोधन (insulation) का कार्य करता है।

रेक्लेस का सिद्धान्त सभी अपराधों को स्पष्ट नहीं करता। उदाहरण के लिए यह सिद्धान्त उन अपराधों को नहीं समझाता जो प्रबल आन्तरिक दबाव (strong inner pushes), जैसे मजबूरी, उत्सुकता, भय (phobias), निर्मूल भ्रम (hallucinations), व्यक्तित्व के दोषों आदि के कारण, अथवा आंगिक क्षीणता (organic impairments), जैसे मस्तिष्क-क्षति (brain damage), मिरगी (epilepsy) के कारण, अथवा अत्यधिक उत्तेजना प्रवण तन्त्रों (neurotic mechanisms) जैसे कामुक आत्मदर्शन (exhibitionism), ताक-झांक (peeping), विवशताकारी दुकानों

[1] Walter C. Reckless, 'A new theory of delinquency and crime' in *Fedreal Probation*, Vol. 25, Dec. 1961, 42-46.

. Also see his book, *The Crime Problem* (3rd edition), Appleton Century Crofts, New York, 1961, 335-59.

से चोरी (compulsive shop-lifting) के कारण पाये जाते हैं (वैसे इन अपराधों की संख्या समाज में अधिक नहीं होती) । इसी प्रकार दमनीय सिद्धान्त उस अपराधी क्रिया को भी स्पष्ट नहीं करता जो परिवार या समुदाय में 'सामान्य' और अपेक्षित (expected) भूमिकाओं का अंग है, जैसे अपराधी जनजातियों के सदस्यों द्वारा अपराध तथा संगठित अपराध ।

इन दो चरम सीमाओं (extremes) के बीच प्रतिमान-उल्लंघन का मध्य-मार्गी रूप (middle-range of norm violation) मिलता है जो अधिकारियों द्वारा *वर्णित व अवर्णित अपराधों का दो-तिहाई से तीन-चौथाई होता है । दमनीय सिद्धान्त* इन्हीं मध्य-मार्गी अपराधों को समझाता है ।

रेकलेस के दमनीय सिद्धान्त का कुछ विद्वानों के अनुसन्धानों ने अनुमोदन किया है । अलबर्ट रीज (Reiss)[1] ने किशोरों के सफलतापूर्वक व असफलतापूर्वक परिवीक्षा पर छोड़े गये अपराधियों के अपराधों के विश्लेषण में पाया कि अधिकांश अपराध व्यक्तिगत और सामाजिक नियन्त्रण के अनुपाती (relative) शक्तिहीनता के कारण हैं । नाइ (Nye)[2] ने भी पाया कि अपराधी व्यवहार का सम्बन्ध चार नियन्त्रण सम्बन्धी तत्त्वों से है : (i) प्रत्यक्ष नियन्त्रण—जो अनुशासन, प्रतिबन्धों व दण्ड से आता है; (ii) आभ्यान्तरिक (internalised) नियन्त्रण—जो विवेक व अन्तरात्मा का आन्तरिक नियन्त्रण होता है, (iii) अप्रत्यक्ष नियन्त्रण—जो माता-पिता (या जिन व्यक्तियों से वह घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है) की इच्छाओं के विरुद्ध न *जाने के कारण पाया जाता है, और (iv) लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समाज द्वारा* स्वीकृत साधनों की उपलब्धि ।

उप-संस्कृति सिद्धान्तों का मूल्यांकन (Evaluation of Subculture Theories)

सभी उपसंस्कृति सिद्धान्तों ने मध्य और उच्च वर्गों की तुलना में निम्न वर्गों में अधिक अपराध पाये जाने को समझाने का प्रयास किया है । अपने परीक्षणों में इन सिद्धान्तों ने मुख्यतः संस्थागत जनसंख्या (institutionalised populations) *का प्रयोग किया है । परन्तु जेम्स शार्ट (James Short)*[3], *इवान नाइ (Ivan* Nye)[4] आदि द्वारा असंस्थागत तथा सामान्य जनसंख्या (non-institutionalised or general population) पर किये गये अध्ययन इन निष्कर्षों को सिद्ध नहीं कर पाये हैं । इन अध्ययनों ने यह बताया है कि अपराध एवं विचलित व्यवहार में

[1] Albert J. Reiss 'Delinquency as the failure of personal and social controls', *American Sociology Review*, Vol 16, 1951, 196-206.

[2] F. Ivan Nye, *Family Relationships and Delinquent Behaviour*, John Wiley & Sons, New York, 1958, 301

[3] Short, Nye and Olson, 'Socio-Economic Status and Delinquent Behaviour,' *American Journal of Sociology*, Jan 1958, 381-89

[4] F. Ivan Nye, *op cit*

सामाजिक वर्ग कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है। जान क्लार्क (John Clark) और यूजेन वेनिंगर (Eugene Wenninger) ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के अध्ययनों के विरोधी निष्कर्षों की चर्चा करते हुए कहा है कि अपराध की व्याख्या उस समुदाय पर निर्भर करती है जिसमें से अध्ययन किये जाने वाले सैम्पल का चुनाव किया जाता है।[1] उप-संस्कृति वाले अध्ययनों ने साधारणतः अपने सैम्पल का महानगरों (metropolitan areas) से चुनाव किया है जबकि सामान्य जनसंख्या पर किये गये अध्ययनों ने ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे कस्बों (small urban areas) से सैम्पल लिये हैं। वास्तव में इन (सामान्य जनसंख्या पर किये गये) अध्ययनों ने इलीनाइस (Illinois) के उत्तरी भाग में चार प्रकार के समुदाय से सैम्पल लिया : ग्रामीण क्षेत्र (rural farm), छोटा नगर (lower urban city), औद्योगिक नगर (industrial city) और बड़ा नगर (upper urban city)। इन चारों समुदायों से उन्होंने स्कूल-आयु के बच्चों के स्वीकृत अवैधानिक व्यवहार (admitted illegal behaviour) की एक दूसरे से तुलना की। बच्चों को प्रश्नावलियां दी गयीं और उन्हें कहा गया कि उनके द्वारा एक साल पहले (अध्ययन वर्ष से) किये गये अपराधों को वे टिक करें। इन अध्ययनों के विश्लेषण में पाया गया कि बच्चों में पाये जाने वाले अपराधों के संख्या की जब अपराधों की प्रकृति के आधार पर अलग-अलग समुदायों में तुलना की गयी तब पाया गया कि गम्भीर अपराधों की संख्या सर्वाधिक गांवों में और उसके बाद बड़े नगरों, औद्योगिक नगरों व छोटे नगरों में मिलती है।[2]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि क्योंकि निम्न वर्ग में अपराध की मात्रा वास्तव में अधिक नहीं मिलती है अतः उपसंस्कृति-सिद्धान्तों के निष्कर्षों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बाल-अपराध के कारक

साधारणतया अपराध के कारकों को तीन समूहों में विभाजित करके विश्लेषण किया जाता है : जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक। परन्तु हम इनका (क) व्यक्तित्व सम्बन्धी, और (ख) पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के रूप में उल्लेख करेंगे। व्यक्तित्व सम्बन्धी कारकों में हम शारीरिक अयोग्यता, पुरानी

[1] 'Explanation may lie in the type of the community from which the samples are taken.'—John P. Clark & Eugene P. Wenninger in 'Socio-Economic Class and Area as Correlates of Illegal Behaviour among Juveniles' in Wolfgang's *Sociology of Crime and Delinquency*, 451–459. Also see Reid's book *Crime & Criminology*, *op. cit.*, 190–91.

[2] 'When the rates of juvenile misconduct are compared on individual offences among communities, it appears that as one moves from rural farm to upper urban to industrial city and lower urban, the incidence of most offences becomes greater, specially in the more serious offences and in those offences usually associated with social structures with considerable tolerance for illegal behaviour.' —Clark & Wenninger, *op. cit.*, 456.

बीमारी और शारीरिक बनावट जैसे जैविकीय कारक और मन्द-बुद्धि, संवेगात्मक
व्याकुलता, अनुकरण, भय आदि जैसे मानसिक कारक अपराध के कारणों के सिद्धान्त
वाले अध्याय मे हम बता चुके हैं। अत यहाँ केवल पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का
ही हम विश्लेषण करेंगे।

पर्यावरण सम्बन्धी कारक—अपराध के पर्यावरण सम्बन्धी कारकों को हम
दो सतह पर देख सकते है : (i) घर के अन्दर पर्यावरण, और (ii) घर के बाहर
पर्यावरण। घर के अन्दर पर्यावरण मे हम छिन्न-भिन्न परिवार, अपराधी-परिवार,
दोषपूर्ण नियन्त्रण वाले परिवार, कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार और आर्थिक रूप से
असुरक्षित परिवार तथा भीड-भाड वाले परिवार का वर्णन करेंगे। घर के बाह्य
पर्यावरण मे हम शराब सम्पर्क, पडोस और सिनेमा पर विचार करेंगे।

(1) परिवार—परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्ति सामाजिक नियम सीखता
है और लक्षणो का विकास करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यह विकास
एक सामान्य सगठित परिवार मे ही अधिक सम्भव है। कार (Carr) ने सामान्य
परिवार के ये लक्षण दिये है[1]. (i) सरचनात्मक सम्पूर्णता (structural complete-
ness) अर्थात् परिवार मे माता-पिता दोनो का होना, (ii) आर्थिक सुरक्षा
(economic security) अर्थात् आय मे यथार्थ स्थिरता का होना जिससे रहन-सहन
का सामान्य स्तर बना रहे, (iii) सास्कृतिक समता (cultural homogeneity)
अर्थात् पति-पत्नी दोनों की भाषा, रीति-रिवाज व विचारो का एक होना। यदि
दोनो अलग-अलग सास्कृतिक पृष्ठभूमियो वाले व्यक्ति है तो उनकी सन्तान के व्यक्तित्व
की सतुलित रूप से विकसित न होने की सम्भावना हो सकती है, (iv) नैतिक
अनुसरण अर्थात् माता-पिता दोनो के द्वारा समाज के नैतिक नियमो का पालन किया
जाना, (v) शारीरिक और मानसिक रूप से प्रकृत अवस्था अर्थात् घर मे किसी
मानसिक तथा शारीरिक अपूर्णता व हीनता का व्यक्ति न होना, (vi) कार्यात्मक
पर्याप्तता (functional adequacy) अर्थात् पति-पत्नी मे व माता-पिता और
सन्तान मे कोई सघर्ष न होना और उनका निर्विघ्नता से अपने-अपने कार्य करते
रहना।

यद्यपि इन सभी लक्षणो वाले परिवार कम ही मिलते है परन्तु इसका यह
अर्थ भी नही है कि अन्य सभी परिवार अपराध ही उत्पन्न करते है। असामान्य
परिवार व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति मे बाधाएँ पैदा करते हैं जिससे
वह निराश होकर सामाजिक नियमो का उल्लघन करता है। छह प्रकार के असामान्य
परिवार अपराधी व्यवहार को अधिक उत्पन्न करते है :

(क) छिन्न-भिन्न परिवार—यह वह परिवार है जिसमे मृत्यु, परित्याग, तलाक
या कारावास के कारण माता अथवा पिता परिवार मे नही होते तथा माता या पिता
का एक से अधिक विवाह होने के कारण उसके दो या अधिक जीवन-साथी होते है।

[1] Lowell J. Carr, *Delinquency Control*, Harper and Bros , New York,
1950, 166-68

पहली परिस्थिति के कारण बच्चे को स्नेह नहीं मिल पाता और दूसरी के कारण उसकी उपेक्षा होती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए क्योंकि माता का प्यार तथा पिता का नियन्त्रण दोनों ही आवश्यक हैं इस कारण माता-पिता में से एक का परिवार में न होना बच्चे के सन्तुलित और समाज में समायोजित व्यक्ति होने पर प्रभाव डालता है। यह गलत समायोजन ही उसके अपराधी व्यवहार को प्रेरणा देता है। सदरलैण्ड[1] के अनुसार, अमरीका में 30 से 60 प्रतिशत तक बाल-अपराधी इन छिन्न-भिन्न परिवारों के सदस्य पाये जाते हैं। 1948 में अमरीका में कैलीफोर्निया में किये गये चार साल के अध्ययन में भी यह पाया गया कि उस राज्य में 62 प्रतिशत बाल-अपराधी छिन्न-भिन्न परिवारों के सदस्य थे।[2] हीले और ब्रानर[3] ने भी 1924 में अमरीका में शिकागो और बोस्टन में किये गये 4000 अपराधियों के अध्ययन में 50 प्रतिशत अपराधियों को; शेल्डन और ग्लूक[4] ने 966 बाल-अपराधियों के अध्ययन में 48 प्रतिशत अपराधियों को, हन्सा सेठ[5] ने बम्बई, पूना और अहमदाबाद में अध्ययन किये गये 47·4 प्रतिशत अपराधियों को, रटनशा[6] ने पूना में किये गये 225 अपराधियों में से 50 प्रतिशत को ऐसे ही (छिन्न-भिन्न) परिवारों की पृष्ठभूमि वाला पाया। इन छिन्न-भिन्न परिवारों के सभी सदस्य अपराधी क्यों नहीं बनते इसका कारण देते हुए सदरलैण्ड[7] ने कहा है कि अपराध में छिन्न-भिन्न परिवारों का महत्त्व अब इतना अधिक नहीं माना जाता जितना पहले माना जाता था। अब परिवार के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध तथा किस प्रकार वे सभी परिवारों में उत्पन्न हुई विभिन्न घटनाओं का सामना करते हैं, अपराधी व्यवहार में अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

(ख) **अपराधी परिवार**—अपराधी परिवार वह है जिसमें एक या अधिक सदस्य, विशेषकर माता पिता, अपराधी होते हैं। उनका अपराधी-व्यवहार बच्चों के विकास पर कुप्रभाव डालता है। अपराधी माता या पिता जान-बूझकर उन्हें अपराध सिखाते हैं अथवा बच्चे स्वयं अनुकरण द्वारा उनसे अपराध सीखते हैं। ग्लूक[8] ने 1000 बाल-अपराधियों के अध्ययन में पाया कि 80 प्रतिशत अपराधी ऐसे ही अपराधी परिवारों के सदस्य थे। भारत में सांसी, कंजर, नट आदि अपराधी जन-जातियों के परिवारों में भी ऐसे ही अपराधी पर्यावरण के कारण बच्चे अपराध सीखते हैं। "सिरिल बर्ट[9] का भी कहना है कि अपराधी परिवार अनपराधी परिवारों

[1] Edwin Sutherland, *Principles of Criminology*, Times of India Press, Bombay, 1965, 175.
[2] Robert G. Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Co., New York, 1956, 232.
[3] William Healy and A. F. Bronner, *Delinquents and Criminals : Their Making and Unmaking*, Macmillan Co., New York, 1926, 121–22.
[4] Sheldon and Glueck, *One Thousand Juvenile Delinquents*, Harvard University Press, Cambridge, 1934, 75–77.
[5] Hansa Seth, *op. cit.*, 4.
[6] Ruttonsha, *op. cit.*
[7] Sutherland, *op. cit*, 177.
[8] Sheldon and Glueck, *op. cit.*, 79-80.
[9] Cyril Burt, *op. cit.*, 60-98.

की अपेक्षा सात गुना अधिक अपराध करते है।

(ग) दोषपूर्ण नियन्त्रण वाले परिवार—जिस परिवार मे बच्चो के ऊपर नियन्त्रण मे बहुत कठोरता अथवा बहुत मृदुता होती है ऐसा परिवार भी अपराधी व्यक्ति उत्पन्न करता है। अधिक कठोरता के कारण बालक अपनी सभी इच्छाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा नही कर पाता जिस कारण उसमे नैराश्य पैदा होता है या फिर वह माता-पिता का विरोध करने लगता है। यह विरोध आगे चलकर समाज के प्रति विरोध मे परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार अधिक मृदुता व उदारता के कारण बालक जो मांगता है वह उसे मिल जाता है जिससे उसे परिवार के बाहर समाज मे अन्य लोगो से सामना करने व प्रतिस्पर्द्धा की शिक्षा नही मिल पाती। इस शिक्षा के अभाव मे वह अपनी इच्छित वस्तुओ व इच्छाओ को प्राप्त करने के लिए वैध और मान्यता प्राप्त तरीके प्रयोग न करके अवैध या अपराधी तरीके ही अपनाता है। लखनऊ मे रिफारमेट्री स्कूल मे किये गये एक अध्ययन मे 107 बाल-अपराधियो मे से 57 (53·2%) मे परिवार मे कठोरता पायी गयी। इन 57 मे से 25 अपराधियो के पिता कठोर पाये गये तथा 12 मे माता, 8 मे माता-पिता दोनो, 4 मे भाई, 5 मे माता व भाई और 3 मे पिता व भाई कठोर थे। किसी भी अपराधी की बहन कठोर स्वभाव वाली नही मिली। इसी प्रकार बाल-कारावास बरेली मे अध्ययन किये गये 279 बाल-अपराधियो मे से 129 (46 5%) अपराधियो के परिवारो मे नियन्त्रण मे कठोरता पायी गयी। इनमे 88 अपराधियो के पिता कठोर थे, 18 मे माता, 13 मे माता व पिता और शेष 10 मे अन्य सदस्य कठोर थे।[1]

(घ) कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार—यह वह परिवार है जिसमे सदस्यो मे आपसी संघर्ष अधिक मिलते है अथवा उनमे नैराश्य ज्यादा पाया जाता है। नैराश्य माता-पिता द्वारा दुतकारे जाने के कारण अथवा प्रतिद्वन्द्विता, संवेगात्मक असुरक्षा, कठोर प्रभुत्व, पक्षपात, ईर्ष्या आदि जैसी भावनाओ के कारण उत्पन्न होता है। यह नैराश्य सदस्यो के व्यक्तित्व को पंगु बना देता है। कार[2] के शब्दो मे, कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार सांवेगिक रूप से अस्वस्थ परिवार होता है। कार्ल रोजर, हीले और ब्रानर, बर्ट, ग्लूक आदि द्वारा किये गये अध्ययनो से भी इस प्रकार के परिवारो का अपराध मे बहुत महत्त्व मिलता है।

(च) आर्थिक रूप से असुरक्षित परिवार—यह वह परिवार है जिसमे आय मे यथार्थ स्थिरता नही होती अथवा आय अपर्याप्त होती है जिससे सदस्यो की विभिन्न आवश्यकताओ को पूरा नही किया जा सकता। निर्धनता और अपराध के सम्बन्ध मे किये गये बोगर, बर्ट, हीले और ब्रानर, हन्सा सेठ व रतनशा आदि के विभिन्न अध्ययनो का उल्लेख पहले ही किया गया है।

(छ) भीड़-भाड़ वाला परिवार—यह वह परिवार है जिसमे सदस्यो की संख्या इतनी अधिक होती है जिससे न तो उन्हे व्यक्तिगत ध्यान मिल पाता है और न

[1] Quoted by Kr Ram Singh, *Juvenile Delinquency in India*, Lucknow

[2] Carr. *op cit*, 167

गिरोह की भी रचना करता है। पड़ोस में सस्ते होस्टल, जुआ खेलने के अड्डे, वेश्या-गृह, सिनेमा आदि के होने के कारण भी समाज-विरोधी कारक पैदा होते है।

(4) सिनेमा और कामुक उपन्यास—व्यक्ति के अवकाश सम्बन्धी कार्य भी उनके विचारो और व्यवहारो पर प्रभाव डालते है। अच्छी तरह नियोजित और निरीक्षित मनोरंजन व्यक्तित्व के विकास मे एक मुख्य तत्व है। अखबार तथा अच्छी पत्रिकाएँ और पुस्तक व्यक्ति के विचारो और दृष्टिकोण को विकसित करते है परन्तु कामुक उपन्यास, सिनेमा आदि उसमे अनैतिक तथा अवैध भावनाओ को उत्पन्न करते है। सिनेमा व्यक्तियो मे अनेक उत्तेजनाएँ और कुविचार पैदा करते है जिनसे उनके अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है। ब्लूमर ने अमरीका मे अपराधियो के एक अध्ययन मे पाया कि अध्ययन किये गये अपराधियो मे से 10 प्रतिशत पुरुष और 25 प्रतिशत महिला अपराधियो ने सिनेमा के कुप्रभाव के कारण ही अपराध किया था। उसका कहना है कि चलचित्र खतरा मोल लेने के गुण को विकसित करते हैं, दिवा-स्वप्न पैदा करते हैं, आसानी से रुपया कमाने की इच्छा को प्रोत्साहित करते हैं, कामुक इच्छाएँ भड़काते है तथा अपराधित्व की शिक्षा देते हैं।[1] न्यूकोम्ब का विचार है कि चलचित्र व्यक्तियो को जीवन का क्षणिक दर्शन प्रदान करते है व अपराध करने के तरीके सिखाते हैं क्योंकि बच्चे अभिनेताओ की भाषा व आचरण का अनुसरण करते हैं।[2] सदरलैण्ड ने भी चलचित्रो के कुप्रभाव पर बल दिया है। उसका कहना है कि बहुत से बालक सिनेमा देखने से चोरी व राहजनी सीखते है, गिरोह बनाते है तथा सिनेमाओ मे दिखाये गये अपराध करने के तरीको को अपनाते है।[3]

इसके कुछ उदाहरण भारत मे भी मिलते है। कुछ वर्ष पहले एक अपराधी बादशोरी ने एक अंग्रेजी मूवी (How to Steal a Million) देखने के बाद एक म्यूजियम मे घुसने और एक लाख के मूल्य की वस्तुएँ चुराने मे वह तरीका अपनाया जो कुछ घण्टे पूर्व उसने पिक्चर मे देखा था। इसी प्रकार 'विक्टोरिया', 'आवारा' आदि फिल्म देखने के बाद घर से भागे हुए युवको द्वारा अपराध करना भी उन पर पिक्चर का प्रभाव बताता है। दिल्ली मे एक प्रमुख पब्लिक स्कूल के उच्च माध्यमिक कक्षा के तीन लड़को ने पूर्व निश्चित योजनानुसार दिन के समय एक घर मे चोरी की

[1] 'Through the display of crime techniques and criminal patterns of behaviour, *by arousing desires for easy money and luxury* and *by suggesting* questionable methods for their achievement, by *inducing a spirit of bravado*, toughness and adventurousness, by arousing intense sexual desires, by invoking day-dreaming and criminal roles, pictures may create attitudes and *furnish techniques conductive to delinquent or criminal behaviour.*' Herbert Blumer and Philip M Hauser, *Movies, Delinquency and Crime*, Macmillan Co, 1933, 198-99

[2] 'Movies provide people with temporary philosophies of life and with *fashions in dress; they teach children* techniques *of* love-making and certain criminal techniques *Children impersonate actors in their language* and conduct' T M Newcomb, *Social Psychology*, Drydon, New York, 1950, 91.

[3] Sutherland, *op cit*, 215

और पकड़े जाने पर उन्होंने बताया कि चोरी करने का तरीका उन्होंने इसी समय दिल्ली में चल रही एक पिक्चर (Anderson Tapes) से सीखा था। दिल्ली में ही दो नौजवानों ने एक आढ़ती (कमीशन एजेण्ट) से 500 रुपये लूटे और पकड़े जाने पर उन्होंने बताया कि लूटने का सूत्र उन्होंने कुछ दिन पूर्व देखी गयी मूवी (Sicilian Clan) से सीखा था। इसी प्रकार कलकत्ता में एक अवकाश-प्राप्त क्रान्तिकारी ने एक मूवी (Italian Job and Grand Slam) से सूत्र प्राप्त कर कुछ बैंकों को लूटा था। एक लड़कों के गिरोह ने एक जर्मन पिक्चर (The Great Train Robbery) देखने के उपरान्त एक मेल ट्रेन को लूटा था। एक सिंगापुरी फिल्म (Big Boss) देखने के उपरान्त सिंगापुर में अपराधी-दर 30% बढ़ गयी।[1] भारत में 1961–79 के मध्य बनी हुई फिल्मों के विषय-सम्बन्धी वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि अपराध-विधियाँ दिखाने वाली पिक्चर बनाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। जब 1961 में ऐसी केवल 30 पिक्चर बनी थीं, 1965 में 46, 1967 में 67, 1970 में 71, 1974 में 87, 1977 में 91 और 1979 में 107 बनीं। इन फिल्मों में दिखाये गये लड़कियों से छेड़छाड़ करने के तरीके, चोरी व लूट के उपयुक्त उपाय तथा पुलिस से बचने की विधियाँ आदि युवकों के मन पर घनिष्ठ प्रभाव डालते हैं व उनमें अपराधी मनोवृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं। परन्तु हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि फिल्मों का कुप्रभाव कमजोर व अन्यायपूर्ण पृष्ठभूमि वाले बच्चों पर ही अधिक पड़ता है। न्यूकोम्ब[2] ने भी कहा है कि फिल्मों का प्रभाव व्यक्तियों की सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है।

आवारागर्दी (Juvenile Vagrancy)

आवारा बालक 7 वर्ष से लेकर 16 या 18 वर्ष की आयु तक के बालक को कहा जाता है जो माँ-बाप की आज्ञा बिना घर से अनुपस्थित रहता है और आवारा-गर्दी करता-फिरता है। उनमें व्यक्तित्व के विघटन-सम्बन्धी लक्षण भी दिखाई देते हैं; उदाहरणतया अशिष्टता, ढिठाई, अप्रासंगिकता, असत्यता, यौन-अनैतिकताओं में फँसे रहना, जुआ खेलना, सिगरेट व शराब पीने की आदत, चोरी, अनैतिक व्यक्तियों के साथ उठना-बैठना, भद्दी व अश्लील भाषा प्रयोग करने की आदत, आदि। इन आवारा बालकों को मुख्यतया दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है : एक वे जो फुटपाथ पर रहते हैं; और दूसरे वे जो दिन को तो सड़कों पर अकारण ही चक्कर लगाते फिरते हैं परन्तु रात्रि को अपने ही घर में सोते हैं।

कुछ अध्ययनों के आधार पर यह पाया गया है कि बच्चों की आवारागर्दी में परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि मुख्य कारक हैं। लखनऊ और कानपुर में एक सर्वेक्षण में अध्ययन किये गये 300 आवारा बच्चों में से 30·3% 13 और 14 वर्ष की आयु के पाये गये; 21·0% 11 और 12 वर्ष के; और 20·7% 15 और 16 वर्ष के;

[1] *The Indian Police Journal*, October 1972, Vol. XIX, No. 2, 35.
[2] Newcomb, *op. cit.*, 94.

शेष 28·0% या तो 11 वर्ष से कम थे या 16 वर्ष से अधिक।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि किशोर अवस्था में बच्चों में आवारागर्दी अधिक मिलती है। इनके परिवारों के अध्ययन में पाया गया कि 57·3% बच्चे सामान्य परिवारों के सदस्य और 42·7% विच्छिन्न परिवारों के सदस्य थे जिससे यह ज्ञात होता है कि सामान्य परिवारों में माता-पिता का नियन्त्रण अथवा माता-पिता के आपसी सम्बन्ध आवारागर्दी के प्रमुख कारक है। गिरफ्तार करने के बाद आवारा बच्चों को या तो बाल जेलों में भेजा जाता है या किसी मान्यता-प्राप्त स्कूल (certified school) आदि में।

बिना आज्ञा स्कूल से अनुपस्थित होने वाले बच्चे (Juvenile Truancy)

बाल ट्रूएन्ट (truant) वह 7 और 16 वर्ष के बीच की आयु का बालक है जो बिना किसी उचित, सभ्य व समर्थनीय कारण के स्कूल से अनुपस्थित रहता है। यह बालक हमेशा वे नहीं होते जो परीक्षा में अनुत्तीर्ण ही होते रहते है परन्तु वे भी होते है जिनको शैक्षणिक दृष्टिकोण से अच्छा विद्यार्थी कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्कूल से भागने पर सभी बच्चे अन्य ट्रूएन्ट्स (truants) के सम्पर्क में नहीं पाये जाते। कुछ तो अकेले ही घूमते-फिरते है और कुछ के मित्र सामान्य व अनपराधी होते हैं। अधिकतर बच्चों के लिए स्कूल से भागने का कारण अध्यापक का व्यवहार तथा स्कूल का वातावरण होता है। अध्यापक का निष्ठुर शासक (disciplinarian) व तीव्र स्वभाव (tyrant) का होना, उसके द्वारा अश्लील भाषा का प्रयोग करना, अच्छा न पढ़ाना, आदि बच्चे को स्कूल से भागने पर विवश करता है।

कानपुर के 485 ट्रूएन्ट्स के एक अध्ययन के आधार पर उनको तीन समूहों में बाँटा गया है[2] : (i) सामयिक, (ii) अभ्यस्त, तथा (iii) बार-बार भागने वाले बच्चे। बिना आज्ञा स्कूल से अनुपस्थित होने वाले सामयिक बच्चे वे बताये गये है जो एक वर्ष के कार्य-काल के कुल कार्य-दिनों में से 10% से कम दिन तक स्कूल से अनुपस्थित रहते है। ये बच्चे अधिकतर स्कूल के पर्यावरण व अध्यापकों के व्यवहार के कारण ही कक्षाओं से भागते हैं। साथ में इनकी उल्लास व आमोद-प्रमोद तथा साहसिक कार्य करने की भी इच्छा रहती है जो स्कूल में पूर्ण नहीं हो पाती। ये बच्चे क्योंकि संकेत व प्रलोभन से भी जल्दी प्रभावित होते हैं इस कारण इनका सही प्रबन्ध कर इनको सुधारना बहुत आसान है। अभ्यस्त ट्रूएन्ट्स वे बच्चे बताये गये है जो कुल कार्य-दिनों में से 10 और 30% के बीच कक्षाओं से अनुपस्थित रहते है। ये बच्चे न केवल अश्लील भाषा का प्रयोग करते है परन्तु सामान्य ट्रूएन्ट्स पर भी बहुत प्रभाव डालते हैं। तीसरे प्रकार के बार-बार अनुपस्थित रहने वाले बच्चे वे बताये गये हैं जो 30% से अधिक कार्य-दिनों के लिए कक्षाओं से अनुपस्थित रहते है। ये न

[1] S. S. Srivastava, quoted by Sushil Chandra in *Sociology of Deviation in India*, Allied Publishers, Bombay, 1967, 4

[2] R. J. Khanna, quoted by Sushil Chandra, *op. cit.*, 10–11.

केवल स्कूल से भागते हैं परन्तु इन्हें घर से भागने की भी आदत होती है। इनको अध्यापकों के प्रति कोई आदर व सम्मान नहीं होता तथा दण्ड मिलने पर बदला लेने की इच्छा भी रखते हैं। ये उत्तेजित और आक्रमणकारी (aggressive) होते हैं तथा इनमें नेतृत्व के लक्षण भी पाये जाते हैं।

खन्ना द्वारा अध्ययन किये गये स्कूल से बिना आज्ञा अनुपस्थित रहने वाले 485 बच्चों में से 35% सामयिक, 40% अभ्यस्त और 25% बार-बार अनुपस्थित रहने वाले ट्रूएन्ट्स पाये गये।[1] इन तीनों प्रकार के बच्चों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार थे: (i) अधिकतर ट्रूएन्ट्स 10 और 13 वर्ष के बीच के अथवा कम आयु के थे, (ii) अधिकांश (90%) बच्चे 150 रुपये प्रति माह से कम आय वाले परिवार अथवा निम्न आर्थिक समूहों के सदस्य थे, (iii) अधिकतर बच्चों के माता-पिता के आपसी सम्बन्धों में संघर्ष पाया गया, और (iv) लगभग आधे बच्चे कोई नौकरी या व्यवसाय करते हुए पाये गये।

इन लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि क्योंकि परिवार और स्कूल, बच्चों के स्कूल से भागने के मुख्य कारक हैं, इसलिए उनके इस अपराध को नियन्त्रित करने के लिए हमें इन समूहों के पर्यावरण को ही नियन्त्रित करना होगा।

बाल-अपराध और सांविधिक (Statutory) उपाय

बाल-अपराध को नियन्त्रित करने के लिए हमें भारत में निम्नलिखित सांविधिक उपाय मिलते हैं: (i) विभिन्न राज्यों के बाल अधिनियम तथा 1960 का केन्द्रीय बाल अधिनियम, (ii) कुछ राज्यों के बोर्स्टल स्कूल अधिनियम तथा सुधारात्मक अधिनियम, और (iii) विभिन्न राज्यों के परिवीक्षा अधिनियम तथा 1958 का केन्द्रीय परिवीक्षा अधिनियम। इनमें से परिवीक्षा अधिनियम का हम परिवीक्षा के छठे अध्याय में विवरण दे चुके हैं। यहाँ केवल बाल अधिनियमों और बोर्स्टल अधिनियमों का विश्लेषण करेंगे।

बाल अधिनियम—1920 के जेल कमेटी के सुझावों के उपरान्त सर्वप्रथम मद्रास (1920) में बाल अधिनियम पास किया गया। इसके बाद बंगाल (1922) और बम्बई (1924) में भी ऐसे ही अधिनियम पास किये गये। इस समय (1976) में तीन राज्यों (जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा और नागालैण्ड) को छोड़कर बाकी सभी राज्यों में बाल अधिनियम मिलते हैं। इन सभी कानूनों में आयु, गिरफ्तार करने की विधियाँ, मुकदमा चलाने तथा सुधार की दृष्टि से सुझाये गये उपायों में अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए, आयु की दृष्टि से केन्द्रीय बाल अधिनियम (1960) तथा गुजरात (1948), हरियाणा (1949), ट्रावनकोर (1935), मध्यप्रदेश (1969), महाराष्ट्र (1924—संशोधन 1948), पंजाब (1967) व उत्तर प्रदेश (1951) के राज्यों के अधिनियमों में 16 वर्ष से कम आयु वाले लड़कों व लड़कियों को बाल-अपराधी माना गया है; राजस्थान (1970), असम (1969) और कर्नाटक (1964)

[1] *Ibid.*, 12.

अधिनियमो मे 16 वर्ष से कम लडको और 18 वर्ष से कम लडकियो को, आन्ध्र प्रदेश (1951) मे 18 वर्ष से कम लडको और 20 वर्ष से कम लडकियो को; तथा बिहार (1969), सौराष्ट्र (1956), बगाल (1922—संशोधन 1959) व तमिलनाडु (1920—संशोधन 1958) मे 18 वर्ष से कम लडको और लडकियो को बाल-अपराधी माना गया है।[1] इन अधिनियमो के मुख्य ध्येय हैं (क) युवा अपराधियो पर मुकदमे चलाने, दण्ड देने व जेल आदि मे रखने सम्बन्धी व्यवस्था जुटाना, और (ख) बच्चो और युवको की सुरक्षा सम्बन्धी उपाय अपनाना। सभी बाल अधिनियमो के अन्तर्गत इन्सपैक्टर जैसे साविधिक सत्ता (statutory authority) की नियुक्ति का प्रावधान मिलता है जो समय-समय पर रिमाण्ड होम, बाल-सदन, मान्यता-प्राप्त स्कूलो, अवलोकन-गृहो एव अन्य बाल-सस्थाओ का निरीक्षण करते है। इन इन्सपैक्टरो व निरीक्षको का काम सस्थाओं की आलोचना करना व उनमे दोष ढूंढना नही होता परन्तु उन्हे वैज्ञानिक आधार पर रचनात्मक मार्ग-दर्शन करना होता है।

राजस्थान मे बाल अधिनियम 1970 मे पास किया गया और 17 अगस्त 1971 से राज्य के 26 मे से दो जिलो—अजमेर और जयपुर—मे लागू किया गया है। 1980 मे यह शेष जिलो मे भी लागू किया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत दो अवलोकन-गृह (जयपुर और अजमेर), एक विशेष स्कूल (जयपुर) और एक बाल-सदन (जयपुर) खोले गये है।

राजस्थान और अन्य राज्यो मे पाये जाने वाले इन बाल अधिनियमो से सम्बन्धित पाँच प्रमुख प्रश्न उठते हैं : (1) क्या लडकियो के लिए लडको से अलग आयु निर्धारित करने की आवश्यकता है? (जैसा कि राजस्थान, असम, कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश मे मिलता है)। (2) बाल अधिनियमो के अन्तर्गत जो बाल-न्यायालय स्थापित किये गये हैं वे बाल-अपराधियो के अलावा निराश्रय (destitutes), उपेक्षित (neglected) व शोषित (victimised) बच्चो के मामलो की सुनवाई भी करते हैं। अत क्या निराश्रय व उपेक्षित आदि बच्चो के मामले बाल-न्यायालयो मे भेजने चाहिए एव उनके लिए दिल्ली की तरह अलग बाल-कल्याण बोर्ड स्थापित करने चाहिए जिससे बाल-न्यायालय केवल बाल-अपराधियो के मामलों की ही सुनवाई करें? (3) बाल अधिनियम बाल-न्यायालय मे सामान्यत वकीलो को हाजिर होने नहीं देते। तब क्या अभियुक्त बच्चो को कानूनी बचाव से वचित करना सही है? क्या इस प्रकार हम मौलिक मानवीय अधिकारो (fundamental human rights) का उल्लघन नही करते? (4) बाल-अधिनियमो के अन्तर्गत जिन रिमाण्ड होम, अवलोकन-गृहो, मान्यता-प्राप्त स्कूलो व बाल-सदनो आदि की स्थापना की गयी है क्या उनकी कार्य-विधि ठीक मिलती है? क्या बच्चो के स्वस्थ विकास के लिए इन सस्थाओ मे परिवर्तन की आवश्यकता नही है? (5) बाल अधिनियमो मे उत्तर-सरक्षण और पुन. स्थापन सम्बन्धी कार्यक्रम की कोई व्यवस्था नही की गयी है। क्या

[1] *Juvenile Delinquency : A Challenge*, Central Bureau of Correctional Services, New Delhi, 1970, 21

इनको सांविधिक उत्तरदायित्व का अभिन्न अंग बनाने की आवश्यकता नहीं है ?

बाल-न्यायालय

बीसवीं शताब्दी में अपराधियों के प्रति वैज्ञानिक उपचार सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आने से यह सोचा जाने लगा कि बाल-अपराधियों के अभियोग (prosecution) के लिए अलग न्यायालय स्थापित किये जाने चाहिए। सबसे पहले 1915 में बम्बई रेल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट में इसकी आवश्यकता पर बल दिया गया। परन्तु सबसे पहला बाल-न्यायालय 1922 में कलकत्ता में खोला गया, इसके बाद 1927 में बम्बई में और 1930 में मद्रास में। 1930 के बाद धीरे-धीरे कुछ अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की अदालतें स्थापित होती गयीं परन्तु अब भी सभी राज्यों में बाल-न्यायालय नहीं मिलते। अधिकांशतः यह न्यायालय अलग मकानों में होते हैं परन्तु जहाँ अलग मकान नहीं हैं वहाँ ये वयस्क अपराधियों के न्यायालयों में ही एक अलग कमरे में लगाये जाते हैं। इनकी संरचना भी साधारण न्यायालयों से भिन्न है। इनमें अधिकतर महिला मजिस्ट्रेट को नियुक्त किया जाता है, परन्तु ऐसे भी न्यायालय हैं जहाँ पुरुष मजिस्ट्रेट पाये जाते हैं; परन्तु इनको बाल-मनोविज्ञान और बाल-कल्याण का विशेष ज्ञान होता है। इन अदालतों में किसी सरकारी अधिवक्ता को अपनी अधिकारी वर्दी में आने नहीं दिया जाता तथा सभी सादे कपड़ों में ही रहते हैं। न्यायालय की कार्यवाही में भी गोपनीयता रखी जाती है। इस अदालत द्वारा दण्ड मिलने पर बच्चे की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि पुनः अपराध करने पर उसके पहले दण्ड पर ध्यान नहीं दिया जाता, जैसा कि वयस्क अपराधियों में पाया जाता है। फलतः बाल-न्यायालयों के मुख्य लक्षण इस प्रकार दिये जा सकते हैं : (i) कार्यवाही की अनौपचारिकता, जैसे घर जैसा वातावरण तथा कानून का भय दिखाकर बहस न करके साधारण बातचीत द्वारा तथ्य एकत्रित करना; (ii) दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होना; तथा (iii) सुधार पर बल देना।

यदि हम बाल-न्यायालयों और वयस्क अपराधियों के न्यायालयों की तुलना करें तो हमें दोनों में यह अन्तर मिलेगा : (1) साधारण न्यायालय में कार्यवाही में गोपनीयता नहीं मिलती परन्तु बाल-न्यायालय में मिलती है, अर्थात् जनता को मुकदमे की कार्यवाही सुनने और समाचार-पत्रों में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित करने पर प्रतिरोध है। (2) साधारण न्यायालय में हर अपराध के लिए पूर्व-निश्चित दण्ड दिया जाता है पर बाल-न्यायालय में अलग-अलग अपराध की प्रकृति के आधार पर दण्ड निश्चित होता है। (3) वयस्क अदालतों में केवल उन्हीं को दण्डित किया जाता है जो कानून का उल्लंघन करते हैं परन्तु बाल-न्यायालयों में कानून के उल्लंघन के अलावा अपेक्षा-च्युत व्यवहार के लिए भी दण्ड मिलता है। (4) बाल-न्यायालयों में निर्णय का एक आधार परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट होती है जिसमें अपराधी के व्यक्तित्व, परिवार, स्कूल व पड़ोस आदि परिस्थितियों का वर्णन होता है परन्तु वयस्क अपराधी न्यायालयों में ऐसी सामाजिक छानबीन पर महत्त्व नहीं दिया जाता।

(5) वयस्क न्यायालय द्वारा वयस्क अपराधी के दण्ड को उसके दूसरे अपराधों में महत्त्व दिया जाता है परन्तु बाल-न्यायालय के दण्ड को बालक के दुबारा अपराध करने पर अन्य न्यायालय में उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने में प्रयोग नहीं किया जाता। बाल-न्यायालयों के इन्हीं लक्षणों के कारण यह कहा जा सकता है कि इनके तरीकों को वयस्क अपराधी न्यायालयों पर भी लागू करना चाहिए।

लिन्डसे (Lindsey)[1] का कहना है कि बाल-न्यायालयों का मुख्य लाभ यह है कि ये पुरानी विधि संहिता (procedure) को समाप्त करके न केवल बाल-अपराधियों के लिए परन्तु वयस्क अपराधियों के लिए भी एक नयी विधि संहिता स्थापित कर रहे हैं। हाल (Hall)[2] का भी मत है कि यह आशा की जाती है कि तात्कालिक बाल-न्यायालयों के तरीकों का विस्तार करके वयस्क अपराधी न्यायालयों में कुछ वयस्क अपराधों के अभियोग में भी उपयोग किये जायेंगे।

भारतीय बाल-न्यायालय अपराधियों को दण्ड देने में जो मुख्य तरीके प्रयोग करते हैं वे हैं: जुर्माना करना, चेतावनी देकर और अच्छे व्यवहार का बॉण्ड भरवा कर माता-पिता अथवा संरक्षक को सौंप देना, परिवीक्षा पर छोड़ देना, जेल भेजना, मान्यता-प्राप्त स्कूल व परिवीक्षा हॉस्टल आदि जैसी किसी सुधारवादी संस्था में भेजना, आदि। बम्बई में 1947 में रटनशा द्वारा अध्ययन किये गये विभिन्न बाल-न्यायालयों द्वारा तय किये गये 40,119 अपराधियों के मुकदमों में से 4% मुकदमे अध्ययन के समय बाल-न्यायालयों में विचाराधीन थे और 96% अपराधियों के केस समाप्त (dispose off) किये गये थे। इन 96% केसों में से 12.5% अपराधों में बच्चों को अनपराधी मानकर बरी कर दिया गया था और 87.5% को अपराधी पाया गया। इन 87.5% (अथवा लगभग 33,700) अपराधियों में से 37.6% बाल-अपराधियों को जुर्माना किया गया, 12.5% को चेतावनी देकर छोड़ दिया गया, 12.9% को जेल भेज दिया गया, 10.1% को परिवीक्षण पर रखा गया, 8.3% को सुधारात्मक संस्थाओं में भेज दिया गया और शेष 1.86% को कोई अन्य दण्ड दिया गया।[3] 1971 में भारत में जिन 83,548 बाल-अपराधियों पर मुकदमे चलाये गये उनमें से 30.5% केस न्यायालय में विचाराधीन थे तथा 69.5% केसों में फैसला दे दिया गया था। फैसले वाले केसों में से 5.8% (4,816) को उनके माता-पिता को सौंपा गया, 36.9% (30,787) को चेतावनी देकर छोड़ दिया गया, 21.3% (17,877) को जेल भेजा गया, 1.1% (919) को सुधारात्मक संस्थाओं व बार्स्टल स्कूलों में रखा गया और 2.2% (1,795) को परिवीक्षा पर रखा गया, शेष 2.2% (1,860) को मान्यता-प्राप्त स्कूलों (certified schools) आदि में रखा गया।[4] इन आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार बाल-अपराधियों का

[1] B. B. Lindsey, *The Beast*, Doubleday, New York, 1910, 149

[2] Jerome Hall, *Theft, Law and Society*, Indianapolis, 1952

[3] G. N. Ruttonshaw, *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Poona, 1947, 81

[4] *Crime in India*, 1971, *op. cit.*, 57

मुख्य उद्देश्य दण्ड की अपेक्षा सुधार करना है।

इन सुधारात्मक तरीकों के उपयोग के कारण कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो वाल-न्यायालयों को वहुत उपयोगी मानते हैं परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इनको वेकार समझते हैं। एक ओर जव लिन्डसे[1] और टैफ्ट[2] जैसे विद्वानों का कहना है कि अपराध को रोकने में जो कार्य साधारण न्यायालय दस वर्षों में नहीं कर पाये हैं वही कार्य वाल-न्यायालय एक वर्ष में कर रहे हैं, दूसरी ओर वेक और हीले[3] जैसे विद्वानों की मान्यता है कि क्योंकि वाल-न्यायालयों को एक सामान्य व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखता है, वकील घृणा से और न्यायाधीश शक्तिहीनता की दृष्टि से, इस कारण इन अदालतों को सुरक्षित रखना आवश्यक नहीं है। कुछ प्रगतिवादी (progressivists) वाल-न्यायालयों के विरुद्ध इसलिये है क्योंकि सिद्धान्त में तो ये अपराधियों के सुधार पर वल देते हैं परन्तु वास्तव में दण्ड पर अधिक वल है। कुछ रूढ़िवादी (conservatives) वाल-न्यायालयों के विरुद्ध इस कारण हैं कि यह वहुत मँहगे हैं और अपराधियों को कठोर दण्ड न देकर समाज को उनसे सुरक्षा प्रदान नहीं करते और न ही सामाजिक छानवीन (social investigation) पर वल देते हैं। लेकिन जैसा कि देखा गया है, ये सव तर्क सही नहीं हैं। यदि हम यह मानते हैं कि वच्चों के व्यवहार और वयस्कों के व्यवहार में अन्तर है तो उस व्यवहार को नियन्त्रित करने के तरीके भी अलग-अलग अपनाने होंगे। इस दृष्टि से वाल-न्यायालयों की उपयोगिता की उपेक्षा करना गलत होगा।

रिमाण्ड होम (Remand Observation Homes)

जिन वच्चों के अपराध न्यायालयों में लाये जाते हैं उनको मुकदमे समाप्त होने तक कहाँ रखा जाये, यह समाज के लिए एक समस्या रहती है। जिन अपराधियों के परिवार हर प्रकार से संगठित व सामान्य पाये जाते हैं उनको तो उनके घरों में रखना हानिकारक नहीं होता परन्तु कुछ अपराधों में क्योंकि वालक या तो विना घर-वार के होता है या परिवार का अपराध में मुख्य कार्य पाया जाता है या फिर किसी कारण अपराधी को अभियोग काल (prosecution period) में परिवार और समाज से दूर रखना आवश्यक होता है, इस कारण वच्चे को किसी अन्य सुरक्षित स्थान में रखना अनिवार्य समझा जाता है। फिर इस काल में उसके व्यक्तित्व व व्यवहार का अवलोकन तथा परिवार व पड़ोस आदि के वातावरण का अध्ययन भी जरूरी है। इस अवलोकन हेतु भारत में कुछ सदन खोले गये हैं जिनको 'अवलोकन-गृह' तथा 'रिमाण्ड होम' कहा जाता है। यह रिमाण्ड-गृह, इस तरह, वच्चों को

[1] E. Lindsey, 'The Juvenile Court Movement from a lawyer's standpoint' in *Annals of the American Academy of Political and Social Science*, March 1914, 142.

[2] Donald R. Taft, *Criminology*, Macmillan, New York, 1950, 577.

[3] William Healy, *Thought about Juvenile Courts*, Federal Probation, September 1949, 17.

नजरबन्द करने अथवा हिरासत के स्थान नहीं होते परन्तु उनके व्यवहार के निरीक्षण के स्थान होते है।

क्लीफोर्ड मैनशार्ट (Clifford Manshardt)[1] ने अच्छे रिमाण्ड गृहो की कुछ आवश्यकताएँ बतायी है : जैसे, लिंग के आधार पर बच्चो का पृथक्कीकरण, शिक्षा, प्रशिक्षण और मनोरंजन की सुविधाएँ, शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के अध्ययन की सुगमता; प्रभावकारी निरीक्षण, सीमित अनुशासन, बाल-न्यायालयो का इन पर नियन्त्रण; आदि। मैनशार्ट की मान्यता है कि रिमाण्ड-गृह मे हिरासत मे रखा जाना बच्चे का कानून से पहला सम्पर्क होता है इस कारण कि रिमाण्ड-गृह मे सुधार के तरीके ही बच्चे के बाल-न्यायालय के प्रति धारणा को निर्धारित करेंगे। यदि बच्चा बाल-न्यायालय के प्रति सन्देहशील (suspicious) और अविश्वासपूर्ण (defiant) है तो वह कभी भी मजिस्ट्रेट को अपने प्रति सही और सम्पूर्ण सूचना नही देगा जिसके अभाव मे बाल-न्यायालय उसके सुधारने मे यथार्थ तरीके को निर्धारित नहीं कर पायेगा। इसलिए आवश्यक है कि रिमाण्ड-गृह मे असहनीय व निपुण वातावरण नही होना चाहिए।

भारत मे जो कुछ राज्यो मे रिमाण्ड-गृह पाये जाते है उनकी व्यवस्था व कार्य-प्रणाली भी मैनशार्ट के सुझावो से मिलती है। 1975 के आँकड़ो के अनुसार ग्यारह राज्यो और दो केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रो मे 153 रिमाण्ड-गृह पाये जाते है।[2] इनमे सबसे अधिक महाराष्ट्र मे (38), उसके बाद उत्तर प्रदेश (26), कर्नाटक (24), गुजरात (22), तमिलनाडु (11), केरल (9), मध्य-प्रदेश (7), आन्ध्र-प्रदेश (5), राजस्थान (4), दिल्ली (3) व पंजाब (2) मिलते है। बंगाल व पांडिचेरी मे केवल एक ही रिमाण्ड होम है। इन कुल 153 रिमाण्ड-गृहो मे से 92 तो सरकारी गृह हैं और 61 निजी (voluntary) है। लड़को और लड़कियो के लिए अलग-अलग गृह है। परन्तु भारत मे जो मुख्य बात पायी जाती है वह यह है कि यह रिमाण्ड-गृह बाल-अपराधियो के अतिरिक्त निराश्रय व अनाथ (destitutes) और उपेक्षित (neglected) आदि बच्चो के लिए भी उपयोग किये जाते है। इन गृहों मे रखे गये कुल बालको मे से एक-तिहाई से अधिक बाल-अपराधी होते है तथा 60–65 प्रतिशत बच्चे अनाथ व उपेक्षित आदि होते है। 1975 मे कुल 35,444 बच्चो मे 67 से 39 1% बच्चे बाल-अपराधी थे। इनमे से 6 70% आई० पी० सी० (I P C.) अपराधो के अन्तर्गत तथा 33% स्थानीय कानूनो के अन्तर्गत दंडित हुए थे। आई० पी० सी० अपराधो के अन्तर्गत 9,275 अपराधियो मे से 45% ने चोरी सम्बन्धी तथा शेष 55% ने राहजनी (robbery), धोखाधड़ी (cheating), झगड़े-फसाद (hurt), डकैती, अपहरण, जाली सिक्के बनाने आदि सम्बन्धी अन्य अपराध किये थे।[3] दूसरी ओर स्थानीय विशेष कानूनो के अन्तर्गत 4,570 अपराधियो मे से

[1] Clifford Manshardt, *The Delinquent Child*, 93-94
[2] *Social Defence*, July 1978, 55.
[3] *Ibid*, 60-61

16% ने मद्यनिषेध व आवकारी अधिनियम के विरुद्ध, 4% ने जुआ अधिनियम के विरुद्ध, 31% ने रेलवे अधिनियम के विरुद्ध तथा 49% ने अन्य अपराध किये थे।[1]

आयु की दृष्टि से रिमाण्ड-गृहों में रखे गये बच्चों में से दो-तिहाई 7–14 आयु-समूह में पाये जाते है और शेष एक-तिहाई या तो 7 वर्ष से कम या 14 और 18 वर्ष के बीच की आयु के पाये जाते हैं। 1975 के आँकड़ों के अनुसार भारत में विभिन्न राज्यों के रिमाण्ड-गृहों में पाये जाने वाले 36,118 निवासियों (inmates) में से 12·8% 7 वर्ष से कम थे, 23·9% 7 से 12 वर्ष के, 31·8% 12 से 14 वर्ष के, 25·6% 14 से 16 वर्ष के, और 5·9% 16 से 18 वर्ष के थे।[2] इस आधार पर भारत में बाल-अपराध का बताया गया यह लक्षण कि किशोर अवस्था में बाल-अपराध सबसे अधिक पाया जाता है, सिद्ध नहीं होता। शायद इसका कारण यह है कि रिमाण्ड-गृहों में अपराधियों की अपेक्षा निराश्रय और उपेक्षित आदि बच्चों की संख्या अधिक है।

रहने की अवधि की दृष्टि से देखा गया है कि रिमाण्ड-गृहों में लगभग 50% बच्चे छः हफ्ते से कम समय के लिए रखे जाते हैं, 35% लगभग छः हफ्ते और छः महीने के बीच और शेष 15% करीब छः महीने से अधिक समय के लिए।[3] सम्भवतः इसका कारण एक यह है कि तीन-चार महीनों में बच्चे के व्यवहार का अवलोकन करके उसके व्यक्तित्व का अध्ययन पूरा किया जाता है और साथ में परिवीक्षा-अधिकारी भी बच्चे के परिवार, स्कूल आदि का अध्ययन पूरा कर अपनी रिपोर्ट तैयार कर लेता है। फिर पाँच-छः महीने में न्यायालय द्वारा भी केस समाप्त कर दिया जाता है।

रिमाण्ड गृहों से अधिकांश बच्चे या तो माता-पिता को सौंपे जाते हैं या रिफारमेट्री स्कूलों में भेजे जाते हैं तथा बहुत कम को जेल भेजा जाता है। 1975 के आँकड़ों के अनुसार पूरे भारत में ग्यारह राज्यों और दो केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में 153 रिमाण्ड-गृहों में रखे गये कुल 35,444 बच्चों में से 54·1% को उनके माता-पिता को सौंपा गया तथा 11·3% को छोड़ दिया गया। शेष में से 13·2% को मान्यता-प्राप्त स्कूलों में, 9·7% को सुधार-गृहों में, 6·5% को योग्य व्यक्तियों की संस्थाओं (fit-persons institutions) में, 1·9% को चिकित्सा-केन्द्रों में, तथा 0·2% को जेल भेजा गया। 2·9% बच्चे भाग गये व 0·2% की मृत्यु हो गयी।[4]

गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और दिल्ली के रिमाण्ड-गृहों में बच्चों के मानसिक अध्ययन के लिए मानस रोग-चिकित्सक भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार बिहार, केरल और तमिलनाडु के अलावा शेष सात राज्यों के रिमाण्ड-गृहों में परिवीक्षा अधिकारी भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त डाक्टर और शिक्षक भी इन गृहों में अंशतः समय (part time) या पूरे समय के लिए नियुक्त किये जाते हैं। एक

[1] *Ibid.*, 62–63.
[2] *Ibid.*, 58.
[3] *Social Defence*, July 1974, 68.
[4] *Social Defence*, July 1978, 57.

बच्चे के ऊपर औसतन 25 रुपये प्रति माह इन गृहो मे व्यय किया जाता है[1] जो एक साधारण जेल मे रहने वाले एक वयस्क अपराधी पर किये गये व्यय से कहीं कम है। इससे ज्ञात होता है कि साधारण जेलो मे रिमाण्ड पर रखे गये वयस्क अपराधियो के विपरीत रिमाण्ड-गृहों में रखे गये बाल-अपराधियो को खाली रखने के बजाय कोई कार्य करके आरम्भ से ही उनके सुधारने के प्रयत्न किये जाते है।

बाल-अपराधियो का सुधार और संस्थात्मक उपचार

बाल-अपराधियो के सुधार के लिए कुछ सुधारवादी संस्थाएँ स्थापित की गयी है, जैसे मान्यता प्राप्त (certified) स्कूल, बोर्स्टल स्कूल, परिवीक्षा होस्टल, आदि। यद्यपि जेल भी अपराधियो को सुधारने की संस्थाएँ है परन्तु जेल और अन्य सुधारात्मक संस्थाओ मे अन्तर है। कारावास मे रखने के कारण बालक को एक धब्बा (stigma) लग जाता है जो उसके लिए जेल से छूटने के बाद पुनर्वास मे बाधाएँ पैदा करता है। दूसरा, जेल मे अपराधी की व्यक्तिगत देखभाल सम्भव नही है पर बाल-संस्था मे यह सम्भव है। तीसरा, जेल मे रहने से अपराधी का समाज के साथ सम्पर्क बिल्कुल समाप्त हो जाता है पर संस्था मे रहने से उसका यह सम्बन्ध बना रहता है। इन्ही सुधारात्मक संस्थाओ का अब हम विस्तारपूर्वक विश्लेषण करेंगे।

सुधारालय या मान्यता प्राप्त रिफारमेट्री स्कूल (Certified or Approved Reformatory School)—यह स्कूल सुधारालय अधिनियम के अन्तर्गत बाल-अपराधियो तथा मुख्यत 7–18 वर्ष के आयु-समूह के बच्चो के सुधार हेतु स्थापित किये गये है। इन सुधारालयो मे उन्ही अपराधी बच्चों को रखा जाता है जिन्हे न्यायालय द्वारा निरोधादेश (detention order) मिलता है। यहाँ अपराधी बालक को कम से कम तीन वर्ष और अधिक से अधिक सात वर्ष तक ही रखा जाता है। क्योंकि 18 वर्ष से ऊपर वाला बालक सामान्यत यहाँ नही रखा जाता इस कारण न्यायालय बालक के लिए निरोधकाल (detention period), मुकदमा समाप्त होने के उपरान्त दोषी-सिद्धि के समय उसकी आयु 18 वर्ष की आयु के अन्तर के आधार पर, निर्धारित करता है। परन्तु इसमे न्यूनतम निरोधकाल तीन वर्ष और अधिकतम सात वर्ष होता है।

1975 के आँकडो के अनुसार भारत मे 12 राज्यो और दो केन्द्र-शासित क्षेत्रो मे कुल 101 मान्यता प्राप्त स्कूल थे जिनमे से 40 महाराष्ट्र मे, 20 तमिलनाडु मे, 10 कर्नाटक मे, 8 उत्तर-प्रदेश मे, 7 गुजरात मे, 5 केरल मे, 4 आन्ध्र-प्रदेश मे, तथा एक-एक राजस्थान, बिहार, मध्य-प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, दिल्ली व पांडिचेरी मे है।[2] केवल महाराष्ट्र और तमिलनाडु मे कुछ स्कूल निजी है, शेष अन्य राज्यो मे सभी स्कूल सरकारी है। इन सभी स्कूलो की 1975 मे प्रतिदिन औसतन (daily average) संख्या 4,121 थी जबकि 1971 मे यह 2,700 व 1973 मे 3,176

[1] *Ibid*, 64
[2] *Social Defence*, Oct 1978, 55.

थी ।[1] स्कूलों में रखे जाने वाले बच्चों में से लगभग एक-तिहाई को दण्ड-अवधि (commitment period) समाप्त होने पर छोड़ा जाता है तथा एक-चौथाई भागने में सफल होते हैं। 1975 में भारत के 12 राज्यों और दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों के 101 स्कूलों से छोड़े गये 6,460 बच्चों में से 29.3 प्रतिशत को अवधि समाप्त होने पर, 6 प्रतिशत को उन्मुक्ति आयु (discharge age) प्राप्त करने पर, 4.1 प्रतिशत को अपील पर, 1.3 प्रतिशत को जमानत पर, 9.6 प्रतिशत को लाइसेंस पर, 1.5 प्रतिशत को समय से पूर्व छोड़े जाने (premature release) पर तथा 19.5 प्रतिशत को अन्य राज्यों में स्थानान्तरण (transfer) करने पर छोड़ा गया। 27.4 प्रतिशत बच्चे भाग गये तथा 1.3 प्रतिशत की मृत्यु हो गयी ।[2]

1975 में 12 राज्यों और दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों में रखे गये 6,460 बच्चों में से 84.3 प्रतिशत लड़के व 15.7 प्रतिशत लड़कियाँ थीं। आयु की दृष्टि से 38.2 प्रतिशत 12 वर्ष से कम, 28 प्रतिशत 12-14 आयु-समूह के 20.8 प्रतिशत 14-16 आयु-समूह के, 11·7 प्रतिशत 16-18 आयु-समूह के तथा 1·3 प्रतिशत 18-21 आयु-समूह के सदस्य थे ।[3] इन स्कूलों में 1975 में प्रति बालक पर औसतन 140 रुपया प्रति माह व्यय होता था। वर्तमान (1981) में मूल्य-वृद्धि को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जेल में जब प्रति माह प्रति व्यक्ति 90 रुपया, रिमाण्ड-गृह में प्रति माह 110 रुपया मान्यता-प्राप्त स्कूल में प्रति माह लगभग 160 रुपया खर्च किया जाता है।

लड़कों के सुधारालयों में लड़कियों को नहीं रखा जाता। इसी प्रकार अपराधी जनजातियों व शारीरिक रूप से विकृत बच्चों को भी यहाँ नहीं रखा जाता। ये स्कूल जेल विभाग के सत्ताधिकार के अन्तर्गत ही कार्य करते हैं। यहाँ 80–100 बच्चों को रखने की व्यवस्था होती है। स्कूलों को 4–5 शयन-कक्षों (dormitories) में तथा हर शयन-कक्ष को 4–5 कोठरियों (cells) में विभाजित किया जाता है। स्कूल के खेल प्रांगण में खेलने आदि की सुविधाएँ होती है तथा पुस्तकालय और उद्योग प्रशिक्षण के लिए अलग कमरे होते हैं। प्रत्येक स्कूल, अधीक्षक, उपाधीक्षक, उपजेलर, सहायक-जेलर, डाक्टर, 3–4 प्रशिक्षण मास्टरों, 2–3 स्कूल-मास्टरों तथा कुछ वार्डरों के निरीक्षण में कार्य करता है।

प्रशिक्षण में सिलाई का काम, खिलौने बनाना तथा चमड़े की वस्तुएँ बनाना सिखाया जाता है। इसके अतिरिक्त बुनाई तथा कृषि की शिक्षा भी दी जाती है। हर शिल्प-शिक्षा के लिए दो वर्ष का पाठ्यक्रम होता है तथा हर छः महीने बाद परीक्षा ली जाती है। किसी शिल्प-शिक्षा में प्रशिक्षण लड़कों की रुचि के आधार पर ही दिया जाता है। वस्तुएँ बनाने के लिए स्कूल द्वारा बच्चे को कच्चा माल दिया जाता है परन्तु बनायी हुई वस्तुओं को मार्केट में बेचकर उसकी कीमत बच्चे के खाते में

[1] *Ibid.*, 55.
[2] *Ibid.*, 57.
[3] *Ibid.*, 58.

जमा की जाती है। उत्तरप्रदेश में लखनऊ रिफारमेट्री स्कूल में जब इस खाते में 300 रुपये जमा हो जाते है, तब बच्चे से वस्तुएँ केवल राज्य के प्रयोग के लिए ही बनवायी जाती हैं। शिल्प-शिक्षा में प्रशिक्षण के अलावा कुछ बुनियादी शिक्षा भी छठी कक्षा तक बच्चों को अनिवार्यत दी जाती है। स्कूलों का पाठ्यक्रम बाहर के पाठ्यक्रम जैसा होता है। वर्ष के अन्त में उनकी परीक्षा स्कूलों के जिला इन्सपैक्टर द्वारा ली जाती है। छठी कक्षा पास करने के बाद यदि बच्चा आगे पढ़ना चाहता है तो उसे बाहर स्कूल में भरती करवाया जाता है परन्तु उसकी फीस रिफारमेट्री स्कूल ही देता है। स्कूल से छूटने के बाद सहायता देने के लिए निर्धन बच्चो के लिए रिफारमेट्री स्कूल फण्ड भी स्थापित किया जाता है। इसमे बच्चो द्वारा स्वेच्छापूर्वक चन्दा दिया जाता है। इस फण्ड का प्रबन्ध अधीक्षक की अध्यक्षता मे लडको की एक कमेटी करती है।

बच्चो के ऊपर क्योंकि स्कूल अधिकारियो द्वारा कोई कार्य बलपूर्वक नही ठूँसा जाता तथा परिवार की तरह लडको की स्वय की इच्छा के आधार पर उन्हे सौंपा जाता है, बच्चो म सहयोग और अनुराग अधिक और सुस्ती तथा निरीक्षण व उदासीनता कम मिलती है।

परन्तु इन स्कूलो मे अनुवर्ती रिकार्ड (follow-up records) की कमी मिलती है जिससे छूटने के उपरान्त बच्चो के समाज मे समायोजन की प्रकृति का कुछ आभास नही हो पाता। दूसरा, स्कूलो के जेल विभाग के अन्तर्गत कार्य करने, उनके जेलो के अन्दर स्थापित होने तथा उनके भौतिक लक्षणो का भी जेलो की तरह पाये जाने से बच्चो पर मनोवैज्ञानिक रूप से एक विरोधी प्रभाव होता है।

बार्स्टल स्कूल (Borstal School)—बार्स्टल स्कूल बाल-अपराधियो के लिए नही अपितु किशोर अपराधियो के लिए होते हैं, अथवा, इनमे केवल उन्ही अपराधियो को रखा जाता है जो 15 और 21 वर्ष के बीच होते है। ये स्कूल राज्य मे बार्स्टल स्कूल एक्ट के आधार पर खोले जाते हैं। 1976 के आँकडो के अनुसार[1] देश मे आठ राज्यो मे आठ बार्स्टल स्कूल थे। ये राज्य है . आन्ध्र प्रदेश (1926), केरल, कर्नाटक (1943), तमिलनाडु (1926), महाराष्ट्र (1929), बिहार, पजाब (1926) और मध्य प्रदेश (1928)। इनके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश (1938) मे बरेली का बाल-जेल भी इन्ही बार्स्टल स्कूल के सिद्धान्तो पर कार्य कर रहा है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1970 और 1976 के बीच एक भी नया बार्स्टल स्कूल नही खोला गया है यद्यपि उनकी दैनिक औसत सख्या 1972 से निरन्तर बढ़ती गयी है। जब 1972 मे यह 1620 थी, 1973 मे यह 1741, 1974 मे 1858, 1975 मे 2006 और 1976 मे 2053 थी।[2]

यद्यपि ये स्कूल राज्य के जेलों के इन्सपैक्टर-जनरल के अधीन कार्य करते है पर अधिक अधिकार एक कमेटी (visiting committee) को सौंपे जाते हैं जिसमे

[1] *Social Defence*, April 1978, Vol XIII, 52-54

[2] *Ibid*, 54.

समन्यायालय का न्यायाधीश (session judge), जिला मजिस्ट्रेट तथा जिले के शिक्षा अधिकारियों के अलावा चार गैर-सरकारी सदस्य भी होते है। यही कमेटी हर नये प्रवेश करने वाले अपराधी का साक्षात्कार कर यह निर्धारित करती है कि उसे किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाये तथा कब उसे ऊँची श्रेणी में पदोन्नति दी जाये या कब उसे छोड़ा जाये।

स्कूल में किसी निवासी (inmate) को दो साल से कम काल के लिए नहीं रखा जाता और न पाँच साल से अधिक काल के लिए। इस कारण बार्स्टल स्कूलों में केवल उन्हीं किशोर अपराधियों को भेजा जाता है जिनको तीन साल से अधिक समय के लिए दण्ड मिलता है। जिन अपराधियों को सुधार के अयोग्य समझा जाता है उन्हें जेल भेज दिया जाता है।

हर स्कूल 'गृहों' (Houses) में विभाजित किया जाता है और हर गृह का कार्यवाहक एक गृह-प्रधान (house-master) होता है। गृह के निवासियों का सामान्य व्यवहार, उनका प्रशिक्षण और उनके खाने आदि की व्यवस्था का सारा कार्य इन्हीं गृह-प्रधानों की देख-रेख में रहता है। हर गृह फिर 'समूहों' (groups) में विभाजित होता है और हर समूह का कार्यवाहक एक मानीटर होता है। ये मानीटर गृह-प्रधानों द्वारा स्कूल के निवासियों में से ही चुने जाते हैं। स्कूल में श्रेणी प्रथा (grading system) भी पायी जाती है। कुल तीन श्रेणियाँ होती हैं: साधारण श्रेणी (ordinary grade), स्टार श्रेणी (star grade) और विशेष स्टार श्रेणी (special star grade)। स्कूल में आने पर हर अपराधी को पहले साधारण श्रेणी में रखा जाता है जहाँ कम से कम तीन महीने तक उसके व्यवहार, स्वभाव, मानसिक लक्षण और कार्य करने की क्षमता आदि का अवलोकन किया जाता है। इस श्रेणी में रहने वाले युवा से केवल बागवानी आदि जैसा छोटा-मोटा कार्य लिया जाता है। उसे व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा आदि नहीं मिलती। अच्छे व्यवहार के उपरान्त उसकी स्टार श्रेणी में पदोन्नति कर दी जाती है जहाँ से फिर उसे विशेष स्टार श्रेणी में पदोन्नत किया जाता है। इस श्रेणी वालों के कपड़े अलग होते हैं। उनको शहर में भी स्वतन्त्रतापूर्वक जाने की सुविधा दी जाती है। स्कूल से रिहाई केवल उसी युवक को मिलती है जो विशेष स्टार श्रेणी तक पहुँच चुका होता है। इन तीन श्रेणियों के अलावा एक दण्डनीय श्रेणी (penal grade) भी पायी जाती है जहाँ उन किशोरों को रखा जाता है जिनको स्कूल के नियमों के उल्लंघन के कारण कोई दण्ड दिया जाता है।

एक स्कूल में औसतन 100 से 500 किशोरों के रहने की व्यवस्था होती है जबकि 1972 और 1975 के मध्य देखा गया कि एक बार्स्टल स्कूल की औसत दैनिक संख्या 225 तक थी। इस काल में (1972–75) तीन राज्यों में तो (स्कूल की) कुल क्षमता (capacity) से भी अधिक किशोर अपराधी स्कूलों में रहते हुए मिले। आन्ध्र प्रदेश में 110 की क्षमता होते हुए भी दैनिक औसत संख्या 189 थी, केरल में 200 की क्षमता के साथ 324 और महाराष्ट्र में 143 की क्षमता के साथ

185। पंजाब और कर्नाटक के बार्स्टल स्कूलों में दैनिक औसत संख्या स्कूलों की क्षमता के लगभग समान ही थी।[1] इससे ज्ञात होता है कि न्यायालयों द्वारा बार्स्टल स्कूलों का पूर्ण रूप से प्रयोग किया जाता है।

1976 में सबसे अधिक किशोर रखने की क्षमता पंजाब के फरीदकोट बार्स्टल स्कूल की थी (515) और सबसे कम बिहार के डाल्टनगंज बार्स्टल स्कूल की (100) थी। 1976 में इन आठों बार्स्टल स्कूलों की दैनिक औसत संख्या इस प्रकार थी विशाखापटनम (आन्ध्र-प्रदेश)–333, डाल्टनगंज (बिहार)–50, धारवाड (कर्नाटक) 201, कनानोर (केरल)–217, नरसिंघपुर (मध्य-प्रदेश)–189, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) –285, फरीदकोट (पंजाब)–385 और पुडूकोटाई (तमिलनाडु)–393।[2]

इन स्कूलों में पाये जाने वाले किशोर अपराधियों में से अधिकांश 18 से 21 वर्ष आयु के, उसके बाद 15 से 16 वर्ष की आयु के, और सबसे कम 16 से 18 वर्ष आयु के मिलते हैं। 1976 में आठ राज्यों के बार्स्टल स्कूलों में रखे गये 716 किशोर अपराधियों में से 46 9% 18 से 21 वर्ष के आयु-समूह के, 21 8% 16 से 18 वर्ष के आयु-समूह के और 31 3% 15 से 16 वर्ष के आयु-समूह के थे।[3] एक अपराधी के ऊपर औसतन 155 रुपये प्रति माह व्यय किया जाता है जो साधारण जेल में रहने वाले कैदी से लगभग दुगना है। 1976 में जब कर्नाटक में प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति व्यय 2,690 रुपये था, तमिलनाडु में यह 2,330 रुपये, मध्य प्रदेश में 2,190 रुपये, बिहार में 810 रुपये, आन्ध्र प्रदेश में 1870 रुपये, महाराष्ट्र में 1500 रुपये और केरल में 1520 रुपये था।[4]

इन स्कूलों में दो घण्टे की शिक्षा के अतिरिक्त, पाँच-छह घण्टे के लिए कोई व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण भी दिया जाता है। अपराधी को साल में 15 दिन की घर जाने की छुट्टी भी दी जाती है। इसके अलावा रिश्तेदारों आदि से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए उनको पत्र लिखने व महीने में एक-दो बार माता-पिता आदि को स्कूल के अन्दर मिलने की भी सुविधा रहती है। किसी-किसी बार्स्टल स्कूल में पंचायत व्यवस्था भी पायी जाती है। यह पंचायत सदस्यों द्वारा निर्वाचित चार पंचों और एक सरपंच की इकाई होती है। पंचायत की अवधि एक वर्ष की होती है तथा पुन निर्वाचन की अनुमति नहीं होती। पंचायत के प्रशासनिक कार्यों के अलावा न्यायिक कार्य भी होते हैं।

कुछ अपराधियों को दण्ड-अवधि समाप्त होने से पूर्व भी स्कूल से छोड़ा जाता है। 1976 के आँकड़ों के अनुसार आठ राज्यों के बार्स्टल स्कूलों से छोड़े गये 1085 निवासियों में से 25 4% को अवधि समाप्ति उपरान्त, 7 0% को जमानत पर, 14 9% को लाइसेंस (licence) पर, 5 0% को अपील करने पर, 0·1% को बिना किसी शर्त के, तथा 34 1% को किसी अन्य रूप से छोड़ा गया। 13 2% का राज्य

[1] *Ibid*, 54
[2] *Ibid*
[3] *Ibid*, 57
[4] *Ibid*, 61.

के किसी अन्य संस्था (जेल आदि) में स्थानान्तरण किया गया तथा 0.3% स्कूलों से भाग गये।[1] स्कूल से छूटने से कुछ महीने पूर्व अधीक्षक को मुक्त-बन्दी सहायता समिति (Discharge Prisoners Aid Society) को सूचित करना पड़ता है जिससे वह अपराधी के पुनर्वास की कोई व्यवस्था कर सके।

परिवीक्षा होस्टल (Probation Hostels)—जिन बाल-अपराधियों को न्यायालय परिवीक्षण पर रिहा करते हैं और जिनके माता-पिता नहीं होते या जिनके लिए परिवार का वातावरण रहने योग्य नहीं समझा जाता उनको इन परिवीक्षा होस्टल में रखा जाता है। इन होस्टलों में रहने वाले निवासियों को नौकरी अथवा व्यवसाय करने की तथा घूमने-फिरने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। केवल रात के समय उनके लिए होस्टल में रहना अनिवार्य है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। उनके व्यवहार आदि के लिए होस्टल का कार्यवाहक ही हर तरह से उत्तरदायी होता है।

सुधारात्मक संस्थाओं की परिवर्तित प्रवृत्तियाँ
(Trends in Correctional Institutions)

भारतीय सुधारात्मक संस्थाओं के लक्षण इतने असमान हैं कि उनके बारे में कोई सामान्यीकरण कठिन ही लगता है। कुछ संस्थाओं में पिछली कुछ दशाब्दियों में थोड़ा परिवर्तन आया है यद्यपि वे अब भी बहुत-सी बातों में कारागृहों से मिलती हैं। कुछ ने फिर आधुनिक विकसित कार्य-प्रणाली अपनायी है। इन दोनों चरम सीमाओं (extremes) के मध्य फिर विकास की विभिन्न अवस्थाओं में पायी जाने वाली अनेक संस्थाएँ मिलती हैं। किन्तु इन विभिन्नताओं के होते हुए भी अपने समाज के सुधारात्मक संस्थाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की ही जा सकती है :

(1) इनका प्रशासन केन्द्रीकृत (centralised) मिलता है। अधिकतर संस्थाएँ राज्यों के समाज कल्याण विभागों के शासन के अन्तर्गत ही कार्य करती हैं। ऐसे स्थानीय प्रशासनिक बोर्ड स्थापित करने का, जिन्हें उनका निरीक्षण करके स्वीकृत मापदण्ड के सन्दर्भ में मूल्यांकन करने का अधिकार हो, कोई प्रयास नहीं पाया जाता।

(2) इनमें अधिक भीड़-भाड़ (over crowding) नहीं मिलती। कुछ दण्ड-शास्त्रियों का विचार है कि एक संस्था में 500–600 अपराधियों को रखकर उसे आर्थिक दृष्टि से कार्य करने योग्य (economically viable) बनाया जा सकता है; परन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, एक संस्था में औसतन 50 अपराधी ही वर्तमान में मिलते हैं। छोटी संस्थाओं में प्रशासकों के लिए न केवल अपराधियों को घनिष्टता पूर्ण जानना परन्तु कर्मचारियों से सुगमता से व्यवहार करना भी अधिक सरल रहता है। अधिक भीड़-भाड़ वाली संस्थाओं में अपराधियों को आवश्यक एकान्तता नहीं मिलती है तथा उनमें आचार-भ्रष्टता व विपर्यास (perversions) पनपते हैं, आलस्य

[1] *Ibid.*, 56.

अधिक रहता है, नियन्त्रण के सामूहिक उपाय (mass methods) प्रयोग किये जाते हैं और संस्थात्मक कार्यक्रम केवल व्यवस्था बनाये रखने की नियमावली ही रह जाता है ।

(3) इनके रहन-सहन, भोजन-पान व कार्य-संचालन के तरीकों में सुधार मिलता है । पहले की तुलना में सुधारात्मक संस्थाएँ अब अधिक साफ, हवादार और प्रकाशमान मिलती हैं । अपराधियों को न केवल पर्याप्त भोजन और चिकित्सीय सुविधाएँ मिलती हैं परन्तु उनका सिर मुड़ाकर, बन्द कमरों में रखकर व धारीदार कपड़े पहनाकर दंडित पतन भी नहीं किया जाता ।

(4) संस्थाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों के आदर्श स्थिति और प्रशिक्षण के महत्त्व को स्वीकार किया जा रहा है यद्यपि यह अब भी सही है कि जो कर्मचारी सुधारात्मक संस्थाओं के प्रशासन के कार्य में लगे हुए हैं उनमें से अधिकांश अपने कर्तव्यों को निभाने के लिए सही रूप में योग्यता प्राप्त व औपचारिक रूप से प्रशिक्षित नहीं हैं ।

(5) इनकी सामाजिक क्रियाओं में विस्तार मिलता है । यहाँ अब न तो एकान्त कारावास (solitary confinement) मिलता है, न खामोशी का नियम और न ही पारस्परिक सम्बन्धों पर अधिक प्रतिबन्ध । वास्तव में अब अपराधियों के पारस्परिक सम्बन्धों के विकास तथा उनके बाहरी संसार के साथ अधिक सम्पर्क को प्रोत्साहित किया जाता है । क्रीड़ा प्रतियोगिताओं, मनोरंजन प्रोग्रामों, शैक्षणिक कक्षाओं और सहवासी-परिषदों (Inmate-Councils) आदि द्वारा अपराधियों के पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक विकसित किया जाता है ।

(6) इनमें छुट्टी की व्यवस्था भी आरम्भ की गयी है । त्योहारों या अनुमोदित उद्देश्यों के लिए एक वर्ष में पन्द्रह दिन की छुट्टी का प्रावधान रखा गया है । इसके अतिरिक्त एक हफ्ते तक की छुट्टी संस्था के चीफ इन्स्पेक्टर को देने का भी अधिकार दिया गया है । इस छुट्टी में संस्था बालक का उसके परिवार और समाज में अभियोजन करके उसके सुधार का भी मूल्यांकन कर सकती है ।

प्रभावशाली संस्थात्मक सुधार में बाधाएँ
(Obstacles to Effective Institutional Correction)

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के उपरान्त भी हमारी सुधारात्मक संस्थाओं के प्रभावी कार्य निष्पादन में कुछ गम्भीर बाधाएँ मिलती हैं :

(1) संस्थाओं में कोई विशिष्टीकरण नहीं मिलता । यद्यपि लड़कों और लड़कियों, बाल और किशोर अपराधियों तथा अविकसितचित्त और विक्षिप्तचित्त अपराधियों के लिए पृथक् संस्थाएँ हैं, फिर भी अपराधियों का पृथक्करण अधिक नहीं मिलता । साधारण और गम्भीर अपराधियों, कम और अधिक कारावास अवधि वाले अपराधियों तथा कम और अधिक सुरक्षा की आवश्यकता वाले अपराधियों को एक ही संस्था में एक ही शयन-कक्ष (dormitory) में रखा जाता है ।

(2) इनके प्रोग्राम ज्यादा व्यक्तिवादी (individualised) नहीं हैं। अपराधी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को निर्धारित कर उसके लिए शिक्षा, प्रशिक्षण, मनोरंजन व रोजगार आदि सम्बन्धी प्रोग्राम पूर्वनिश्चित करके उसके पुनःस्थापन का कोई प्रयास नहीं मिलता। यह आधुनिक सुधारात्मक प्रणाली तथा प्रभावी उपचारों के सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

(3) कर्मचारियों की संख्या अपर्याप्त है। कम वेतन, काम की अधिकता तथा अस्थिर कार्यकाल आदि के कारण इन संस्थाओं के लिए अच्छे व प्रशिक्षित व्यक्ति नहीं मिलते।

(4) संस्थागत अनुशासन बहुत कठोर रहता है। चालू कार्यकुशलता की वृद्धि के लिए, संस्था के अन्दर सम्बन्ध नियन्त्रित करने के लिए, अपराधियों के निरीक्षण को सुगम बनाने के लिए तथा उनके संस्था में शान्ति भंग करने व भागने के प्रयास को रोकने के लिए नये-नये नियम बनाये जाते हैं। इससे ऐसी संस्थागत व्यवस्था स्थापित होती है जो 'साधन' बनने के स्थान पर स्वयं ही 'साध्य' हो जाती है। इस कठोरता के कारण बहुत से अपराधियों का जीवन उदासीन व विरागी हो जाता है तथा कुछ फिर विद्रोही बन जाते हैं। बहुत से अपराधी ऐसे लक्षण विकसित कर लेते हैं जो उनके छूटने के उपरान्त उनके सफल समायोजन में बाधा उत्पन्न करते हैं। आधुनिक सुधारशील प्रशासकों का कहना है कि संस्थागत वातावरण साधारण रहन-सहन की तरह ही होना चाहिए क्योंकि कठोर नियन्त्रण संस्था से छूटने के उपरान्त सही समायोजन में बाधाएँ उत्पन्न करता है। एक युवा अपराधी, समुदाय में कर्त्तव्य निभाने के लिए तभी अधिक तैयार रहता है जब उससे पिंजरे में बन्द जानवर की तरह नहीं परन्तु एक बालिग व्यक्ति की तरह व्यवहार किया जाता है जो उसमें आत्मसम्मान व आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न करता है।

(5) संस्थात्मक जीवन नीरस मिलता है क्योंकि अपराधी को दिया हुआ कार्य अधिकतर उसके अनुभव, योग्यता, क्षमता व भविष्य की योजनाओं के अनुकूल नहीं होता। उसे कर्त्तव्य निभाने में आत्माभिव्यक्ति के लिए कोई अवसर नहीं मिलता। उसके प्रत्येक कार्य को नियम ही निधारित करते हैं। वह किसी भी कार्य को बिना आज्ञा के छोड़ नहीं सकता। निश्चित समय पर खाना खाना और शेष समय भूख लगने पर भी कुछ न मिलना, निश्चित समय पर बत्ती बुझाकर सो जाना आदि उनके जीवन को निरीह बना देते हैं।

(6) संस्था का बजट अपर्याप्त होता है।

(7) कुछ संस्थाओं में बाल-अपराधियों को निराश्रय, अनाथ व उपेक्षित बच्चों के साथ रखा जाता है।

(8) राज्यों में संस्थाओं की संख्या बहुत कम है।

इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 16 वर्ष से कम आयु वाले बाल-अपराधियों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र और सुधारगृह; 16 से 21 वर्ष वाले कम कारावास अवधि वाले व कम सुरक्षा अपेक्षित साधारण अपराध करने वाले

किशोर अपराधियों के लिए कर्मशालाएँ (work-houses), कृषि-फार्म और शिविर, तथा अधिक सुरक्षा अपेक्षित लम्बी कारावास अवधि वाले व गम्भीर अपराध करने वाले अपराधियों के लिए पशु-पालन केन्द्र (ranches) व कैम्प आदि आवश्यक है। वर्गीकरण, पृथक्करण, अधिन्यस्त व नियोजित कार्य तथा कार्यबद्ध (committed) कर्मचारी ही इन संस्थाओं के लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होंगे।

संस्थात्मक सुधार प्रणाली का मूल्यांकन
(Evaluation of Institutional Correction)

उपर्युक्त बतायी गयी संस्थागत सुधार-प्रणाली में पायी जाने वाली बाधाओं के आधार पर क्या यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का सुधार असफल सिद्ध हुआ है ? कुछ अपराधशास्त्रियों का विचार है कि यह व्यवस्था एक तो अपराधियों के पुनःस्थापन में सहायक नहीं होती है, और दूसरा, यह युवकों के लिए कानून का उल्लंघन करने में प्रतिरोधक (deterrent) नहीं रहती। परन्तु इन तर्कों की पुष्टि के लिए हमारे पास कोई आँकड़े नहीं है। सुधारात्मक संस्थाओं से छूटने के उपरान्त कितने बच्चे पुनः अपराध करते हैं तथा कितनों को संस्था में मिला हुआ प्रशिक्षण आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पुनःस्थापन में सहायक होता है, इन सब पर कोई भारत में बड़े-स्तर (macro-level) पर आनुभविक अध्ययन नहीं हुआ है। भारतीय समाज कल्याण परिषद् (Indian Council of Social Welfare) ने एस० डी० गोखले की सचालकता में बाल-अपराधियों पर सुधारात्मक संस्थाओं के प्रभाव सम्बन्धी 1968 में बम्बई में एक अध्ययन अवश्य किया था। इस अध्ययन में 1958 और 1963 के मध्य मान्यता-प्राप्त स्कूलों और अन्य संस्थाओं से छूटे हुए 229 बच्चों के अध्ययन में पाया गया कि[1] : (1) संस्था में दिया गया शिल्प-प्रशिक्षण उस कला में नौकरी प्राप्त करने में बच्चों को पर्याप्त रूप से तैयार नहीं करता। एक विशेष कला में औसतन $1\frac{1}{2}$ वर्ष तक मिला हुआ प्रशिक्षण भी 63% बच्चों के लिए धन कमाने का साधन नहीं बन सका। इससे स्पष्ट है कि सुधारात्मक संस्थाओं में इस समय दिया जाने वाला प्रशिक्षण नौकरी-अभिमुख (job-oriented) नहीं है; (2) संस्था में प्रवेश पाने से पूर्व कुछ बच्चे स्कूलों में औपचारिक शिक्षा ग्रहण कर रहे थे किन्तु संस्था में उस शिक्षा को निरन्तर रखकर औपचारिक डिग्री प्राप्त करने की कोई सुविधा नहीं थी। सातवीं कक्षा के ऊपर शिक्षा देने का संस्थाओं में कोई प्रावधान नहीं है; (3) संस्था में पायी जाने वाली अपराध विश्लेषण सम्बन्धी (case work) सेवाएँ, परामर्श (counselling), निदान (diagnosis) व आयोजन (planning) आदि की दृष्टि से अपर्याप्त हैं।

परन्तु इस अध्ययन के ये निष्कर्ष यह नहीं सिद्ध करते कि वर्तमान संस्थाओं की कोई उपयोगिता नहीं है तथा इन्हें बन्द कर दिया जाये। वास्तव में जब बच्चा

[1] S D Gokhale, *Impact of Institutions on Juvenile Delinquents*, United Asia Publications Ltd., Bombay, 1969, 83–89.

या युवक का सुधारात्मक संस्था में प्रवेश होता है तब उसकी आदतें और धारणाएँ इतनी निश्चित होती हैं कि उन्हें एकदम से तो बदला नहीं जा सकता। फिर, संस्था का प्रभाव अपराधी के जीवन में बहुत प्रभावों में से केवल एक ही (प्रभाव) का कार्य करता है। सम्भव है कि यह प्रभाव अन्य कुप्रभावों को ही नियन्त्रित करता हो। ऐसी स्थिति में यह नियन्त्रण ही संस्थाओं की सफलता का प्रतीक होगा।

पुलिस और बाल-अपराधी

बाल-अपराधियों से सम्बन्धित पुलिस की भूमिका तीन स्तरों पर प्रमुख है : (i) निरोधक (preventive) स्तर पर, (ii) मुकदमे (trial) के स्तर पर, और (iii) पुनःस्थापन (rehabilitation) स्तर पर।

गिरफ्तार होने पर बालक का कानून के साथ पहला सम्पर्क पुलिस से ही होता है। अतः पुलिस स्टेशन की संरचना तथा पुलिस का पकड़े गये बालक के साथ पहला व्यवहार बालक के कानूनी जीवन के प्रति प्रतिमा (image) को प्रमुख रूप से निर्धारित करता है। इस कारण पुलिस स्टेशन पर बाल-अपराधियों से निपटने के लिए ऐसे पुलिस-ब्यूरो (police bureaus) का होना जहाँ प्रशिक्षित और सहानुभूतिक पुलिस कर्मचारी हों, अति आवश्यक है। मुकदमे के स्तर पर पुलिस गिरफ्तार किये गये बालक को जेल भिजवाने में, परिवीक्षा पर छोड़े जाने में, सुधारालय भिजवाने में या माता-पिता को सौंप दिये जाने में रुचि लेकर अपनी कार्यकुशलता को सिद्ध कर सकती है। पुनः स्थापन स्तर पर जेल या सुधारालय से छूटने पर या परिवीक्षा पर छोड़े जाने पर पुलिस बालक की सहायता कर सकती है। अतः क्योंकि तीनों स्तरों पर पुलिस की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, इस कारण हर राज्य में पुलिस बाल-ब्यूरो (PJB) की स्थापना अति आवश्यक है। इस समय यह ब्यूरो अथवा बाल-सहायता पुलिस यूनिट (Juvenile Aid Police Unit—JAPU) कुछ राज्यों में उन कुछ बड़े शहरों में स्थापित किये गये हैं जहाँ बाल-अपराधियों की संख्या अधिक पायी जाती है, जैसे मद्रास, दिल्ली, बम्बई व कलकत्ता। परन्तु हमारा विचार है कि हर उस शहर में जिसकी जनसंख्या पाँच लाख से अधिक है, पुलिस बाल-सहायता ब्यूरो की एक यूनिट की स्थापना

[1] See P. D. Sharma, 'Police Juvenile Bureau and Administration of Child Care in India' in *I.J.P.A.*, Vol. XXV, No. 3, July-Sept. 1979, 658-667.

आवश्यक है जिसके फिर जिला-स्तर पर पुलिस-अधीक्षक (S P) की देखभाल में प्रकार्यवादी कोष्ठ (functional cells) हो। 1966 में केन्द्रीय गुप्तचर ब्यूरो (CBI) द्वारा 'बाल-अपराध में पुलिस की भूमिका' विषय पर आयोजित सेमिनार (seminar) ने भी यही सिफारिश की कि हर उस शहर में, जिसकी जनसंख्या एक लाख से अधिक हो पुलिस इंसपेक्टर के परिवीक्षण में पुलिस बाल-ब्यूरो (PJB) का एक यूनिट स्थापित करना चाहिए।[1] राज्य स्तर पर प्रधान कार्यालय (head-quarter) स्तर पर पुलिस बाल-ब्यूरो की संरचना ऐसी हो कि उसमें छान-बीन (field-work) के लिए परिवीक्षण-कोष्ठ (supervisory cell), देख-भाल के लिए परामर्श-कोष्ठ (counselling cell) तथा प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण-कोष्ठ (training cell) हो। कोष्ठ का आकार तथा आफिसर नियुक्त किये जाने की संख्या यूनिटों की प्रकार्यवादी आवश्यकताओं (functional needs) के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए।

इन पुलिस बाल-ब्यूरो के कार्य निम्न हो सकते हैं (1) सर्वेक्षण करके बाल-अपराधियों को ढूँढना तथा उनके पारिवारिक एवं सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी तथ्य एकत्रित करना। स्कूल से भाग जाने वाले, आवारा, खोए हुए व अपहृत बच्चों से सम्बन्धित सांख्यिकीय रिपोर्ट भी छान-बीन करने वाले कोष्ठ एकत्रित कर सकते हैं। (2) बाल-अधिनियम (Children Act) को लागू करना। (3) माता-पिताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, समाज-कल्याण अधिकारियों, पुलिस अधिकारियों, परिवीक्षा अधिकारियों, बाल-न्यायालय के न्यायाधीशों व अपराधशास्त्रियों की समय-समय पर संयुक्त मीटिंग व सम्मेलन करके उनकी समान समस्याओं पर विचार-विमर्श करना तथा बाल अपराध के नियन्त्रण में लगे व्यक्तियों के कार्यों का समन्वय (coordinate) करना। (4) बच्चों की देख-भाल के लिए विशेष परामर्श सेवाएँ (specialised consultancy and counselling services) संगठित करना जिनके द्वारा माता-पिता, संरक्षकों व शिक्षकों को प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिकों, वकीलों, समाजशास्त्रियों, डॉक्टरों आदि की सेवाएँ उपलब्ध हों जिनसे वे अपने बच्चों के व्यक्तित्व सम्बन्धी समस्याओं, आदतों आदि के बारे में सही तथ्य प्राप्त कर सकें। (5) ब्यूरो बाल-अपराध के कारणों व सुधार सम्बन्धी स्वतन्त्र (independent) अनुसंधान भी कर सकते हैं।

[1] See *Indian Police Journal*, Delhi, April 1966

नवाँ अध्याय

संगठित अपराध
(ORGANISED CRIME)

एक अकेला व्यक्ति आवश्यक प्रवीणता, संरक्षण व आकस्मिक परिस्थिति का सामना करने की शक्ति के अभाव में अपराध करने में बहुत कठिनाइयाँ अनुभव करता है। इस कारण कभी-कभी कुछ व्यक्ति मिलकर व पारस्परिक सहयोग प्राप्त कर अपराध के हानि व लाभ के सहभागी बन जाते हैं। इस सहभागिता में श्रम विशिष्टीकरण, विभिन्न क्रियाओं में विभाजन व समन्वय आदि पाया जाता है। जब ये विशेषज्ञ समूह यथेष्ट मानवशक्ति (manpower) और कुशलता के साथ अपराध को अपने जीवन का प्रमुख साध्य बना लेते हैं, तो संगठित अपराधी समूह व गिरोह कहलाते हैं। अपराधी गिरोह दृढ़ भक्ति, निष्ठा, हिंसा, धमकियों और बड़े लाभ के आधार पर कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, बहुधा हमें समाचार-पत्रों में यह समाचार पढ़ने को मिलता है कि चलती मालगाड़ी से ताला तोड़कर सामान की चोरी की गयी। यह चोरी एक ऐसा अपराध है जो एक व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता परन्तु बहुत व्यक्ति मिलकर व श्रम का बँटवारा कर उसे सफल बना सकते हैं। इसमें कुछ व्यक्तियों का काम होगा गाड़ी से माल नीचे फेंकना, कुछ का काम होगा वह माल उठाकर किसी निर्धारित स्थान पर ले जाना, कुछ का काम होगा उस माल को उस स्थान से विक्रय के स्थान तक ले जाना और कुछ का काम होगा इन समस्त क्रियाओं का पर्यवेक्षण (supervision) करके उनमें समन्वय लाना। यह उदाहरण एक संगठित अपराध का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त संगठित वेश्यावृत्ति, मादक-अवैधपणन (drug trafficking) व संगठित जुआ भी इसके कुछ उदाहरण हैं।

इन उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा कहता है कि संगठित अपराध वह अपराध है जो बहुत व्यक्तियों द्वारा मिलकर व पूर्व योजनानुसार किया जाता है। लिंडस्मिथ (Lindesmith) के अनुसार, संगठित अपराध वह पेशेवर (professional) अपराध है जिसमें बहुत से व्यक्तियों व समूहों में अपराध की सफल कार्यान्विति के लिए सहयोग पाया जाता है।[1] परन्तु हर वह अपराध संगठित अपराध नहीं कहा जा

[1] Alfred R. Lindesmith, 'Organised crime', *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol. 217, September 1941, 119.

सकता जिसमे एक से अधिक व्यक्ति मिलकर तथा योजना बनाकर अपराध करते है। यदि तीन मित्र मिलकर किसी की हत्या करते है तो वह सगठित अपराध नही होगा क्योकि इसमे वह सब लक्षण नही हैं जो सगठित अपराध मे पाये जाते है। इसमे अपव्यय (waste), असामर्थ्य और काम करने का अतन्त्रीय तरीका अधिक मिलता है। इसके विपरीत सगठित अपराध मे समूह के सदस्यो के पारस्परिक सहयोग के अतिरिक्त सगठन, श्रम विशेषज्ञता, विभिन्न क्रियाओ का समन्वय, आयोजन, नेतृत्व व सरक्षण आदि लक्षण पाये जाते है। हाकिन्स (Hawkins) का कहना है कि 'सगठित अपराध' कुछ अपराधियो द्वारा किसी अपराध करने हेतु एक सगठित सयोजन है जो पकड़े जाने से बचने के लिए योजनाबद्ध अपराध करता है तथा पकडे जाने पर अपने बचाव के लिए सुरक्षा फण्ड एव राजनीतिक सम्पर्कों का उपयोग करता है।[1] यद्यपि सख्यात्मक रूप से सगठित अपराध मे अपराधियो की सख्या अधिक नही पायी जाती परन्तु समाज मे हानि की दृष्टि से यह बहुत विषम अपराध माना जाता है।

संगठित अपराध के लक्षण

काल्डवेल ने सगठित अपराध के निम्न लक्षण बताये है[2]—

(1) **पारस्परिक साहचर्य** (Association of criminals)—कुछ अपराधियो का अपराध करने के लिए पारस्परिक साहचर्य अनुपाती रूप से स्थायी होना है, यहाँ तक कि कभी-कभी यह दशाब्दियो (decades) तक भी रहता है।

(2) **सत्ता का केन्द्रीयकरण** (Centralisation of authority)—समूह की सत्ता एक व्यक्ति या एक छोटे समूह के हाथ मे केन्द्रित रहती है।

(3) **श्रम विभाजन** (Division of labour)—समूह के सगठन मे कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व को बाँटा जाता है जिससे कुछ क्रियाओ मे विशेषज्ञता सम्भव हो सके। कुछ सगठित अपराधी समूह एक ही अपराध जैसे तस्कर व्यापार, अपहरण आदि मे विशिष्ट होते है परन्तु कुछ एक से अधिक अपराध करते हैं तथा उनका बहुमुखी व बहुधन्धी लक्षण होता है।

(4) **सुरक्षित कोष की स्थापना** (Creation of fund)—समूह के अपराधी उपक्रमो तथा सदस्यो की सुरक्षा आदि के लिए एक सुरक्षित कोष स्थापित किया जाता है जो मूलधन के रूप मे कार्य करता है।

(5) **एकाधिपत्य प्रवृत्तियाँ** (Expansive and monopolistic tenden-

[1] 'Organised crime involves association of a small group of criminals for the execution of a certain type of crime, together with the development of plans by which detection may be avoided, and the development of a fund of money and political connections by means of which immunity may be secured in case of detection' Gordon Hawkins in *Crime and Justice*, Vol I, edited by Leon Radzinowicz and Marvin E Wolfgang, Basic Books Inc Publishers, New York, 1971, 374

[2] Robert G. Caldwell, *Criminology*, The Ronald Press Co, New York, 1956, 73-74

cies)—एक समूह अपने अपराधी उपक्रमों पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए अधिकांशतः एक ही भौगोलिक क्षेत्र में कार्य करता है। कभी-कभी वह उस क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयास भी करता रहता है। एकाधिकार प्राप्त करने एवं प्रतिस्पर्धा समाप्त करने के लिए वह समूह हत्या व हिंसा का प्रयोग करने से भी नहीं चूकता। यह हिंसात्मक उपाय सम्भाव्य आहत-व्यक्तियों (potential victims) के प्रतिवादन व समूह में अनुशासन स्थापित करने के लिए भी प्रयोग किये जाते हैं।

(6) **सुरक्षात्मक उपाय** (Protective measures)—समूह के संरक्षण के लिए घूस देने जैसे तरीके एवं ऊँची स्थिति वाले प्रमुख व्यक्तियों से सम्पर्क भी स्थापित किये जाते हैं। यह सम्पर्क न केवल डाक्टरों, वकीलों व पुलिस अधिकारियों से होते हैं परन्तु न्यायाध्यक्षों तथा राजनीतिज्ञों से भी रहते हैं।

(7) **व्यवहार-सम्बन्धी नियम** (Rules of conduct)—समूह के परिचालन के लिए व्यावहारिक नियम व प्रशासकीय कार्य-नीतियाँ भी निर्धारित की जाती हैं। इससे न केवल अनुशासन, निष्ठा व पारस्परिक विश्वास स्थापित रहता है परन्तु कार्य-कुशलता व क्षमता भी बढ़ती है। अमरीका की कैफ्यूवर कमेटी ने इस व्यवहार-सम्बन्धी कोड के कुछ लक्षण इस प्रकार बताये हैं : समूह के सदस्यों के प्रति निष्ठा, पारस्परिक हितों में अहस्तक्षेप, अपने रहस्यों का सुरक्षण, अवैध व्यापार में संगठित न्याय्यता (corporate rationality), बुजुर्गों के प्रति आदर, अपने कान और आँखें सदा खोले रखना परन्तु मुँह बन्द रखना तथा एक-दूसरे से संघर्ष से बचना, इत्यादि। इस प्रकार यह आचार-विधि व्यावहारिक नियमों, पारस्परिक सम्बन्धों एवं स्वयं के रक्षण आदि से सम्बन्धित होती हैं।

(8) **आयोजन** (Careful planning)—हर अपराध के लिए क्षतिभय व संकट के कम करने एवं क्रिया की अधिक से अधिक सफलता के लिए अवहित (careful) आयोजन भी मिलता है।

इन लक्षणों से ज्ञात होता है कि संगठित अपराध व संगठित व्यवसाय में एक ही लक्षण मिलते हैं। दोनों के समान विशेषकों में संगठन, श्रम-विभाजन, विशेषज्ञता, आयोजन व खतरे के विरुद्ध सुरक्षा मिलते हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक में वैध साधनों से रुपया कमाया जाता है दूसरे में अवैध तरीकों से। जार्ज वोल्ड[1] का भी कहना है कि नेतृत्व, प्रयास सम्बन्धी विशेषीकरण, द्विगुणन (duplication) और व्यर्थ व्यय व परिश्रम को दूर करने के लिए क्रियाओं का समन्वय, अधिक से अधिक लाभ तथा कम से कम उद्यम का लक्ष्य आदि व्यापार की कुशल व्यवस्था व संगठित अपराध के प्रमुख लक्षण हैं। यदि टॉलकट पारसन्स की अवधारणा प्रयोग की जाये तो यह कहा जा सकता है कि संगठित अपराध में एक 'सामाजिक क्रिया की संरचना (structure of social action) मिलती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने सहयोगियों के सन्दर्भ में एक वैयक्तिक स्थिति प्राप्त होती है।' थार्स्टेन सेलिन (Thorsten

[1] George B. Vold, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, New York, 1958, 221–22.

Sellin)[1] का विचार है कि संगठित अपराध एक वह व्यावसायिक उपक्रम (economic enterprise) है जिसका अवैध क्रियाओं द्वारा आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु व्यवस्थित गठन किया जाता है। यह अवैध क्रियाएँ हमारे उन जुआ, शराब, यौनवृत्ति, संवेदन-मदक (narcotics) आदि जैसी दुर्वृत्तियों (vices) को पूरा करने के लिए उत्पन्न होती हैं जिन्हें हमारा कानून सहन नहीं करता। यह क्रियाएँ किसी भी रूप में विकसित हों, पर इनका ध्येय सदा आर्थिक लाभ प्राप्त करना ही होता है। कभी-कभी यह अवैध लाभ वैध व्यापार में लगे उद्यमकर्त्ताओं (entrepreneurs) के साथ भी बाँटा जाता है। अतः जिस प्रकार प्रतिबन्धमुक्त उद्योग-व्यवस्था (system of free enterprise) में व्यक्तिवाद (individualism), गतिशीलता (mobility), जोखिम उठाना, नवाचार का संस्थात्मीकरण (institutionalisation of innovation) आदि लक्षण मिलते हैं, ऐसे ही लक्षण संगठित अपराध की आर्थिक क्रियाओं में भी पाये जाते हैं।

संगठित अपराधियों की संहिता (Code of Organised Criminals)

संगठित अपराधियों में व्यवहार-सम्बन्धी निम्न निदेश (directives) पाये जाते हैं[2]—

(1) संगठन के सदस्यों के प्रति निष्ठावान रहो क्योंकि इससे समूह में एकता रहती है।

(2) एक-दूसरे के हितों में हस्तक्षेप न करो क्योंकि इससे समूह में शान्ति रहती है।

(3) युक्तिमूलक (rational) बनो और टीम के सदस्य के रूप में कार्य करो। सदस्य की समूह में चाहे निम्न स्थिति हो या ऊँची, उसे अवैध कार्य सदा चुपके से (quietly) व सुरक्षापूर्ण (safely) करना चाहिए।

(4) सभी की इज्जत करो।

(5) अपने आँख, कान सदा खुले रखो तथा मुँह बन्द रखो। अपने को बेचो मत।

संगठित अपराधी समूहों की उत्पत्ति व विकास (Rise and Growth of Organised Criminal Groups)

कुछ समूह आरम्भ में एक जोशीले व उत्साही, एवं चमत्कारी व करिश्माई नेता के कुछ तत्व अभिव्यक्त करते हैं। इन नेताओं को समर्थन व सहायता उनकी स्थिति के कारण नहीं परन्तु उनके व्यक्तित्व के कारण मिलती है। ये नेता अधिकांशतः व्यक्तिवादीय (individualistic) और आक्रमणकारी (aggressive) होते हैं। परन्तु

[1] Thorsten Sellin, *Annals of American Academy of Political and Social Science*, May 1963, 12-19

[2] See Radzinowicz et al, *Crime and Justice*, Vol II, Basic Books Inc, New York, 1971, 336

समूह का यह संरूप शीघ्र बदलता है तथा उसमें नौकरशाही व अधिकारतन्त्र सम्बन्धी संगठन विकसित होता है जिसमें नीतियों व नियमों को ऐसे निर्धारित किया जाता है जिससे नेता और अनुचरों दोनों को संरक्षण मिल सके। समूह में नये नियम बनाये जाते हैं। साहसी व प्रज्जवलनशील नेताओं का स्थान सावधान नौकरशाही प्रशासक ले लेते हैं, नवपद्धति-स्थापकों (innovators) का स्थान संगठन पद्धति-पालन व्यक्ति लेते हैं तथा व्यक्तित्व-उपासना (personality cult) का स्थान नियोजित योजना को मिलता है जो कार्यक्रम में पाये जाने वाले जोखिम को परिकल्पित अल्पतम (calculated minimum) में रखता है।

लिंडस्मिथ (Lindesmith)[1] के अनुसार संगठित अपराध विशेष रूप से एक नगरीय घटना है तथा नगरीय संरचना के कुछ तत्त्व ही नगरों को संगठित अपराध के लिए उपजाऊ आधार मानते हैं। नगरों में पाया जाने वाला सफलता का व्यक्तिवादीय जीवन-दर्शन, सार्वजनिक सेवाओं के प्रति उदासीनता, कानून के लिए साधारण रूप से अवहेलना व उपेक्षा, मुनाफाखोरी धारणाएँ, विकेन्द्रित संगठन, अहस्तक्षेप नीति वाली आर्थिक नीतियाँ तथा उपद्रवी व स्वार्थी राजनीतिक संघ संगठित अपराध के लिए उपजाऊ भूमि का कार्य करते है।

कार्य-प्रणाली (Action Pattern)

संगठित अपराध की संरचना श्रेणीवद्ध (hierarchical) टाइप होती है जिसके सबके ऊपरी भाग में प्रबन्धकर्त्ता नेता व अधिपुरुष (boss) होता है जो सलाहकारों की सहायता से कार्य करता है। ये सलाहकार अधिपुरुष के सन्देश निम्न स्तर के अपराधियों तक तथा इन अपराधियों के समाचार अधिपुरुष तक पहुँचाते हैं। इन परामर्शदाताओं का एक कार्य इधर-उधर से सूचनाएँ एकत्रित कर नेता तक पहुँचाना भी रहता है। इनके नीचे कुछ संचालन इकाइयाँ (operating units) होती हैं तथा हर इकाई-समूह का एक कार्यभारी (in-charge) होता है। अमरीका में 1967 में नियुक्त एक कमीशन ने इन इकाइयों को 'कापोरेजीम्स' (Caporegimes) तथा इनके नीचे कार्य करने वालों को 'सोलदाती' (Soldati) बताया है।[2] संगठित अपराध के श्रेणीवद्ध संरचना का विवरण देते हुए बर्जेस (Burgess) ने इसे वह पिरामिडीय (pyramidical) व सूचीस्तम्भीय संरूप बताया है जो सामन्तवादीय (feudal) व्यवस्था को प्रतिरूपित करता है।[3] इसके अनुसार इस श्रेणीवद्ध संगठन में तीन स्तर

[1] 'An individualistic predatory philosophy of success, indifference to public affairs, general disregard for law, the profit motive, decentralised government, laissez-faire economics and political practice which is often as openly predatory as the rackets, have produced in our great cities a fertile breeding place for organised crime.' Alfred R. Lindesmith, *op. cit.*, 120.

[2] *Report* of the U. S. President's Commission on Law Enforcement and Administration of Justice, Washington, 1967, 191–96, quoted by Clinard and Quinney, *op. cit.*, 388.

[3] E. W. Burgess, 'Summary and Recommendations', Illinois Crime

मिलते हैं . सबसे ऊँचे स्तर पर शक्तिशाली नेता होते हैं जिन्हें अपराधी-ससार के अधिपति (lords) माना जाता है, मध्य स्तर पर अनुचर (henchmen) और निम्न स्तर पर सीमान्तरीय रूप से कार्य करने वाले अपराधी (persons marginally associated with crime) मिलते है । ऊपरी स्तर के शासक—सरदार ही समूह के लिए प्रमुख निर्णय लेते हैं तथा सगठन का पालन करते है । इन अधिपतियो के निम्न स्तर के अपराधियो के साथ मालिक-दास श्रमिक जैसे सम्बन्ध होते है । मध्य स्तर के अनुचर जघन्य अपराधी होते है तथा इनका मुख्य कार्य ऊपरी स्तर के नेताओ के आदेशो व निर्देशो को पूरा करना होता है । अधिकाशत ये लोग बडे नगरो के रहने वाले होते हैं तथा छोटे अपराधी गिरोहो (street gangs) से भर्ती किये जाते हैं । अपने को ये 'दादा' समझते है । सफल अनुचर अपराधी ऊपरी स्तर के नेता भी बन जाते हैं । वाल्टर रेक्लेस[1] के अनुसार मध्य स्तर के कुछ जघन्य अपराधी सर्वोच्च स्तर के नेता बनकर अपने हाथो मे गिरोह का सचालन ले लेते है और कुछ अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहकर लाभ सहभाजन प्राप्त कर परितुष्ट हो जाते हैं । ये लोग अपराधी गिरोहो के अतिरिक्त राजनीतिक सगठनो के लिए भी कार्य करते है । सबसे निम्न स्तर के अपराधी सीधे जनसाधारण के सम्पर्क मे आते है तथा इनका जीवन परम्परागत अपराधियो से मिलता है जिनमे अपराधो की सख्या बहुत बडी मिलती है । इनमे सरकारी अधिकारियो व जनसाधारण के लिए घृणा भी मिलती है । बर्जेस[2] का विचार है कि यह तीन स्तरीय श्रेणीबद्ध ढाँचा व्यक्तिगत निष्ठा, नैतिक नियमावली, परम्परागत समाज के प्रति प्रतिरोध एव आदेशो के बन्धन से सगठित रहता है । सगठित अपराध मे एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे विशिष्ट गतिशीलता का आनुभविक ज्ञान बहुत कम मिलता है क्योकि पकडे जाने और बन्दीकरण के अभाव मे सगठित अपराधियो के जीवन-इतिहास उपलब्ध नही हो पाते ।

सगठित अपराध के उप-संरूप
(Types or Sub structures of Organised Crime)

सगठित अपराधो का विभिन्न कार्य-प्रणाली की पद्धतियो के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है । इस आधार पर इनके तीन प्रमुख सरूप पाये जाते हैं सगठित अपराधी गिरोह, दस्युता व रैकिटीअरिंग, और अपराधी अभिपद व सिण्डीकेट (Syndicate) । तीनो की सरचना मे अन्तर है तथा प्रथम सबसे सरल और अन्तिम सबसे जटिल होता है ।

(1) सगठित अपराधी गिरोह (Criminal Gang)—अपराधी गिरोह एक

Survey, Chicago, 1929, 1092-94, quoted by M B Clinard, *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, Rinehart and Winston Inc , New York, 1957, 273-84 Also see Clinard and Quinney, *op cit* , 383

[1] Walter C Reckless, *The Crime Problem*, Appleton Century Crofts Inc , New York, 1950, 158

[2] Ernest W. Burgess, *op cit* , 1094.

वह अपराधी संक्रिया (action) समूह है जो एक छोटी सी 'सैनिक इकाई' की तरह कार्य करता है। इस इकाई में एक मान्य नेता (कमाण्डेण्ट), एक अधीन अफसरों का संगठन (लेफ्टिनेन्ट, कारपोरल आदि) और व्यक्तियों का एक कार्य-चालन दल [working force (सामान्य सैनिक)] पाया जाता है जो नेता द्वारा सौंपे गये नियत कार्यों व निर्देशों का पालन करता है। जिस प्रकार सैनिक इकाई के हर सदस्य का एक विशिष्ट कर्त्तव्य होता है, उसी प्रकार अपराधी गिरोह के प्रत्येक सदस्य को कोई विशेष कार्य सौंपा जाता है। तस्कर व्यापार, डकैती, राहजनी, अपहरण आदि अपराध करने वाले गिरोह जो बड़े पैमाने पर अपराध करने के लिए अपने को संगठित करते हैं, इन अपराधी गिरोह के कुछ उदाहरण हैं। अधिकांशतः इन गिरोहों के सदस्य कठोर और जघन्य अपराधी ही होते हैं जिनको अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा के प्रयोग के लिए भी संकोच व झिझक नहीं होती। यही कारण है कि ये अपने पास सदैव बन्दूक, पिस्तौल आदि जैसे हथियार रखते हैं। बार्न्स और टीटर्स (Barnes and Teeters)[1] का कहना है कि अपराधी गिरोह हिंसात्मक तरीकों से रहते हैं और दूसरों से भी हिंसात्मक तरीकों की आशा रखते हैं। क्वीने (Quinney)[2] का भी मत है कि संगठित अपराधी समूह अन्य अपराधी समूहों से प्रतिस्पर्धा में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए हिंसा के प्रयोग एवं बल की धमकियों पर आश्रित रहते हैं। कभी-कभी तो एक गिरोह प्रतिद्वन्द्वी गिरोह के सभी सदस्यों को मार डालने का प्रयास भी करता है। मध्य प्रदेश की चम्बल घाटियों में डाकुओं के ऐसे आपसी संघर्षों के उदाहरण बहुत सुनने को मिलते हैं। इसी प्रकार बम्बई में भी अवैध शराब का व्यापार करने वाले गिरोहों के आपस में मारपीट के उदाहरण सर्वदा पाये जाते हैं।

अपराध करने के उपरान्त तुरन्त भागने के लिए अपराधी गिरोहों के पास यातायात के प्रमुख वाहन, जैसे मोटरकार, स्कूटर, ऊँट आदि भी होते हैं। वे अपने अपराधी उपक्रमों को बहुत बड़े क्षेत्र में फैलाते हैं और एक स्थान पर रहने के बजाय अलग-अलग स्थानों में रहते हैं तथा अपराध के समय निश्चित समय व स्थान पर एकत्रित होते हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश के संगठित डाकुओं के गिरोह इसके उदाहरण हैं। ये अपराधी गिरोह क्योंकि छुपकर कार्य नहीं करते हैं, इनको साहसी, सतर्क और प्रबल पुलिस कार्यवाही द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

(2) दस्युता (Racketeering)—दस्युता व रैकिटीअरिंग वह अपराध है जिसमें धमकियों व बल द्वारा वैध और अवैध व्यापार वाले व्यक्तियों व संगठनों से व्यवस्थित रूप में रुपया ऐंठा (extortion) जाता है। दस्युता का एक प्रमुख प्रकार 'संरक्षण रैकेट' के रूप में पाया जाता है जो रुपया लेकर सुरक्षा प्रदान करते हैं। रुपया न देने के रूप में वे शरीर व माल की हानि पहुँचाते हैं। इसका आजकल एक

[1] Harry E. Barnes and N. K. Teeters, *New Horizons in Criminology*, Prentice Hall, New York, 1951 (2nd edition).

[2] Clinard and Quinney, *op. cit.*, 386.

उदाहरण उद्योगपति श्रमिक सगठनों के सम्बन्धो से श्रम रैकेटीअर के रूप मे मिलता है । दस्युता का मुख्य ध्येय आर्थिक लाभ ही होता है । दस्यु सगठित गिरोह के अपराधियो की तरह कार्य नही करते परन्तु इनके अपने ही तरीके होते है । सगठित गिरोहो की तरह दस्यु और अपराधी सिण्डीकेट खुले रूप से कार्य न कर गुप्त रहकर ही कार्य करते है । समाज जब सगठित गिरोहो के सदस्यो को अपराधियो के रूप मे जानता है, दस्युओ को ऊँची स्थिति वाले व्यक्तियो के रूप मे ही जाना जाता है । दस्यु गिरोह अवैध तरीके उपयोग करने वालो को उन तरीको के प्रयोग से रोकते नही परन्तु उन्हे और प्रेरणा व प्रोत्साहन देते है क्योकि उनके अवैध उपक्रमो के कारण ही उनका स्वय का अतिजीवन (survival) भी सम्भव होता है । काल्डवेल[1] के अनुसार परजीवियो (parasites) की तरह दस्यु गिरोह भी पोषक (host) के लहू पर जीवित रहते है । यह अन्य व्यक्तियो और समूहो के मुनाफो से कर वसूल करते है परन्तु बदले मे उन्हे कुछ देते नही । दस्यु गिरोहो मे दो उप-समूह 'मस्तिष्क' व 'प्रखरबुद्धि' (brains) और 'मासपेशी व बाहुबली' (muscles) पाये जाते है । 'प्रखरबुद्धि' आयोजन व सरक्षण प्रदान करने का कार्य करते है एव आदेश देते है, जबकि 'बाहुबली' मार-पीट, हत्या आदि का कार्य करते है । कभी-कभी प्रखरबुद्धियो को बाहुबलियो का भी इसलिए कार्य करना पडता है जिससे न केवल उनको सही व उचित प्रविधियाँ प्रदर्शित कर सके परन्तु इससे अपने सम्मान व ख्याति की भी रक्षा कर सके ।

(3) अपराधी अभिषद् (Criminal Syndicates)—यहाँ अभिषद् व सिण्डीकेट का वही अर्थ है जो वैध सगठित व्यापार मे पाया जाता है । सिण्डीकेट पूँजीपतियो का एक सघ है जो किसी आर्थिक व औद्योगिक प्रायोजना मे मिलकर कार्य करते हैं । इन सिण्डीकेटो का मुख्य ध्येय किसी विशेष विक्रय-वस्तु (commodity) मे मार्केट मे एकाधिकार (monopoly) प्राप्त करना होता है । अपराधी अभिषद् भी किसी विशेष अपराध मे एकाधिपत्य प्राप्त करने के लिए अपराधियो के सग्रह होते है । इनका प्रमुख कार्य अवैध माल व सेवाएँ उपलब्ध करना होता है; जैसे कुछ लोग स्वापक (narcotics) जुटाते है तो कुछ वेश्याएँ और कुछ निषेध नियमो के कारण नाजायज शराब । यह अभिषद् सगठित गिरोहो की तरह हिंसात्मक तरीको का कभी भी प्रयोग नही करते । कुछ सिण्डीकेटो का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता है यहाँ तक कि वे पूरे प्रदेश व राष्ट्रीय स्तर पर भी कार्य करते है और कुछ का बहुत सीमित होता है तथा वे छोटे से क्षेत्र मे ही अपराध करते है । इनका एक सुस्थापित मुख्यालय होता है और कही-कही पर शाखाएँ भी ।

1950 मे अमरीका मे यह माना जाता था कि माफिया (Mafia) द्वारा अधिरोहित एक राष्ट्रीय स्तर पर अपराधी अभिषद् न्यूयार्क और शिकागो मे स्थापित दो सगठन केन्द्रो द्वारा कार्य कर रहा था ।[2] अमरीका के लिए यह भी कहा जाता है

[1] Robert G Caldwell, *op cit*, 78

[2] Kefauver Committee Report, *Crime in America*, 1951, Doubleday and Co, New York

कि 1957 में विभिन्न अपराधी सिण्डीकेट के 60 नेता पारस्परिक लाभ व हितों की समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए न्यूयार्क में एकत्रित हुए थे।[1] अधिकांश अपराधी सिण्डीकेट स्वायत्तशासी होते है परन्तु कुछ मिलकर 'परिवार' बनाते हैं जो फिर एक आयोग के नीचे कार्य करते हैं जो उनके झगड़ों और विवादों का निपटारा करते हैं व अपराधियों को दण्ड देते हैं। सिण्डीकेट नेताओं को समाज में बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त होती है तथा इनमें से कुछ बड़े-बडे बंगलों, होटलों व क्लबों आदि के मालिक भी होते हैं। इस प्रकार संगठित अपराधी गिरोहों और अपराधी सिण्डीकेटों के लक्षण एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत पाये जाते हैं। संगठित अपराधी गिरोह खुले रूप में कार्य करते है, सदा जघन्य अपराधियों के सम्पर्क में रहते हैं, समाज में अपराधियों के रूप में जाने जाते है व हिंसा व बल-प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत अपराधी सिण्डीकेट गुप्त रूप से कार्य करते हैं, अपराधियों के अतिरिक्त अनपराधियों के साथ भी सम्पर्क रखते है, समाज में ऊँची स्थिति वाले व्यक्तियों के रूप में जाने जाते हैं व हिंसा का कभी प्रयोग नहीं करते।

नम्बर लगाने का व्यापार व जुआ
(The Number Business and Gambling)

भारत में बहुत से राज्यों ने पिछले कुछ वर्षों में लाटरी प्रणाली आरम्भ की है। यद्यपि यह वैध प्रणाली है परन्तु इससे मिलती हुई 'नम्बर लगाने' की प्रणाली अवैध लाटरी व अवैध संगठित अपराध मानी जाती है। नम्बर रैकेट में किसी एक नम्बर पर बाजी लगाई जाती है और यदि यह नम्बर निकल आता है तो इसके लगाने वाले को बहुत अधिक मात्रा में, कभी-कभी दस गुनी राशि मिलती है। यह नम्बर रैकेट न केवल भारत में मिलता है परन्तु अमरीका आदि जैसे देशों में भी बहुत पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति सत्रहवीं शताब्दी में जेनेवा में बतायी जाती है जहाँ 100 के आस-पास राजनीतिक उम्मीदवारों में से प्रत्येक को एक नम्बर देकर 5 सदस्यों का निर्वाचन किया जाता था। बाजी लगाने वाले उम्मीदवारों के चुनाव की सम्भाव्यता पर बाजी लगाते थे। एक नम्बर की बाजी को 'लाटो' (Lotto) कहा जाता था, दो नम्बरों को 'अम्बो' (Ambo) और तीन को 'टरनो' (Terno) कहा जाता था।[2] मारटिन (Martin) के अनुसार फिलाडेलफिया (अमरीका) में 1868 में इसी नम्बर लाटरी में तीन नम्बरों को 'गिग' (Gig), दो को 'सैडिल' (Saddle) और चार को 'हार्स' (Horse) कहा जाता था।[3] उसके अनुसार फिलाडेलफिया शहर में कम से कम 600 स्थान ऐसे थे जो 'नम्बर-केन्द्र' (exchange) का कार्य करते थे। ड्रेक (Drake) के अनुसार, 1945 में, ब्रैनन (Brannon) के अनुसार 1951

[1] U. S. Senate Select Committee Report on Improper Activities in the Labour or Management Field, Part III.

[2] Thorsten Sellin's article in Clinard and Quinney, *op. cit.*, 407.

[3] Edward Winslow Martin, *The Secrets of the Great City*, Philadelphia, 1868, 513-14.

मे और न्यूयार्क राज्य बफैलो कमीशन के अनुसार 1959 मे भी अमरीका मे यह नम्बर रैकेट उसी मात्रा मे विकासशील था जैसा अठारहवी शताब्दी मे था।[1] बफैलो आयोग का तो यह विचार था कि गुप्त रूप मे कार्य कर रहे जुआ सिण्डीकेटो मे से नम्बर रैकेट सर्वाधिक सगठित, पूर्णत कर्मचारियो से भरपूर और बहुत अनुशासित थे।

नम्बर लगाना वास्तव मे एक अल्पव्ययी जुआ प्रणाली है जिसमे पुलिस की सक्रिय सहायता से ही कार्य होता है। पुलिस अधिकारियो को क्योकि नम्बर केन्द्रो से नियमित धनराशि मिलती रहती है, वे कभी इनके सदस्यो को बन्दी नही बनाते और न सन्देहयुक्त स्थानो पर छापा मारते हैं। जिन्हे बन्दी बनाया भी जाता है उन्हे इतना साधारण दण्ड मिलता है कि वह कभी भी प्रतिरोधात्मक (deterrent) सिद्ध नही हो सकता। सेलिन[2] का विचार है कि अवैध लाटरी व्यापार मे अधिक से अधिक क्षणिक व अल्पस्थायी उत्क्रमण व उलट-पलट (reversal) हो सकती है। अन्य व्यापारो की तरह इसमे भी उतार-चढाव व मन्दी पुनर्लाभ (recessions and recoveries) पाये जाते हैं परन्तु जब तक यह अपनी सेवाओ द्वारा काफी बडे मार्केट पर निर्भर कर सकता है, यह समाप्त नही होगा।

नम्बर लगाने के अतिरिक्त, जुआ भी एक बडा सगठित व्यापार है। अमरीका मे तो यह माना जाता है कि लगभग पाँच करोड वयस्क व्यक्ति किसी न किसी रूप मे पेशेवर जुआखोरी मे भाग लेते हैं जिसमे लगभग 3000 करोड डालर का लेन-देन होता है तथा जुआरी व्यवस्थापको को प्रति वर्ष 600 करोड डालरो का लाभ मिलता है।[3] यह मानना कि जुआ केवल अनियोजित अवकाश (unplanned) leisure) के कारण पाया जाता है सही नही होगा। इसमे वास्तव मे नैतिक मूल्यो के प्रति हमारी अभयभावी (ambivalent) धारणाएँ अधिक उत्तरदायी है। जुआ एक अनुत्पादक क्रिया है जो किसी भी रूप मे समुदाय के कुल धन को नही बढाती। वास्तव मे समाज की सास्कृतिक व्यवस्था मे कुछ ऐसे लक्षण होते हैं जो जुआखोरी को प्रोत्साहित करते है।

सगठित अपराध, पुलिस और राजनीतिज्ञ
(Organised Crime, Police and Politicians)

सगठित अपराधो मे पुलिस और राजनीतिज्ञो जैसे कानून से सम्बन्धित अधिकारियो की बहुत सहायता ली जाती है। इसमे अपराधियो को न केवल अपराध करने मे सहयोग प्राप्त होता है किन्तु उन्हे सरक्षण भी मिल जाता है। कुछ

[1] Clair Drake, 'Black Metropolis', Harcourt Brace, New York, 1945, W T Brannon, *Chicago-Penny Ante Paradise, U S Crime*, Vol I, December 1951, 79, Buffalo, *An Investigation of Law Enforcement in Buffalo*, New York, January 1961, 23

[2] Thorsten Sellin, *op cit*, 411

[3] Kefauver Committee Report, *op cit*.

(prosecutors) आदि को नियुक्त करवाते है जो पुलिस अधिकारियो को निर्देश देते हैं । दूसरे शब्दो मे यह राजनीतिक दल ही कानून लागू करने वाले सगठन उपस्कृत (furnish) करते हैं ।[1] वाल्टर रेक्लेस का तो विचार है कि सगठित अपराध का जो स्थानीय (local) सरकार के ऊपर अधिकार होता है वह स्थानीय सरकार के सगठित अपराध के ऊपर अधिकार से बहुत अधिक होता है ।[2]

सैद्धान्तिक विवरण (Theoretical Explanation)

सगठित अपराध मे चार प्रमुख तत्त्व मिलते हैं जिनको ध्यान मे रखना अत्यन्त आवश्यक है : *(i) सामूहिक व्यवहार, (ii) मुनाफा प्रवृत्ति, (iii) अपराध का* आजीविका का प्रमुख साधन होना, और (iv) अपराध का एक आचरण विधि (way of life) होना । एक सामान्य समाज मे हर व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से मिलकर रुपया कमाने का कार्य करता है तथा वह कम से कम व्यय, उद्यम और शक्ति से अधिक से अधिक प्रतिलाभ पाना चाहता है । सगठित अपराध को भी हमे इस निजी प्रतिलाभ अर्थव्यवस्था के सामान्य व्यवस्था के विकास मे अनुबन्धन करके देखना है । व्यापार, उद्योग, *वित्त-व्यवस्था यह सब वैध कारोबार के क्षेत्र मे प्रतियोगी उपक्रम हैं । परन्तु* उन वस्तुओ और सेवाओ के यथार्थ आर्थिक आवश्यकताओं का भी एक क्षेत्र है जिन्हे हमारे कानूनी और सामाजिक सदाचार के नियम अनुमति नही देते । सगठित अपराध इस क्षेत्र मे कार्य करने वाली एक व्यापारिक व्यवस्था है । यह अपराध व्यवस्था भी वैध व्यापार की तरह प्रतियोगी है जिस कारण इसे भी अपने सरक्षण व मार्केट-नियन्त्रण के लिए सगठित रहना पडता है । एक ही समुदाय मे एक ही साथ दो समानान्तर प्रतियोगी (parallel competitive) व्यापारिक व्यवस्थाओ व उपक्रमो के कारण विशिष्ट प्रतिद्वन्द्वियो (specific competitors) की धमकियो व आशकाओ का सामना करने मे उपलब्ध सेवाओ के लाभप्रद पारस्परिक आदान-प्रदान व विनिमय (profitable exchange) के लिए बहुत अवसर होते हैं । उदाहरण के लिए एक वैध व्यापारिक उपक्रम दूसरे वैध व्यापारिक उपक्रम का प्रतियोगी सामना करने व अपने व्यापारिक लाभ के लिए उसकी *व्यापार सस्था मे श्रमिको को* हडताल करने को उकसाने के लिए एक *श्रमिक-अधिमुख्य दस्युता (labour boss racketeer)* की सेवाओ का उपयोग कर सकता है । अपराधी दस्युता और व्यापारिक इकाई का यह सहयोग दोनो के लिए लाभकारी होता है । इस कारण एक सामान्य रूप से कार्य करने वाले सामाजिक ढांचे मे वैध व्यापारिक इकाइयो और सगठित अपराधी गिरोह की पारस्परिक निर्भरता चलती रहती है । सामान्य आर्थिक व्यवस्था मे ऊँची स्थिति प्राप्त करने के लिए हिसात्मक प्रतियोगिक सघर्ष अपराधी समूहो और अनपराधी समूहो के मध्य कम और अपराधी समूहो मे आपस मे अधिक मिलते है । परन्तु इसका

[1] Jacob G Grossberg, 'Mercenary Crime and Politics' in *Crime-for-Profit*, edit by Earnest D MacDougall, Stratford Co , Boston, 1933,

[2] *Walter Reckless, Crime Problem, op. cit*, 156.

यह अर्थ भी नहीं कि अपराधी गिरोहों में पारस्परिक विश्वास व भरोसा मिलता ही नहीं है। वास्तव में सहयोगी संचालकों की वैयक्तिक सत्यनिष्ठा व सच्चरित्रता (personal integrity) अपराधी गिरोह में एक संसंजक व संयुक्तिशील (cohesive) तत्त्व का कार्य करती है। विभिन्न गिरोहों व एक ही गिरोह के विभिन्न सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए कोई लिखी सन्धि भले ही न हो परन्तु नैतिक समझौता अवश्य होता है। जिस प्रकार बम्बई के एक व्यापारी के केवल फोन पर आग्रह किये जाने पर दिल्ली का एक व्यापारी उसकी बात का सम्मान करता है वैसे ही पारस्परिक विश्वास, भरोसा व आश्रय संगठित अपराधियों में भी पाया जाता है। यह समझौता एवं विश्वास ही अपराधियों के संगठन को व्यवस्थित रखता है। इस प्रकार नियन्त्रण की दृष्टि से संगठित अपराध को प्रदाय और अभियाचन (supply and demand) के आर्थिक तथ्य बहुत प्रभावित करते हैं। अतः संगठित अपराध को रोकने के लिए सुस्पष्ट, सुव्यक्त व विदित कानून एवं पुलिस अभियान उतने काम नहीं करेंगे जितने गिरोहों के पारस्परिक विश्वास को समाप्त करने के तरीके उपयोगी होंगे।

प्रतिरक्षण (Immunity)

संगठित अपराधियों द्वारा कानून लागू करने वाले अभिकरणों के हस्तक्षेप से स्थायी प्रतिरक्षण प्राप्त करने के लिए कुछ उपाय अपनाये जाते हैं। यह हैं : (i) संगठित अपराधी गिरोह के नेताओं द्वारा अपने को अपराधी कार्यवाही से पीछे रखकर बन्दी होने से बचाना जिससे गिरोह के नेताओं को खोजना कठिन होता है। (ii) श्रेणीबद्ध स्तर के सर्वोच्च अधिकारियों द्वारा निम्न स्तर के सदस्यों के पकड़े जाने पर उनको पुलिस, न्यायाधीश, राजनीतिज्ञों आदि अपने सवेतन एजेन्टों के सहयोग से छुड़वाना। (iii) राजनीतिक संगठनों को चन्दा देकर राजनीतिक शक्ति व अधिकार प्राप्त करना। निर्वाचित अधिकारी क्योंकि संगठित अपराधियों के सहयोग से चुनाव जीतते हैं इस कारण समय-समय पर उनका उन्हें साथ देना आवश्यक हो जाता है। (iv) कुछ अपराधियों को नियमित रूप से घूस देना। (v) जनसाधारण द्वारा भी संगठित अपराध को सहन करने के कारण इन व्यक्तियों को कुछ संरक्षण मिलता है। जनता इस कारण इनको सहन करती है क्योंकि उनको इनके द्वारा नाजायज शराब, संवेदना-भेदक वेश्याएँ आदि जैसे अवैध पदार्थ व आवश्यक सेवाएँ प्राप्त होती है। (vi) कानून के अप्रभावी व दोषपूर्ण होने से तथा उसकी ढीली कार्यान्विति से भी इनको कुछ सुरक्षा मिल जाती है। (vii) कभी-कभी जब संगठित अपराध वैध व्यापार की आड़ में किया जाता है तो भी वह कानून से बच निकलता है।

समाज की प्रतिक्रिया (Social Reaction)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है जनता अवैध पदार्थ व सेवाओं की प्राप्ति के कारण संगठित अपराध को सहन व प्रोत्साहित करती है तथा यह कहना अनुचित न होगा कि संगठित अपराध समाज की विशेष संरचना के कारण ही विकसित होता

है। जब किसी स्थान पर शक्कर, मिट्टी का तेल आदि जैसी वस्तुओं की कमी हो जाती है और यह कुछ लोगों को काला बाजार में प्राप्त होती है तब लोग इस कारण इन चोर-बाजारियों की पुलिस को शिकायत नहीं करते क्योंकि उनको इस प्रकार की सामग्री मिलनी बन्द हो जाने का भय रहता है। राबर्ट वोजिल (Robert Woetzel)[1] का भी मत है कि समाज के अधिकांश सदस्य अपने उद्देश्यों को वैध साधनों व समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त मूल्यों के आधार पर प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु कभी-कभी वे इन मूल्यों के विरुद्ध नये असामाजिक मूल्य अपनाकर भी अपनी कुछ इच्छाओं को पूरा करते हैं। इसी कारण कानूनी और गैर-कानूनी क्रियाएँ तथा सदाचारी व नीति वादी व्यक्ति एवं अपराधी व अनपराधी साथ-साथ पाये जाते हैं। जार्ज वोल्ड[2] का भी यही दृष्टिकोण है कि संगठित अपराध को जनता का बहुत सहयोग व सहिष्णुता प्राप्त है। परन्तु जनता का यह सहयोग केवल अपराधी सिण्डीकेटों के लिए मिलता है, दस्युओं और संगठित अपराधी गिरोहों के लिए नहीं।

संगठित अपराध का नियन्त्रण (Controlling Organised Crime)

संगठित अपराध को नियन्त्रित करने के लिए कठोर व प्रभावशाली कानून तथा उनको सही कार्य-रूप देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पुलिस को अधिक कुशल, निपुण, कार्यसाधक व योग्य बनाने के लिए एक ओर तो पुलिस-अधिकारियों को अधिक अधिकार देने की तथा दूसरी ओर उनकी सुरक्षा के लिए कुछ विशेष उपाय अपनाने की आवश्यकता है। परन्तु कठोर कानून व सर्वाधिकारी पुलिस अपराधी गिरोहों व दस्यु समूहों को नियन्त्रित करने में तो सहायक हो सकते हैं किन्तु अपराधी सिण्डीकेटों को नहीं। अपराधी अभिषदों को क्योंकि जनता की सहिष्णुता प्राप्त है अतः जनसाधारण और राजनीतिक सहयोग व सम्भाव (commitment) के बिना इन्हें समाप्त करना असम्भव है। जनता के निरन्तर दबाव के बिना राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने वाले प्रयत्नकर्ताओं एवं पदाधिकारियों को संगठित अपराध से संघर्ष करने का कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। बहुधा संगठित अपराध की तलनीचा में राजनीतिक भ्रष्टाचार व प्रलोभ पाया जाता है। भारत में इसके दो प्रमुख उदाहरण पंजाब व उड़ीसा राज्यों में मिले हैं।

अमरीका में संगठित अपराध को नियन्त्रित करने के सुझाव देने के लिए 1950 में एक कैफ़ूवर (Kefauver) कमेटी[3] नियुक्त हुई थी जिसने यह सुझाव दिये थे कि संगठित अपराध को दमन करने वाली एजेंसियों व संस्थाओं को शक्तिशाली बनाने, दण्ड को बढ़ाने तथा आप्रवास (immigration) कानून को कठोरतापूर्वक लागू करने से ही संगठित अपराध को नियन्त्रित किया जा सकता है। कैफ़ूवर कमेटी का विचार था कि अभ्यस्त अपराधियों को आजीवन कारावास देने वाला कानून

[1] Robert K. Woetzel, *The Annals*, May 1963, 8

[2] George Vold, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, New York, 1958, 227.

[3] Kefauver Committee Report, *op. cit.*, 26-30

संगठित अपराधियों पर अधिक व्यवस्थित व नियमित रूप से लागू करना चाहिए क्योंकि ये व्यक्ति सौदेबाजी प्रणाली (bargaining) द्वारा अपने अपराधी व्यवहार के परिणामों से बचते रहे हैं। इस सौदेबाजी में अपने को दोषी मान लेने एवं अपना अपराध स्वीकार कर लेने पर उन्हें बहुत साधारण दण्ड दिया जाता है।

पाल टैपन[1] ने संगठित अपराध के निरोध के लिए सबसे प्रभावशाली अस्त्र कम आयु-समूह के अपराधियों को सुधारने का वह केन्द्रित (concentrated) आन्दोलन बताया है जिसके द्वारा संगठित अपराध के निम्न स्तर के सदस्यों की भर्ती रुक जायेगी।

हरबर्ट बिलाच[2] के अनुसार, संगठित अपराध के रोकथाम व अपराधियों के सुधार के लिए उन्हें प्रतिरोधक व प्रतिशोधात्मक दण्ड देना चाहिए क्योंकि इस अपराध की जड़ समाज के ढांचे में अत्यन्त न्यस्त (embedded) है। परन्तु हमारा विचार है कि इन सब उपायों के अपनाने के उपरान्त भी संगठित अपराध के निवारण में समाज में पायी जाने वाली वह नैतिक मक्कारी, कपट व धूर्तता (moral hypocrisy) सदा उग्र बाधा व अड़चन बनी रहेगी जो उस दुराचार व व्यभिचार को सहन करती है जिसे वह समाप्त करने का दिखावी प्रयास करती है।

[1] 'Most effective weapon would be a concentrated campaign of reform focussed on the younger age groups, where there exists some possibility of cutting off the supply of recruits to the ranks of organised crime.' Paul Tappan, *Organised Crime and Law Enforcement*, 158–59.

[2] Herbert A. Bloch and Gilbert Geis, *Man, Crime and Society*, Random House Inc., New York, 1962, 250.

दसवाँ अध्याय

पेशेवर अपराधी
(PROFESSIONAL CRIMINAL)

अपराध को अपना व्यवसाय व जीविका-निर्वाह का एकमात्र साधन बनाने वाले अपराधियों को उनके अपराधी जीवन के आधार पर तीन समूहों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है : (क) साधारण अपराधी, (ख) संगठित अपराधी, और (ग) पेशेवर अपराधी। यह तीन प्रकार के अपराधी इस रूप में समतुल्य हैं कि (i) ये लाभ के उद्देश्य से अधिकतर सम्पत्ति सम्बन्धी ही अपराध करते हैं, (ii) इनकी कुछ अपराधों में विशिष्टता पायी जाती है; (iii) ये अपराध को जीवन-पद्धति (way of life) के रूप में पालन करते हैं; और (iv) ये लम्बे समय तक तथा कभी-कभी जीवन भर अपराध करते हैं। परन्तु इन (तीनों) में अन्तर भी महत्त्वपूर्ण है। साधारण अपराधियों में कार्यकुशलता बहुत कम पायी जाती है तथा तीनों श्रेणियों के अपराधियों में इनका पद निम्नतम होता है। ये अधिकतर लूटमार, सेंधमारी आदि जैसे वह परम्परागत अपराध करते हैं जिनमें सीमित निपुणता की आवश्यकता होती है। गिरफ्तारी और बन्दीकरण से बचने के लिए इनमें कोई संगठन नहीं पाया जाता है। दूसरी ओर संगठित अपराधियों में संगठन मिलता है। इसी संगठन के कारण ये किसी एक अपराध में विशेषज्ञता भी रखते हैं जिसका विशाल व्यापार की तरह संचालन करते हैं। ये अपराधी आर्थिक क्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने व बनाये रखने के लिए बल, रिश्वतखोरी, धमकी आदि का भी प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के संगठित अपराधों के मुख्य रूप वेश्यावृत्ति, जुआ, नशीली वस्तुओं के वितरण आदि में मिलते हैं। तीसरे प्रकार के पेशेवर अपराधी अधिक निपुण होते हैं। अन्य पेशेवर अपराधियों से सम्पर्क व संगठन के कारण, ये आसानी से पकड़े भी नहीं जाते। पेशेवर अपराधी ऐसे अपराधों में विशेषज्ञता रखते हैं जिनमें हिंसा कम और निपुणता अधिक आवश्यक होती है। पाकेटमारी, दुकानों से चोरी, जालसाजी, तस्करी आदि पेशेवर अपराध के कुछ उदाहरण हैं।

पेशेवर अपराधी और संगठित अपराधी के बीच प्रमुख अन्तर यह मिलता है कि प्रत्येक पेशेवर अपराधी सदा संगठित गिरोह का सदस्य बनकर अपराध नहीं करता तथा कुछ पेशेवर अपराधी अकेले भी अपराध करते हैं। इसी प्रकार संगठित अपराध में भी केवल पेशेवर अपराधी ही नहीं मिलते परन्तु साधारण अपराधी भी

मिलते हैं। दूसरी ओर साधारण तथा पेशेवर अपराधी में यह अन्तर है कि (1) साधारण अपराधी का अपराध करना प्रमुख पेशा व आजीविका का साधन नहीं होता है जबकि पेशेवर अपराधी का अपराध करना ही निर्वाह-साधन होता है तथा वह अपना पूरा समय और शक्ति अपराध करने में लगाता है; (2) साधारण अपराधी के अपराध में कोई विशेषता नहीं मिलती जबकि पेशेवर अपराधी का अपराध अत्यधिक विशेषीकृत होता है; (3) साधारण अपराधी का अपराध योजनाबद्ध नहीं होता परन्तु पेशेवर अपराधी का अपराध सावधानीपूर्वक आयोजित होता है; (4) पेशेवर अपराधी का जीवन अत्यधिक विकसित अपराधी जीवन होता है परन्तु साधारण अपराधी का जीवन अपराधी जीवन नहीं होता है; (5) पेशेवर अपराधी को अन्य अपराधियों द्वारा उच्च प्रतिष्ठा मिलती है परन्तु साधारण अपराधी को कोई ऐसा गौरव नहीं मिलता; (6) पेशेवर अपराधी अधिकांशतः अन्य पेशेवर अपराधियों के सम्पर्क में रहता है जबकि साधारण अपराधी के सम्पर्क साधारणतया अनपराधियों से अधिक होते हैं।

क्वीने (Quinney)[1] का विचार है कि पेशेवर अपराधी परम्परागत अपराधियों की तुलना में अधिकांशतः अच्छी आर्थिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति होते हैं। सदरलैण्ड[2] का विचार है कि पेशेवर अपराधियों की वर्तमान आर्थिक स्थिति कितनी भी ऊँची क्यों न हो परन्तु वे अधिकांशतः अपना जीवन परिचारक (वेटर), विक्रेता आदि जैसे निम्न स्थिति वाले व्यवसायों से आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार क्वीने का विचार है कि पेशेवर अपराधी अपना अपराधी-जीवन सापेक्षता अतिकाल आयु (late age) में आरम्भ करते हैं। लेमर्ट (Lemert)[3] भी इस बात का समर्थन करता है। उसका विचार है कि पेशेवर अपराधी साधारण अपराधियों से बहुत देर में अपना अपराधी जीवन आरम्भ करते हैं। आयु उनकी निपुणता व अन्तर्दृष्टि को परिपक्व बनाती है तथा उनका अपने में विश्वास बढ़ाती है। परन्तु हरबर्ट ब्लाच (Herbert Bloch)[4] का विचार है कि पेशेवर अपराधी अपना अपराधी-जीवन सापेक्षतः आरम्भिक-आयु (early age) में प्रारम्भ करते हैं।

पेशेवर अपराधी के लक्षण (Characteristics)

काल्डवेल[5] ने पेशेवर अपराधी के पाँच लक्षण दिये हैं : (1) वह अपराध को व्यापार मानता है; (2) उसके अपराध में विकास की प्रक्रिया मिलती है; (3) वह अपराधी संसार और अपराधियों से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है; (4) उसके अपराध करने की विधि में निपुणता पायी जाती है; तथा (5) वह अपराध को जीवन-पद्धति

[1] Quinney and Clinard, *Criminal Behaviour Systems—a Topology.*

[2] E. H. Sutherland and D. R. Cressay, *Principles of Criminology* (6th edition). Times of India Press, Bombay, 1965, 21-25.

[3] Lemert, *Social Pathology*, 323-24.

[4] Herbert Bloh, *op. cit.*, 191.

[5] Robert G. Caldwell, *Criminology*, Ronald Press Co., New York, 1956, 57.

बनाता है और इसी सन्दर्भ मे नया जीवन-दर्शन भी विकसित करता है।

हरबर्ट ब्लाच[1] ने फिर पेशेवर अपराधी के निम्न लक्षण दिये है (1) उसमे तर्कशील आत्म-सरोकार (self concern) मिलता है तथा अपने हित व सुरक्षा का ध्यान स्वय ही रखता है, (2) वह अपने को साधारण (amateurs) अपराधियो से पृथक् रखता है तथा उन्हे तिरस्कारपूर्ण देखता है, (3) उसमे अपराधी समार की लोकरीतियो के प्रति निष्ठा मिलती है, (4) उसमे लम्बे पुलिस-रिकार्ड की पृष्ठभूमि मिलती है, (5) उसके अपराध करने के तरीके सदा एक जैसे होते हैं।

सादरलैण्ड[2] ने भी इन लक्षणो मे से कुछ का समर्थन किया है तथा कुछ नये लक्षण दिये है। ये नये लक्षण है · (1) पेशेवर अपराधी अपना सारा समय और शक्ति अपराध करने मे लगाता है तथा बूढा हो जाने के उपरान्त एव मरने पर ही अपराधी जीवन छोडता है, (2) वह अपराध का हर पहलू सतर्कता से नियोजित करता है, जैसे स्थान का चुनाव, अपराध करने की विधि-निर्धारण, भागने का उपाय, चोरी की गयी वस्तुओ को बेचने के तरीके, गिरफ्तार होने पर अपने बचाव के उपाय, आदि, (3) वह सामान्यत प्रवासी (migratory) होता है, (4) वह हिंसात्मक तरीके प्रयोग करने से नही घबराता। इन्ही लक्षणो का सविस्तार वर्णन करते हुए सदरलैण्ड ने पेशेवर अपराधियो की तकनीकी कुशलता, उच्च स्थिति, एकमत्य, विभिन्न सम्पर्क और सगठन पर भी बल दिया है।[3]

(1) तकनीकी कुशलता एवं प्रविधियो का सग्रह (Technical skill or complex of techniques)—जिस प्रकार डाक्टरो, वकीलो व इन्जिनियरो आदि मे योग्यताओ का सग्रह और कार्यकुशलता पायी जाती है, उसी प्रकार पेशेवर अपराधियो मे भी प्रविधियो का सग्रह मिलता है जिन्हे अपराध करने, गिरफ्तारी से बचने, गिरफ्तारी के उपरान्त अपने को बचाने, तस्करी व चोरी इत्यादि का माल बेचने आदि के लिए प्रयोग किया जाता है। इन प्रविधियो मे शारीरिक बल कम तथा बुद्धिमानी अधिक मिलती है। इन्ही प्रविधियो के सग्रह के आधार पर ही पेशेवर अपराधी का साधारण अपराधी से प्रभेद भी किया जाता है। कुछ प्रविधियो के विशिष्ट होने के कारण पेशेवर अपराधियो की कुछ ही अपराधो मे विशेषज्ञता मिलती है।

(2) प्रस्थिति (Status)—अन्य पेशेवर व्यक्तियो की तरह पेशेवर अपराधी की भी एक प्रस्थिति होती है जो उसकी तकनीकी कुशलता, वित्तीय अवस्था, उच्च स्तर के व्यक्तियो से सम्पर्क, शारीरिक शक्ति, वेशभूषा, शिष्टाचार आदि पर आधारित होती है। उसकी स्थिति उसके प्रति अन्य अपराधियो की धारणाओ तथा पुलिस, समाचार-पत्रो व न्यायालय के अधिकारियो आदि के व्यवहार से ज्ञात होती है।

[1] Herbert Bloch, *op cit*, 191-92

[2] E H Sutherland, *op cit*, 240-42

[3] *Sutherland's article on 'The Professional Thief'* in Radzinowicz and Wolfgang (eds), *Crime and Justice*, Vol I, Basic Books Inc, New York, 1971, 322-33

इसी स्थिति के कारण ही पेशेवर अपराधियों में पदक्रम (gradations) भी पाये जाते हैं तथा ऊँचे क्रम का पेशेवर अपराधी निम्न क्रम के अपराधी से पृथक् रहने का भी प्रयास करता है।

(3) एकमत्य (Consensus)—पेशेवर अपराध में सहभागी भावनाएँ व मनोभाव एवं समान अनुभव मिलते हैं। उदाहरण के लिए सभी जेबकतरों में भावी शिकार के लिए तथा उन विशेष परिस्थितियों के प्रति, जिनमें शिकार पाया जाता है, समान प्रतिक्रियाएँ पायी जाती हैं। प्रतिक्रियाओं की यह समरूपता अनुभवों के समान पृष्ठभूमि के कारण ही मिलती है। ये प्रतिक्रियाएँ उसी प्रकार की होती हैं जिस प्रकार विभिन्न डाक्टरों में एक रोगी के लिए रोग जाँच सम्बन्धी अन्तर्बोध (clinical intuitions) पाये जाते हैं तथा विभिन्न वकीलों में एक विशेष परिस्थिति में एक न्यायाधीश के लिए प्रतिरूप उत्पन्न होता है। एक पेशेवर अपराधी दूसरे पेशेवर अपराधी के विरुद्ध पुलिस को सूचना देकर उसे गम्भीर हानि नहीं पहुँचाता है। अतः पारस्परिक निष्ठा के कारण तथा अपराधी संसार में प्रतिष्ठा खोने के भय से एक पेशेवर अपराधी पुलिस द्वारा कठोर दण्ड तो सह लेता है परन्तु दूसरे अपराधी के किसी भेद को नहीं खोलता। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि पेशेवर अपराधियों में पुलिस के प्रति प्रतिक्रिया उनके समान अनुभवों का ही परिणाम है। इन्हीं समान प्रतिक्रियाओं, धारणाओं व मूल्यों के कारण ही कुछ पेशेवर अपराधी मिलकर भी अपराध करते हैं। यह एकमत उनमें कानून को शत्रु मानने, एक दूसरे को सहायता करने सम्बन्धी नियम उत्पन्न करने, एवं अपराधी संसार के प्रति निष्ठा विकसित करने में भी पाया जाता है।

पेशेवर अपराधियों में समय पाबन्दी (punctuality) के प्रति भी मतैक्य मिलता है। किन्हीं दो अपराधियों में से एक द्वारा निश्चित समय पर पूर्व निश्चित स्थान पर न पहुँचने का अर्थ है कि वह गिरफ्तार हो गया है और क्योंकि एक की गिरफ्तारी दूसरे के गिरफ्तार होने के खतरे को बढ़ाती है, अतः दूसरा अपने मित्र द्वारा समय पर न पहुँचने के कारण वहाँ से चला जाना ही उचित समझता है।

(4) विभिन्न सम्पर्क (Differential Association)—विभिन्न सम्पर्क (यानी केवल अपराधियों से सम्पर्क रखना) पेशेवर अपराधियों का प्रमुख लक्षण है। पेशेवर अपराधी, अपराधी-संसार के अंग होते हैं तथा परम्परागत समाज से पृथक् रहते हैं उनके पारस्परिक सम्बन्धों में विभिन्नता का तत्त्व भौगोलिक न होकर मुख्यतः प्रकार्य-वादी (functional) होता है। उनके व्यक्तिगत सम्पर्क अनेक अवरोधों (barriers) के कारण सीमित होते हैं। ये अवरोधक उनके सुरक्षा, कुशलता व सामुदायिक हितों पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए जब कुछ अपराधी आपस में बातें कर रहे होते हैं तब एक अनजान व्यक्ति के आ जाने से वे बिल्कुल खामोश हो जाते हैं। इसी प्रकार इस विभिन्न सम्पर्क के कारण ही एक पेशेवर चोरों का समूह एक पेशेवर चोर को अपना सदस्य मानकर उसे पेशेवर चोर की प्रस्थिति प्रदान करता है। उस समूह द्वारा उसे अपना सदस्य न मानने का अर्थ होगा कि उसे पेशेवर चोर की प्रस्थिति

नही दी गयी है यद्यपि उसने चोरी को ही अपने जीवन-निर्वाह का साधन क्यो न बनाया हो ।

पेशेवर अपराधियो मे यद्यपि विभिन्न सम्पर्क पाया जाता है परन्तु फिर भी वे सामान्य सामाजिक व्यवस्था से बिल्कुल पृथक् न रहकर उसका इस कारण अग बने रहते हैं क्योंकि (1) उनका शिकार कानून मानने वाले व्यक्तियो के समाज मे ही रहता है, (2) पुलिस से सरक्षण प्रदान करने वाले उनके कुछ साथी इसी समाज मे रहते है, (3) उनकी मूल आवश्यकताएँ इसी समाज मे पूरी होती है ।

(5) संगठन (Organisation)—पेशेवर अपराध अधिकाशत सगठित भी होता है क्योंकि इसी सगठन द्वारा सदस्यो को अपराध करने के लिए आवश्यक सूचना मिलती रहती है । एक पेशेवर अपराधी का ज्ञान व उसके अपराध करने की विधियाँ उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति न मानकर सम्पूर्ण पेशे की सम्पत्ति मानी जाती हैं, जैसे, शाम के समय जेब काटने के लिए चाँदनी चौक बहुत अच्छा स्थान है, मकानो के निर्माण के स्वरूप के कारण जवाहरनगर कालोनी चोरी करने के लिए अच्छी कालोनी है, 'क' पुलिस इन्सपैक्टर बहुत क्रूर व निष्ठुर है, आदि निदेश एक पेशेवर अपराधी दूसरे पेशेवर अपराधी तक तब तक पहुँचाता रहता है जब तक पूरा पेशा उन निदेशो को न जान जाये । इसी प्रकार पेशेवर अपराध मे एक दूसरे को सकटपूर्ण परिस्थितियो मे सहायता पहुँचाने हेतु अनौपचारिक सेवाएँ भी सगठित की जाती है ।

पेशेवर अपराधियों के प्रकार

गिबन्स ने भूमिका-जीवन (role careers) के आधार पर दो प्रकार के पेशेवर अपराधी बताये हैं (i) तीव्र पेशेवर अपराधी, (ii) अर्द्ध-पेशेवर अपराधी । दोनो मे निम्न अन्तर बताया गया है [1]

(1) तीव्र पेशेवर अपराधी बहुत प्रवीण और कार्य-कुशल (skilled) कानून भग करने वाले व्यक्ति होते है जबकि अर्द्ध-पेशेवर अपराधी सापेक्षिक रूप से अकुशल व अनिपुण (unskilled) व्यक्ति होते हैं ।

(2) तीव्र पेशेवर अपराधियो को अवैध क्रियाओ से बहुत रुपया प्राप्त होता है जबकि अर्द्ध-पेशेवर अपराधियो को अपराधी क्रियाओ से अधिक रुपया प्राप्त नही होता है ।

(3) तीव्र पेशेवर अपराधी अपने धधे मे पूरा समय लगाते है जबकि अर्द्ध-पेशेवर अपराधी अपने अपराधी जीवन मे अशकालिक रूप मे कार्य करते हैं ।

(4) तीव्र पेशेवर अपराधी विरलता से (rarely) ही बल (force) प्रयोग करते हैं जबकि अर्द्ध-पेशेवर बहुधा बल प्रयोग करते हैं ।

(5) तीव्र पेशेवर अपराधियो के अपराध करने की विधि मे विस्तृत आयोजन (planning) मिलता है परन्तु अर्द्ध-पेशेवर अपराधियो के अपराध मे आयोजना नही मिलती है ।

[1] Gibbons, *op cit*, 279-86

(6) तीव्र पेशेवर अपराधियों की अधिकांश अपराधी क्रियाएँ टीम अथवा सम्मिलित आधार पर होती हैं परन्तु अर्द्ध-पेशेवर अपराधियों के अधिकांश अपराधों में केवल दो ही व्यक्ति मिलते हैं।

(7) तीव्र पेशेवर अपराधियों की पुलिस के प्रति धारणा अकुशल (inefficient) आफिसरों के बारे में तिरस्कार (scorn) और कुशल आफिसरों के बारे में सम्मान (respect) पर आधारित होती है परन्तु अर्द्ध-पेशेवर अपराधियों की पुलिस के बारे में धारणा प्रतिरोधी (hostile) व प्रतिकूल (antagonistic) रहती है।

पेशेवर अपराधी का विकास (Development of Professional Criminal)

साधारण अपराधी से एक पेशेवर अपराधी बनने में एक शैक्षणिक प्रक्रिया मिलती है जिसमें व्यक्ति शनैः शनैः अपराधी जीवन को अपनाता है। आरम्भ में साधारण अपराधी कारागृहों, क्लबों, सिनेमा-गृहों व रेस्तरां आदि में पेशेवर अपराधियों के सम्पर्क में आते हैं तथा यहीं से उनकी पेशेवर अपराध में 'भरती' होती है और उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण आरम्भ होता है। रेक्लेस[1] के अनुसार, पेशेवर अपराधी की आरम्भिक शिक्षा अपर्यवेक्षी (unsupervised) अपराधी गिरोहों में होती है। आरम्भ में तो अपराधी परम्परागत समाज और अपने आदर्शमूलक (normative) समूहों के नियमों को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है परन्तु धीरे-धीरे अपने परिवार, रिश्तेदारी-समूह, स्कूल व समुदाय से उसका अलगाव होता जाता है तथा उसकी उनके प्रति निष्ठा कम होती जाती है और अपराधी संसार के प्रति निष्ठा बढ़ती जाती है। वह इस अपराधी संसार की धारणाओं व अनुभवों आदि को ग्रहण कर अपने को इस समाज का विश्वसनीय एवं वफादार सदस्य सिद्ध करता जाता है। काल्डवेल[2] का भी कहना है कि अपराधी संसार भावी पेशेवर अपराधी का पोषण करता है, उसे संरक्षण प्रदान करता है, उसका मनोरंजन करता है तथा अपने काम में निपुणता प्राप्त करने पर उसे एक नायक (हीरो) के रूप में सम्मानित करता है। कभी-कभी तो एक अपराधी को अपराधी-संसार द्वारा सदस्य स्वीकार किये जाने के लिए कठोर प्रक्रिया से भी गुजरना पड़ता है। इस अवधि में वह अन्य पेशेवर अपराधियों द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। सदरलैण्ड[3] का कहना है कि एक पेशेवर अपराधी का अन्य पेशेवर अपराधियों द्वारा पेशेवर अपराधी स्वीकार किया जाना अति आवश्यक है क्योंकि इस स्वीकृति बिना किसी भी प्रकार का ज्ञान व अनुभव उसे सफल पेशेवर अपराधी नहीं बना सकता। परम्परागत समाज से अलगाव के उपरान्त आरम्भ में तो वह परम्परागत और अपराधी समाजों के प्रतिमानों दोनों को मानता है परन्तु धीरे-धीरे केवल अपराधी समाज के प्रतिमानों को ही अपनाता है तथा

[1] Walter Reckless, *The Crime Problem* (3rd edition), Appleton Century Crofts Inc., New York, 1961, Chapters 9–10.

[2] R. G. Caldwell, *op. cit.*, 61.

[3] E. H. Sutherland, *Principles of Criminology*, *op. cit.*, 211.

परम्परागत समाज से अपने को बिल्कुल पृथक् करता है। इस प्रक्रिया का विवरण देते हुए रुथ कैवन (Ruth Cavan)[1] ने कहा है कि सामुदायिक लोक-रीतियों का पालन करने वाली एजेन्सियों के प्रति निष्ठा से अलगाव के उपरान्त वह कुछ समय तक परम्परागत एवं अपराधी दोनों समाजों का सदस्य बना रहता है परन्तु शीघ्र ही परम्परागत समाज से बिल्कुल पृथक् होकर अपने जीवन को अपराधी समाज से संगठन करता है। सदरलैण्ड[2] इस प्रक्रिया को 'परिपक्वता' (maturation) की प्रक्रिया बताता है।

कभी-कभी कुछ पेशेवर अपराधी गन्दी बस्तियों, सस्ते होटलों अथवा किराये के कमरों आदि में इकट्ठे रहते हैं तथा कुछ फिर एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं। उनका यौन-जीवन (sex life) नियन्त्रणहीन रहता है तथा वे या तो रखैल (mistresses) रखते हैं या फिर वेश्याओं से अस्थायी सम्बन्ध बनाये रहते हैं। उनके आपस में मिलने के स्थान रेस्तराँ, क्लब, सिनेमाघर, जुआखाने अथवा पार्क आदि होते हैं जहाँ वे योजनाओं पर विचार-विमर्श करते हैं, एक दूसरे से सहायता माँगते हैं तथा एक दूसरे को महत्त्वपूर्ण सूचना देते रहते हैं।

रिचर्ड जेनकिन्स (Richard Jenkins) ने पेशेवर अपराधी जीवन के विकास में निम्न तत्त्वों का योगदान बताया है[3]

(1) आरम्भिक व निर्माणात्मक (formative) काल के अनुभव (असाधारण कष्टों सम्बन्धी) जो भौतिक सफलता में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

(2) आरम्भिक (early) अनुभव जो निरन्तर विरोधी वयस्कों (constantly hostile adults) के प्रति भावात्मक प्रतिक्रियाओं (emotional reactions) के कारण आत्मसंरक्षी (self-protective) ध्यान पैदा करते हैं।

(3) आरम्भिक अनुभव जो अविश्वास (dis-trust) व विश्वासघात (betrayal) के कारण उत्पन्न होते हैं।

(4) धोखे (deceit) के प्रयोग से आरम्भिक और पुनरावर्ती (repititive) लाभ।

जीवन-दर्शन (Philosophy of Life)

पेशेवर अपराधी के विचार, मूल्य व जीवन-दर्शन अपने ही होते हैं जो साधारणतया संगठित समाज को माननीय नहीं होते। उसका यही जीवन-दर्शन उसके विभिन्न क्रियाओं आदि का मार्ग-दर्शन करता है तथा उसके और कानून मानने वाले व्यक्तियों के मध्य प्रभेद करता है। उदाहरणार्थ, खिड़कियों, दरवाजों, व रोशनदानों को वह मकान के लिए हवा और रोशनी का साधन न मानकर चोरों और डकैतों के लिए मकानों में घुसने के साधन मानता है, मोटरकार को वह गतिशीलता बढ़ाने

[1] Ruth Cavan, *Criminology*, Thomas Y Crowell Co, New York, 1941, 134

[2] E H Sutherland, *op cit*, 219

[3] Richard Jenkins, Quoted by Gibbons, *op. cit*, 277.

का माध्यम नही अपितु अपराध करने के उपरान्त शीघ्र भागने का साधन समझता है । यदि कभी अपराध करते हुए पकड़ा जाता है तो कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कभी-कभी कठिन समय का सामना करता है तथा शीघ्र यह कठिन समय समाप्त हो जायेगा । अपनी मक्कारी और बेईमानी का यह तर्क देता है कि समाज में कोई व्यक्ति ईमानदार नहीं होता । वह सोचता है कि जब मिनिस्टर, राजनीतिज्ञ तथा उच्च अधिकारी आदि लाखों-करोड़ों रुपयों का 'गबन' करते हैं तो उनके द्वारा 'कुछ' रुपये 'इधर-उधर' करने से क्या होता है ? अपने समूह के किसी सदस्य के मरने पर वह अधिक शोक नहीं मनाता ।

जब पेशेवर अपराधी पकड़ा जाता है तब उसे पश्चात्ताप नहीं होता, केवल खिझाहट (असन्तोष) होती है क्योंकि अपनी चतुरता से कानून को धोखा देने में वह सफल नहीं हो सका है । अतः पुनः अपराध करने के लिए वह अधिक सावधान होने का निश्चय करता है । वह यह सोचता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कभी-कभी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है अतः उसे भी क्योंकि इस बार (पकड़े जाने पर) किस्मत ने साथ नहीं दिया है, इस कारण सन्तोष करना चाहिए एवं साधारण कानून उल्लंघन के लिए अपने को अपराधी स्वीकार करना चाहिए ।[1] क्वीनी[2] का कहना है कि वह ऐसा जीवन-दर्शन अपनाता है जो उसे अपनी क्रियाओं व आत्म-प्रतिरूप सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देता है ।

अशिष्ट अपराधी भाषा (Criminal Argot)

पेशेवर अपराधी पारस्परिक अन्तःक्रिया के लिए कुछ विशेष शब्दों का प्रयोग करते हैं । ये शब्द उनके विशिष्ट क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं तथा वे उनके कानून, समाज, क्षतिग्रस्त व्यक्ति, एवं अन्य अपराधियों के प्रति धारणाएँ स्पष्ट करते हैं । माऊरेर (Mowrer)[3] के अनुसार, इन शब्दों के प्रयोग के प्रमुख कारण हैं : (1) पेशेवर अपराधियों का कानून के बाहर काम करना, (2) अपराधी उपसंस्कृति को संचित (consolidate) करना, (3) अपने (अपराधी) समूह के लिए समैक्य (solidarity) विकसित करना, (4) आपस में मित्रता की भावना उत्पन्न करना, तथा (5) पेशे की प्रकृति का इस प्रकार होना जिसके लिए साधारण नागरिकों की शब्दावली में कोई शब्द नहीं होते । कभी-कभी ये शब्द क्षतिग्रस्त व्यक्तियों (victims) को धोखा देने व भ्रम में डालने के लिए भी प्रयोग किये जाते हैं ।

[1] 'He suffers not remorse but chagrin-chagrin because his skill was not good enough to cope with the law. He must be more careful next time. Everybody runs into 'tough luck' once in a while, but he will get his chance some day. In the mean time, he must 'beat the rap'. He knows that he can 'fix' the case if he can reach the 'right' person but failing in this, he will 'cop a plea' (plead guilty to a lesser charge).'

[2] Quinney and Clinard, *op. cit.*, 430.

[3] Mowrer, quoted by Quinney and Clinard, *op. cit.*, 432.

अपराध के कारण (Cause of Crime)

पेशेवर अपराधियों के अपराध को सदरलैण्ड का 'विभिन्न सम्पर्क' का सिद्धान्त भली-भाँति समझाता है, जिसके अनुसार व्यक्ति कानून के उल्लंघन की अनुकूल परिभाषा देने वाले प्राथमिक समूहों के सम्पर्क में आकर अपराध सीखता है। क्लोवार्ड-ओहलिन का 'विभिन्न अवसर' का सिद्धान्त, मर्टन का 'व्याधिकी' सिद्धान्त, कोहेन का 'मूल्य अभिमुख' सिद्धान्त तथा टैफ्ट का 'संस्कृति संघर्ष' आदि सिद्धान्त सभी पेशेवर अपराधियों के अपराधों को स्पष्ट नहीं करते। किन्तु सभी अपराधशास्त्री यह मानते हैं कि पेशेवर अपराधियों के अपराध के विवरण में 'पर्यावरण' ही सबसे प्रमुख कारक मानना होगा। इसके अतिरिक्त हम इस तथ्य पर पहले ही बल दे चुके हैं कि 'पर्यावरण' में भी हमें 'विभिन्न परिस्थितियों के समूह' को आधार बनाना होगा तथा प्रत्येक अपराधी के अपराध का अलग-अलग निदान (diagnosis) करना होगा। इसमें 'समाज की प्रतिक्रिया' (societal reaction) तथा 'पुलिस की भूमिका' की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

दण्ड व सुधार (Punishment and Treatment)

ऐसे अपराधियों का सुधार कैसे किया जाये ? हमारा विश्वास है कि इसके लिए बन्दीकरण अति आवश्यक है। काल्डवेल[1] का विचार है कि कारावास की अवधि में पेशेवर अपराधी का जेल नियमों के पालन करने सम्बन्धी व्यवहार स्वयं के पुनर्वासन की भावना से नहीं किन्तु 'दण्ड-अवधि में छूट' (remission) प्राप्त करने के लिए ही होता है। परन्तु हमारा विचार है कि जेल-व्यवस्था अपराधियों के मूल्य और धारणाएँ परिवर्तन में अवश्य ही सहायक हो सकती हैं। हम यह भी मानते हैं कि इनके कारावास की अवधि पूर्व निश्चित न करके अनिश्चित होनी चाहिए, जिससे जब भी यह अनुभव किया जाये कि उनके विचारों में आवश्यक परिवर्तन आया है, उनको तुरन्त छोड़ दिया जाये। अधिक सुरक्षा वाले कारागृहों तथा आदर्श-जेलों में कुछ समय रखने के उपरान्त इन्हें खुले जेलों में रखना अधिक उपयोगी होगा जिससे वे अपने परिवार के सदस्यों को भी साथ रख सकें। निश्चित समय पर उन्हें पैरोल पर छोड़ना भी लाभदायक ही होगा।

[1] R. G. Caldwell, *op. cit.*, 62.

ग्यारहवाँ अध्याय

श्वेतवस्त्रधारी अपराध
(WHITE-COLLAR CRIME)

अवधारणा (Concept)

श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा 1939 में सदरलैण्ड द्वारा अमरीकन समाजशास्त्रीय परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में परिपादित की गयी थी।[1] यह अवधारणा सर्वप्रथम रॉस (E. A. Ross) ने 1907 में दी थी तथा 1935 में अलबर्ट मारिस (Albert Morris) ने इसकी पुष्टि की थी। मारिस ने अपनी प्रकाशित पुस्तक में श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों के लिए 'उच्च समाज के अपराधी' (criminals of the upper world) शब्द प्रयोग किया था। सदरलैण्ड ने यह अवधारणा उन व्यक्तियों द्वारा कानून के उल्लंघन के लिए प्रयोग की है जो, (क) सम्माननीय व महत्त्वशाली (respectable) होते हैं व जिनको समाज में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है, और (ख) जो अपनी व्यावसायिक क्रियाओं के मध्य (in the course of occupation) आर्थिक उद्देश्य से कानूनों का उल्लंघन करते हैं।[2] बैंक अधिकारियों द्वारा गबन (embezzlement), चीनी-मिल उद्योगपतियों द्वारा चीनी की गैर-कानूनी बिक्री (illegal sale), वकीलों द्वारा अपने मुवक्किलों (clients) के जमानत-पत्रों (securities) की जालसाजी (fraud) आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। इस परिभाषा में अमीरों द्वारा की गयी हत्याएँ, चोरियाँ, अपहरण, परस्त्रीगमन (adultery) आदि अपराध सम्मिलित नहीं किये जा सकते क्योंकि ये प्रथानुसार (customarily) उनके व्यावसायिक प्रक्रियाओं (occupational procedures) के अंग नहीं होते। इसी प्रकार अपराधी संसार (underworld) के सदस्यों द्वारा किये गये अपराध भी उपर्युक्त परिभाषा में सम्मिलित नहीं किये जा सकते क्योंकि इन लोगों की सम्माननीयता (respectability) और उच्च सामाजिक स्थिति नहीं होती।[3]

[1] E. H. Sutherland, 'White-Collar Criminality', *American Sociological Review*, February 1940, 1–12.

[2] 'Crimes committed by persons of respectability and high social status in the course of their occupational activities.' E. H. Sutherland, *Principles of Criminology* (6th edition), The Times of India Press, Bombay, 1965, 40.

[3] E. H. Sutherland, 'White-Collar Crime', Holt, Rinehart & Winston, New York, 1971, 32.

बार्न्स और टीटर्स (Barnes and Teeters) ने इस अपराध को 'शंकास्पद आचारनीति वाले व्यापारिक सौदे' (commercial transactions of questionable ethics) बताया है।[1] मार्शल क्लिनार्ड (Marshall Clinard) ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है कानून का वह उल्लघन जो मुख्यत व्यापारियो, पेशेवर व्यक्तियो व राजनीतिज्ञो जैसे समूहो मे उनके व्यवसाय के सम्बन्ध मे पाया जाता है।[2] फ्रैंक हारटुग (Frank Hartung) के अनुसार, श्वेतवस्त्रधारी अपराध व्यापार से सम्बन्धित वह कानून का उल्लघन है जो एक कम्पनी, कारखाने, फर्म व उसके एजेंटो द्वारा फर्म के लिए व्यापार चलाने हेतु किया जाता है।[3]

वास्तव मे सदरलैंड की उच्च वर्ग के व्यक्तियो से अपराध मे रुचि 1924 मे उत्पन्न हुई थी। 1939 के आरम्भ मे अपनी पुस्तक मे उन्होने इसका प्रकीर्ण व बिखरा हुआ (scattered) हवाला भी दिया था। 1945 मे उन्होंने 'क्या श्वेतवस्त्रधारी अपराध अपराध है' पर एक लेख भी प्रकाशित किया। परन्तु 1949 के बाद ही कुछ अपराधशास्त्रियो ने इस अवधारणा को गम्भीर रूप से लिया तथा इसकी उपयोगिता का विश्लेषण किया।

सदरलैंड की इस प्रकार के अपराध मे रुचि इस कारण उत्पन्न हुई क्योकि उसने पाया कि यद्यपि उच्च वर्ग के लोग अपने व्यवसाय से सम्बन्धित बहुत से अपराध करते हैं परन्तु उनके ये अपराध अदालतो द्वारा नही किन्तु प्रशासकीय एजेंसियो (administrative agencies) द्वारा सम्भाले जाते है। फलत. न तो उन्हे अपराधी माना जाता है और न ही अपराधी व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धान्तो मे उन्हे कोई महत्त्व दिया जाता है। अपराध के कारणो से सम्बन्धित उन सिद्धान्तो के विश्लेषण मे, जो अपराधी के विघटन (pathology) पर बल देते है, उसने पाया कि ये सिद्धान्त श्वेतवस्त्रधारी अपराध को नही समझाते। उसका कहना था कि यदि हीन भावना (inferiority complex), नैराश्य-आक्रमण की भावना (frustration-aggression complex), मातृ (पितृ) वासना की भावना (oedipus complex) आदि तत्त्वो को अपराध का कारण माना जाये तो यह नही कहा जा सकता कि अमरीका की जनरल मोटर कम्पनी (General Motor Co) को कोई हीन भावना है, या एल्युमिनियम कम्पनी (Aluminum Company) नैराश्य-आक्रमण की भावना से पीडित है या अमरीका की स्टील कम्पनी मे मातृ-वासना की भावना मिलती है, या स्मिथ कम्पनी को अपने को 'समाप्त करने की इच्छा' (death wish) है। यह धारणा (assumption) कि अपराधी को उपर्युक्त मे से कोई भावात्मक या बौद्धिक विकार (emotional or intellectual pathological distortion) है अर्थहीन

[1] Elmer Henry Barnes and Negley K Teeters, *New Horizons in Criminology* (2nd edition), Prentice Hall Inc New York, 1951

[2] Marshall B Clinard, *The Black Market : A Study of White-Collar Crime*, Holt, Rinehart and Winston Inc , New York, 1952, 29

[3] Frank E Hartung, 'White Collar Crime : Its significance for Theory and Practice', *Federal Probation*, June 1953, 31-36

(absurd) लगता है। और यदि यह व्यापारियों द्वारा किये गये अपराधों के लिए अर्थहीन व अयुक्त है तो निश्चित रूप से यह निम्न आर्थिक वर्ग के सदस्यों में पाये जाने वाले अपराधी के लिए भी अयुक्त है।[1]

इस अवधारणा को विकसित करने का सदरलैण्ड का यह इरादा नहीं था कि इन अपराधों को करने वाले व्यक्तियों को कानून अपराधी ही माने व अदालतें उन्हें दण्ड दें। उसका लक्ष्य केवल अपराधशास्त्र में सुधार लाना था। उसका कहना था कि यदि कोई वैज्ञानिक आधार पर यह जानना चाहता है कि अपराध क्यों किया जाता है तब उसके लिए श्वेतवस्त्रधारी अपराधों का अध्ययन करना भी इतना ही आवश्यक है जितना उन अपराधों का जानना जो अदालतों द्वारा निपटाये जाते हैं और जिनके लिए व्यक्तियों को कारागृहों में बन्दी बनाया जाता है। अतः सदरलैण्ड का प्रमाप (criterion) अदालत द्वारा दण्डित किया जाना नहीं परन्तु केवल 'दण्डनीयता' (punishability) था।

सदरलैण्ड के बाद काफी विद्वानों ने अमरीका में श्वेतवस्त्रधारी अपराध का अध्ययन किया है। हरबर्ट एडिलहर्ज (Herbert Edelhertz)[2], मार्शल क्लिनार्ड (Marshall Clinard)[3], गिलबर्ट गीज (Gilbert Geis)[4], राबर्ट कैनेडी (Robert Kennedy)[5], डोनाल्ड क्रीसे (Donald Cressey)[6] इनमें से प्रमुख हैं। एडिलहर्ज का कहना है कि सदरलैण्ड की श्वेतवस्त्रधारी अपराध की परिभाषा बहुत सीमित (restrictive) है क्योंकि इसमें उन अपराधों को सम्मिलित नहीं किया जा सकता जिनका व्यक्ति के व्यवसाय से सम्बन्ध नहीं होता, जैसे झूठी आय-कर विवरणी (false income-tax returns), हानि के लिए झूठा दावा (fraudulent claims for losses), व्यक्तिगत दिवालियापन (bankruptcy) में पूँजी (assets) को छिपाना, बहुत-सी वस्तुएँ उधार पर लेना परन्तु उस उधार को चुकाने की कोई इच्छा या क्षमता न होना, आदि। इस कारण एडिलहर्ज श्वेतवस्त्रधारी अपराध को इस प्रकार परिभाषित करता है: 'वह अवैध क्रिया अथवा अवैध क्रियाओं का संग्रह जिन्हें अभौतिक साधनों द्वारा तथा छिपाकर किया जाता है जिससे या तो रुपया व सम्पत्ति प्राप्त हो या रुपया देने से बचा जा सके या कोई व्यक्तिगत लाभ उठाया जा सके।'[7]

[1] Sutherland, 'White-Collar Crime', *op. cit.*, 9.

[2] Herbert Edelhertz, *The Nature, Impact and Prosecution of White Collar-Crime*, U. S. Govt. Printing Office, Washington D. C., 1970.

[3] Marshall Clinard, *The Black-Market : A Study of White-Collar Crime*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1952.

[4] Gilbert Geis, *White-Collar Criminal*, Atherton Press, New York, 1968, 103–17.

[5] Robert F. Kennedy, *The Enemy Within*, Harper & Row, New York, 1960.

[6] Donald Cressey, *Other People's Money : A Study of the Social Psychology of Embezzlement*, Wadsworth Publishing Co., Belmont, 1971.

[7] 'White-collar crime is an illegal act or series of illegal acts committed by non-physical means and by concealment, to obtain money or property, or to avoid the payment or loss of money or property, or to obtain business or personal advantage.' —Herbert Edelhertz, *op. cit.*, 3.

सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध को तीन कारणों के आधार पर अपराध बताया है : (i) कानून इस अपराध को जनसाधारण के लिए हानिकारक स्वीकार करता है; (ii) इस अपराध के लिए उपयुक्त दण्ड निर्धारित किया गया है, (iii) इस अपराध मे पाया जाने वाला व्यवहार साभिप्राय व स्वेच्छयाकृत (intentional and willful) है।[1] इस अपराध के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं ट्रस्ट पूंजी का दुरुपयोग, कम्पनी के वित्तीय विवरण मे गलत बयानी, रिश्वतखोरी, गबन, कम तोलना, झूठे दिवालियापन, बीमा-धोखा, व्यापार-संस्थाओ द्वारा खरीदारी मे भ्रष्टाचार, इत्यादि।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध के तत्त्व
(Elements of White-Collar Crime)

एडिलहर्ज ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध के निम्न तत्त्व दिये हैं[2] :

(1) अनुचित (wrongful) कार्य करने तथा कानून या जननीति (public policy) के विरुद्ध कोई लक्ष्य (purpose) प्राप्त करने का उद्देश्य।

(2) लक्ष्य (purpose) या उद्देश्य (intent) का छिपाना (disguise)।

(3) अपराध करने वाले व्यक्ति (perpetrator) को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति (victim) के अज्ञानता (ignorance) या लापरवाही (carelessness) पर निर्भरता (reliance)।

(4) अपराध को इस प्रकार छिपाना जिसमे क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim) यह अनुभव न कर सके कि उसे वास्तव मे हानि पहुँची है (concealment of crime by preventing the victim from realising that he has been victimised)।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध का विस्तार (Extent of White-Collar Crime)

सदरलैण्ड ने अमरीका मे 70 बडे उत्पादक, खनिज और वाणिज्य कम्पनियो का अध्ययन किया। उन्होने पाया कि इन कम्पनियो के विरुद्ध चालीस वर्षों की अवधि मे अदालतो ने विज्ञापनो मे झूठा व अयथार्थ वर्णन, पेटेंट, प्रकाशनाधिकार व व्यापार चिह्न का उल्लघन (infringement), अनुचित श्रमिक कार्य-प्रणालियाँ, ट्रस्ट-उल्लघन, वित्तीय-धोखा व जालसाजी आदि सम्बन्धी कानून उल्लघन के लिए 980 निर्णय दिये थे जिनमे से 60% (निर्णय) 1935 से 1944 के मध्य दस वर्ष के काल मे ही दिये गये थे।[3] किसी कम्पनी के विरुद्ध तो 50 तक निर्णय थे तथा एक कम्पनी के विरुद्ध औसतन 13 निर्णय दिये गये थे।

क्लिनार्ड ने भी 1952 मे दूसरे महायुद्ध की अवधि मे प्रभावी मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी उल्लघनो का अध्ययन किया था। उसने पाया कि 1942–47 की पाँच वर्ष की अवधि मे देश मे कार्य कर रही 30 लाख व्यापार-संस्थाओ मे से हर 15 मे

[1] See Sutherland's article in David Dressler, *Readings in Criminology and Penology*, Columbia University Press, New York, 1964

[2] Edelhertz, *op cit*, 12

[3] E H Sutherland, *op cit*

से एक संस्था (कुल 19,500 संस्थाएँ) मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी उल्लंघन के लिए दण्डित की गयी थीं।[1] परन्तु क्लिनार्ड का विचार था कि क्योंकि अधिकांश केसों में सरकार व्यापार संस्थाओं के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करती, उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वास्तव में 20 हजार नहीं परन्तु लगभग 8 लाख के करीब मूल्य-नियन्त्रण उल्लंघन किये गये थे।

अब जो अमरीका के लिए सही है वह भारत में भी सही पाया जाता है। यहाँ यद्यपि व्यापार-संस्थाओं द्वारा उल्लंघनों का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारे देश में भी इस प्रकार का श्वेतवस्त्रधारी अपराध अधिक मात्रा में मिलता है।

रिपोर्ट किये गये अधिकांश श्वेतवस्त्रधारी अपराध क्योंकि हमारे यहाँ अदालत द्वारा अभियोगित (judicially processed) नहीं किये जाते परन्तु प्रशासकीय रूप से (administratively) सम्भाले जाते हैं, इस कारण इनके आँकड़े प्रशासनिक रिपोर्टों में तो मिलते हैं परन्तु अपराधी रिकार्डों में नहीं मिलते। दूसरा, किन अपराधों को श्वेतवस्त्रधारी अपराध की परिभाषा में सम्मिलित किया जाये इस पर भी सहमति न होने के कारण इनकी सही संख्या जानना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए अनेक मुख्य मन्त्रियों, मन्त्रियों, सांसदों (M. Ps.), विधान-सभा के सदस्यों (M. L. As.), पुलिस अधिकारियों, सरकारी आफिसरों, इंजीनियरों आदि के विरुद्ध की गयी भ्रष्टाचार (corruption), रिश्वत (bribes), गबन (embezzlement), आय-कर टालना (income-tax evasion), धोखायुक्त खरीदारी (deceitful purchases) आदि की शिकायतें इतनी सही निकलती हैं कि उन्हें इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ता है। परन्तु फिर भी ये केस अपराधी रिकार्डों में नहीं मिलते जिस कारण हमारे समाज में श्वेतवस्त्रधारी अपराध के विस्तार में कोई अन्तर नहीं मिलता।

श्वेतवस्त्रधारी अपराधों का वर्गीकरण
(Classification of White-Collar Crimes)

एडिलहर्ज (Edelhertz) ने श्वेतवस्त्रधारी अपराधों के श्रेणीकरण के लिए दो आधार बताये हैं : (i) अपराध से सम्बन्धित अधिनियम (statute) के आधार पर (ii) पाये जाने वाले अपराध के प्रतिरूप (pattern) के आधार पर, जैसे टैक्स देना टालना (tax-avoidance), सरकार के विरुद्ध धोखा (fraud), आदि। परन्तु क्योंकि इन श्रेणियों से अभिप्रेरणा (motivation) तथा अपराधों से प्रभावित क्षतिग्रस्त व्यक्तियों के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता इस कारण एडिलहर्ज ने अपराधी (perpetrator) के अपराध करने के प्रयोजन (motivation) के आधार पर उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया है—

(1) **व्यक्तिगत अपराध** (Personal crimes)[2]—वे अपराध जिन्हें व्यक्ति

[1] Marshall B. Clinard, *op. cit.*, 28–50 and 226–62.
[2] *i. e.* crimes by persons operating on an individual ad hoc basis,

गैर-व्यापारी सन्दर्भ (non-business context) में व्यक्तिगत लाभ के लिए व्यक्तिगत आधार पर करता है। इसके कुछ उदाहरण है उधार पर वस्तुएँ लेना परन्तु उधार चुकाने का कोई इरादा न होना (purchases on credit with no intention to pay), आय-कर नियमो का उल्लघन (individual income-tax violations), दिवालियापन सम्बन्धी धोखा (bankruptcy frauds), कर्जे की धोखेबाजी, बीमा सम्बन्धी धोखेबाजी (frauds with respect to insurance)।

(2) विश्वास का दुरुपयोग (Abuses of trust)[1]—वे अपराध जिन्हे व्यक्ति व्यापार (business) या सरकारी ऑफिस आदि मे पेशेवर व व्यावसायिक (professional) हैसियत से अपने नियोक्ता (employer) या मुवक्किल (client) के प्रति निष्ठा (loyalty) व वफादारी (fidelity) के कर्त्तव्य का उल्लघन करते हुए करता है। इसके कुछ उदाहरण है व्यापारिक रिश्वत (commercial bribery), बैंक अधिकारियो व कर्मचारियो द्वारा नियमों का उल्लघन (bank-rules violations by bank *officers or employees*), गबन (*embezzlement*), कर्मचारी द्वारा व्यय सम्बन्धी झूठा हिसाब देने वाला धोखा (*employee expense account* frauds), यात्रा सम्बन्धी झूठा व्यय दिखाना (false travel expense)।

(3) व्यापार सम्बन्धी अपराध (Business crimes)[2]—वे अपराध जिन्हे व्यापार बढाने की दृष्टि से किया जाता है। इसके कुछ उदाहरण है टैक्स न देना (tax violations), खाने की वस्तुओ और दवाइयो मे मिलावट (food and drug violations), झूठे वित्तीय विवरण प्रस्तुत करना (preparing false financial statements), डाक्टरो और औषध-विक्रेताओ के मध्य अनावश्यक दवाइयों के नुस्खे लिखने सम्बन्धी कपट-सन्धि (collusion between physicians and pharmacists to cause the writing of unnecessary prescriptions), आवसन सम्बन्धी धोखा (immigration fraud), मकान-मालिको द्वारा किराये पर मकान देने सम्बन्धी सहिता का उल्लघन (house-code *violations by landlords*), भ्रान्ति-जनक विज्ञापन (*defective advertising*), सरकार के विरुद्ध झूठे दावे प्रस्तुत करना (false claims against government)।

(4) कपटी खेल (Con games)[3]—वे अपराध जिन्हे व्यापार की तरह किया जाता है। इसके कुछ उदाहरण हैं अग्रिम (पेशगी) फी सम्बन्धी कपट योजनाएँ (advance fee swindles), झूठी प्रतियोगिताएँ (phony contests), शृंखला-चक्र योजनाएँ (chain schemes), जमीन सम्बन्धी धोखेबाजी (land frauds), दान सम्बन्धी व धार्मिक धोखेबाजी (charity and *religious frauds*), रोजगार एजेंसी

[1] *i e* crimes in the course of their occupations by those operating inside business or Govt in violation of their *duty of loyalty and fidelity to employer or client*

[2] *i e* crimes incidental to and in furtherance of business operations but not the central purpose of *the business*

[3] *i e,* crime as a business or as the central activity.

धोखेबाजी (employment agency frauds), मनीआर्डर धोखेबाजी (moneyorder swindles), आदि ।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध के प्रभाव (Effects of White-Collar Crime)

सदरलैण्ड के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराध निजी सम्पत्ति और सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव की दृष्टि से अन्य अपराधों की तुलना में बहुत हानिकारक व भयानक है । उसने इस अपराध के दो प्रमुख प्रभाव बताये हैं : (1) निम्न वर्ग के सदस्यों द्वारा किये गये डकैती, सेंधमारी, लूट व चोरी आदि अपराधों की तुलना में इस अपराध से समाज को वित्तीय हानि अधिक होती है । जब एक चोरी व लूट में औसतन 1000 से 5000 रुपये की ही हानि होती है (बड़ी बैंक लूट को छोड़कर), एक श्वेतवस्त्रधारी अपराध में लाखों रुपये की हानि होती है; (2) श्वेतवस्त्रधारी अपराध अविश्वास (distrust) की भावना फैलाता है, जनसाधारण का मनोबल कम करता है व सामाजिक उल्लंघन उत्पन्न करता है ।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध की गम्भीर प्रकृति के उपरान्त भी समाज में इसकी सही मात्रा इस कारण पुलिस रिपोर्ट द्वारा ज्ञात नहीं होती क्योंकि (1) सम्बन्धित अपराधियों के राजनीतिक व वित्तीय महत्त्व के कारण इस अपराध का अभ्यारोपण (prosecution) टाला जाता है; (2) अभ्यारोपण के लिए पर्याप्त प्रमाण प्राप्त करना (विशेषकर कम्पनियों के विरुद्ध) कठिन होता है; और (3) कुछ अधिकारियों द्वारा इन अपराधों को हानि की दृष्टि से तुच्छ माना जाता है ।[1]

इस अपराध करने वालों को न्यायालय भी इस कारण दण्डित नहीं करते क्योंकि, (1) इस अपराध के लिए अभियुक्त (accused) व्यक्तियों के प्रति न्यायालय अधिकतर बहुत उदार होते हैं, (2) कानून में इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देने के लिए कोई प्रभावी उपाय नहीं होता है, (3) समय-समय पर अपराधी कानून को प्रभावशाली बनाने के लिए नियोजित उपायों को स्वार्थबद्ध व्यापार संस्थाएँ अवरुद्ध करती रहती हैं ।

सदरलैण्ड के विचार में श्वेतवस्त्रधारी अपराध सम्बन्धी सही तथ्यों का अभाव अपराध के कारणों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अपराधिकी सिद्धान्तों के विकास में बाधाएँ उत्पन्न करता है । अपराध के कारणों का सिद्धान्त, जो अपराधी व्यवहार को सीधा निर्धनता से या निर्धनता से जुड़े हुए मनोरोगमय और सामाजिक विकृतिमय परिस्थितियों से सम्बन्धित करता है, अभिनत व पक्षपाती (biased) सैम्पल पर आधारित है तथा श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों के व्यवहार की बिल्कुल उपेक्षा करता है ।

सदरलैण्ड के अनुसार ही तीन प्रकार के अपराधियों को श्वेतवस्त्रधारी अपराधी माना जा सकता है : (1) जो इस अपराध के लिए न्यायालय द्वारा दण्डित किये गये हों; (2) जो सिफारिश व अनुचित प्रभाव आदि न होने की स्थिति में

[1] Vilhelm Aubert, 'White-Collar Crime and Social Structure' in *American Journal of Sociology*, November 1952, 263-71.

अवश्य ही दण्डित किये जाते हो; और (3) जिन्हे विशेष स्थापित आयोग ने दोषी माना हो (जैसे पजाब मे कैरो व उडीसा मे पटनायक आदि को केन्द्रीय आयोग ने दोषी बताया था)।

काल्डवेल का कहना है कि सदरलैण्ड का यह सुझाव सरल तो है परन्तु प्रयोगात्मक नही है क्योंकि (1) किसी व्यक्ति को तब तक अपराधी के रूप मे कलंकित नही किया जा सकता जब तक न्यायालय उसे दण्ड न दे, और (2) कभी-कभी न्यायालय ऐसे व्यक्तियो को भी दण्ड देते हैं जो वास्तव मे निर्दोष होते है।[1]

विभिन्न सम्पर्क (Differential Associations)

सदरलैण्ड निम्नवर्गीय अपराधियो और श्वेतवस्त्रधारी अपराधियो के सम्पर्कों की प्रक्रिया मे समानता बतलाता है। उसका कहना है कि निम्नवर्गीय अपराधी अधिकाशत अपना जीवन अपकृष्ट (deteriorated) परिवार और पडोस मे आरम्भ करते हैं जहाँ उन्हे ये अपराधी मिल जाते हैं जिनके सम्पर्क मे वे अपराध सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ और प्रविधियाँ सीखते है। दूसरी ओर जो व्यक्ति श्वेतवस्त्रधारी अपराधी बन जाते हैं वे अपना जीवन अच्छे परिवार और अच्छे पडोस मे आरम्भ करते है, तथा कालेज शिक्षा प्राप्त करने उपरान्त वे व्यापार मे प्रवेश करते है जहाँ कानून उल्लघन एक प्रतिमान (norm) माना जाता है तथा अपराधिता वस्तुत एक लोक-रीति (folkway) होती है। यहाँ वे नये मूल्य, अभिप्रेरणाएँ, प्रविधियाँ और युक्तिकरण (rationalisation) सीखकर अपने को इस आदर्शात्मक व्यवस्था (normative structure) मे इस प्रकार समायोजित कर लेते हैं जैसे वे अपने को अन्य परिस्थितियो मे समायोजित करते हैं। उदाहरण के लिए कानून उल्लघन के लिए वे यह युक्ति-करण देते है कि 'व्यापार व्यापार है' अथवा 'सफल व्यापार मे कभी-कभी कानून उल्लघन करना ही पडता है।' लेन (Lane) के अनुसार ये प्रतिमान और युक्तिकरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तथा एक व्यापार-सगठन से दूसरे व्यापार-सगठनो तक फैलते जाते है।[2] इस प्रकार दोनो निम्न व उच्च-वर्ग के अपराधियो मे सम्पर्कों द्वारा अपराध सीखने की प्रक्रिया एक ही है। जब निम्नवर्गीय अपराधियो के लिए आविष्कारशील प्रतिभाशाली व्यक्ति (inventive geniuses) पेशेवर अपराधी होते हैं, श्वेतवस्त्रधारी अपराधियो के लिए यह कार्य वकील व न्यायवादी करते हैं।

इस आधार पर सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध के लिए तीन उपकल्पनाएँ दी हैं: (i) यह अपराध उसी प्रकार सीखा जाता है जैसे अन्य कोई व्यवस्थित अपराध सीखा जाता है, (ii) यह उन व्यक्तियो से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्कों द्वारा सीखा जाता है जो पहले ही से इस (अपराधी) व्यवहार का अनुसरण करते हैं, तथा (iii) जो व्यक्ति यह अपराधी व्यवहार सीखते है वे अपने को विधिपालक (law-

[1] Robert G Caldwell, *Criminology*, The Ronald Press Co, New York, 1956, 67

[2] Robert A Lane, 'Why Businessmen violate the Law', *Journal of Criminal Law, Criminology and Political Science*, August 1953, 151–65.

abiding) व्यवहार के प्राय: घटित और घनिष्ठ सम्पर्कों से पृथक् रहते हैं।

यद्यपि सदरलैण्ड का यह विभिन्न सम्पर्कों का सिद्धान्त बहुत से व्यावसायिक अपराधों की सन्तोपजनक व्याख्या देता है परन्तु इस व्याख्या में कुछ दोष व परिसीमाएँ हैं। बहुत से व्यापारी व अन्य व्यवसायी उल्लंघन प्रविधियों और अनैतिक युक्तिकरणों से परिचित होते हुए भी क्यों इन अवैध पद्धतियों को नहीं अपनाते। कोई भी व्यापारी व्यापार में पाये जाने वाले अवैधता-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किये बिना व्यापार मे टिक ही नहीं सकता। फिर भी कुछ व्यापारी सामान्य सामाजिक मूल्यों के प्रति अपनी धारणाओं के कारण तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं व्यापारी सम्मान व प्रतिष्ठा के कारण इन अवैधताओं को कभी नहीं अपनाते।

क्वीने (Quinney) ने खुदरा औषध-विक्रेताओं (retail pharmacists) के अध्ययन में 'विभिन्न सम्पर्कों' को 'विभिन्न अभिमुखीकरण' (differential orientation) कहा है।[1] उसने औषध-विक्रेताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित करके एक में, 'व्यापार' (business) औषध-विक्रेता; दूसरे में, 'पेशेवर' (professional) औषध विक्रेता; तथा तीसरे में, 'पेशेवर-व्यापार' (profession-business) औषध-विक्रेताओं को रखा है। व्यापार-अभिमुखी औषध-विक्रेता व्यापार के 'धन-सम्बन्धी लाभ' के लक्ष्य में ही रुचि लेते हैं जबकि पेशेवर औषध-विक्रेता व्यापार के 'पेशेवर नियमों के पालन' सम्बन्धी लक्ष्य में रुचि लेते हैं। इस कारण पहले प्रकार के औषध-विक्रेताओं में दूसरे प्रकार के औषध-विक्रेताओं की तुलना में अधिक (कानून) उल्लंघन मिलते हैं। अत: सदरलैण्ड का (विभिन्न सम्पर्क) सिद्धान्त सभी श्वेतवस्त्रधारी अपराधों की व्याख्या नहीं करता।

आलोचनाएँ (Criticism)

श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा के विकास के पूर्व अपराधशास्त्रियों का ध्यान, हत्या, लूट, डकैती व चोरी आदि परम्परागत अपराधों तक सीमित था परन्तु इस धारणा के विकास के उपरान्त पहली बार अपराधशास्त्रियों का ध्यान व्यवसायी अपराधों तथा उच्च वर्ग के अपराधियों की ओर गया। फ्रैंक हारतुंग (Frank Hartung) ने अपराध को इस प्रकार विशेष स्थिति समूह तक सीमित करने को अपराधों के कारणों सम्बन्धी सिद्धान्त के पुन: निरूपण के लिए महत्त्वपूर्ण बताया है।[2] परन्तु वर्तमान में अपराधशास्त्रियों का विचार है कि यह अवधारणा अनुसन्धानों के लिए अनुपयुक्त है।

जार्ज वोल्ड[3] का कहना है कि : (1) इस अवधारणा की कहीं पर भी कोई

[1] Richard Quinney, 'Occupational Structure and Criminal Behaviour : Prescription Violation by Retail Pharmacists' in *Social Problems*, Fall 1963, 179–85.

[2] Frank E. Hartung, *op. cit.*, 31–36.

[3] Geoge Vold, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, New York, 1958, 243,

औपचारिक व कानूनी परिभाषा नही मिलती है जिस कारण यह अब भी अस्पष्ट (ambiguous), अनिश्चित (uncertain), सन्देहयुक्त व विवादास्पद (controversial) है; तथा (2) इस प्रकार के अपराध का कोई विशेष सैद्धान्तिक महत्त्व नही है। वाल्टर रेक्लेस (Walter Reckless) का भी यह ही विचार है। उसके अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराध मे अपराधिकी सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही है। *टैप्पन (Tappan)*[1] *का कहना है कि कानून के अन्तर्गत* न्याय सम्बन्धी व्यवस्था मे अपराध को यथार्थता और सूक्ष्मता से और विधान-मण्डल के सुव्यक्त व सुस्पष्ट निरूपण के अनुसार परिभाषित करना चाहिए। जब तक (अपराधशास्त्रियो और विधिकर्त्ताओ मे) इस अवधारणा के प्रति कोई ठोस सहमति नही है तथा इसे अपराधी कानून के सिद्धान्तो के अनुरूप परिभाषित नही किया जाता, इसे अस्वीकार करना चाहिए क्योकि अपराध को परिभाषित करने वाली अस्पष्ट अवधारणाएँ न केवल कानूनी व्यवस्था के लिए दुराशयपूर्ण प्रभावी है परन्तु उस समाजशास्त्र के लिए भी विपत्तिपूर्ण है जो निरपेक्ष (objective) होने के लिए प्रयास कर रहा है।

काल्डवेल का कहना है कि (1) यह अवैधिक (non-legal) शब्द है तथा जिन अपराधी क्रियाओ का यह निरूपण करता है उनको विशेष रूप से स्पष्ट नही करता; तथा (2) यह उच्च सामाजिक व आर्थिक वर्ग के सदस्यो के अपराध को निर्दिष्ट करता है परन्तु उनकी वर्ग-सदस्यता को निश्चित करने के लिए विशिष्ट मापदण्ड नही देता।[2] इन दोषो के कारण किसी भी समाज मे श्वेतवस्त्रधारी अपराध की सही मात्रा को जानना सम्भव नही है। परन्तु जार्ज वोल्ड का कहना है कि अस्पष्टता के उपरान्त भी यह अवधारणा अपराधिकी सिद्धान्त के लिए महत्त्वपूर्ण है।

न्यूमैन (Newman) ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध की आलोचना करते हुए सुझाव दिया है कि किसान, मरम्मतकर्ता (repairman), आदि जिनका व्यवसाय *निश्चित रूप से श्वेतवस्त्रधारी व्यवसाय नही है तथा जिनकी समाज मे सामाजिक* स्थिति भी उच्च नही है, वे भी दूध मे पानी मिलाने, टेलीवीजन सैट मे अनावश्यक मरम्मत करने आदि सम्बन्धी व्यावसायिक अपराध करते है और इन अपराधियो को भी हमे श्वेतवस्त्रधारी उल्लंघनकर्ता मानना चाहिए।[3]

मार्शल क्लिनार्ड (Clinard) ने भी युद्धकाल मे कालाबाजारी (black-market) करने वाले व्यक्तियो के अनुसन्धान मे पैट्रोल पम्प वालो को तथा मकानो को किराये पर देने वालो को उनकी उच्च सामाजिक स्थिति न होने के उपरान्त भी

[1] Paul W Tappan, 'Who is the criminal?' *American Sociological Review*, February 1947, 99 Also see his book *Crime, Justice & Correction*, McGraw-Hill Book Co, New York, 1960, 7

[2] Robert G Caldwell, 'A Reexamination of the Concept of White-Collar Crime', *Federal Probation*, March 1958, 30–36

[3] Donald J. Newman, 'White Collar Crime' in *Law and Contemporary Problems*, Autumn 1958, 737

श्वेतवस्त्रधारी अपराध में सम्मिलित किया है।[1]

इन आलोचनाओं के आधार पर ही क्वीने (Quinncy) ने यह सुझाव दिया कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा का विस्तार करके इसमें उल्लंघनकर्त्ताओं को सामाजिक स्थिति को महत्त्व दिये बिना वे सब उल्लंघन सम्मिलित करने चाहिए जो व्यवसाय के मध्य पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, क्वीने 'श्वेतवस्त्रधारी अपराध' के स्थान पर केवल 'व्यावसायिक अपराध' शब्द अधिक उपयुक्त मानता है।

इस लेखक का विचार है कि सदरलैण्ड श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा के केवल व्यावसायिक अपराधों से चिन्तित नहीं था जैसा कि क्वीने का विचार है परन्तु उसका केन्द्र (focus) उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाला वह व्यक्ति था जो व्यावसायिक अपराध करता है। अतः सदरलैण्ड के श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा में दोष होते हुए भी हमें इस प्रकार के अपराध को भारत जैसे देश में महत्त्व देना ही होगा, जहाँ आय-कर में कपट, कालाबाजारी, सरकारी अफसरों में रिश्वतखोरी, गुप्त संचय (hoarding), बीमा-धोखा, झूठे विज्ञापन, गबन, नकली दवाइयाँ बनाना, तस्करी, आदि जैसे अपराध बढ़ते ही जा रहे हैं। प्रश्न इसकी परिभाषा का नहीं परन्तु इसके नियन्त्रण का है। यह अपराध पर्यावरण के दोषों के कारण कम और व्यक्तित्व सम्बन्धी कमियों के कारण अधिक होता है। फलतः नियन्त्रण की दृष्टि से इस प्रकार के अपराधों को हमें दो श्रेणियों में बाँटना होगा : (क) जो एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है; तथा (ख) जो सामूहिक रूप से कम्पनी आदि द्वारा किया जाता है। दूसरे प्रकार के अपराध के लिए हमें लाइसेंस रद्द करने, हरजाना वसूल किये जाने, निषेधता प्राप्त करने आदि जैसे उपायों को कठोरतापूर्वक लागू करना होगा। दूसरी ओर, पहले प्रकार का अपराध क्योंकि व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों, राजनीतिज्ञों, डाक्टरों, वकीलों, इन्जीनियरों, आदि में अधिक मिलता है, अतः इनको एक ही साथ कठोर कारावास व भारी जुर्माने जैसा प्रतिशोधात्मक और प्रतिरोधात्मक दण्ड देकर समाज में इनकी प्रतिष्ठा को धब्बा लगाकर उपचारीय (curative) व निरोधक (preventive) उपाय के रूप में अपनाया जा सकता है।

[1] Marshall B. Clinard, *op. cit.*

बारहवाँ अध्याय

अपराधी महिलाएँ
(FEMALE OFFENDERS)

महिलाओ मे अपराध की दर

महिलाओ मे पुरुषो की अपेक्षा अपराध बहुत कम पाया जाता है। भारत मे प्रत्येक एक सौ अपराधियो मे से अपराधी महिलाएँ केवल दो-तीन ही मिलती हैं। प्रत्येक वर्ष कारागारो मे प्रवेशित $3\frac{1}{2}$–4 लाख अपराधियो मे से, 20–25 हजार के मध्य ही अपराधी महिलाएँ होती है। 1975 मे 14·17 लाख गिरफ्तार किये गये व्यक्तियो से से (I P C. के अन्तर्गत) केवल 24,737 (1 8%) महिलाएँ थी[1]।

*यदि महिलाओ के जीवन की सभी क्रियाओ को लेकर एक आवृत्ति वक्र-*अनुरेखण (frequency curve) खीचा जाये और उसमे विकृत (pathological) क्रियाओ को पुरस्कारयुक्त (rewarding) क्रियाओ से एक लाईन खीचकर पृथक् किया जाये तो पुरस्कारयुक्त क्रियाओ मे अनुकरणीय (exemplary) क्रियाओ की सख्या तथा विकृत क्रियाओ मे विचलित (deviant) क्रियाओ की सख्या बहुत कम मिलेगी। विचलित क्रियाओं मे से फिर कुछ क्रियाएँ अनैतिक (immoral) होती है, कुछ पापी (sinful), कुछ असामाजिक (anti-social), तो कुछ अपराध। इस प्रकार महिलाओ मे पाया जाने वाला अपराध सांख्यिकीय (statistical) दृष्टि से समाज के लिए कोई गम्भीर समस्या उत्पन्न नही करता।

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों मे भारत मे महिलाओ मे अपराध की दर बढती हुई मिलती है परन्तु अमरीका आदि जैसे देशो की तुलना मे हमारे समाज मे महिलाओ मे अपराध बहुत कम है। अमरीका मे 1974 में कुल अपराधो में से 83 9% पुरुषो द्वारा तथा 16.1% महिलाओ द्वारा किये गये थे।[2] इग्लैण्ड मे पिछले सात वर्षों में महिलाओ मे अपराध की दर दुगना हो गयी है तथा पश्चिमी जर्मनी में हर तीन अपराधियो में से दो पुरुष और एक महिला मिलती है।[3]

पुरुषो और महिलाओ मे अपराध मे अन्तर के कारण

पुरुषो की तुलना मे महिलाओ मे कम अपराध पाये जाने के निम्न पाँच कारण

[1] *Crime in India, 1976, 53*
[2] Don C. Gibbons, *Society, Crime and Criminal Careers*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, N Jersey, 1965, 444
[3] *Hindustan Times*, 21 September 1978

प्रमुख रूप से दिये जा सकते हैं :

(1) **लिंगीय भूमिकाओं में विभेद** (Differential sex roles)—पुरुष की प्रमुख भूमिका आजीविका कमाना (wage-earning) है जिसके लिए उसे अन्य व्यक्तियों से प्रतिस्पर्धा में आना पड़ता है। कुछ व्यक्ति इस प्रतिस्पर्धा प्रक्रिया में जब अपना लक्ष्य वैध साधनों से प्राप्त नहीं कर पाते तब वे अवैध साधन अपनाते हैं जिसे हम अपराध कहते हैं। दूसरी ओर महिला की प्रमुख भूमिका घर की देखभाल व बच्चों का पालन-पोषण (householder) की है। यह भूमिका वह घर की चहारदीवारी के अन्दर निभाती है जिसके लिए उसे किसी के साथ प्रतियोगी होना नहीं पड़ता तथा उसे अपनी भूमिका निभाने के लिए अवैध साधन अपनाने की आवश्यकता नही पड़ती। अतः महिलाओं में पुरुषों की तुलना में कम अपराध की मात्रा पाये जाने का एक प्रमुख कारण यह भूमिका-अन्तर (role difference) दिया जा सकता है।

(2) **अवसरों और सामाजिक नियन्त्रण में विभेद** (Differential opportunities and social control)—महिलाओं पर पुरुषों की तुलना में घर के बाहर जाने, दूसरों के साथ अन्तःक्रिया करने आदि सम्बन्धी अधिक प्रतिबन्ध रहते हैं जिससे उन्हें अपराध करने का अवसर ही कम मिलता है।

(3) **समाजीकरण की प्रक्रिया में लिंगीय विभेद** (Sex difference in socialisation patterns)—महिलाएँ सामान्यतः दैवभीरु, धर्मभीरु व धर्मनिष्ठ होती हैं। उनमें अपनी व अपने परिवार की प्रतिष्ठा के सुरक्षण की भावना अधिक रहती है। सामाजिक तिरस्कार का भय होने के कारण वे निःशब्द व मौन रूप से अपने कष्ट सहती रहती हैं तथा सामाजिक मूल्यों का पालन करती रहती हैं।

(4) **शारीरिक क्षमता में विभेद** (Differential physical potentialities)—महिलाओं में पुरुषों की तुलना में शारीरिक शक्ति कम होती है अतः अपराध की मात्रा कम होने का एक कारण यह शारीरिक शक्ति का कम होना भी दिया जा सकता है।

(5) **पुलिस और न्यायाधीशों का उदार रवैया** (Lenient attitude of police and judicial officials)—महिलाओं द्वारा किये गये बहुत से अपराध या तो न्यायालय तक पहुँच ही नहीं पाते या फिर न्यायाधीशों के महिलाओं के प्रति उदार विचारों के कारण उन्हें दण्ड न देने से भी उनमें अपराधी दर कम मिलती है। ओटो पोलाक[1] (Otto Pollak) का भी कहना है कि महिलाओं में पकड़ने योग्य अपराध (detected crime) की दर इस कारण कम नहीं मिलती कि वे कानून का उल्लंघन ही कम करती हैं परन्तु इस कारण कम मिलती है कि जिस प्रकार के ये अपराध करती हैं उनका पता चलाने की सम्भावना ही कम रहती है। यदि वे

[1] Otto Pollak, *The Criminality of Women*, Univ. of Pennsylvania Press, Philadelphia, 1950, quoted by Gibbons in *Society Crime and Criminal Careers. op. cit.*, 442.

अपराध पकड़े भी जाते हैं तो वे सम्बद्ध (concerned) अधिकारियों को रिपोर्ट ही कम होते हैं और यदि रिपोर्ट भी होते है तो उन्हे पुरषों की तुलना मे गिरफ्तार या दंडित होने से बचाने के बहुत अवसर मिलते है क्योंकि उनके लिए उदार दोहरा रवैया (double standard) अपनाया जाता है।

यद्यपि सांख्यिकीय दृष्टि से महिलाओं मे अपराध एक गम्भीर समस्या नही है परन्तु सामाजिक दृष्टि से यह समस्या (महिलाओं मे अपराध) एक चिन्तनशील समस्या मानी जा सकती है क्योंकि अपराध करने के पश्चात् जब स्त्री को जेल भेजा जाता है तब उसकी अनुपस्थिति न केवल बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है परन्तु परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए भी समायोजन की अनेक समस्याएँ उत्पन्न करती है। यही कारण है कि अपराधी महिलाओं के प्रति दण्ड-सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन की अधिक आवश्यकता मानी जाती है। परन्तु इसके पूर्व कि हम अपराधी महिलाओं से सम्बन्धित निवारणात्मक तथा सुधार सम्बन्धी नीतियों का विश्लेषण करें, यह देखना आवश्यक है कि किस प्रकार की महिलाएँ अपराध करती हैं, वे किस-किस प्रकार के अपराध करती है तथा उनके अपराध के कारण क्या हैं ?

सामाजिक लक्षण

महिला अपराधियों की सामाजिक पृष्ठभूमि व लक्षणों के अध्ययन की आवश्यकता अनेक कारणों से देखी जा सकती है : (1) यह जानने के लिए कि महिला अपराधियों की पृष्ठभूमि उनके विचारों, विश्वासों और व्यवहार को कैसे निर्धारित करती है, (2) यह ज्ञात करने के लिए कि महिला अपराधी किस रूप मे समाज के सामाजिक संरचना का सूक्ष्म रूप (microcosm) है, (3) यह पूर्वसूचित करने के लिए कि किस प्रकार की महिलाएँ अपराध करेंगी; (4) ऐसे समाज के संरचना, संगठन एवं उपव्यवस्थाओं आदि के प्रति अधिक जानकारी रखना जो अपराधी महिलाएँ उत्पन्न करता है; तथा (5) अपराधी महिलाओं के लिए नये सुधारात्मक उपाय सुझाना।

सामाजिक लक्षणों की दृष्टि से महिला अपराधियों मे कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। मोटे शब्दों मे भारत मे अपराधी महिलाएँ युवा, विवाहित, अशिक्षित, निर्धन, गाँवों की रहने वाली एवं उच्च व मध्य जातियों की अधिक होती हैं।

1976 के आँकड़ों के अनुसार कुल गिरफ्तार महिलाओं मे से 73% विवाहित, 15% अविवाहित तथा 12% विधवा थी। आयु की दृष्टि से 10% 16–21 आयु वर्ग की, 40% 21–30 आयु-वर्ग की, 32% 30–40 आयु-वर्ग की तथा 18% 40 वर्ष के ऊपर आयु की महिलाएँ थी। शिक्षा की दृष्टि से केवल 12% अपराधी महिलाएँ शिक्षित थी।

कुछ वर्ष पूर्व (1968–70 मे) मैंने स्वयं द्वारा भारत के तीन राज्यों—राजस्थान, मध्यप्रदेश और पंजाब—मे 213 अपराधी महिलाओं का अध्ययन किया

था। इस अध्ययन में अपराधी महिलाओं के निम्न सामाजिक-आर्थिक लक्षण पाये गये थे :[1]

(1) 73% अपराधी महिलाएँ विवाहित, 20% विधवाएँ, 4% अविवाहित तथा 3% परित्यक्त (deserted) थीं। अत: क्योंकि 93% महिलाएँ अपराध के समय या तो पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रही थीं या व्यतीत कर चुकी थीं, इससे स्पष्ट है कि महिलाओं के अपराध में वैवाहिक जीवन एवं परिवार की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(2) अपराध के समय 5% महिलाएँ 'बालवत्' (16 वर्ष से कम), 53% 'तरुण' (16 से 30 वर्ष की), 36% 'अधेड़' (30 से 50 वर्ष की) तथा 6% 'वृद्ध' (50 वर्ष से अधिक आयु की) थीं। क्योंकि 80% से ऊपर महिलाएँ 'युवा' आयु-वर्ग की थीं, इसके आधार पर कहा जा सकता है कि विवाह के बाद महिलाओं के पति के परिवार (family of procreation) में समायोजन में पहले पाँच वर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में परिवार में उनका असमायोजन (maladjustment) उनके अपराध का मुख्य कारण बन सकता है।

(3) 79% महिलाएँ अशिक्षित थीं, 11% पढ़-लिख सकती थीं (यद्यपि उन्हें किसी स्कूल में औपचारिक शिक्षा नहीं मिली थी) और 10% को औपचारिक शिक्षा प्राप्त थी। इन अन्तिम 10% में से 7% पाँचवीं कक्षा तक या उससे कम (primary), 2% पाँचवीं से आठवीं कक्षा (middle) तक, और 1% आठवीं कक्षा से ऊपर शिक्षित थीं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा की कमी परिवार में समायोजन सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न करती है जो फिर अपराध के लिए उत्तरदायी स्थिति को जन्म देती है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि शिक्षित महिलाएँ परिवार में समंजन की समस्याओं का सामना नहीं करतीं। वास्तव में शिक्षित और अशिक्षित महिलाओं के समायोजन की समस्याएँ अलग-अलग हैं। अत: महिलाओं में अपराध के कारण को इसी समायोजन (एवं असमायोजन) की प्रकृति के आधार पर देखना होगा।

(4) 36% अपराधी महिलाओं की मासिक पारिवारिक आय 150 रुपये से कम थी, 50% की 150–300 रुपये के मध्य थी तथा 10% की 300–500 रुपये के मध्य थी। इसके आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि महिलाओं में अपराध का प्रमुख कारण निर्धनता है परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि परिवार में असमायोजन का एक महत्त्वपूर्ण कारण निर्धनता हो सकती है जो फिर अपराध के लिए उत्तरदायी हो सकती है।

(5) 74·6% अपराधी महिलाएँ गाँवों की व 25·4% नगरों की रहने वाली थीं। इन आँकड़ों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गाँव अधिक अपराधी महिलाएँ उत्पन्न करते हैं। जनसंख्या की दृष्टि से अध्ययन किये गये तीन राज्यों

[1] See Ram Ahuja, *Female Offenders in India*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969, 17-26.

(राजस्थान, मध्य-प्रदेश तथा पजाब) की नगरीय जनसख्या लगभग 18% है, जबकि इन राज्यो मे अपराधी महिलाओ की सख्या 25 4% है। अत यह कहना गलत नही होगा कि ग्रामो की तुलना मे नगर अधिक अपराधी महिलाएँ उत्पन्न करते है।

उपर्युक्त सामाजिक-आर्थिक लक्षणो के आधार पर महिलाओ में अपराध के कारण से सम्बन्धित एक उपकल्पना (hypothesis) विकसित की जा सकती है कि महिलाओ की अपने पति के परिवारो (families of procreation) मे असमायोजन (maladjustment) उनके अपराध का प्रमुख कारण है।

अपराध की प्रकृति

अपराध की प्रकृति की दृष्टि से महिलाओ मे हत्या, अपहरण, चोरी, डकैती, आवारागर्दी, धोखेबाजी, आबकारी आदि सम्बन्धी वे सब अपराध पाये जाते है, जो पुरुषो मे मिलते है। भारत मे अपराधी महिलाओ से सम्बन्धित उपलब्ध आँकडो से ज्ञात होता है कि उनके 90% अपराधो मे कोई न कोई क्षतिग्रस्त व्यक्ति (victim involved crime) होता है (जैसे हत्या, चोरी, डकैती, अपहरण आदि) तथा 10% अपराध बिना किसी क्षतिग्रस्त व्यक्ति वाले अपराध (non-victim crimes) होते है (जैसे आबकारी, आवारागर्दी, आत्महत्या का प्रयास आदि)। इसी प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि उनके 95% अपराध साधारण (misdemeanour) होते है तथा केवल 5% अपराध ही जघन्य (felonies) होते है।

अपराध की प्रकृति की दृष्टि से 1976 के आँकडो के अनुसार, कुल 24,737 अपराधो मे से लगभग 23 3% चोरी, 18 1% झगडे-फसाद, 3 9% हत्या, 7 1% सेंधमारी, 2 3% अपहरण तथा 45 3% धोखेबाजी, डकैती आदि सम्बन्धी थे।[1] परन्तु तीन राज्यो मे अध्ययन किये गये 213 महिलाओ के आँकडे [जिनमे छह माह से कम कारावासित (कैद मे बन्द) महिलाएँ नही थी] कुछ अन्य ही तथ्य प्रस्तुत करते है। इनमे 66% हत्या, 11% चोरी, 5% अपहरण, 5% आबकारी 4% आवारागर्दी, 3% मार-पीट सम्बन्धी तथा 6% अन्य प्रकार के अपराध पाये गये।[2] दूसरे शब्दो मे कुल अपराधो मे से 76% अपराध व्यक्ति के विरुद्ध, 12% सम्पत्ति के विरुद्ध, तथा 12% नैतिक विषमता के अपराध मिले। इसी प्रकार, 97 5% प्रथम अपराधी तथा 77% भावात्मक अपराधी मिले अथवा केवल 23% अपराध ही व्यवस्थित थे। अत. यह कहा जा सकता है कि भारत मे 95% महिला अपराधियो का अपराध इतना साधारण मिलता है कि उन्हे छह माह से भी कम का कारावास तथा 5% को छह माह से अधिक का कारावास मिलता है।

अग्रांकित तालिका भारत मे पुरुषो और महिलाओ मे अपराधो की तुलनात्मक प्रवृत्ति प्रकट करती है :

[1] *Crime in India*, 1976, 53

[2] Ram Ahuja, 'Female Murderers in India' in *Indian Journal of Social Work*, Bombay, October, 1970, 272

विभिन्न I. P. C. अपराधों के लिए गिरफ्तार किये गये व्यक्ति (1976)[1]

(प्रतिशत में)

अपराध	पुरुष	महिलाएं
1. बलवा या झगड़ा-फसाद (riots)	24·4	18·1
2. चोरी (theft)	17·3	23·3
3. सेंधमारी (burglary)	7·9	7·1
4. हत्या (murder)	2·8	3·9
5. अपहरण (kidnapping)	1·0	2·3
6. धोखेबाजी (cheating)	1·3	0·9
7. लूट (robbery)	1·5	0·6
8. डकैती (dacoity)	3·4	0·4
9. विश्वासघात (breach of trust)	1·4	0·4
10. दण्डनीय हत्या का प्रयास (culpable homicide)	0·4	0·3
11. बलात्कार (rape)	0·4	0·1
12. अन्य (others)	38·2	42·6
कुल अपराध	100 0	100·0
	(N=13,92,289)	(N=24,737)

उपर्युक्त आंकड़े बताते हैं कि पुरुषों और महिलाओं द्वारा किये गये कुछ अपराधों (जैसे, चोरी, झगड़े-फसाद व डकैती) में काफी अन्तर मिलता है तथा कुछ में बहुत कम अन्तर है।

यदि भारत और अमरीका के महिला-अपराधियों के अपराधों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो कुछ रोचक तथ्य सामने आते हैं। दोनों देशों में विभिन्न प्रकार के अपराध निम्न तालिका से स्पष्ट होते हैं :[2]

भारत और अमरीका में महिला-अपराधियों के अपराधों की तुलना

(प्रतिशत में)

अपराध	भारत	अमरीका
1. कुल अपराधों का प्रतिशत	1·8	16·1
2. हत्या	3·9	14·6
3. बलात्कार	0·1	—
4. लूट	0·6	6·8
5. सेंधमारी	7·1	5·4
6. चोरी	23·3	30·7
7. धोखेबाजी	0·9	32·6

उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि अमरीका में महिलाओं द्वारा किये गये अपराधों की प्रकृति तथा भारत में महिलाओं द्वारा किये गये अपराधों की प्रकृति में काफी अन्तर है।

[1] *Crime in India*, 1976, 53.
[2] Gibbons, *Society, Crime and Criminal Careers*, *op. cit.*, 445.

इसी प्रकार यदि दोनो देशो मे पुरुषो और महिलाओ द्वारा किये गये अपराधो का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होता है कि अमरीका मे तो पुरुष और महिलाओ मे लिंगीय असमानता (sexual inequality) का टूटना स्पष्ट होता है परन्तु भारत मे नही होता। अमरीका मे लिंगीय समानता स्थापित करने के प्रयास मे महिलाओ द्वारा आजीविका कमाने के कार्य मे वृद्धि के कारण अपराध बढ गया है परन्तु भारत मे ऐसा नही है। ऐडलर (Adler Freda)[1] और साइमन (Simon) का तो मत है कि यदि अमरीका मे यह प्रवृत्ति बढती गयी तो महिलाओ मे अपराध की दर और स्वरूप पुरुषो के समान हो जायेंगे।

जिन हत्या आदि गम्भीर अपराधो के लिए महिलाओ को आजीवन दण्डादेश व लम्बी कैद मिलती है उनकी सख्या कुल अपराधो की केवल 0 8% ही मिलती है, जिनमे मे अधिकाश हत्या के लिए ही दण्डित होती है। अत क्योकि जघन्य महिला अपराध मे हत्या की सख्या बहुत अधिक पायी जाती है, यह देखना आवश्यक है कि महिलाएँ, हत्याएँ किसकी, किस प्रकार, किन परिस्थितियो मे तथा किन कारणो से करती है।

हत्या

राजस्थान, मध्य प्रदेश व पजाब मे किये गये अध्ययन मे हत्या के कुल 136 अपराधो मे से 81·5% हत्याओ मे मारा गया व्यक्ति (victim) अपराधी का कोई रिश्तेदार पाया गया तथा शेष 18·5% हत्याओ मे वह उसका (अपराधी का) पडोसी व एक ही गाँव का रहने वाला था। जिन 81·5% हत्याओ मे मारा गया व्यक्ति अपराधी का रिश्तेदार था, उनमे मे 92% हत्याओ मे वह (victim) अपराधी के परिवार का ही कोई सदस्य था। 54% हत्याओ मे मारा गया व्यक्ति स्त्री (अपराधी महिला) का पति पाया गया, 18% मे उसकी स्वय की सन्तान, 15% मे उसके पति की माता या पिता या भाई या बहन, 4% मे उसके लडके की पत्नी व उसकी (लडके की) सन्तान तथा 9% मे कोई अन्य सदस्य। जिन 54% हत्याओ मे मारा गया व्यक्ति पति था, उनमे से 56% मे हत्या का कारण अपराधी पत्नी का अन्य किसी पुरुष से अनुचित लिंगीय सम्बन्ध या फिर पति का अन्य स्त्री से अवैध सम्बन्ध था, तथा 27% हत्याओ मे पति द्वारा दुर्व्यवहार हत्या का कारण मिला।[2] पति के प्राथमिक सम्बन्धियो (माता, पिता, भाई, बहिन) की हत्या का कारण भी प्रमुख रूप से उनसे सघर्ष व उनका कुव्यवहार मिला। इन सभी हत्याओ मे विशेष बात यह मिलती है कि 62 8% हत्याओ मे अपराधी महिला ने विवाह के पाँच वर्षों के अन्दर ही यह अपराध किया था। अत समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह कहा जा

[1] Adler Freda, *Sisters in Crime*, McGraw Hill Book Co, New York, 1975 Also see, Dovie Klein, 'The etiology of female crime: A review of the literature', in *Criminology*, Fall 1973, 3-30

[2] See Ram Ahuja, *Female Murderers in India, op cit*, 271-78.

सकता है कि विवाह के पहले पाँच वर्षों में स्त्री के लिए पति के परिवार में समंजन (adjustment) की समस्या कुछ गम्भीर होती है। क्या इस पारिवारिक असमायोजन और उससे सम्बन्धित हत्याओं को रोकने का साधन विवाह-विच्छेद हो सकता है? क्या यह कहा जा सकता है कि यदि ये महिलाएँ अपने पति से वैवाहिक सम्बन्ध तोड़ देतीं तो ये हत्याएँ नहीं होतीं? कुछ हत्याओं में हो सकता है ऐसा सम्भव होता परन्तु सभी हत्याओं के लिए यह मानना उचित नहीं होगा।

सन्तान की हत्या के कारणों में अवैध बच्चे का जन्म (जिससे महिलाओं को समाज निर्वासन का भय होता है), देवी-देवताओं को तुष्ट (propitiate) करने के लिए अपने बच्चे की बलि देना, सम्पत्ति से सम्बन्धित संघर्ष, पति से संघर्ष, के कारण संवेगात्मक स्थिति में अपने बच्चे की हत्या कर देना, बच्चों से मिलकर आत्महत्या के प्रयास में स्वयं का बच जाना किन्तु बच्चे का मारा जाना, तथा दिमागी कमजोरी मुख्य कारण मिलते हैं।

परिवार के अन्य सदस्यों की हत्या में अवैध सम्बन्धों और दुर्व्यवहार के अलावा कुछ अन्य कारण मारे गये व्यक्ति (victim) द्वारा सतीत्व भंग करने का प्रयास, सौत से संघर्ष तथा दहेज आदि को लेकर मारे गये व्यक्ति से विसंवाद पाये जाते हैं। यही सब कारण पड़ोसियों, व गाँव वालों की हत्याओं में भी मिलते हैं। अतः सभी हत्याओं को इकट्ठा लेकर महिला हत्यारिनियों के निम्न चार लक्षण दिये जा सकते हैं: (1) 2/5 से कुछ अधिक (42%) हत्याएँ यौन सम्बन्धी विश्वासघात के कारण व 2/5 से कुछ कम (39%) दुर्व्यवहार व संघर्षों के कारण होती हैं तथा मुख्य परिस्थितियाँ जो महिलाओं में हत्या के लिए अभिप्रेरणात्मक होती हैं वे अवैध सम्बन्ध व पति व ससुराल वालों द्वारा कुव्यवहार मिलते हैं; (2) 3/5 हत्याएँ पारिवारिक असमंजन के कारण मिलती हैं; (3) लगभग आधी हत्याएँ मारे गये व्यक्ति द्वारा उत्तेजित करने के कारण होती हैं; (4) इसी प्रकार लगभग आधी हत्याएँ आवेग में आकर की जाती हैं।

हत्या करने वाले अपराधियों के व्यक्तित्व और अपराध की परिस्थिति के आधार पर हत्या करने वाली महिलाओं के पाँच प्रकार बताये जा सकते हैं:

(i) कुण्ठाशील व हताशजनक (frustrated) हत्यारिन—वह स्त्री जो विवाह उपरान्त नये वातावरण में अपना समंजन नहीं कर पाती तथा नित्य तनाव, पीड़ा व संघर्ष का सामना करती है जो फिर व्यवस्थित रूप से अपराधी व्यवहार को जन्म देते हैं।

(ii) आवेगशील (emotional) हत्यारिन—वह स्त्री जिसकी दबी हुई भावनाएँ आवेग में आकर विमुक्त हो जाती हैं तथा वह अपने पर नियन्त्रण न रख पाने के कारण आवेग में आकर हत्या कर बैठती है।

(iii) प्रतिशोधपूर्ण (revengeful) हत्यारिन—वह स्त्री जो बदले की भावना से हत्या का प्रत्येक पहलू पूर्व नियोजित कर हत्या करती है।

(iv) आकस्मिक (accidental) हत्यारिन—वह स्त्री जिसका हत्या करने का

कोई इरादा नही होता है परन्तु अपने आप को मारपीट से बचाने व अपने सतीत्व की रक्षा करने आदि के लिए अप्रत्याशित रूप से एव बिना किसी सोच-विचार के हत्या कर बैठती है।

(v) **कुमन्त्रित** (misled) **हत्यारिन**—वह स्त्री जो लाक्षणिक रूप से सामान्य व स्वस्थचित होती है परन्तु किसी के बहकावे मे आकर व गुमराह होकर अपने पति आदि का खून कर बैठती है।

दण्ड देने की दृष्टि से इन हत्या करने वाली महिलाओ के तीन प्रकार बताये जा सकते है . (i) जो उत्तेजना व आवेश (provocation) के कारण हत्या करती हैं; (ii) जो आत्म-रक्षा के लिए हत्या करती है, (iii) जिनके द्वारा की गयी हत्या अत्याचारी क्रिया (felonious) होती है। पहले दो प्रकार के हत्यारिनियो के सुधार के लिए परिवीक्षा प्रणाली ही उचित मानी जा सकती है यद्यपि तीसरे प्रकार के लिए कैद ही उचित होगी।

अन्य अपराध

चोरी, आबकारी सम्बन्धी व अनैतिक व्यवहार जैसे अपराधो मे भी परिवार की भूमिका प्रमुख मिलती है। इनमे निर्धनता अपराध का प्रमुख कारण कदापि नही बतलाया जा सकता। आबकारी सम्बन्धी कुछ अपराधो मे महिलाओ को इस कारण दण्डित होना पडा क्योकि उनके पति अवैध मद्य-निष्कर्षण (illicit distillation) के कार्य मे लगे हुए थे और वे अपने पति के प्रति निष्ठावान होने के कारण उनको उनकी आर्थिक क्रियाओ मे सहायता करती रहती थी। अत पति के प्रति परम्परागत कर्त्तव्यो व नैतिक सम्बन्धो का पालन करना ही उनकी अपराधी स्थिति का कारण बना। चोरी के अपराधो मे भी यद्यपि महिलाओ के पति धनोपार्जन का कार्य करते हुए पाये गये परन्तु उनकी आय इतनी अपर्याप्त थी कि अपनी व परिवार की मूल आवश्यकताओ को पूरा न कर सकने के कारण उनके जीवन-साथी आदि से सम्बन्धो मे तनाव पाये जाते थे। अपहरण और अनैतिकता के अपराधो मे भी धन-लाभ अपराध का उद्देश्य न होकर व्यक्तित्व मे सेक्स सम्बन्धी दोष ही इसके प्रमुख कारण बताये जा सकते है।

अपराध में सहायता व सह-अपराधी

सभी प्रकार के अपराधों के विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 57% अपराधो मे महिलाएँ अकेले ही अपराध करती हुई मिली तथा 43% अपराधो मे उनके साथ कोई सह-अपराधी भी था। सहायता करने वालो मे 42% अपराधो मे सहायक, परिवार का कोई सदस्य पाया गया, 23% मे परिवार से बाहर का कोई रिश्तेदार, 8% मे पडोसी, 11% मे उपपति (paramour) व गाँव का ही कोई व्यक्ति तथा 12% मे अन्य कोई जान-पहचान का व्यक्ति था। कुछ ऐसे भी अपराध मिले जिनमे सह-अपराधी को पहचाना ही नही जा सका। सहायता का

रूप भी भिन्न-भिन्न मिलता है । कोई हत्या करने के लिए जहर व कोई हथियार उपलब्ध करने के रूप में सहायता करता है, कोई मारे गये व्यक्ति की लाश को ठिकाने लगाने व नष्ट करने में, कोई चोरी के माल को छुपाने में, कोई नकद रुपया जुटाने में, तो कोई दलाल आदि का कार्य करने के रूप में सहायक होता है । आश्चर्य-जनक बात यह मिलती है कि 71% अपराधों में अपराध की रिपोर्ट पुलिस तक परिवार के किसी सदस्य या निकटवर्ती रिश्तेदार द्वारा पहुँचायी गयी थी । सम्भवतः इसका एक कारण यह हो सकता है कि मारा गया व्यक्ति भी अपराधी का कोई रक्त-सम्बन्धी था । जिन पड़ोसियों या गांव वालों द्वारा पुलिस तक रिपोर्ट पहुँचती है उनका भी अपराधी से सम्बन्ध प्राथमिक मिलता है । पुलिस द्वारा कैद किये जाने पर 49% अपराधों में तो अपराध अपराधियों द्वारा तुरन्त स्वीकार किया गया था तथा शेष 51% अपराधों में भी पुलिस के बिना यन्त्रणाप्रद उपाय अपनाने के एक-दो दिन में ही अपराधियों ने स्वयं मान लिया था । इससे सिद्ध होता है कि अपराधी महिलाओं में अपराधी प्रवृत्तियां कदापि नहीं मिलतीं । कुछ महिलाएँ बिना अपराध किये हुए झूठे रूप में फँसायी जाती हैं और आश्चर्यजनक रूप में झूठा लपेटने वालों में से 41% अपराधों में फँसाने वाला परिवार का कोई सदस्य या निकटवर्ती रिश्तेदार मिलता है तथा 28% अपराधों में पड़ोसी या गांव-निवासी । 4% महिलाओं ने किसी को बचाने हेतु स्वयं अपराध अपने ऊपर थोप लिया था । अतः क्योंकि अपराधों में पारिवारिक असमंजन का कार्य महत्त्वपूर्ण मिलता है, इसका यहां विश्लेषण आवश्यक है ।

अपराध के कारण

महिलाओं में अपराध के कारणों के बारे में बहुत कम सैद्धान्तिक साहित्य (theoretical literature) मिलता है क्योंकि किसी अपराधशास्त्री ने इसे वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया था । लोम्ब्रोजो, फ्रायड, थामस (W. I. Thomas), किंग्सले डेविस, आदि कुछ विद्वानों ने महिलाओं में कुछ जैविकीय लक्षणों की मान्यताओं (assumptions) के आधार पर महिला अपराधिता को उनके व्यक्तिगत शारीरिक या मनोवैज्ञानिक लक्षणों (physiological or psychological characteristics of individuals) के संदर्भ में समझाने का प्रयास किया था । इन्होंने अपराधी महिलाओं के शारीरिक या मनोवैज्ञानिक लक्षणों को 'व्याधिकीय विकृति' (pathological distortions) व सामान्य से प्रत्यंतर (departure from normal) माना था : लोम्ब्रोजो[1] ने पुरुषों में पाये जाने वाले अपराध के विवरण में पूर्वजोदभव (atavism) के सिद्धान्त में कहा कि महिलाओं में जैविकीय विसंगति (biological anomalies) के रूप में पूर्वजोदभव का संकेत नहीं मिलता । इसके स्थान पर उसने महिलाओं में अपराध का कारण उनकी रूढ़िवादी प्रवृत्ति (conservative tendency) बताया ।

फ्रायड ने भी महिला अपराधिता में शरीर-क्रिया सम्बन्धी (physiological)

[1] Lombroso, *The Female Offender*, Appleton, New York, 1903.

विवरण प्रस्तुत किया । उसने महिलाओ मे अपराध को उनके 'पुरुषत्वम्मन्यता' (masculity complex) का कारण बताया । उसका कहना था कि 'सामान्य' (normal) महिलाएँ तो नारीत्व की सामाजिक परिभाषा (societal definition of feminnity) को, जो मातृत्व (motherhood) के अकेले हित (single interest) पर केन्द्रित रहती है, स्वीकार करती है व उसका अन्तकरण (internalisation) भी करती है परन्तु 'अपराध करने वाली महिलाएँ' इस हित को स्वीकार नही करती तथा इसके विरुद्ध विद्रोह करती हैं ।

किंग्सले डेविस[1] ने भी वेश्यावृत्ति की प्रकार्यात्मक टिप्पणी (functional interpretation) दी है । उसका कहना है कि वेश्यावृत्ति उन परिस्थितियो मे पायी जाती है जिनमे विवाह के ढांचे (framework) मे लिंगीय नवीनता (sexual novelty) सम्बन्धी माग पूरी नही होती या जिनमे पुरुष विकलाग (deformed), बदसूरत (ugly) या नपुसक (impotent) होने के कारण अपने जीवन-साथी की लिंगीय माँगें पूरी नही कर पाते ।

इन तीनो व्याख्याओ मे दो प्रमुख दोष मिलते है (i) सामाजिक-सांस्कृतिक लक्षणो की बिल्कुल उपेक्षा की गयी है, और (ii) महिलाओ के जैविकीय लक्षणो के बारे मे गलत मान्यताएँ व अनुमान (erroneous assumptions) लिये गये हैं । साइमन (Simon) ने भी कहा है कि लोम्ब्रोजो, फ्रायड, थामस, डेविस आदि विद्वानो के तर्क दोषपूर्ण हैं क्योकि ये महिलाओ के 'सामान्य' लक्षणो के बारे मे तथा महिलाओ को समर्पित किये जाने वाले स्वाभाविक सामाजिक भूमिकाओ (natural social roles) के बारे मे, विशेषकर वे भूमिकाएँ जो मातृत्व व गृहकार्य (house wifery) पर केन्द्रित हैं, गलत मान्यताओ (presuppositions) पर आधारित हैं ।

पारिवारिक असमजन (family maladjustment) सम्बन्धी विचारधारा

उपर्युक्त बताये गये अपराधी महिलाओ के अध्ययन के आधार पर महिलाओ मे अपराध के कारण सम्बन्धी एक उपकल्पना है जिसके अनुसार महिलाओ मे अपराध का प्रमुख कारण 'पारिवारिक असमजन' है । इसको हम विस्तारपूर्वक निम्न रूप मे समझा सकते हैं :

विवाह के उपरान्त स्त्री को अपने आपको नये पर्यावरण मे समवस्थापन करने एव नयी भूमिकाएँ अपनाने की दो प्रमुख समस्याओ का सामना करना पड़ता है । इस समायोजन मे उसका स्वय का व्यक्तित्व तथा पति व अन्य सदस्यो के विश्वास, मूल्य व धारणाएँ तो महत्त्वपूर्ण होती ही हैं पर साथ मे उसे किस प्रकार के पर्यावरण मे स्वय का समजन करना होता है इसका भी उतना ही महत्त्व होता है । दूसरे शब्दो मे विवाह के समय स्त्री की परिपक्वता (maturity) एव पति के परिवार की सरचना उसके पारिवारिक समजन मे दो मुख्य तत्त्व होते है । विवाह के समय स्त्री

[1] Kingsley Davis, 'The Sociology of Prostitution'. *American Sociologial Review*, Oct. 1937, 744-45.

की परिपक्वता फिर उसकी आयु पर निर्भर करती है। क्या उसकी परिपक्वता व आयु इतनी है कि अपनी नई भूमिकाओं को अच्छी तरह समझ सके और आवश्यकता पड़ने पर अपने मूल्यों को त्याग कर समझौते द्वारा अपने पति आदि से समायोजन कर सके ? उपर्युक्त बताये गये तीन राज्यों में 213 अपराधी महिलाओं के अध्ययन में पाया गया कि विवाह के समय उनकी औसत आयु 13·6 वर्ष थी तथा 65% महिलाओं ने 15 वर्ष से पूर्व की आयु में विवाह किया था। यह आवश्यक नहीं है कि विवाह के तत्काल बाद स्त्री पति के घर जाकर वैवाहिक जीवन आरम्भ करे। समाजशास्त्रीय दृष्टि से समायोजन में विवाह के समय की आयु नहीं परन्तु वैवाहिक जीवन आरम्भ करने की आयु प्रमुख मानी जाती है। यह आयु अध्ययन में 35% अपराधियों में 15 वर्ष से कम, 52% में 15 और 20 वर्ष के मध्य तथा 13% में 20 और 25 वर्ष के मध्य पायी गयी। अत: यह कहा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन आरम्भ करने की औसत आयु 15·4 वर्ष थी तथा 88% महिलाएँ वैवाहिक जीवन आरम्भ करने के लिए मानसिक, सामाजिक एवं शारीरिक रूप से भी तैयार नहीं थीं। ऐसी परिस्थिति में यदि वे अपने को नये पर्यावरण में समायोजित नहीं कर पातीं व सहनशक्ति, उद्यम व दूरदर्शिता की नई भूमिकाओं को ग्रहण नहीं कर पातीं और पति व अन्य सदस्यों से संघर्ष में आती हैं तो क्या आश्चर्य।

इस पारिवारिक समंजन के विश्लेषण में अपराध के समय परिवार की संरचना को भी देखना आवश्यक है। 47% अपराधों में अपराध के समय स्त्रियाँ विवाहित और अपने पति व सन्तान के संग रहती हुई पायी गयीं, 32% में विवाहित और अपने पति व सास-ससुर के घर में रहती हुई पायी गयीं, 8% में विवाहित परन्तु अपने माता-पिता के घर में रहती हुई पायी गयीं, 2% में पति द्वारा परित्याग के कारण अपने माता-पिता के घर में रहती हुई मिलीं, 8% में वे केवल अपने बच्चों के संग रहती हुई विधवाएँ मिलीं, 1% में अपने माता-पिता के संग रहती हुई विधवाएँ मिलीं, एवं 1·5% में अविवाहित लड़कियाँ मिलीं। इन आँकड़ों से यद्यपि यह ज्ञात होता है कि अपराध के समय केवल 2% विवाह ही असफल थे परन्तु इसका यह अभिप्राय: भी नहीं है कि स्त्री यदि पति के घर में रहती मिलती है तो उसका वैवाहिक जीवन आवश्यक रूप से सुखी ही होगा। वियुक्ति और परित्याग के आर्थिक व सामाजिक परिणामों के कारण अनेक स्त्रियाँ वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट होते हुए भी पति के घर ही रहती हैं। अत: वैवाहिक सुख व प्रसन्नता की दृष्टि से देखा जाय तो 82% महिला अपराधियों ने अपने पति व सास-ससुर से सम्बन्ध असामंजस्यपूर्ण बताये। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान रखने योग्य है कि 9·9% स्त्रियाँ विवाह और दण्डित होने के बीच एक वर्ष से भी कम अपने पति के घर रहीं, 9·1% एक और दो वर्ष के बीच, 18·2% दो और पाँच वर्ष के बीच, 20·7% पाँच और दस वर्ष के बीच, 13·2% दस और पन्द्रह वर्ष के बीच, 11·6% पन्द्रह और बीस वर्ष के बीच, और 17·3% बीस वर्ष से भी ऊपर पति के घर रहीं। अत: क्योंकि 37·2% महिलाएँ पाँच वर्ष से कम समय तक पति के घर रहीं, यह कहा जा सकता

है कि अपराध के समय एक-तिहाई महिलाओ को अपने पति व उसके रिश्तेदारो को समझने व समायोजन का काफी समय नही मिला था तथा वे अपने को समायोजित करने मे असफल हुई क्योकि अधिकाश की अपराध करने के समय आयु पन्द्रह से कम थी तथा वे मानसिक व सामाजिक रूप मे अपरिपक्व थी।

अपराध के समय पारिवारिक परिस्थिति के साथ महिलाओ मे व्यक्तित्व सम्बन्धी दोषो को भी देखना होगा। परिवार मे तनाव व विकृति की परिस्थिति उनके पति व सास-ससुर आदि के अनुत्तरदायी व्यवहार के कारण ही उत्पन्न होती है। किन्तु कुछ स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व के लक्षणो के कारण इस तनाव को अधिक अनुभव करती हैं और कुछ कम, जिससे कुछ इसके समाधान के लिए एक उपाय प्रयोग करती हैं और कुछ दूसरे। अत पारिवारिक परिस्थिति की दृष्टि से चार प्रकार के परिवारो को महिलाओ के अपराध के लिए उत्तरदायी बताया जा सकता है (1) वे परिवार जिनमे पति-पत्नी मे तनावपूर्ण सम्बन्ध मिलते है, (2) वे परिवार जिनमे स्त्रियो को प्रथागत, परम्परानिष्ठ, कट्टरपन्थी, धर्मपरायण व हठधर्मी सास-ससुर का सामना करना पडता है; (3) वे परिवार जिनमे पति-पत्नी की आयु मे बहुत अन्तर होता है, (4) वे न्युक्लीय (nuclear) परिवार जिनके अन्य रिश्तेदारो से सम्बन्ध बहुत कम होते हैं तथा जिनमे पति अपने व्यवसाय आदि के कारण अधिक समय घर से अनुपस्थित रहता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यदि हम महिलाओ के अपराधो के कारणो के प्रति किसी सिद्धान्त के विकास से सम्बन्धित कोई उपकल्पनाएं बनाना चाहे तो कह सकते है कि · (1) महिलाओ के अपराध का मुख्य कारण वैवाहिक असमजन है जो उनके स्वय के अपरिपक्वता एव पति व पति के अन्य रिश्तेदारो के अनुत्तरदायी व्यवहार के कारण उत्पन्न होता है; (2) भूमिका सघात (role collision)—जिसमे दो विभिन्न व्यक्तियो (यानी स्त्री एव उसके पति व देवर, ससुर-सास आदि) की भूमिकाओ मे मुठभेड व टक्कर मिलती है, भूमिका अननुरूपता (role incompatibility)—जिसमे एक ही व्यक्ति (यानी महिला द्वारा) विरोधी भूमिकाओ का पालन किया जाता है, तथा भूमिका-सम्भ्रान्ति (role confusion)— जिसमे परिवार द्वारा स्त्री की अपेक्षित भूमिकाएँ स्पष्ट नही होती—भी वैवाहिक असमजन तथा विचलित व्यवहार की समस्या उत्पन्न करते है। ये उपकल्पनाएँ आज के समाजशास्त्रियो व अपराधशास्त्रियो द्वारा मानी हुई इस धारणा पर भी आधारित है कि अपराध के कारणो मे व्यक्तित्व एव परिस्थिति का यौगिक व सयुक्त महत्त्व होता है।

महिलाओ के अपराध के कारणो मे व्यक्तित्व और पर्यावरण की भूमिकाओ को अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है जिसमे महिला के व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण (जो अपराध को उत्पन्न करते है) मान लिये गये हैं तथा केवल परिवार मे परिस्थिति के आधार पर ही महिला के अपराधी कार्य का विश्लेषण किया गया है। यदि यह माना जाये कि परिवार मे परिस्थिति 'S' है तब महिला की क्रिया 'A' होगी और यदि परिस्थिति 'S' नही है तब उसकी क्रिया 'B' होगी। 'A' क्रिया का
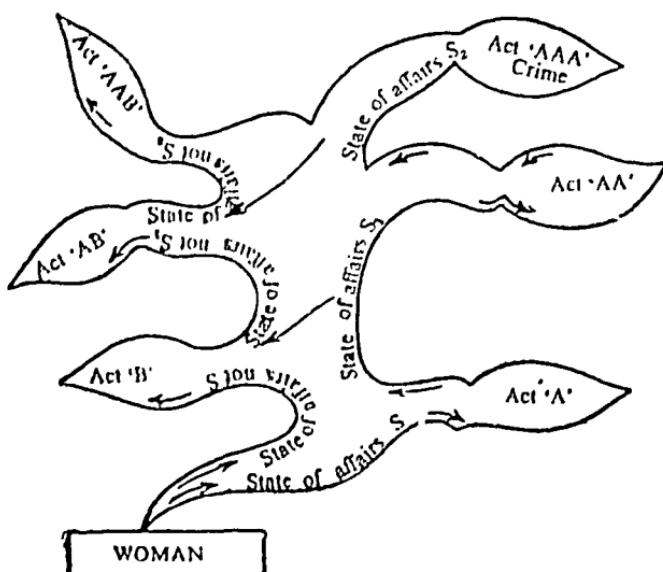
अनुगमन करते हुए यदि परिस्थिति 'S_1' है तब महिला की क्रिया 'A A' होगी और यदि 'S_1' नहीं है तब क्रिया 'A B' होगी। इसी प्रकार 'A A' क्रिया का अनुगमन करते हुए यदि परिस्थिति 'S_2' है तब क्रिया 'A A A' होगी और यदि 'S_2' नहीं है तब क्रिया 'A A B' होगी। इसमें 'A A A' क्रिया अपराधी क्रिया है। उदाहरण के लिए मान लीजिए परिस्थिति 'S' परिवार में पायी जाने वाली वह परिस्थिति है जिसमें स्त्री को पति का प्यार नहीं मिलता, परिस्थिति 'S_1' वह परिस्थिति है जिसमें उसे पति के प्यार के साथ सास-ससुर व सन्तान का प्यार भी नहीं मिलता तथा परिस्थिति 'S_2' वह परिस्थिति है जिसमें न केवल उसे पति व सास-ससुर और सन्तान का प्यार नहीं मिलता परन्तु उसका किसी अन्य पुरुष से अनुचित लिंगीय सम्बन्ध भी हो जाता है।

रेखाचित्र से स्पष्ट है कि एक परिस्थिति नहीं किन्तु सभी परिस्थितियाँ मिलकर स्त्री को अपराध 'A A A' (पति की हत्या) करने के लिए बाध्य करती हैं। तीन परिस्थितियों 'S' 'S_1' 'S_2' में से यदि केवल एक ही परिस्थिति 'S' है या फिर दो परिस्थितियाँ 'S' और 'S_1' हैं तो भी स्त्री अपराध नहीं करेगी। 'S' 'S_1' और 'S_2' परिस्थितियों के सहयोजन व योग (conjunction) के उपरान्त ही वह अपराध (पति की हत्या) करती है। परिस्थितियों के सहयोजन के अतिरिक्त व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण भी अपराध में महत्त्वपूर्ण हैं। तीन परिस्थितियाँ (S, S_1, S_2) होते हुए भी एक स्त्री तो पति की हत्या करती है, दूसरी आत्म-हत्या का प्रयास करती है, तीसरी घर से भाग जाती है तथा चौथी घर में ही रहकर सहनशीलता से परिस्थितियों का सामना करती है। ये अन्तर व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों में अन्तर के कारण पाये जाते हैं। अतः महिला अपराध को व्यक्तित्व और परिस्थितियों के समायोजन के

सन्दर्भ मे ही देखना होगा। विभिन्न परिस्थितियो मे से 'परिवार' की परिस्थिति को 'सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण' परिस्थिति माना जा सकता है।

अपराधी महिलाओं का सुधार व पुन स्थापन

उपर्युक्त कारणो को ध्यान मे रखते हुए क्या हम यह कह सकते है कि महिला अपराधियो को दण्ड देने व सुधारने के जो हमारे समाज मे वर्तमान उपाय मिलते है वे बहुत उपयुक्त व अनुकूल है ? क्या उनको जेल या अन्य किसी सुधारात्मक सस्था मे कैद रखना उनके मूल्यो को बदल पायेगा ? क्या इन सस्थाओ मे मिलने वाला प्रशिक्षण जेल से छूटने उपरान्त उनके पुनर्वास मे सहायक होगा ? पूरे राज्य मे जिन अपराधी महिलाओ को छह महीने से अधिक कारावास मिलता है उनको एक ही स्थान पर कैद रखा जाता है जहाँ उनके नातेदार दूरी के कारण उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नही रख पाते। फिर क्या उनको जेलो मे कैद करना आवश्यक भी है ? कारावास मे रखने का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि अपराधी को समाज के लिए खतरा माना जाता है जिस कारण उसे समाज से पृथक् करने के लिए तथा अपने असामाजिक व्यवहार पर विचार कर पश्चात्ताप करने का अवसर देने हेतु उसे जेल मे रखा जाता है। क्या यह अपराधी महिलाएँ वास्तव मे समाज के लिए खतरा हैं और उसे हानि पहुँचाने की इच्छा रखती हैं ? क्योकि ऊपर बताये गये कारण उनमे किसी प्रकार के निहित व स्वाभाविक अपराधी प्रवृत्तियो का उपस्थित होना सिद्ध नही करते, क्यो उन्हे लम्बे काल के लिए समाज से पृथक् किया जाये ? क्यो न उन्हे परिवीक्षा पर छोड़कर अपने मूल्यो को बदलने का अवसर दिया जाये ? यह सही है कि परिवीक्षा व्यवस्था भारत मे कानूनी रूप से 1958 से और कुछ राज्यो मे उससे भी पूर्व से लागू की हुई मिलती है परन्तु वास्तविकता यह है कि जो अपराधी परिवीक्षा के लिए योग्य भी होते हैं उनमे से 8% से भी कम को परिवीक्षा पर छोड़ा जाता है। फिर वर्तमान नियमो के अनुसार हत्या करने वाले अपराधियो को परिवीक्षा पर छोडने की व्यवस्था नही है। क्यो न हम परिवीक्षा अधिनियम मे सशोधन कर एक क्रान्तिकारी उपाय अपनाकर हत्या करने वाली महिलाओ जैसे अबोध व अहानिकर अपराधियो को भी परिवीक्षा पर छोडने की व्यवस्था करें।

इसका यह तात्पर्य भी नही है कि जेल-व्यवस्था को बिल्कुल ही समाप्त किया जाये तथा किसी भी अपराधी महिला को जेल न भेजा जाये। कुछ महिला अपराधियो को समाज से पृथक् करके जेल मे रखना आवश्यक होता है। परन्तु क्या उसके लिए भी निश्चित दण्ड-अवधि की वर्तमान व्यवस्था उपयुक्त है ? हम अपराधी को आठ या दस वर्ष क्यो जेल मे रखे, जब हम जानते हैं कि जिस उद्देश्य से उनको जेल मे रखा गया था वह दो-तीन वर्ष मे ही प्राप्त किया गया है ? क्यो न हम सभी अपराधियो, विशेषकर अपराधी महिलाओ, के लिए 'अनिश्चित दण्ड-अवधि' (indeterminate sentence system) की व्यवस्था आरम्भ करें जिसमे कैद की अधिकतम व न्यूनतम अवधि तो न्यायालय द्वारा निश्चित होती है किन्तु यथातथ

(exact) अवधि एक कमेटी व पैरोल बोर्ड द्वारा निर्धारित की जाती है।

वैसे भी पुरुष कैदियों की अपेक्षा महिला वन्दियों को कारावास में कम ही सुविधाएँ मिलती हैं। जब पुरुष अपराधियों के लिए आदर्श व खुले जेलों की व्यवस्था मिलती है जिनमें अनेक सुविधाओं के अतिरिक्त उन्हें दण्ड-अवधि में छूट (remission) भी अधिक मिलती है, महिलाओं के लिए ऐसे कोई विशेष जेल नहीं मिलते। जिन कारागारों में पुरुष वन्दियों के लिए पारिश्रमिक व्यवस्था मिलती है उन सभी में महिला-वन्दियों के लिए ऐसी व्यवस्था या तो होती ही नहीं या बिना गम्भीरता व अनुपेक्षणीयता से लागू की जाती है। पुरुष वन्दियों के लिए जब किसी-किसी जेल में उनकी समस्याओं के समाधान हेतु पंचायत व्यवस्था आरम्भ की गयी है, महिलाओं के लिए ऐसा कोई साधन नहीं मिलता। फलस्वरूप यह सुझाव दिया जा रहा है कि अपराधी महिलाओं की दण्ड व सुधारने की वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक है।

यह परिवर्तन इस कारण भी आवश्यक है क्योंकि कैद के कारण स्त्री की अनुपस्थिति में परिवार को नये समायोजन करने पड़ते हैं, विशेषकर छोटे बच्चों की देखभाल एवं पति द्वारा जैविकीय, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक समंजन। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि हमें महिला अपराधियों के उन छोटे-छोटे बच्चों को भी जेल में रखना पड़ता है जिन्होंने किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन नहीं किया होता है? उपर्युक्त वर्णित तीन राज्यों में अपराधी महिलाओं के अध्ययन में 27 महिलाओं के साथ उनके 39 छोटे बच्चे भी साथ रहते पाये गये। यह सही है कि समाज इन बालकों को बलपूर्वक उनकी माताओं के साथ रहने के लिए बाध्य नहीं करता परन्तु क्या यह समाज का उत्तरदायित्व नहीं है कि ऐसे बच्चों के रहन-सहन की व्यवस्था करे जिन्हें अपनी कैद माता के साथ रहने के अतिरिक्त अन्य कोई रिश्तेदार या स्थान नहीं है। कितने बच्चों के लिए वास्तविक रूप से ऐसी सुविधा मिलती है? शायद 1% के लिए भी नहीं।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि जिस परिवार में रहने से महिलाओं को समायोजन की समस्या का सामना करना पड़ा उसी पर्यावरण में उन्हें परिवीक्षा आदि पर छोड़कर सुधारने के लिए कैसे रखा जा सकता है? इसका उत्तर यह होगा कि जहाँ सास-ससुर के दुर्व्यवहार के कारण महिला ने अपराध किया वहाँ आवश्यक नहीं कि उसका पति भी उसके साथ कुव्यवहार करे। जहाँ पति से उसे स्नेह व सहानुभूति नहीं मिली तथा उसने अन्य स्त्री से अवैध सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं वहाँ आवश्यक नहीं है कि उसकी स्वयं की सन्तान भी उसे प्यार न दे। अतः परिवार में वापस भेजने से पहले परिवार के पर्यावरण का ज्ञान प्राप्त कर उनको परिवीक्षा पर छोड़ना अनुचित नहीं होगा।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि महिलाओं में अपराध क्योंकि विघटित व्यक्तित्व के कारण नहीं किन्तु पारिवारिक असमंजन के कारण ही अधिक होते हैं अतः वर्तमान सुधारात्मक उपायों में परिवर्तन अति आवश्यक है।

तेरहवाँ अध्याय

क्षतिग्रस्त-व्यक्ति और अपराध
(VICTIM AND CRIME)

क्षतिग्रस्त-व्यक्ति सम्बन्धी शास्त्र (victimology) का एक विज्ञान के रूप मे विकास पिछले 10–15 वर्षों मे ही हुआ है। यह विज्ञान प्रमुख रूप से दो तत्वो के अध्ययन से सम्बन्धित है पहला, अपराध में क्षतिग्रस्त व आहत-व्यक्ति (victim) की भूमिका, और दूसरा, क्षतिग्रस्त-व्यक्ति का हित व कल्याण। इन दोनो का हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

अपराध में क्षतिग्रस्त-व्यक्ति की भूमिका

जिस प्रकार एक अपराधी सदा दोषी व्यक्ति (guilty) नही होता, उसी प्रकार एक आहत-व्यक्ति भी सदा निर्दोष व्यक्ति नही होता। शुल्ज (Schultz)[1] का कहना है कि 'क्षतिग्रस्त-व्यक्ति' और 'आक्रामक' (aggressor) शब्द कभी-कभी परस्पर विनिमयशील (interchangeable) होते हैं तथा कुछ अपराध के कारणो मे क्षतिग्रस्त-व्यक्ति का व्यक्तित्व अपराधी की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होता है। एलिनबर्गर (Ellenberger)[2] का भी कहना है कि अपराधी और क्षतिग्रस्त व्यक्ति के मध्य एक आपसी सम्बन्ध व मनोवैज्ञानिक अन्तःक्रिया पायी जाती है तथा एक अपराधी के अपराध को पूर्णतः समझने के लिए हमे उसके द्वारा क्षति पहुँचाये गये आहत-व्यक्ति से परिचित होना चाहिए। वुल्फगैंग (Wolfgang)[3] ने अपने एक अध्ययन मे पाया कि जब 54% अपराधियो के पूर्ववर्ती (previous) गिरफ्तारी के रिकार्ड थे, क्षतिग्रस्त-व्यक्तियो मे से 62% के ऐसे रिकार्ड थे। इस कारण यह आवश्यक है कि हमारे विचारो मे, जो इस समय क्षतिग्रस्त-व्यक्ति के प्रति अनुकूल व सकारात्मक (positive) व अपराधी के प्रति प्रतिकूल व नकारात्मक (negative) है तथा जो अपराधी को सदा हिंसक, अन्यायपूर्ण और खतरनाक मानता है, परिवर्तन

[1] Le Roy G Schultz, *Crime in Delinquency*, New York, April 1968, Vol 14, No 2, 137

[2] Ellenberger, '*Psychological relationships between the criminal and his victim*', quoted by Schultz, *op cit*, 136

[3] Marvin E Wolfgang, '*Victim precipitated criminal Homicide*' in *Sociology of Crime and Delinquency*, edit by Wolfgang, Savitz and Johnston, John Wiley and Sons, New York, 1962, 395.

होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार हम अपराधी और उसके दण्ड के व्यक्तिकरण (individualisation) को महत्त्व देते हैं उसी प्रकार हमें क्षतिग्रस्त-व्यक्ति के व्यक्तिकरण पर भी बल देना चाहिए।

प्रश्न यह है कि क्षतिग्रस्त-व्यक्ति किस प्रकार अपराधी को अपराध की प्रेरणा देता है तथा कानून उल्लंघन के लिए उकसाता है? शुल्ज[1] ने इसके चार प्रकार बताये हैं: (1) प्रत्यक्ष उकसाहट (provocation), तथा अपराधी में विरोधी व प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करना। उदाहरण के लिए, दो व्यक्तियों में उत्तेजित वाद-विवाद के मध्य यदि एक व्यक्ति दूसरे को लाठी या बन्दूक देकर यह कहे कि 'यदि साहस है तो चलाओ और इसे मारो मुझे' और अगर चुनौती स्वीकार करके दूसरा व्यक्ति वास्तव में उस लाठी या बन्दूक से चुनौती देने वाले व्यक्ति को मार बैठे तब इसे आहत-व्यक्ति द्वारा अपराधी को मिली हुई प्रत्यक्ष उकसाहट ही कहा जायेगा। (2) अप्रत्यक्ष रूप से उकसाना व अपराध के लिए आमन्त्रण देना। उदाहरण के लिए, यदि एक बहुत कमजोर और निर्बल व्यक्ति एक शारीरिक रूप से शक्तिमान व हट्टे-कट्टे व्यक्ति पर चाकू से आक्रमण करेगा तो निश्चय ही शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर व्यक्ति से चाकू छीनकर उसी से उसे (कमजोर व्यक्ति को) मार सकता है। यह दुर्बल व्यक्ति द्वारा बलवान व्यक्ति को अपराध करने के लिए अप्रत्यक्ष आमन्त्रण ही कहलायेगा। इसी प्रकार यदि एक अविवाहित लड़की गर्भवती होने पर किसी डाक्टर को रुपये का लोभ देकर गर्भपात करवाना चाहे और यदि संयोगवश गर्भपात असफल हो जाये और गर्भवती लड़की की मृत्यु हो जाये तब डाक्टर द्वारा की गयी यह हत्या आहत-व्यक्ति की अप्रत्यक्ष उकसाहट के कारण ही होगी। (3) सामान्य निरोधक उपाय न अपनाने से। उदाहरण के लिए, हम एक नये नौकर के सामने रुपया व आभूषण आदि अलमारी में रखें व निकालें और उसी के सामने तकिये के नीचे चाबी रखें तो अवसर मिलने पर यह नौकर अवश्य ही अलमारी से रुपये व आभूषण लेकर फरार हो जायेगा। यहाँ नौकर द्वारा चोरी मालिक के निरोधक उपाय न अपनाने के कारण ही हुई। इसी प्रकार मान लीजिए, साइकिल या स्कूटर बिना ताला लगाये हम बाजार में खुला छोड़कर सौदा खरीदने में लग जायें तो चोर को उसे चोरी करने का अवश्य ही अच्छा अवसर मिलेगा। यहाँ हमारी असावधानी के कारण ही चोर को चोरी करने का सुअवसर मिलता है। (4) कभी-कभी अपराधी क्षतिग्रस्त-व्यक्ति के संवेगात्मक विघटन (emotional pathology) के कारण भी अपराध करता है। संवेगात्मक रूप से विकृत व्यक्ति जड़बुद्धि-व्यक्ति (idiot), अल्पबुद्धि-व्यक्ति (imbecile) व क्षीणबुद्धि-व्यक्ति (moron) से भिन्न होता है। जड़बुद्धि-व्यक्ति उसे कहते हैं जिसकी बौद्धिक स्थिति 3 वर्ष के बालक की-सी होती है, अल्पबुद्धि व्यक्ति उसे कहते हैं जिसकी बौद्धिक स्थिति 3 से 7 वर्ष के बालक के समान होती है, तथा क्षीणबुद्धि व्यक्ति उसे कहते हैं जिसकी बौद्धिक स्थिति 7 से 12 वर्ष के बालक के समान होती है। इस प्रकार इन तीनों व्यक्तियों में मानसिक विकास

[1] Schultz, *op. cit.*, 137.

या तो बिल्कुल नही मिलता या बहुत कम मिलता है। संवेगात्मक रूप से विकृत व्यक्ति मे मानसिक विकास तो पूरा मिलता है परन्तु कभी-कभी वह भावात्मक दृष्टि से परेशान होने के कारण ऐसा कार्य कर बैठता है जो उसके सामने उपस्थित व्यक्ति को असामाजिक या अपराधी कार्य करने पर बाध्य करता है।

क्षतिग्रस्त व्यक्तियो के प्रकार

उपर्युक्त आधार पर वान हेटिग (Von Hentig)[1] ने क्षतिग्रस्त-व्यक्तियो के चार प्रकार बताये है (i) उत्तेजक विक्टिम (provocative victim), अथवा वह विक्टिम जो अपराधी को अपराध के लिए उत्तेजित करता है; (ii) सहयोगी विक्टिम (*cooperative victim*), *अथवा वह विक्टिम जिसकी हानि अधिक लाभ के लालच* के कारण होती है, (iii) आत्मसमर्पणशील विक्टिम (submissive victim), अथवा वह विक्टिम जिसकी हानि उसी के सहभावी प्रयासो के कारण होती है और (iv) आलसी विक्टिम (lethargic victim), अथवा वह विक्टिम जो स्वय हानि की इच्छा रखता है।

विभिन्न अपराधो मे से दो प्रकार के अपराधो मे क्षतिग्रस्त-व्यक्ति की भूमिका अधिक महत्त्वशाली पायी जाती है—एक सेक्स सम्बन्धी अपराधो मे, और दूसरा हत्या आदि जैसे हिंसा के अपराधो मे।

सेक्स सम्बन्धी अपराध—बेन्डर और ब्लाऊ (Bender and Blau)[2] द्वारा 1965 मे किये गये एक अध्ययन के अनुसार सेक्स सम्बन्धी अपराधो मे पाये जाने वाले आहत-व्यक्ति आत्मसमर्पणशील, असयमित सहवासी (promiscuous) व आवेगी (impulsive) होते है। ये माता-पिता की आज्ञा की अवहेलना करते है, वयस्क सम्पर्कों मे विश्वास रखते है तथा आडम्बरप्रिय होते है। 1955 मे वीज (Weiss)[3] ने *73 सेक्स-अपराधियो के अध्ययन मे 60% को 'सहभागी' (participator)* पाया। 1956 मे ग्लूक (Glueck)[4] ने 185 सेक्स-अपराधियो के अध्ययन मे 21% को 'फुसलाने वाला' (seductive) पाया। 1957 मे रैजनोविज (Radzinowicz)[5] ने 1994 सेक्स-अपराधियो के अध्ययन मे 40% को अविरोधी व अ-आपत्तिकर्ता (non-objecting) पाया। 1965 मे गैगनान (Gagnon)[6] ने 330 सेक्स-अपराधियो के अध्ययन मे 8% को 'सहयोगी' (collaborative) पाया। इन अध्ययनो से स्पष्ट है कि सेक्स-अपराधो मे आहत-व्यक्ति की भूमिका प्रमुख रहती है।

[1] Von Hentig *The Criminal and his Victim*, Yale University Press, New Haven, 1948, 383-85

[2] Bender and Blau, 'Reaction of children to sexual relations with adults', 1965, quoted by Schultz, *op cit*, 138

[3] *Weiss*, 'A study of girl sex victims', quoted by Schultz, *op cit*, 137.

[4] Glueck, quoted by Schultz, *op cit*, 137

[5] Radzinowicz, *Crime and Justice*, Vol I

[6] Gagnon, 'Female child victims of sex offences' (1965), quoted by Schultz, *op cit*, 137

हत्याएं—हत्या सम्बन्धी अपराधों में भी आहत-व्यक्तियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण पायी जाती है। वुल्फगेंग (Wolfgang)[1] ने 588 हत्यारों के अध्ययन में 25·5% हत्याओं को आहत व्यक्ति द्वारा निस्सादित (victim precipitated) पाया। हेंटिग[2] ने 85% हत्याओं को 'आहत-व्यक्तियों द्वारा अवक्षेपित' पाया। मैंने स्वयं हत्या करने वाली 136 महिलाओं के अध्ययन में 52·9% को 'आहत व्यक्ति द्वारा निस्सादित' पाया।[3] इनमें से 12% में पति का विश्वासघात, 24% में अपराधी महिला का पति व सास आदि द्वारा दुर्व्यवहार, 18% में आहत व्यक्ति द्वारा वाद-विवाद के मध्य घटिया भाषा का प्रयोग, 4% में झगड़ों में क्षतिग्रस्त व्यक्ति द्वारा मुक्का व थप्पड़ आदि मारना, 4% में क्षतिग्रस्त-व्यक्ति द्वारा किसी हथियार का प्रयोग तथा 7% में क्षतिग्रस्त व्यक्ति द्वारा अपराधी महिला के साथ छेड़-छाड़ (molestation) का प्रयास, अपराध के मुख्य कारण पाये गये।

नातेदारी सम्बन्ध—अपराधी और क्षतिग्रस्त व्यक्तियों के सम्बन्धों में दोनों के मध्य नातेदारी सम्बन्ध का विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। एक अध्ययन में 81·5% अपराधी महिलाओं में अपराधी और आहत-व्यक्ति के मध्य नातेदारी सम्बन्ध पाया गया जिनमें से 76·6% तो परिवार के ही सदस्य थे।[4] ऐसा सम्बन्ध वुल्फगेंग[5] ने 23·30% हत्या के केसों में पाया। बुलक (Bullock)[6] ने अपने 1955 के अध्ययन में तथा स्वालसतोगा (Svalastoga)[7] ने 1956 के अध्ययन में अपराधी और क्षतिग्रस्त-व्यक्ति के सम्बन्धों में काफी मात्रा में नातेदारी सम्बन्ध पाया। इस सम्बन्ध का विश्लेषण न केवल अपराध के कारण को सही रूप में समझने में सहायता करता है परन्तु निरोधात्मक उपाय अपनाने में भी सहायक होता है। उदाहरण के लिए एक अन्य अध्ययन[8] से महिलाओं के 136 हत्या सम्बन्धी अपराधों में से 60% में क्षतिग्रस्त व्यक्ति और अपराधी के मध्य पति-पत्नी का सम्बन्ध पाया जाना यह स्पष्ट करता है कि अपराध को कम करने के लिए पति-पत्नी के सम्बन्धों को नियन्त्रित करना आवश्यक है। जैसे, यदि पति-पत्नी को पारस्परिक संघर्ष के उपरान्त तलाक की वर्तमान वैधानिक सुविधा से अधिक सुविधा दी जाये तो सम्भवतः काफी हत्याओं को रोका जा सकता है। इसी प्रकार यदि पुरुष-स्त्री के विवाह की निम्न आयु को नियन्त्रित किया जाये तो संघर्षों को नियन्त्रित करके पति-पत्नी के मध्य समायोजन (adjustment) प्रक्रिया को सरल बनाकर बहुत अपराधों को रोका जा सकता है।

[1] Wolfgang, *op. cit.*, 392.
[2] Hentig, *cop. it.*
[3] Ram Ahuja, 'Female murderers in India : A sociological study' in *Indian Journal of Social Work*, Bombay, Vol. XXXI, No. 3, October 1970, 277.
[4] *Ibid.*, 273.
[5] Wolfgang, *op. cit.*, 394.
[6] Bullock, quoted by Wolfgang, *op. cit.*, 395.
[7] Svalastoga, quoted by Wolfgang, *op. cit.*, 395.
[8] Ram Ahuja, *op. cit.*, 271.

समरूपता और भिन्नता (Homogeneity and Heterogeneity)

अपराधी और क्षतिग्रस्त व्यक्ति के सम्बन्धो मे आयु, लिंग, शिक्षा, आय आदि सम्बन्धी समरूपता व भिन्नता का अध्ययन भी अपराध के कारणो को समझने मे तथा आहत व्यक्तियो के लिए कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ आरम्भ करने मे सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए यह ज्ञात करना महत्त्वपूर्ण है कि क्या अधिकाश आहत व्यक्ति पुरुष है या स्त्रियाँ, निर्धन व्यक्ति है या मध्य वर्ग या उच्च वर्ग के, शिक्षित हैं या अशिक्षित, युवक हैं या अधिक आयु के इत्यादि। अमरीका के 1967 के अपराध सम्बन्धी आँकडे यह बताते है कि बलात्कार, लूट, और सेंधमारी के अपराध 3000 डालर प्रति वर्ष आय वाले समूह मे सर्वाधिक है तथा जैसे-जैसे आय बढती है वैसे ही इन अपराधो की संख्या कम होती जाती है, एव दस हजार डालर प्रति वर्ष पाने वाले समूह मे यह तीनो अपराध सब से कम मिलते है। दूसरी ओर चोरी (larceny) व मोटर कार की चोरी का अपराध सब से कम तीन हजार डालर से कम वाले आय-समूह मे और उसके उपरान्त पाँच हजार, दस हजार और दस हजार से अधिक वाले आय-समूह मे मिलता है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है[1]

अपराध	आय			
	0—2999 डॉलर	3000—5999 डॉलर	6000—9999 डॉलर	10000 से ऊपर डॉलर
बलात्कार	76	49	17	10
लूट	172	121	48	34
सेंधमारी	1319	1020	867	790
चोरी (50 डॉलर से अधिक)	420	549	619	925
मोटरकार की चोरी	153	202	206	219

213 महिला अपराधियो के आयु-सम्बन्धी विश्लेषण के एक अध्ययन मे पाया गया कि 57·4 प्रतिशत महिलाओ मे अपराधी व आहत-व्यक्ति के मध्य आयु भिन्नता (heterogeneity) थी तथा केवल 42 6 प्रतिशत केसो मे दोनो एक ही आयु-समूह (homogeneity) (युवक, मध्य आयु समूह या वृद्ध) के थे। हारलन (Harlan) ने 1950 मे अलाबामा (अमरीका) मे अध्ययन किये गये 500 पुरुष व महिलाओ की हत्याओ मे समरूपता अधिक पायी। बर्ग और फॉक्स (Berg and Fox) ने भी 1947 मे मिशीगन (Michigan) मे हत्या करने वाले 200 पुरुषो मे समरूपता पायी। समरूपता व भिन्नता का यह विश्लेषण एक ओर अपराधी व क्षतिग्रस्त व्यक्ति के मध्य विचार सम्बन्धी व व्यवहार सम्बन्धी अन्तर स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर क्षति पहुँचाने (victimisation) का स्वरूप प्रकट करता है। अपराध के कारणो के

[1] *Criminal Victimisation in U S.. A Report of the National Survey,* 1967, 31

विश्लेषण में यह निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त हो सकता है।

क्षतिग्रस्त व्यक्ति का हित व कल्याण

क्षतिग्रस्त व्यक्ति के कल्याण का विचार वास्तव में बहुत नया विचार नहीं है। यह प्रणाली प्राचीन भारत के इतिहास में तथा कुछ आदिम जनजातियों में अब भी मिलती है। क्षतिग्रस्त व्यक्ति के लिए हरजाने (compensation) सम्बन्धी आधुनिक प्रोग्राम इंग्लैण्ड और न्यूजीलैण्ड में 1964 में आरम्भ किये गये थे। इंग्लैण्ड में हरजाना सम्पत्ति आदि सम्बन्धी आर्थिक अपराधों के लिए नहीं दिया जाता किन्तु यह केवल शारीरिक क्षति के लिए उन क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को दिया जाता है जो स्थायी व अस्थायी चोट के कारण तीन हफ्ते से अधिक समय के लिए काम करने व रुपया कमाने के लिए अयोग्य हो जाते हैं। इन क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को प्रार्थना-पत्र देने पर डॉक्टरी जाँच की रिपोर्ट के आधार पर मुआवजा बोर्ड की सिफारिश के अनुसार मुआवजा दिया जाता है। न्यूजीलैण्ड में मुआवजा हत्या, बलात्कार व अपहरण सम्बन्धी अपराधों के लिए अपराधी से वसूल किये गये जुर्माने में से दिया जाता है। हरजाने का रुपया कुछ क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को एकमुश्त (lump-sum) में तथा कुछ को किस्तों में दिया जाता है।

भारत में हरजाने की व्यवस्था 1958 के केन्द्रीय प्रोबेशन एक्ट में तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता (CrPC) में भी मिलती है। क्षतिग्रस्त व्यक्ति को मुआवजे का रुपया अपराधी से वसूल किये गये जुर्माने में से ही दिया जाता है तथा न्यायालय अपराधी को दण्ड देते समय यह निर्णय देता है कि क्षतिग्रस्त व्यक्ति को हरजाना दिया जाय। क्षतिग्रस्त व्यक्ति के अतिरिक्त हरजाना उसके माता-पिता, जीवन-साथी व सन्तान आदि को भी दिया जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में भारत में शायद ही किसी अपराधी केस में क्षतिग्रस्त व्यक्ति को न्यायालयों द्वारा हरजाना दिलवाया गया हो। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि हरजाने की योजना भारत में सिद्धान्त में तो मिलती है परन्तु व्यवहार में नहीं मिलती।

डाक्टर स्टीफेन शेफर (Stephen Schafer) ने 1958–59 में 29 देशों में पाये जाने वाले हरजाने सम्बन्धी योजनाओं के अध्ययन के आधार पर देश में हरजाने की योजना आरम्भ करने के लिए कुछ सुझाव दिये हैं[1] : (1) आहत-व्यक्तियों को दिया जाने वाला हरजाना न्यायालयों के सीमा-क्षेत्र (purview) में लाना चाहिए तथा हरजाना दिये जाने सम्बन्धी निर्णय वही न्यायालय करें जो अपराधी को अपराध के लिए दण्ड देता है; (2) हरजाने की तलब आहत-व्यक्ति द्वारा की जानी चाहिए परन्तु यदि अज्ञानता के कारण कोई आहत-व्यक्ति हरजाने की तलब नहीं करता तब न्यायालय का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह स्वयं पहल करके तथा अपना एक कर्त्तव्य मानकर आहत-व्यक्ति को हरजाना दिलाये; (3) यदि न्यायालय यह अनुभव

[1] Quoted by Venugopal Rao in a working paper presented in a Seminar organised by Research Division, C.B.I., New Delhi in May 1969, 8.

करता है कि हरजाने के विचार्य विषय सम्बन्धी निर्णय लेने में कुछ समय लगेगा तब वह निर्णय (हरजाने सम्बन्धी) स्थगित करे परन्तु दण्ड सम्बन्धी निर्णय तुरन्त दे दे जिससे अपराधी को तत्पर दण्ड व न्याय मिले, (4) हरजाने की राशि अपराधी के सामाजिक स्थिति व आर्थिक स्तर के आधार पर निश्चित करनी चाहिए, (5) यदि अपराधी की आहत-व्यक्ति को हरजाना देने की क्षमता नहीं है तब राज्य को हरजाना देना चाहिए; (6) हरजाना देने के लिए एक हरजाना फण्ड स्थापित करना चाहिए जिसमें अपराधी से वसूल किया गया जुर्माना तथा राज्य सरकार का अंशदान (contribution) आदि हो।

प्रश्न यह है कि भारत में यद्यपि कानूनों में मुआवजे सम्बन्धी योजना मिलती है परन्तु क्या यह व्यावहारिक व प्रयोगात्मक (practical) है ? यदि अपराध की प्रकृति और अपराधियों की स्थिति की दृष्टि से देखा जाये तो यह योजना इस कारण अव्यवहार्य है क्योंकि हमारे देश में लगभग 60 प्रतिशत अपराध चोरी, लूट, डकैती आदि आर्थिक अपराधों से सम्बन्धित हैं। ये अपराध क्योंकि अधिकांशतः निर्धन व्यक्तियों द्वारा परिस्थितियों से बाध्य होकर किये जाते हैं, अतः ये अपराध करने वाले व्यक्ति मुआवजा देने की क्षमता ही नहीं रखते। जेलों में पारिश्रमिक योजनाएँ भी अधिक नहीं मिलती हैं जिससे अपराधी काम करके रुपया कमा कर मुआवजा दे सकें। सरकार की आर्थिक स्थिति भी ऐसा नहीं है कि प्रत्येक वर्ष चार पाँच लाख व्यक्तियों को मुआवजा दे सके। अतः हम यह ही कहेंगे कि मुआवजे की योजना यद्यपि वांछनीय अवश्य है परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में अव्यावहारिक है।

चौदहवाँ अध्याय

अपराध, पुलिस और जनता

(CRIME, POLICE AND PUBLIC)

भारत में अपराध में पुलिस की भूमिका को यदि ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखें तो मिलता है कि पुलिस ने लम्बे उपनिवेशिक (colonial) शासन के प्रतिकूल प्रभावों को उत्तराधिकार में पाया है। ब्रिटिश काल में पुलिस की भूमिकाओं को जनसाधारण के हित में न देखकर राज्य के हित में ही अधिक देखा जाता था। स्वतन्त्रता के उपरान्त भी साम्प्रदायिक, भाषायी तथा प्रादेशिक और क्षेत्रीय संघर्षों के कारण पुलिस को नयी धारणाएँ और परम्पराएँ विकसित करने का अवसर नहीं मिला। औद्योगिक और आर्थिक विकास ने ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों के मध्य भेद और धनी और निर्धन के मध्य अन्तर को फैलाकर सामाजिक तनाव को बढ़ाकर शान्ति, सुव्यवस्था और अपराध सम्बन्धी नयी समस्याएँ उत्पन्न की हैं।

1966 से 1976 तक प्रज्ञेय या हस्तक्षेप्य (cognizible) अपराध की दर 37.6 प्रतिशत बढ़ गयी है। इस वर्ष की अवधि में लूटमार में 109.4 प्रतिशत, डकैती में 126.5 प्रतिशत, दंगे-फसाद में 83.5 प्रतिशत, अपहरण में 43.2 प्रतिशत, हत्याओं में 32 प्रतिशत तथा चोरी में 22.2 प्रतिशत वृद्धि मिलती है जबकि इस अवधि में जनसंख्या केवल 25.4 प्रतिशत ही बढ़ी है।[1] फलतः ऐसी परिस्थिति में पुलिस का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। राज्य और सत्ता के एक दृश्यमान प्रतीक (visible symbol) के रूप में पुलिस को उत्तरदायी जन-अधिकारियों की तरह कार्य करना है। अब यह आवश्यक हो गया है कि पुलिस अधिकारी अपनी क्रिया के सामाजिक लक्ष्य को सही रूप में समझें, व्यावसायिक योग्यता प्राप्त करें तथा संविधान में अन्तर्विष्ट सामाजिक न्याय के अनुकूल जनसाधारण के प्रति नये विचार विकसित करें।

परम्परागत कार्य

मोटे रूप में पुलिस के परम्परागत कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) अपराध की रोकथाम (prevention of crime) तथा गश्त (patrolling) द्वारा अपराधी मनोवृत्तियों वाले व्यक्तियों की निगरानी करना एवं जहाँ भी कानून उल्लंघन की सम्भावना हो वहाँ हस्तक्षेप करके अपराध को रोकना।

[1] See *Crime In India*, 1976, 5.

(2) अपराध का पता लगाना (detection of crime) तथा सन्देहयुक्त व्यक्तियो को सम्मन भेजकर या गिरफ्तार करके, उनसे पूछताछ करके, उनकी व उनके मकानो आदि की तलाशी लेकर अपराध की खोज करना। इसके अतिरिक्त खोई हुई वस्तुओ व लापता व्यक्तियो की खोज करके उन्हे हकदार मालिको को सौंपना भी उनका प्रमुख कर्त्तव्य है।

(3) यातायात नियन्त्रण (traffic control) तथा मोटर वेहीकल एक्ट के प्रावधानो के अन्तर्गत यातायात को नियन्त्रित करना।

(4) *सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखना* (*maintenance of public order*) तथा समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करना और अवैध सभाओ को रोकना व तितर-बितर करना।

(5) आन्तरिक सुरक्षा (internal security) तथा महत्त्वपूर्ण निवेशो (installations), रेलवे सम्पत्ति, औद्योगिक संस्थापनो व प्रमुख नेताओ आदि की सुरक्षा करना, विदेशी ऐजेन्टो की जासूसी को रोकना एव हवाई-जहाजो की तोड-फोड (sabotage) व हाइजैकिंग को रोकना।

विलियम वेस्टले (William Westley)[1] के अनुसार पुलिस के तीन कार्य प्रमुख हैं : (i) कानून-पालन की देख-भाल, (ii) शान्ति स्थापना, और (iii) समुदाय का सरक्षण। इसके अलावा भीषण विपत्ति, रेल-दुर्घटना, भूकम्प व बाढ आदि अवसरो पर भी पुलिस से आवश्यक सहायता ली जाती है।

इन कार्यों के निभाने हेतु समय-समय पर पुलिस दल की संख्या भी बढायी जाती है। पूरे भारत मे दिसम्बर 1976 में विभिन्न राज्यो मे सिविल और सशस्त्र (armed) पुलिस की कुल संख्या 7,29,622 थी जिसमे से 5,68,287 (77 8 प्रतिशत) सिविल पुलिस थी। ये 7 29 लाख पुलिस वाले देश की 60 करोड जनता व 31.6 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र की सुरक्षा कर रहे हैं।[2] दूसरे शब्दो मे भारत में 829 व्यक्तियो के पीछे एक पुलिसमैन मिलता है। इसकी तुलना मे फ्रास मे 329 व्यक्तियो के पीछे एक, इग्लैण्ड मे 466 के पीछे एक, पश्चिम जर्मनी में 391 के पीछे एक तथा जापान मे 770 के पीछे एक पुलिसमैन मिलता है।[3]

जनता और पुलिस

जनसाधारण के लिए पुलिसमैन नायक (hero) भी है तो सेवक, सहायक, बदला लेने वाला व अनुशासन-प्रिय व्यक्ति भी। अपने व्यावसायिक जीवन मे प्रत्येक पुलिसमैन विभिन्न प्रकार के लोगो के सम्पर्क मे आता है। गश्त करते वह शराबी, जुआरी, व्यापारी, चोर व वेश्या के सम्पर्क मे आता है, अपराध की खोज करते वह हत्यारे, अपहरणकर्ता, बलात्कारी व राजनीतिज्ञ के सम्पर्क मे आता है; न्यायालय

[1] William A. Westley, *Violence and the Police*, MIT Press, Massachusetts (USA), 1970, 2.

[2] *Crime in India*, 1976, 100

[3] *Report of the Committee on Police Training*, *op cit*., 8

में वह न्यायाधीश, वकील, अभियोक्ता (complainant) व अभियुक्त (accused) के सम्पर्क में आता है; तथा अस्पताल में वह डाक्टर, कम्पाउण्डर, नर्स, रोगी, पीड़ित व पागल के सम्पर्क में आता है। इन सब व्यक्तियों में वह मानवीय मनोभावों और मानवीय समस्याओं का व्यापक क्षेत्र पाता है। अधिकांशतः वह व्यक्तियों को उनके दुख, संकट, अवःपतन, चिन्ता, अपमान, क्षति, परेशानी व शोक के समय में ही मिलता है। वह यद्यपि सिद्धान्त में सम्पूर्ण जनता की सुरक्षा के लिए कार्य करता है परन्तु वास्तव में वह जनता के केवल उस अनुभाग के सम्पर्क में आता है जिसमें उसके लिए कोई सहानुभूति व सम्मान नहीं होता। चोर, हत्यारे एवं शराबी के लिए वह 'कानून' है, खतरनाक व्यक्ति है, भय का साधन है, हस्तक्षेपी व्यक्ति है।

पुलिस के विरुद्ध आरोप

जनता द्वारा साधारणतः पुलिस के विरुद्ध तीन आरोप लगाये जाते हैं: निर्दयता (brutality), भ्रष्टाचार और अयोग्यता। 1978–79 में तीन केन्द्रीय कारागृहों के कैदियों से पुलिस के प्रति विचारों के सर्वेक्षण से पुलिस के विरुद्ध पाँच प्रमुख आरोप पाये गये: (i) पुलिस रिश्वत लेती है; (ii) पुलिस लोगों से सूचना प्राप्त करने के लिए अनुचित साधन अपनाती है; (iii) अपराधियों को दण्ड दिलाने के लिए वह प्रमाण व गवाही में हेराफेरी करती है; (iv) गिरफ्तारी करते समय अनावश्यक बल का प्रयोग करती है; और (v) जनता के साथ सदा असभ्य और असहयोगी रहती है।

नवम्बर 1971 में भारत सरकार द्वारा नियुक्त गुप्ता पुलिस कमेटी ने जनता के पुलिस के प्रतिकृति (image) से सम्बन्धित बहुत से लोगों के साक्षात्कार में पाया कि पुलिस को अधिकांशतः असभ्य, अयोग्य, सत्तावादी (authoritarian), बेईमान और असहानुभूतिक माना जाता है।[1] पुलिस अनुसन्धान और विकास ब्यूरो ने भी जनता के पुलिस के प्रति प्रतिकृति सम्बन्धी जनमत में पाया कि अधिकांश यह माना जाता है कि पुलिस वाले समुदाय के शक्तिशाली और धनी व्यक्तियों का पक्षपात करते हैं और निर्धन व्यक्तियों को हैरान व परेशान करते हैं तथा थाने में शिकायत दर्ज करने वालों के प्रति पुलिस की प्रतिक्रिया व सहयोग उनके आय और शिक्षा-स्तर पर निर्भर करता है।

विलियम वेस्टले[2] ने 1968 में अमरीका के एक नगर में एक जनमत में चार प्रकार के 77 व्यक्तियों (20 वकील, 14 सामाजिक कार्यकर्ता, 8 यूनियन नेता और 35 साधारण व्यक्ति) से पूछा कि वे अपने नगर की पुलिस के बारे क्या समझते हैं? यद्यपि कुछ सूचनादाता उत्तर टाल गये और कुछ ने कोई उत्तर नहीं दिया परन्तु कुछ ने अपने विचार मुक्त रूप से व्यक्त किये। 46·7% ने पुलिस को भ्रष्टाचारी बताया, 24·6% ने हिंसाप्रिय, 20·8% ने प्रभुत्वपूर्ण, 10·4% ने अयोग्य, 5·2% ने अशिक्षित

[1] *Ibid.*, 104.
[2] William Westley, *op. cit.*, 51–55.

4% ने अज्ञानी, 4% ने असहयोगी, 4% ने अविज्ञानी, 4% ने सहयोगी तथा 2 6% ने छोटी बातो मे अधिक समय व्यतीत करने वाले बताया।

भारत की तुलना मे अन्य देशो मे जनसाधारण मे पुलिस के लिए अधिक इज्जत मिलती है। उदाहरण के लिए 1967 मे न्यूजीलैण्ड मे चैपेल (Chappell) और विलसन (Wilson) द्वारा किये गये 766 व्यक्तियो के एक अध्ययन मे पाया गया कि 72% व्यक्तियो मे पुलिस के लिए अत्यधिक इज्जत थी, 6% मे थोडी इज्जत थी तथा 19% मे मिश्रित भावनाएँ थी, 3% व्यक्तियो ने कोई निश्चित उत्तर नही दिया। इसी वर्ष इन्ही विद्वानो ने आस्ट्रेलिया मे भी 1032 व्यक्तियो का पुलिस के प्रति रवैये का अध्ययन किया और पाया कि 64% मे पुलिस के लिए अत्यधिक इज्जत थी, 2% मे थोडी इज्जत थी और 29% मे मिश्रित भावनाएँ थी, शेष व्यक्तियो ने या तो कोई उत्तर ही नही दिया (3%) या उनके उत्तर स्पष्ट नही थे (2%)। इग्लैण्ड मे फिर पुलिस के लिए न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया से भी अधिक इज्जत मिलती है। 1960 मे किये गये अध्ययन मे 82 7% सूचनादाताओ मे पुलिस के लिए अत्यधिक इज्जत, 15 9% मे मिश्रित भावना तथा केवल 0 5% मे थोडी इज्जत पायी गयी। तीनो देशो मे पाया गया कि 45 वर्ष से ऊपर वाले व्यक्तियो मे कम आयु वाले व्यक्तियो की अपेक्षा पुलिस के लिए अधिक इज्जत थी।[1]

एक ओर जब आयु के आधार पर युवा व्यक्तियो मे पुलिस के लिए कम इज्जत मिली तो दूसरी ओर शिक्षा के स्तर और पुलिस के लिए इज्जत के मध्य प्रतिलोम (inverse) सम्बन्ध मिला। कम शिक्षित व्यक्तियो मे अधिक शिक्षित व्यक्तियो की तुलना मे पुलिस के लिए अधिक इज्जत पायी गयी। आस्ट्रेलिया मे जब प्राथमिक शिक्षा स्तर के व्यक्तियो मे 73% मे अत्यधिक इज्जत मिली, माध्यमिक शिक्षा स्तर के केवल 64% सूचनादाताओ मे और कॉलेज स्तर के केवल 45% सूचनादाताओ मे अत्यधिक इज्जत मिली। इसी प्रकार गाँवो मे और छोटे नगरो के निवासियो मे बडे शहरो मे रहने वाले निवासियो की अपेक्षा ज्यादा इज्जत पायी गई।

हिंसा और निर्दयता

प्रश्न है कि भारत मे जनता मे पुलिस के प्रति विरोधी भावना क्यो विकसित हुई है? पुलिस हिंसा व क्रूर उपायो का प्रयोग ही क्यो करती है? पुलिस आफिसर चाहता है कि उसके सत्ताधिकार को सही रूप मे स्वीकार किया जाये। उसके आत्म-अभिमान पर प्रहार उसमे तुरन्त दण्डात्मक विचार उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए एक पुलिस वाला किसी युवक को सन्देह के कारण थाने ले जाना चाहता है और युवक उससे आग्रह करता है कि उसके हाथ मे दवाई है जो वह घर पर देकर उसके साथ थाने जाने को तैयार है। पुलिस वाला हठ करता है कि युवक उसी समय उसके साथ पुलिस स्टेशन जाये। युवक के मना करने पर पुलिस वाला उसकी मारपीट

[1] D Chappell and P R. Wilson, *The Police and The Public In Australia and New Zealand*, University of Queensland Press, Queensland, 1969, 39-40

करता है और थाने पर लाकर भी न केवल उसकी खूब पिटाई करता है परन्तु भागने का प्रयास करने का भी उस पर अभियोग लगाता है। यहाँ युवक द्वारा सत्ताधिकार का विरोध ही पुलिस वाले की क्रूरता का कारण है।

यद्यपि यह सही है कि एक व्यावसायिक समूह के रूप में पुलिस अपने को समुदाय में सदा एक सीमान्त (marginal) और विवादग्रस्त स्थिति में पाती है तथा अपना सत्ताधिकार मनवाने के लिए उसके लिए कुछ उपाय अपनाना आवश्यक होता है परन्तु क्या इसके लिए कठोरता का उपयोग आवश्यक है ?

मान लीजिए एक पुलिस-सिपाही एक मोटरकार चलाते हुए व्यक्ति को एक छोटी दुर्घटना के अपराध में पुलिस चौकी ले जाना चाहता है। कार-चालक और उसकी पत्नी अदालत में जाने और जुर्माने से बचने के लिए पहले तो सिपाही पर रोब दिखाकर वहाँ से चले जाना चाहते हैं परन्तु जब सिपाही उन्हें चेतावनी देकर छोड़ने के स्थान पर थाने ले जाने के लिए अड़ जाता है तब कार-चालक उसे दस रुपये का नोट रिश्वत देना चाहता है। अब सिपाही कार-चालक पर न केवल दुर्घटना के अपराध का परन्तु सरकारी आफिसर को रिश्वत देने के अपराध का भी अभियोग लगाता है। मजबूर होकर दोनों पति-पत्नी सिपाही के साथ थाने जाते हैं। वहाँ पर सिपाही के उच्च आफिसर के सामने सिपाही पर पति-पत्नी आरोप लगाते हैं कि उसने उनसे रिश्वत माँगी। परन्तु पुलिस आफिसर जब इस आरोप को निराधार बताता है तब पहले तो पति-पत्नी आफिसर पर ही रोब दिखाते हैं और फिर छोड़ देने के लिए उसकी मिन्नतें करते हैं। सहानुभूति दिखाकर आफिसर उन पर रिश्वत देने का अभियोग नहीं लगाता, केवल दुर्घटना का ही अभियोग लगाता है। इस प्रकार की पारस्परिक क्रिया सम्बन्धी परिस्थिति का पुलिस के लिए समाजशास्त्रीय महत्त्व यह है कि पुलिस को अपनी सत्यनिष्ठा, क्षमता, गर्व तथा अच्छे व खराब स्वभाव को परखने का अवसर मिलता है। इस केस से यह भी स्पष्ट है कि पुलिस को किस-किस प्रकार किस-किस व्यक्ति से व्यवहार में आना पड़ता है। यदि पुलिस अधिकारी अपराधी को चेतावनी देकर छोड़ देता है तब तो उसे अच्छा व्यक्ति व कार्य के प्रति अन्तर्भावनाशील (conscientious) व ईमानदार आफिसर बताया जाता है पर यदि वह अपराधी पर अपराध के लिए अभियोग लगाता है तब उसे क्रूर व भ्रष्ट व्यक्ति बताया जाता है।

ऐसे केसों के आधार पर ही पुलिस-अधिकारी जनता के विभिन्न प्रकार बताता है एवं उनसे व्यवहार में अलग-अलग उपाय भी अपनाता है। जहाँ वह तर्क, टाल-मटोल और बहानेबाजी अनुभव करता है वहाँ वह कठोर और दृढ़ बनकर व्यक्तियों को कानून व कानून-रक्षकों का आदर करना सिखाता है। जहाँ वह पश्चात्ताप देखता है वहाँ अपने को सरकार का एजेन्ट न मानकर केवल एक साधारण व्यक्ति (जिसकी अन्य व्यक्ति से अन्तःक्रिया मिलती है) मानता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार पुलिस अधिकारी अपने पुलिस जीवन में 'कठोर बनकर सम्मान करवाने सम्बन्धी' फिलॉसफी विकसित करता है।

झगड़ों और मार-पीट के मामलों में पुलिस का और ही अनुभव होता है।

कभी कभी ऐसे मामलो मे या तो झगडे मे उलझे हुए दो व्यक्तियो मे से एक व्यक्ति पुलिस को बुलाता है या फिर कभी कोई पडोसी उन्हे सूचना देता है। झगडे मे ग्रस्त बुलाने वाला इस विचार से पुलिस को बुलाता है कि पुलिस उसका साथ देगी व उसकी शक्ति बढेगी परन्तु जब पुलिस अधिकारी कानून के अनुसार ही कार्य करता है तब बुलाने वाला ही उसके कार्यों की आलोचना करता है, और यदि पडोसी बुलाने वाला होता है तो झगडे मे ग्रस्त दोनो व्यक्तियो के लिए पुलिस की उपस्थिति अप्रिय व अरुचिकर होती है। ऐसी परिस्थिति मे पुलिस की भूमिका अति कठिन बन जाती है।

इसी प्रकार यदि सेक्स सम्बन्धी अपराध एव हत्याएँ आदि लें तो हम कह सकते है कि अपराधियो से व्यवहार मे पुलिस को चार समस्याओ का सामना करना पडता है (1) गवाही की कठिनाई, (2) राजनीतिक, शासकीय व जनता का दबाव, (3) पुलिस के प्रति विरोधी भावना, (4) कानून मे दोष व कमी। यद्यपि हम पुलिस की व्यावसायिक भूमिका मे इन समस्याओं के महत्त्व को स्वीकार करते है परन्तु हम यह नही मानते कि हर मामले मे पुलिस द्वारा हिंसक उपायो का प्रयोग आवश्यक होना है। अपराधियो से अधिक मानवतावादी रूप मे व्यवहार करके उनके विश्वास व सहानुभूति को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

मान लें एक पुलिस सिपाही एक व्यक्ति को बहुत अधिक शराब पिये हुए देखता है। ऐसी परिस्थिति मे यदि उसे पुलिस चौकी ले जाकर बन्द कर देता है तो सम्भव है यह घटना शराबी के पूरे जीवन को घातक रूप से प्रभावित करे। क्यो न केवल धमकी देकर पुलिस कार मे उसे उसके घर पहुँचा दिया जाये ? क्या इस प्रकार का व्यवहार पुलिस और जनता के सम्बन्धो में पारस्परिक विश्वास, सहयोग और सामंजस्य उत्पन्न नही करेगा ?

एक और उदाहरण ले। मान लीजिये दो व्यक्ति आपस मे झगडते है और बहुत से आदमी इकट्ठे होने पर भी अशिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। पुलिस वहाँ पहुँचने पर यह पाती है कि लडने वाले दोनो व्यक्तियो मे से एक विकलाग (crippled) है तथा उसके एक ही हाथ है जिसमे से भी खून बह रहा है। ऐसी परिस्थिति मे यदि पुलिस का सिपाही उसका यह हाथ मरोडकर उसे अभद्र भाषा का प्रयोग न करने से रोकना चाहता है तब पुलिस सिपाही का यह कार्य विकलाग व्यक्ति के लिए अनुचित कहलायेगा। परन्तु यदि इस व्यक्ति के दोनो हाथ होते और तब सिपाही उसका हाथ मरोडता तब सम्भवतया वहाँ इकट्ठे व्यक्ति उसे सहन कर जाते।

पुलिस ने हिंसा को तीन बातो पर निर्भर बताया है (1) परिस्थिति, (2) अपराध की प्रकृति, और (3) अपराधी का व्यक्तित्व। विलियम वेस्टले[1] ने 74 पुलिस वालो के साक्षात्कार के आधार पर यह पाया कि पुलिस वाले सबसे अधिक हिंसा तब प्रयोग करते हैं जब अपराधी द्वारा पुलिस के लिए अनादर दिखाया जाता है (39%), उसके उपरान्त अपराध को सुलझाने हेतु अपराधी से सही सूचना प्राप्त करने के लिए (31%), अपराधी को गिरफ्तार करने के लिए (12%) और सुरक्षा के

[1] William A Westley, *op cit*, 121–22, 137, 146–47

लिए (5%), 23% पुलिस वाले ऐसे भी पाये गये जो हिंसा के प्रयोग के बिल्कुल विरुद्ध थे। उनका कहना था कि (i) कानून का बिना हिंसा के उपयोग के भी परिपालन किया जा सकता है; (ii) हिंसा के उपयोग से जनता में पुलिस के लिए विरोधी भावना बनी रहती है; और (iii) बल-प्रयोग की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक उपाय अपनाने से अधिक अच्छा परिणाम प्राप्त किया जा सकता है।

हिंसा के उपयोग तथा जनसाधारण में पुलिस के लिए विरोधी भावना के कारण अधिकांश पुलिस वाले यह नहीं चाहते कि उनके बेटे पुलिस विभाग में सेवा करें। विलियम वेस्टले ने 54 पुलिस वालों के साक्षात्कार में पाया कि 70% यह नहीं चाहते थे कि उनके बेटे पुलिस वाले बनें, 11% चाहते थे कि उनके बेटे अपने जीवन के बारे में स्वयं निर्णय लें, तथा केवल 19% चाहते थे कि उनके बेटे पुलिस वाले ही बनें। अपने बेटे के पुलिसमैन बनने के विरोध में 70% सूचनादाताओं ने निम्न कारण दिये : (1) पुलिसमैन की नौकरी अधिक प्रवीण व कौशलपूर्ण (skilled) नहीं है, इस कारण डाक्टर, वकील व इंजीनियर आदि बनकर वह उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है; (2) पुलिसमैन का वेतन कम होने के कारण वह (बेटा) उच्च आर्थिक स्तर नहीं रख सकता; (3) उसके धूर्त, दुष्ट, चालबाज व बेईमान बनने की सम्भावना बढ़ जाती है; (4) पुलिस की नौकरी व्यक्ति को शंकाशील (sceptical) और रूखा व चिड़चिड़ा (cynical) बनाती है।

रूढ़िगत भावना बदलने सम्बन्धी गुप्ता कमेटी[1] के सुझाव

जनसाधारण पुलिस के लिए रूढ़िगत भावना बदल सके, इसके लिए गुप्ता पुलिस कमेटी ने कुछ सुझाव दिये हैं[5] : (1) पुलिस चौकी कार्यभारी (incharge) को पंचायत व नगरपालिका का पद के नाते (ex-officio) सदस्य नियुक्त करना चाहिए; (2) पुलिस समुदाय के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग ले तथा जनता को पुलिस-परेड व पुलिस खेलकूद आदि समारोहों में अधिक सम्मिलित करवाया जाये; (3) जिस पुलिस अधिकारी पर भ्रष्टाचार का आरोप हो उसके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करके नौकरी से ही निकाल देना चाहिए; (4) व्यावसायिक कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए पुलिस को छानबीन के आधुनिक साधनों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए; (5) पुलिस-आफिसरों का कार्यभार नवीकृत (rationalise) करना चाहिए क्योंकि इस समय उनके पास इतना अधिक काम है कि वे सन्दिग्ध व्यक्तियों और गवाहों से पूरी तरह पूछताछ भी नहीं कर पाते तथा थाने पर केस दर्ज करवाने के लिए आये हुए व्यक्ति को अप्रिय समझते हैं। यह भी आवश्यक है कि पुलिस कर्मचारियों की संख्या बढ़ायी जाये; (6) जनता के सहयोग को प्राप्त करने के लिए प्रत्युत्तर व अनुचार समय (response time) कम करना चाहिए। चोरी, दुर्घटना आदि सम्बन्धी सूचना मिलने पर पुलिस घटनास्थल पर पहुंचने में बहुत अधिक समय लेती है। पुलिस के लिए आधुनिक संचार साधन जुटा करके प्रत्युत्तर

[1] *Report of the Committee on Police Training, op. cit.*, 103-10.

समय कम किया जा सकता है। सिविल पुलिस के मूल उपकरणों में मोटर-गाड़ियाँ, बेतार के सेट, बन्दूकें व पिस्तौल आते हैं। यदि भारतीय पुलिस के लिए उपलब्ध उपकरणों की अन्य देशों, विशेषकर विकसित देशों, की पुलिस के उपकरणों से तुलना की जाये तो हमारे देश की पुलिस इनसे बहुत कम लैस मिलती है। उदाहरण के लिए जब लन्दन में (1964 के आँकड़ों के अनुसार) 77 लाख जनसंख्या व 1605 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के लिए पुलिस को 337 बेतार से लैस गाड़ियाँ पर्याप्त हैं, दिल्ली में पुलिस को (1976 के आँकड़ों के अनुसार) 51 लाख जनसंख्या व 1485 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के लिए केवल 26 गाड़ियाँ ही उपलब्ध हैं। देश की बहुत-सी पुलिस चौकियों को न मोटरगाड़ियाँ उपलब्ध हैं और न बेतार के सेट या टेलीफोन सुविधाएँ ही; (7) वरिष्ठ पुलिस अधिकारी जनसाधारण के लिए आसानी से प्राप्य (accessible) होने चाहिए तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के विरुद्ध अभद्र व्यवहार, अशिष्टता व अधिकारों का दुरुपयोग आदि सम्बन्धी शिकायतें मिलने पर उन्हें तुरन्त प्रभावी कार्यवाही करनी चाहिए, (8) पुलिस को रिपोर्ट किये जाने वाले अपराधों में से अधिकांश अहस्तक्षेप्य (noncognizable) अपराध होते हैं (बम्बई में पुलिस को रिपोर्ट किये जाने वाले मामलों में से 90% अहस्तक्षेप्य श्रेणी के होते हैं)। वर्तमान नियमों के अनुसार मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना पुलिस अहस्तक्षेप्य अपराध की छान-बीन नहीं कर सकती। फलतः पुलिस के जनता की सेवा का क्षेत्र केवल हस्तक्षेप्य (cognizable) अपराधों तक ही सीमित रहने के कारण जनसाधारण में उनके (पुलिस के) प्रति विचार प्रतिकूल रूप से प्रभावित होते हैं क्योंकि रुपये और समय के अभाव के कारण समाज के निर्धन और कमजोर वर्गों के सदस्य न्यायालयों की सहायता न लेकर पुलिस की सहायता ही लेना चाहते हैं। पुलिस द्वारा यह बताये जाने पर कि वे उनके केसों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते तथा कानून के अन्तर्गत कोई विशेष कार्यवाही नहीं कर सकते, लोग निराश हो जाते हैं और यह गलत धारणा बना लेते हैं कि तह में छिपे हुए उद्देश्यों के कारण पुलिस उनकी सहायता ही नहीं करना चाहती। इस कारण आवश्यक है कि अहस्तक्षेप्य अपराधों की छानबीन के लिए तथा उनके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही करने के लिए भी पुलिस को आवश्यक अधिकार दिये जायें। इससे पुलिस की जनसाधारण से घनिष्ठता भी बढ़ेगी। परन्तु गुप्ता कमेटी का इससे सम्बन्धित यह विश्वास अवश्य था कि इससे उनका कार्यभार अवश्य ही बढ़ जायेगा जबकि पुलिस के पास इस समय भी अत्यधिक कार्य है।

पुलिस और जनता के मध्य सम्बन्ध सुधारने के लिए इंग्लैण्ड, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में किये गये अध्ययनों में सूचनादाताओं द्वारा दिये गये कुछ सुझाव भारतीय समाज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक/अनुरूप (relevant) लगते हैं। दिये गये सुझावों में से कुछ इस प्रकार हैं (1) पुलिस कार्य से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर पुलिस की रेडियो पर वार्ताएँ प्रसारित करनी चाहिए व समाचार-पत्रों में लेख लिखने चाहिए; (2) पुलिस चौकियों पर पुलिस को कुछ विशेष दिन निर्धारित करने चाहिए जब जनसाधारण में से कोई भी व्यक्ति विभाग का अवलोकन कर सके;

(3) जनसाधारण से व्यवहार में पुलिस को अधिक नम्र व सुशील होना चाहिए।

दूसरी ओर पुलिस से सहयोगी व्यवहार पाने के लिए जनसाधारण के लिए भी आवश्यक है कि (1) पुलिस को सन्दिग्ध केस तुरन्त रिपोर्ट किये जायें; (2) उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सूचना पुलिस को अवश्य ही दी जानी चाहिए; और (3) अपराध की छानबीन और रोकथाम में पुलिस का पूरा सहयोग किया जाये।

राष्ट्रीय पुलिस आयोग

जनता सरकार द्वारा 1977 में बंगाल के भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग नियुक्त हुआ था। इसने कुल सात रिपोर्ट सरकार को पेश कीं जिनमें से केवल पहली रिपोर्ट ही संसद में प्रस्तुत की गयी थी। इसका एक कारण यह बताया गया है कि रिपोर्टों की अधिकांश सिफारिशें राज्यकारी राजनीतिक नेताओं (ruling political elite), सरकारी आफिसरों (bureaucracy) और उच्च स्तर के पुलिस अधिकारियों को प्रत्यक्ष रूप से चोट करती हैं।

आयोग ने पुलिस बल (police force) के पुन: निर्माण के लिए बहुत से उपाय बताये हैं। आयोग ने पहली रिपोर्ट 7 फरवरी 1979 को प्रस्तुत की जिसमें पुलिस सिपाही (constable) के कार्य की दयनीय स्थिति (miserable working conditions) की चर्चा की गयी तथा उसकी कार्यवस्था को सुधारने के लिए कुछ सुझाव भी दिये। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा कि यदि पुलिस के निम्न स्तर के कर्मचारियों (lower ranks) के लिए दिये गये सुझावों को शीघ्रतापूर्वक कार्यान्वित न किया गया तो पुलिस विद्रोह कर सकती है। जनता सरकार ने यद्यपि यह रिपोर्ट संसद में पेश की थी परन्तु दिये गये सुझावों को कार्यान्वित करने का कोई प्रयास नहीं किया। उलटा कहा जाता है कि उस समय के प्रधानमन्त्री (देसाई) ने धर्मवीर को बुलाकर पुलिस सिपाहियों के बारे में ऐसी अनुकम्पी व सहानुभूतिक (sympathetic) रिपोर्ट देने पर लताड़ा था।[1] शायद यही कारण है कि उसके बाद दी गयी छ: रिपोर्टें भी कांग्रेस सरकार ने संसद में पेश नहीं कीं तथा सरकार ने यह भी फैसला कर लिया है कि इन रिपोर्टों के सुझाव अस्वीकार कर दिये जायें।

दूसरी रिपोर्ट आयोग ने 16 अगस्त 1979 को प्रस्तुत की। कहा जाता है कि इस रिपोर्ट में पुलिस बल में हस्तक्षेप तथा राजनीतिक नेताओं द्वारा अवैध आदेशों व दबाव द्वारा पुलिस बल के दुरुपयोग करने की भी चर्चा की गयी है। इस हस्तक्षेप को समाप्त करने के लिए आयोग ने उपचारी उपाय (remedial measures) भी दिये हैं जिनमें से प्रमुख हैं हर राज्य में 'राज्य सुरक्षा कमीशन' (state security commission) स्थापित करना जिसमें राज्य गृह-मन्त्री, गृह-सचिव और पुलिस महानिरीक्षक (I. G. Police) के अतिरिक्त राज्य विधान सभा में विरोधी दल के नेता को शामिल करने का सुझाव दिया गया है। इसी प्रकार आयोग ने वरिष्ठ पुलिस आफिसरों के राजनीतिक दबाव के आधार पर मनमाने स्थानान्तरण की भी

[1] See, *New Delhi*, March-April 1981, 24.

निन्दा की है। इसके अलावा गवाही अधिनियम (Evidence Act) और अपराधी संहिता (Cr.P.C.) में परिवर्तन करने, पुलिस द्वारा अवैधानिक उपाय (extra-legal methods) प्रयोग न करने तथा पुलिस के विरुद्ध शिकायतों की जाँच के लिए उचित व्यवस्था करने के भी सुझाव दिये गये हैं।

तीसरी रिपोर्ट आयोग ने पहली फरवरी 1980 को प्रस्तुत की जिसमें जन-शान्ति व जन-व्यवस्था (public peace and public order) को भंग होने से रोकने के लिए विशेष कानून की चर्चा की गयी है। यह कानून पुलिस को किसी व्यक्ति को दो हफ्ते तक हवालात में रखने का सुझाव भी देता है। इस रिपोर्ट में पुलिस में पाये जाने वाले भ्रष्टाचार की भी चर्चा की गयी है। चौथी रिपोर्ट 19 जून 1980 को पेश की गयी। इसमें सुझाव दिया गया कि अभियोजन एजेंसी (prosecution agency) पुलिस के निरीक्षण में ही कार्य करे। इसके अलावा आयोग ने औद्योगिक विवादों (*industrial disputes*), *भूमि सम्बन्धी समस्याओं* (*agrarian problems*), मद्यनिषेध (prohibition) तथा सामाजिक कानून उल्लंघन सम्बन्धी मामलों को निपटाने के लिए कुछ सुझाव भी दिये। पाँचवीं रिपोर्ट 26 नवम्बर 1980 को दी गयी जिसमें मुख्यतः पुलिस में भर्ती व प्रशिक्षण से सम्बन्धित सुझाव दिये गये हैं। इसमें पुलिस और प्रेस के सम्बन्ध के बारे में भी कुछ सिफारिशें दी गयी हैं। छठी रिपोर्ट 4 मार्च 1981 को पेश की गयी जिसमें पुलिस नेतृत्व तथा आई० पी० सी० (I. P. C.) सेवाओं पर जोर दिया गया है। इसमें विद्यार्थी आन्दोलनों से निपटने के लिए *पुलिस को कुछ सुझाव दिये गये हैं। सातवीं और अन्तिम रिपोर्ट 5 जून 1981* को प्रस्तुत की गयी जबकि आयोग की अवधि भी 30 मई 1981 को समाप्त हो गयी। इसमें मॉडल पुलिस अधिनियम (Model Police Act) व सशस्त्र (armed) पुलिस आदि से सम्बन्धित कुछ सुझाव दिये गये हैं।

सातों रिपोर्टों को मिलाकर पुलिस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं

(1) पुलिस को हर प्रकार से आधुनिक बनाया जाये। पुलिस अफसरों और सभी दर्जे के पुलिसकर्मियों की गुणवत्ता (quality) पर ध्यान दिया जाये। उन्हें *बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाये और हर किस्म के दबाव से दूर रखा जाय।* उन्हें सुस्ताने के और मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराये जायें।

(2) प्रत्येक राज्य में एक स्टेट सिक्यूरिटी कमीशन होना चाहिए। इसमें सरकारी पक्ष और विपक्ष दोनों के लोगों को और ऐसे लोगों को रखा जाय जिनका राजनीति से वास्ता न हो। यह कमीशन पुलिस के कामों की देख-रेख करे और नीति में परिवर्तन के बारे में सरकार को सुझाव दे।

(3) पुलिस की हिरासत में हुए बलात्कार, मौत और गहरी चोट के मामलों में फौरन अदालती जाँच अनिवार्य कर दी जाय। पुलिस की गोलाबारी में दो से अधिक आदमी मर जायें तो इसकी भी अदालती जाँच अनिवार्य हो।

(4) शिकायतें दूर करने के लिए कर्मचारी वर्ग परिषद् (staff council) के नमूने का तन्त्र स्थापित किया जाय। सीमा सुरक्षा दल में ऐसा तन्त्र मौजूद है।

(5) विधि आयोग (law commission) का विस्तार करके इसे कानूनी अपराधिक न्याय आयोग (Statutory Criminal Justice Commission) बना दिया जाय। यह अपराधों के कारणों की जांच पड़ताल करे, उन्हें रोकने के कानून तैयार करे और उनके उपयुक्त उपाय करने में पुलिस की सहायता करे।

धर्मवीर के शब्दों में रिपोर्ट को अलग-अलग चरणों में देने का लक्ष्य यह था कि आयोग जनता की प्रतिक्रियाओं को धीरे-धीरे जान सके; परन्तु क्योंकि सरकार ने रिपोर्ट जनता के सामने रखी ही नहीं, अतः इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी।

अतः हम यह ही कहेंगे कि नये विचारों के विकास में यह आवश्यक है कि पुलिस अब यह अनुभव करे कि उसकी भूमिका दमनकारी (repressive) न होकर संरक्षी (protective) है तथा उसे उन व्यक्तियों की सेवा करनी है जो भयभीत, निराशापूर्ण व शंकित होते हैं। हमारे शासकों ने स्वतन्त्रता के पश्चात् पुलिस के संख्या बल में तो आवश्यक वृद्धि व विस्तार किया है परन्तु उसके मूल गठन व ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं किया जबकि स्वाधीन राज्य के सन्दर्भ में पुलिस की भूमिका व दायित्व ही बदल गये हैं। पुलिस जनता व सरकार के बीच महत्त्वपूर्ण सम्पर्क सूत्र है तथा सरकार की नामी व बदनामी पुलिस की क्षमता व व्यवहार पर निर्भर करती है। परन्तु सभी पुलिस विषयक जांच आयोगों व समितियों ने इस तथ्य पर बल दिया है कि पुलिस व्यवस्था में राजनीति का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ रहा है। चुनावों में सत्ता दल पुलिस का किस विधि से और कितनी सहजता से प्रयोग करता है यह चुनाव आयोग द्वारा जून 1981 के गढ़वाल संसदीय चुनाव फिर से कराने के निर्देश के निर्णय से स्पष्ट होता है। भागलपुर (बिहार) में विचाराधीन बन्दियों (undertrial prisoners) को नृशंसतापूर्वक अन्धा बना देने की पुलिस बर्बरता के साथ हरियाणा में माया त्यागी के पति व उसके दो साथियों को गोली मारकर माया त्यागी को नग्न अवस्था में पुलिस चौकी तक घसीटकर ले जाने की बर्बरता के साथ, अनेक स्थानों पर महिलाओं को पुलिस चौकी पर बुलाकर उनके साथ बलात्कार करने की बर्बरता के साथ जो सन्दर्भ सूचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनसे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार राज्यमन्त्री, राजनीतिक नेता आदि पुलिस अपराधियों को संरक्षण दे रहे हैं। आपातस्थिति के दौरान सत्ताधारी गुट के कुछ लोगों ने पुलिस का नियम व कानून विरुद्ध कार्यों में तथा विरोधियों को पकड़ने तथा उन्हें अमानवीय यातना देने में किस सीमा तक प्रयोग किया यह शाह व अन्य जाँच आयोगों की रिपोर्टों से ज्ञात होता है। अतः पुलिस को एक सक्षम शक्ति बनाने के लिए आवश्यक है कि पुलिस बल में राजनीतिक हस्तक्षेप समाप्त किया जाये तथा पुलिस को प्रशासकीय दृष्टि से दायित्वपूर्ण बनाया जाय। इसके लिए पुलिस दल में भर्ती, प्रशिक्षण व कर्त्तव्य निर्वाह के मानदण्ड स्थापित करने होंगे तथा पुलिस के संख्या बल में अन्धाधुन्ध विस्तार के स्थान पर उसकी गुणवत्ता का स्तर ऊँचा उठाना होगा।